प्राचीन छत्तीसगढ़

प्यारेलाल गुप्त

प्रकाशक
रविशंकर विश्वविद्यालय
रायपुर (म०प्र०)

प्राचीन छत्तीसगढ़

लेखक

प्यारेलाल गुप्त

प्रकाशक

रविशंकर विश्वविद्यालय

रायपुर (म० प्र०)

प्राचीन छत्तीसगढ़

●

प्रथम संस्करण सन् १९७३ ई०
१००० प्रतियाँ

●

लेखक :
प्यारेलाल गुप्त

●

मूल्य :

●

मुद्रक :
लीडर प्रेस, इलाहाबाद

समर्पण

उनके हाथों में जो छत्तीसगढ़ को गौरव-गरिमा
से अनजान रहते हुए भी उसे प्यार करते हैं।

प्राक्कथन

भारत के हृदयस्थल मध्यप्रदेश के दक्षिणी-पूर्वी क्षेत्र में स्थित छत्तीसगढ़-क्षेत्र की ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक उपलब्धियों का, देश के इतिहास-निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। प्राचीन काल में यह क्षेत्र दक्षिण कोसल के नाम से विख्यात था। इतिहास-प्रसिद्ध महत्वपूर्ण राज्यवंशों के प्रभाव से यह क्षेत्र प्रभावित होता रहा। यहाँ पर प्रागैतिहासिक युग, द्रविड़ संस्कृति, आर्य संस्कृति, रामायण युग, महाभारत युग, बौद्ध व जैन काल, गुप्तवंशीय समय, कलचुरिकाल, तथा मराठा एवं आंग्ल युग के ऐतिहासिक अवशेष विद्यमान हैं। यहाँ की ऐतिहासिक सामग्री तत्र-यत्र बिखरी हुई है। यदा-कदा इस क्षेत्र के ऐतिहासिक स्रोतों का प्रकाशन समय-समय पर होता रहा है, पर प्राचीन काल से लेकर मराठा युग एवं ब्रिटिश काल के आरंभ युग तक के इतिहास को संकलित करके, एक ही कृति के रूप में, प्रस्तुत करने का प्रथम प्रयास श्री प्यारेलाल गुप्त ने अपने ग्रन्थ "प्राचीन छत्तीसगढ़" में किया है। इस ग्रन्थ के प्रणयन में लेखक को निरंतर सात वर्षों तक परिश्रम करना पड़ा। अंततः उनकी साधना तथा छत्तीसगढ़ के प्रति रुचियुक्त भावना का प्रतिफल ग्रंथरूप में आज रविशंकर विश्वविद्यालय, रायपुर द्वारा प्रकाशित किया जा रहा है। गुप्त जी का यह प्रयास निस्सन्देह श्लाघनीय है।

प्रस्तुत ग्रंथ में छत्तीसगढ़ के इतिहास, संस्कृति एवं साहित्य को एक साथ प्रस्तुत किया गया है। यही कारण है कि सरगुजा, बिलासपुर, रायगढ़, रायपुर, दुर्ग एवं बस्तर जिलों के इतिहास की जानकारी इस कृति में हमें मिलती है। इतिहास के अतिरिक्त तत्कालीन प्रशासन, सामाजिक अवस्था, रियासतों की स्थिति, संस्कृत तथा हिन्दी के साहित्यकार, छत्तीसगढ़ी बोली का अध्ययन, और लोक-साहित्य आदि महत्वपूर्ण विषयों का समावेश भी इस ग्रंथ में है, जिससे यह पाठकों के छत्तीसगढ़-संबंधी ज्ञान को विस्तृत बनाएगा।

इस ग्रन्थ के प्रारूप का अवलोकन प्रो० ओ० पी० भटनागर, भूतपूर्व इतिहास-विभागाध्यक्ष, विश्वविद्यालय-शिक्षण-विभाग, रविशंकर विश्वविद्यालय,

रायपुर ने किया था। तत्पश्चात् उनके आदेशानुसार लेखक ने ग्रन्थ में कुछ महत्वपूर्ण संशोधन किये हैं।

मैं आशा करता हूँ कि इस ग्रन्थ की उपादेयता पाठकवृन्द को ग्राह्य होगी और इतिहास के जिज्ञासु जनों को इससे लाभ मिलेगा। प्रस्तुत ग्रन्थ भविष्य के अन्वेषकों हेतु प्रेरणास्पद भी सिद्ध हो सकता है।

रविशंकर विश्वविद्यालय, रायपुर
दिनांक—१ जून, १९७३

जगदीश चन्द्र दीक्षित,
कुलपति

प्रस्तावना

श्री प्यारेलालजी गुप्त की पुस्तक 'प्राचीन छत्तीसगढ़' के लिये दो शब्द प्रस्तावना स्वरूप लिखने में मैं अपने को गौरवान्वित समझता हूँ। मैं रवि-शंकर विश्वविद्यालय, रायपुर में केवल कुछ मास ही इतिहास विभाग का अध्यक्ष रहा। इस अल्पकाल में मेरा गुप्त जी से सम्पर्क हुआ। उनके सरल स्वभाव और साहित्यिक रुचि का मेरे ऊपर गहरा प्रभाव पड़ा। तत्कालीन विश्वविद्यालय के कुलपति श्री बंशीलालजी पाण्डेय ने यह रचना मुझे दिखाई और विभाग के तत्वाविधान में छपने का सुझाव दिया। मैंने पुस्तक को शीघ्र ही आद्योपान्त पढ़ अपनी स्वीकृति दी। मैंने गुप्त जी के समक्ष कुछ सुझाव भी रक्खे जिन्हें गुप्त जी ने सहर्ष संशोधन के रूप में स्वीकार कर लिया।

गुप्त जी का यह ग्रन्थ अपने ढंग का अनूठा है। छत्तीसगढ़ पर अनेक ग्रन्थ और लेख लिखे गए हैं। वहाँ के रहने वालों में अपने प्रदेश के लिये बड़ा अनुराग है और उसका आभास साहित्यकों और इतिहासकारों के ग्रन्थों में मिलता है। प्रारम्भ काल से ही छत्तीसगढ़ और मध्य प्रदेश का बड़ा महत्व रहा है। प्रायः ऐतिहासिक काल की बहुत कुछ सामग्री प्राप्त हो चुकी है जिसके आधार पर इतिहासकार नये निष्कर्षों पर पहुँचे हैं। रामायण और महाभारत पर आधारित इस प्रदेश से सम्बन्धित रचनाएँ हैं। बौद्ध काल से लेकर राष्ट्रकूट काल तक ऐतिहासिक स्रोतों में यथेष्ट मात्रा में मध्य प्रदेश के बारे में सामग्री मिलती है, किन्तु मध्य प्रदेश का अभी भी प्रामाणिक और क्रमबद्ध इतिहास कोई नहीं है। प्रारम्भिक प्रयास पुरातत्ववेत्ता डा० हीरालाल ने किया, उसके आधार पर वृहद रूप में लिखने की आवश्यकता है।

ऐतिहासिक सामग्री विस्तृत और बिखरी हुई है। प्राचीन काल के अनेक शिला लेख और सिक्के हैं। अनेक मन्दिरों के भग्नावशेष हैं जिनके अध्ययन द्वारा दृष्टिकोण में परिवर्त्तन होने की सम्भावना है। इसी प्रकार मध्यकालीन हस्तलिखित ग्रन्थ खोज के उपरान्त मिलते जाते हैं और जहाँ तक आधुनिक काल के इतिहास से सम्बन्ध है उनका प्रामाणिक इतिहास लिखना भी आसान नहीं है। मुझे खेद के साथ लिखना पड़ता है कि यद्यपि हमारी आजादी को २५ वर्ष हो चुके हैं, लेकिन ऐतिहासिक अनुसन्धान हेतु आज तक मध्य प्रदेश में

केन्द्रीय अभिलेखागार संगठित नहीं किया गया है। मध्य प्रदेश की सारी सामग्री बिखरी पड़ी है। शोधकार्य करने वालों को आसानी से पता भी नहीं लग सकता कि किन २ सरकारी अभिलेखों और ग्रन्थों को देखना आवश्यक है। प्राचीन काल से मध्य प्रदेश में अनेक देशी राज्य रहे हैं, त्रिपुरी के कलचुरि, बस्तर के नागवंश और कांकेर के सोमवंश का तो इतिहास पुराना है किन्तु ब्रिटिश राज्य के अन्तर्गत मध्य प्रदेश में कई रियासतें बनी तथा छत्तीसगढ़ में कई राज्य थे जो स्वतन्त्रता के उपरान्त मध्य प्रदेश में मिल गई। हर रियासत का अपना पुस्तकालय तथा अभिलेखागार था किन्तु आज उनका पता नहीं है। राजनांदगाँव में मैंने स्वयं जाकर देखा और खैरागढ़ और कांकेर के राजघरानों से सम्पर्क स्थापित करने के उपरान्त मालूम हुआ कि न वहाँ पुस्तकालय है और न अभिलेखागार। ब्रिटिश शासनकाल में हर जिले में एक छोटा सा अभिलेखागार होता था, जिनमें अभिलेखों की सूची मिल जाती थी। आज कहीं कहीं अभिलेखागार हैं किन्तु सूची शायद ही कहीं मिल सके। बहुत सी अमूल्य पुस्तकें, जिनकी प्रति अब उपलब्ध नही हैं, खो गई हैं। मध्य प्रदेश के अभिलेख नागपुर और भोपाल में विभाजित हैं। छत्तीसगढ़ के आधुनिक काल के इतिहास पर शोध कार्य तभी सम्भव है जब मध्य प्रदेश का एक केन्द्रीय अभिलेखागार हो और वहाँ सुविधा के लिये अभिलेखों की सूची बना ली जावें। मध्य प्रदेश को यदि भौगोलिक दृष्टि से देखा जावे तो स्पष्ट हो जावेगा कि वहाँ अनेक जातियाँ बसी हैं और प्रदेश में अनेक भाषाएं बोली जाती हैं। इन भाषाओं में साहित्य उपलब्ध है, अनेक कथाएं और किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। प्रमुखतः संस्कृत, फ़ारसी, हिन्दी, मराठी और अंग्रेजी भाषा का ज्ञान आवश्यक है, क्योंकि इन सभी भाषाओं में मध्य प्रदेश की ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध हैं। आदिम जातियाँ भी बसती हैं अतएव मानव विज्ञान का भी प्रादेशिक इतिहास लिखने में सहारा लेना पड़ता है। इन कठिनाइयों के होते हुए मध्यप्रदेश का इतिहास लिखना सरल कार्य नहीं। श्रद्धेय गुप्त जी उच्च कोटि के साहित्यिक हैं। उनकी लेखन शैली रोचक है। फैली हुई ऐतिहासिक सामग्री को उन्होंने यथा शक्ति क्रमबद्ध करने की चेष्टा की है। उनकी पुस्तक में मराठा काल तक का इतिहास है। जैसा मैंने लिखा है, ब्रिटिश काल का इतिहास लिखने के लिये अभिलेखागार का संगठित होना आवश्यक है जिसके तत्वावधान में सभी सरकारी कागज़ एकत्रित हो सकें जिससे उनके आधार पर आधुनिक काल का इतिहास लिखा जा सके। केवल सरकारी कागजात ही नही किन्तु पुराने समाचारपत्रों की प्रतियाँ, समकालीन प्रकाशित ग्रन्थों को भी एक जगह एकत्रित करना अत्यन्त आवश्यक है। मध्यप्रदेश ईसाई धर्म प्रचार का केन्द्र

रहा है। सांस्कृतिक जीवन के अध्ययन के लिये गिरजाघरों के अभिलेखों का अवलोकन भी आवश्यक है। श्री प्यारे लाल गुप्त जी के ग्रन्थ द्वारा हमारी जिज्ञासा और बढ़ती है। मुझे आशा है, अन्य विद्वानों का भी योगदान होगा और आधुनिक काल के इतिहास पर भी शोधकार्य होगा। मैं जानता हूँ रविशंकर विद्यालय के इतिहास विभाग के निर्देशन में छत्तीसगढ़ के इतिहास से सम्बन्धित कई विषयों पर शोध कार्य प्रारम्भ हो गया है। इनके पूर्ण होने पर मध्य प्रदेश के राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन पर काफी प्रकाश पड़ेगा।

शोध कार्य को पूरा कराने का उत्तरदायित्व केवल उन उत्साही व्यक्तियों पर ही नहीं है जो इस कार्य में संलग्न है। किन्तु इसमें समाज और प्रादेशिक सरकार के पूर्ण योगदान की आवश्यकता है। यह कार्य न केवल एक केन्द्रीय अभिलेखागार के संगठन से सम्भव है किन्तु आंचलिक अभिलेखागारों का भी संगठन आवश्यक है। उनकी यथाविधि सूचियाँ बनाने की आवश्यकता है। जो प्राचीन पुस्तकें और पाण्डुलिपियाँ लोगों के पास हैं उन्हें सरकार खरीद कर राजकीय पुस्तकालयों में सुरक्षित कर दे। बहुधा बहुत से अमूल्य ग्रन्थ देश के बाहर चले जाते हैं और जो भी उनके दाम अधिक देता है उसके हाथ बेंच दिये जाते हैं। बहुधा जिनके पास प्राचीन ग्रन्थ हैं वे शोध कार्य करने वालों को दिखाते नहीं हैं, यह बड़ी खेदजनक बात है।

छत्तीसगढ़ में साहित्यिक चर्चा की कमी नहीं है, और कई होनहार नवयुवक लेखक मिलेंगे। यदि उन्हें पूर्ण रूप से प्रोत्साहन मिले तो हर क्षेत्र में उच्च कोटि का साहित्य मिल सकता है। मध्य प्रदेश की सरकार के संरक्षण में रचना अकादिमी जैसी संस्थाओं द्वारा प्रशंसनीय कार्य हो रहा है, लेकिन वह पर्याप्त नहीं है।

मैं आशा करता हूँ कि गुप्त जी का यह ग्रन्थ, एक प्रेरणा देगा और भविष्य में इतिहास और हिन्दी साहित्य में अनेक पुस्तकें प्रकाशित होंगी। नये कुलपति तथा विश्वविद्यालय के अधिकारियों को कोटिशः धन्यवाद--उनकी सहानुभूति द्वारा ये पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं।

इलाहाबाद,

अगस्त १९७३

ओ० पी० भटनागर

भूतपूर्व अध्यक्ष,
इतिहास विभाग, रविशंकर
विश्वविद्यालय, रायपुर, म० प्र०

भूमिका

एक अरसे से दक्षिण कोसल अर्थात् प्राचीन छत्तीसगढ़ के इतिहास, उसके विभिन्न अंग और उपांगों तथा उसके जन-जीवन पर एक पुस्तक लिखने का कार्य-क्रम सामने था। काम धीरे-धीरे चलता रहा, सामग्रियां एकत्र होती रहीं, अड़चनें भी आईं पर ऐसा तो होता ही रहता है। अंत में पुस्तक तैयार हो गई और अब वह आपके सम्मुख है।

पुस्तक की रचना में विषय से संबंधित प्रायः सभी उपलब्ध प्रकाशित और हस्तलिखित पुस्तकों और दस्तावेजों का उपयोग किया गया है जो प्रारंभिक काल की गाथा कहते कहते क्रमशः मराठा शासन तक आ गये जब अंग्रेजों ने छ० ग० में प्रवेश किया। सच पूछिये तो इस दिशा में विदेशी इतिहासकारों ने बहुत कुछ किया है पर उनका दृष्टिकोण सदा शासकीय रहा है। विदेशी होने के कारण वे हमारे सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक प्रतिमानों को समझ ही नहीं सके। फिर भी हम उनकी प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते; इसलिए कि जो कुछ सामग्री उनके प्रयत्नों से उपलब्ध हो सकी है, उनसे भी हम वंचित रह जाते। तत्पश्चात् हमारे भारतीय इतिहासकारों ने जो शोध, अध्ययन और परीक्षण किया है, वह भी कम प्रशंसनीय नहीं है।

पर हमारा छ० ग० क्षेत्र इस संबंध में सदा उपेक्षित ही रहा। लगता है इसे लोग वन्य और पर्वतीय प्रदेश तथा गोंड़वाना-क्षेत्र समझकर—और "यहां क्या होगा या हो सकता है"—ऐसी धारणा बना कर छोड़ते गये तो फिर छोड़ते ही गये। उत्खनन, शोध, अनुसंधान, परीक्षण, अध्ययन आदि कार्यों के लिए पर्याप्त धन, साधन तथा संगठन चाहिए, जिनका यहां सर्वथा अभाव ही रहा। श्रद्धेय स्व० पं० लोचन प्रसाद जी पाण्डेय ने "महाकोसल हिस्टारिकल सोसाइटी" की स्थापना कर इस दिशा में यथाशक्ति बहुत कुछ कार्य किया और कुछ प्रकाशन भी निकाले पर धनाभाव के कारण सोसाइटी प्राणवान संस्था नहीं बन सकी। उत्खनन का कार्य तो यहां समुद्र में एक बूंद के बराबर भी नहीं हुआ। हमारी जानकारी में विद्वद्वर डा० दीक्षित के द्वारा जो कुछ हुआ, बस वही होकर रह

गया और वह भी केवल सिरपुर क्षेत्र में; जब कि यहाँ एक दो नहीं सैकड़ों स्थल अपनी कहानी सुनाने तैयार हैं; बशर्ते कि कोई उन्हें ढूंढ़ निकाले और उनसे पूछे। ऐसे स्थानों की एक सूची, जिसे अपूर्ण ही समझिये इस पुस्तक के अंत में परिशिष्ट के रूप में दे दी गई है। छ० ग० में शोध और उत्खनन का कार्य इतना जरूरी है, जितना निविड़ अंधकार में प्रकाश की आवश्तकता है।

पूर्वकाल में प्रत्येक राज्य में एक राजकीय संग्रहालय रहता था, जो पिछले समय में 'तोशकखाना' कहलाता था। यहाँ राज्य की बहुमूल्य सामग्रियां संग्रहीत रहती थीं जिनमें साज सज्जा के उपकरण, कालीन-गलीचे, अलभ्य पोथियां, राज्य का इतिहास, राजाओं की वंशावली, उनके चित्र, अन्य कलापूर्ण पौराणिक या ऐतिहासिक चित्र, दस्तावेज, चिट्ठी-पत्री आदि की प्रधानता रहती थीं। सन् १७४२ में जब नागपुर राज्य के भोंसला-सेनापति भास्कर पंत ने रतनपुर पर चढ़ाई की और रानियों ने सुलह के लिए श्वेत झंडा दिखलाकर किले के फाटक खोल दिये, तब जो लूट पाट हुई, वह अवर्णनीय है। भास्कर पंत ने ऊपरी तौर पर रतनपुर पर एक लाख रुपया जुर्माना किया; पर वस्तुतः सारा राजकोष तथा तोशक खाने की सारी सामग्रियां जब्त कर नागपुर भेज दीं। तोशकखाने की वे चीजें कहाँ हैं? वे अलभ्य हस्तलिखित विविध विषयक ग्रंथ कहाँ गये, जिन्हें हैहयवंशी राजाओं ने कायस्थ कर्मचारियों या विद्वानों से लिखवाकर वहाँ सुरक्षित रखा था? वहाँ उनके वंशजों का इतिहास भी था। नागपुर निवासी बड़े-बूढ़ों से सुनकर उनकी बाद वाली पीढ़ी बताती थी कि नागपुर राज्य जब अंग्रेजों के अधिकार में आ गया तब सैकड़ों बंद पेटियां समय समय पर लंदन चालान की गईथीं। स्पष्टतया इनमें बहुमूल्य रत्न, अन्य कलापूर्ण सामग्रियां, हस्तलिखित ग्रंथ तथा दस्तावेज रहे होंगे। संभवतः इनमें से कतिपय सामग्रियां लंदन म्यूजियम की शोभा बढ़ाती हों।

मध्यप्रदेश-शासन ने सन् १९७० में एक गश्ती पत्र निकाल कर तथा समाचार पत्रों में घोषणा प्रकाशित कर जनता से उन सभी प्राचीन सामग्रियों—जैसे, मुद्राएं, ताम्रपत्र, शिलालेख, हस्तलिखित ग्रंथ तथा अन्य वस्तुओं की सूची मंगाई थी, जो उनके पास हों। म० प्र० के प्रत्येक जिले में पुरातत्व विषयक समिति का संगठन भी किया गया था। शासन का यह कदम बहुत ठीक था। अब इन समितियों को शीघ्र सक्रिय बनाना उचित है। प्रत्येक जिले में एक सुन्दर संग्रहालय का निर्माण कर विभिन्न व्यक्तियों के पास सुरक्षित वस्तुएं उनसे दान में या उचित मूल्य में लेकर उन्हें यहाँ रक्खा जाय। पर मुख्य कार्य इस समिति का

रहे— जिले के चुने हुए स्थानों का उत्खनन कराना। इस संबंध में जो कर्मचारी नियुक्त किये जायँ उन्हें पहले चार छः मास का प्रारंभिक प्रशिक्षण दिया जाय; फिर उत्खनन का कार्य हाथ में लिया जाय। इससे किसी हद तक बेकारी भी दूर होगी और जिले का पुरातत्व भी प्रकाश में आवेगा। ज्यादा अच्छा यह होगा कि प्रत्येक संभाग के लिए अलग अलग पंचवर्षीय योजना बनाई जाय और पर्याप्त राशि व्यय के हेतु प्रदान की जाय।

इन प्रयासों के फलस्वरूप जब पुरातत्व तथा इतिहास की लुप्त कड़ियाँ प्रकाश में धीरे धीरे आती जायगीं, तब संभव है कि इस पुस्तक की तथा अन्य स्वीकृत मान्यता गलत साबित हों, या संभव है कि इन्हें और समर्थन मिले और एक समय ऐसा भी आवे कि छ० ग० का न केवल इतिहास प्रत्युत उसका सारा परिवेश नूतन वैज्ञानिक ढंग से फिर लिखा जाय।

एक बात और है। वर्षों की पराधीनता ने हमारे समाज की जीवन शक्ति को नष्ट कर दिया है। फिर भी जो कुछ संभल पाया है वह हमारे सामाजिक संगठन और सांस्कृतिक उपादानों के कारण। नये इतिहासकारों को इन जीवन शक्तियों को ढूंढ़ निकालना है। वास्तव में उनके लिए यह एक गंभीर चुनौती है। इस समय तो हर्ष की बात यही है कि हमारे रविशंकर विश्वविद्यालय ने जो इस संबंध में प्रेरणाप्रद एवं उत्साहवर्द्धक कदम उठाये है उनके फलस्वरूप अनेक उत्साही छात्र और छात्राओं ने छत्तीसगढ़ विषयक विभिन्न पहलुओं पर शोध करना प्रारंभ कर दिया है।

इस ग्रंथ के प्रणयन में जिन सन्मित्रों और स्नेहियों से विभिन्न प्रकार की सहायता और योगदान मिला है, मैं उन सब का आभारी हूं। इनमें सर्वश्री (डा०) वा० वि० मिराशी, बालचंद्र जैन, शोभनारायण चंदेले, लाला जगदलपुरी, (डा०) चंद्रकुमार अग्रवाल, (डा०) ज्ञानेश्वर प्रसाद शर्मा, (डा०) गोविन्द प्रसाद शर्मा, (डा०) कुंतल गोयल, हरि ठाकुर, गनपतलाल साव, रामदास शर्मा, रामानुजलाल श्रीवास्तव, सुरेन्द्र शर्मा, कृष्णा रंजन, (डा०) मुकुटधर पाण्डेय, (डा०) ब्रजभूषणसिंह आदर्श, भैया बहादुर कृष्ण प्रताप सिंह देव, बसंत दीवान (चित्रों के लिए) नथमल मुरारका, रामजी जायसवाल, दिलीप विरदी (चित्रों के लिए) और ओंकार प्रसाद गुप्त (नक्शों के लिए) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। युगधर्म के २६ जनवरी १६७१ के विशेषांक में

प्रकाशित डा० नरेन्द्रदेव वर्मा और श्री विष्णु कृष्ण जोशी के लेख इस ग्रंथ में उद्धृत किये गये हैं, अतः मैं इन तीनों का अनुगृहीत हूं।

रविशंकर विश्वविद्यालय, रायपुर का भी मैं परम कृतज्ञ हूं जिसने इस ग्रंथ को प्रकाशित कर मेरे परिश्रम की सार्थकता में योगदान दिया।

रायपुर, म० प्र०

प्यारेलाल गुप्त

शुभमिती भाद्रपद शुक्ल १ सं० २०३० वि०

दिनांक १, सितम्बर १६७३ ई०

विषयानुक्रमणिका

१–अतीत

पृष्ठ-संख्या

इतिहास–१

इतिहास--२

इतिहास--३

इतिहास--४

रियासतें और जमीन्दारियाँ

साहित्य--१

साहित्य--२

परिशिष्ट

चित्र-सूची

नक्शा-सूची

अतीत

१. प्रागैतिहासिक काल

२. द्रविड़ सभ्यता

३. आर्य सभ्यता

१

प्रागैतिहासिक काल

विषय-प्रवेश

संवत्सरों के इतिहास में सृष्टि का उत्पत्तिकाल १,६७,२६,४६,०७३ वर्ष पूर्व माना गया है।[1] अत्याधुनिक अनुसंधानों द्वारा विश्व की आयु दस अरब वर्ष आँकी गयी है। यों इसकी उत्पत्तिकाल के संबंध में काफी मतभेद है और इसकी उत्पत्ति ५६७६ वर्ष पूर्व मानने वाले भी मौजूद हैं।[2]

वैज्ञानिकों का अनुमान है कि अरबों वर्ष पहले जब पृथ्वी का सूर्य से विच्छेद हुआ, उस समय वह तप्त वाष्पपुञ्ज के रूप मे थी। धीरे-धीरे उसका धरातल ठंढा हुआ और इस परिवर्तन में करोड़ों वर्ष लग गये। पृथ्वी का भीतरी भाग धधक रहा था और वह कभी-कभी लावा के रूप में उसकी सतह की पपड़ी को फोड़ कर बाहर निकल पड़ता था। इस लावा ने ही पृथ्वी के स्थल भाग और समुद्र बनाये। लावा का जो भाग उपर और ठंडा हो गया वह तो स्थल बन गया और जहाँ वह धरातल को फोड़कर पुनः पृथ्वी के भीतर समा गया वहाँ के भाग गहरा हो जाने और कालांतर में पानी भर जाने के कारण समुद्र बन गये। पृथ्वी ज्यों-ज्यों ठंडी होती गई, उसकी ऊपरी सतह में सिकुड़नें पड़ती गईं। ये सिकुड़नें आज पहाड़ों और घाटियों के रूप में देखी जाती हैं।

सृष्टि सृजन

आदि काल में पृथ्वी पर जीवन या चैतन्यता का कोई चिन्ह नहीं था। किन्तु पृथ्वी यथेष्ट रूप में ठंढी हो गई और प्राणहीन पदार्थों की उलट-पुलट कम हो गई तो फिर जीवों के उत्पन्न होने की संभावना पैदा हो गई। वैज्ञानिकों का अनुमान है कि प्रारंभिक जीवाणु, समुद्रों में पैदा हुए और इस प्रकार जीवन के

---

१. काल विज्ञान पृ० ४३ महामहोपाध्याय जगन्नाथ प्रसाद भानु कवि।

२. पूर्वोक्त पृष्ठ ६।

अंकुर सर्वप्रथम जीवपंक से दृष्टिगोचर हुए। ये प्रारंभिक जीवाणु एक कोशीय रूप में विकसित हुए। तत्पश्चात् संबबद्ध होकर उनका अनेक कोशीय जीवों के रूप में विकास हुआ।[१]

फिर जीवपंक के छोटे-छोटे समूह रूपी सूक्ष्म जीवन कोशों से वनस्पतियों और जीव जन्तुओं का विकास हुआ। इस प्रकार की उन सूक्ष्म जीवकोशों में से कुछ ने अपने चारों ओर एक आवरण चढ़ा लिया और अन्तर में हरे रंग का एक पदार्थ पैदा किया। इस हरे रंग के पदार्थ ने सूर्य की शक्ति का उपयोग करके उसे प्राणी के लिए हवा और पानी की खुराकों में परिवर्तित कर दिया, अतः इन प्राणियों का रंग हरा हो गया। बाद में ये ही विकसित होकर पेड़ और पौधे बन गये। किन्तु जिन जीवों ने आवरण धारण नहीं किया, उनका शरीर विकसित होकर चलने फिरने योग्य तो हो गया पर वे वृक्षों की तरह उसे हवा और पानी में बदल नहीं सके बल्कि जीवन धारण करने के लिए हरे जीवकोशों को ही खाना आरंभ कर दिया। हरे जीवकोशों को खाने वाले इन जीवकोशों में ही संसार के सारे जीवजन्तुओं का विकास हुआ। संक्षेप में सृष्टि की उत्पत्ति की यही कथा है।

अब प्रश्न उठता है कि आदि मानव कैसा था और मानव सभ्यता कैसे आरंभ हुई? उत्तर यह है कि आदि मानव की उत्पत्ति संबंधी तथ्यों की तलाश में उसके खोजी बहुत समय से लगे हैं और अभी तक उन्होंने जो निष्कर्ष निकाला है उससे यह जानकारी प्राप्त हुई है कि पृथ्वी के भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न-भिन्न समय में, आदि मानव की उत्पत्ति हुई और धीरे-धीरे उन का विकास हुआ। अभी तक पृथ्वी के ६ स्थानों में आदि मानव के अस्तित्व का पता चला है पर उनमें भारतवर्ष नहीं है। फिर भी अभी अन्वेषण जारी है और कोई कह नहीं सकता कि इस प्रयत्न में अंतिम कड़ी कब जुड़ेगी क्योंकि अनुसंधान और खोज के मामले में अंतिम शब्द कोई नहीं कह सकता। स्मरण रहे कि आदि मानव और प्रागैतिहासिक काल के मानव में अंतर है जैसा कि उसके नाम से स्पष्ट बोध होता है कि आदि मानव सृष्टि उत्पत्ति के बाद ही प्रथम विकसित मनुष्य या मनुष्य समाज है जो पृथ्वी के विभिन्न समय पर अस्तित्व में आये।[२]

सभ्यता की परिभाषा

और सभ्यता की परिभाषा यही हो सकती है कि किसी भूभाग के निवासियों द्वारा, आपसी हितों का विचार करते हुए, जिस एक समाज विशेष की रचना की गई

---

१. डार्विन का सिद्धांत।

२. धर्मयुग में डा० हँसमुख सांकलिया के लेखों से संकलित।

हो, उस समाज के कार्य-कलापों तथा उनकी व्यवहारिकता को उस भूभाग की सभ्यता कह सकते हैं। भारत में आदि मानव ने जो भारत का ही आदि मानव कहा जा सकता है, कैसे जीवन व्यतीत किया, उसने कैसे समाज की रचना की, उसकी सभ्यता की कहानी कैसी है, ये सब प्रश्न सहज ही मन मे उठते हैं।

यह तो स्पष्ट हो चुका है कि आदि मानव का ज्ञान बहुत सीमित था। अपनी प्रारंभिक अवस्था में वह निपट असभ्य और असंस्कृत था। उन दिनों के मानव और पशु में कोई विशेष अंतर नहीं था। पशुओं की भाँति मनुष्य भी वन-पर्वतों और नदी-घाटियों में विचरा करता था और कन्दमूल आदि खाकर या वन्य पशुओं का आखेट कर उदर पोषण करता था। इस प्रकार उसके जीवन-यापन के साधन बहुत कम थे। धीरे-धीरे मस्तिष्क का विकास हुआ। वह अपने ज्ञान का विस्तार करने लगा। प्रकृति ने उसे जो साधन प्रदान किये थे, उनका उपयोग उसने कुशलता के साथ शुरू कर दिया। लेकिन इन स्थितियों में गुजरने में उसे पर्याप्त लंबा समय लग गया। इस प्रारंभिक विकास में न केवल मानव के वस्त्राभूषण और रहन-सहन के ढंग शामिल हैं अपितु उसके सोचने समझने की शक्ति भी। उसने धीरे-धीरे इस शक्ति का भी उपयोग करना आरंभ कर दिया। आसानी से भोजन प्राप्त कर सके, इसके लिए उसने नदियों में प्राप्त होने वाले बट्टों को तोड़ फोड़ करके नुकीला बना लिया जो औजार और हथियार बन गये।[1]

पाषाण युग का मध्यप्रदेश, दक्षिण और उत्तर भारत के तत्कालीन औजार-उद्योग का मिलन केन्द्र था। नर्मदाघाटी, पाषाणयुगीन मानव सभ्यता के विकास की मुख्य भूमि थी। स्मरण रहे कि नर्मदा नदी छत्तीसगढ़ के अंतर्गत बिलासपुर जिले की उत्तर सीमा में स्थित अमरकंटक से निकली है और भारत माता की कमर में लिपटी करधनी के समान सुशोभित है। उस समय के बने हुए औजार अधिकतर नदी तट के स्थानों मे ही प्राप्त होते हैं विशेषकर नर्मदा घाटी में प्राप्त ऐसे औजारों की संख्या बहुत अधिक है, अतएव ऐसा प्रतीत होता है कि म० प्र० का पूर्व पाषाण युगीन मानव, अन्य प्रदेश के मानव की भाँति नदी तट पर ही निवास स्थान बनाना अधिक पसंद करता था।[2] ऐसा करने से उसे अधिक सुविधाएँ प्राप्त

---

१. म० प्र० के पुरातत्व की रूपरेखा, पाषाण-युग, डा० म० ग० दीक्षित तथा शुक्ल अभिनंदन ग्रंथ, इतिहास खंड, पृष्ठ ४, ;बालचंद्र जैन।

२. म० प्र० के पुरातत्त्व की रूपरेखा, डा० पाषाण-युग, म० ग० दीक्षित तथा सतपुड़ा की सभ्यता, पृष्ठ १६, प्रयागदत्त शुक्ल।

होती थीं। पानी पीने के लिए आने वाले पशुओं का वह सरलता के साथ आखेट कर सकता था और निस्तार के लिए जल के हेतु उसे दूर नहीं जाना पड़ता था। कभी-कभी वह पर्वत की गुफाओं में भी डेरा डाल देता था यदि उसके निकट कोई पहाड़ी-निर्झरणी रही तो।

पूर्वास्था

ऐसी मान्यता है कि राजस्थान अरबसागर का ही एक भाग है। कालांतर में यह समुद्र सूखने लगा और राजपुताना को मरुस्थल बना कर उसके शेष भाग में पपड़ी जम गई। इधर हिमालय धरती का गर्भ फोड़कर बहुत ऊँचाई तक ऊपर उठ गया। पर इसके पहले जैसा कि भूगर्भ शास्त्रियों का कथन है—विन्ध्याचल-मेकल की श्रेणियाँ मौजूद थीं और ये संसार के अन्य पर्वतों की चट्टानों से अधिक प्राचीन हैं। अर्थात् पृथ्वी का जो थल भाग, जल से सबसे प्रथम ऊपर उठकर आया होगा, वह विन्ध्याचल और उसका निकटवर्ती भाग ही होगा। सृष्टि के आदि मानवों ने इसी पर्वत के आसपास जन्म लिया होगा और मानव सभ्यता की नींव इन्हीं पर्वतों के निकटवर्ती स्थानों में जल प्राप्ति की सुविधा के अनुसार पड़ी होगी।

प्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ डा० हँसमुख सांकलिया ने अपने एक लेख में उपर्युक्त मान्यता का समर्थन किया है। उन्होंने लिखा है "गंगा हमारी सबसे पवित्र नदी मानी जाती है। नर्मदा की भी यही मान्यता है। भू-वेत्ताओं के अनुसार इन दोनों में नर्मदा अधिक प्राचीन है। नर्मदा के तटों पर ही हमें भारत के आदि मानव के चिन्ह मिलते हैं। वस्तुतः यदि भारत में आदि मानव के कोई शारीरिक अवशेष प्राप्त होने की आशा है तो वह केवल नर्मदा नदी पर ही। यह क्षेत्र वैसे भी भारत का हृदय है। होशंगाबाद-नरसिंहपुर के बीच न केवल हजारों पाषाण के औजार प्राप्त हुये हैं बल्कि पशुओं तक की हड्डियाँ तथा अवशेष मिले हैं जो आज पृथ्वी पर कहीं नहीं मिलते। उनका आकार विशाल था। आज उनका लघु रूप आधुनिक नामों, जैसे—हाथी, घोड़ा, गाय, बैल, गैंडा आदि के रूप में मिलता है। लेकिन हमें जिन जानवरों के अवशेष मिले थे, वे आजकल के जानवरों से बहुत भिन्न थे, अतः उन्हें फासिल अर्थात् निर्वंश कहा जाता है।"

डा० सांकलिया की खोज

डा० सांकलिया इस प्रकार, अपनी खोज का निचोड़ लेखबद्ध करते हैं—"इस भूखंड की जलवायु में समय-समय पर परिवर्तन होने के प्रमाण मिलते हैं। एक वक्त ऐसा आया कि आदि मानव लुप्त हो चुका था। क्योंकि इसके बाद

न केवल नर्मदा नदी के तट बल्कि पूरे मध्य प्रदेश में ऐसे मानव की उपस्थिति के प्रमाण मिलते हैं जो छोटे-छोटे औजारों को उपयोग में लाते थे।" छत्तीसगढ़ के प्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ (स्व०) पं० लोचन प्रसाद पाण्डेय ने इस संबंध में वि० सं० २००० में जो मत प्रकट किये थे,[१] डा० सांकलिया के मत से बिलकुल मिलते हैं। उन्होंने एक लेख में लिखा है--"यदि कहा जाय कि वर्तमान छ० ग० अर्थात् महाकोसल मनुष्य जाति की सभ्यता का जन्म स्थान है तो भले आप इसे महत्व न दें किन्तु मैने इस अरण्य तथा पिछड़े हुए प्रांत के वनवासियों के सहवासी उच्च शिक्षा प्राप्त एक विद्वान को भारत विख्यात इतिहासज्ञों के बीच यह कहते सुना है कि वर्तमान समय में हमारा कोई इतिहास नहीं है पर यह निश्चय है कि मानव जाति की आदि सभ्यता यहीं पली थी।"

आदि मानव

अमरकंटक पहाड़ जो नर्मदा नदी का उद्गम स्थान है, छ० ग० की उत्तरी सीमा पर स्थित है, ऐसी स्थिति में कोई आश्चर्य नही कि छ० ग० के विशेष स्थानों में खुदाई की जाय तो आदि मानव का पता यहाँ भी चले। बिलासपुर जिले में रतनपुर किंबदंतियों तथा पुराणों के अनुसार बहुत पुराना स्थान है। महाभारत काल से ही पहले इसके अस्तित्व का पता चला है। संभव है कि इस क्षेत्र में भी आदि मानव की बस्ती का चिन्ह का प्रमाण खुदाई करने पर मिले। रायपुर जिले के सिहावा पहाड़ी-पोखर से निकलने वाली महानदी जो चित्रोत्पला भी कही जाती है, अपनी प्राचीनता के लिए विख्यात है। बहुत संभव है कि इसके तटों पर भी विशिष्ट स्थानों मे खुदाई करने से प्रागैतिहासिक काल के कुछ अवशेष प्राप्त हों। महानदी के गर्भ में (स्व०) पं० लोचन प्रसाद पाण्डेय ने अपने ग्राम बालपुर के निकट रोमन तथा भिन्न-भिन्न समय की मुद्राए एवं अन्य वस्तुएँ प्राप्त की थीं। आश्चर्य नही कि महानदी के गर्भ में प्रागैतिहासिक काल की बहुत सी वस्तुएँ समा गई हों।

छ० ग० से लगा हुआ बालाघाट जिले के गुंगरिया नामक गाँव में औजारों का एक बहुत बड़ा संग्रह *सन् १८७० में अनायास ही प्राप्त हो गया था।[२] उन स्थानों* पर खुदाई करने से ४२४ ताँबें के औजार और १०२ चाँदी के आभूषण निकले। ताँबे की समस्त वस्तुओं का वजन लगभग डेढ़ मन था और चाँदी के आभूषण

१. विष्णु यज्ञ स्मारक ग्रंथ रतनपुर, पृष्ठ ७६, लेखक द्वारा सम्पादित।
२. उत्कीर्ण लेख, बाल चंद्र जैन पृ० १।

लगभग १ सेर निकले। अधिकांश विशेषज्ञों की राय मे ये सब वस्तुए प्रागैतिहासिक काल की हो सकती है।

चट्टान चित्रकला

अरण्यों से आच्छादित छ० ग० के पर्वत और चट्टानों पर प्राचीन काल के मानव की चित्रकला के दर्शन आज भी कहीं कहीं होते है। ये शैल-चित्र भी जिन्हें बीस हजार से लगाकर पचास हजार से भी पूर्व का अनुमान किया जाता है, मानवीय सभ्यता के विकास के प्रथम चरण की ओर सकेत करते हैं। लगता है इन्हीं चित्र-शिल्पों से अक्षर और लिपियों का विकास हुआ होगा। आदि मानव के पास अपने हृदयगत भावो और विचारो की अभिव्यक्ति के लिए इन चित्र-शिल्पों के अतिरिक्त और कोई विकसित तथा सुलभ साधन भी तो नहीं था। इस प्रकार के टेकनिक स्पेन, आफ्रिका, अमेरिका आदि देशो मे मिले हुए चित्रों से इतनी समानता रखते है कि हमें यह मानने के लिए विवश होना पड़ता है कि या तो इन स्थानों में एक ही प्रकार की सस्कृति वाले लोगो का निवास रहा होगा या ये सब देशवासी एक दूसरे की सस्कृति से परिचित रहे होंगे क्योंकि विना परस्पर सम्पर्क स्थापित किये, यह सब सभव नही।

ये प्राचीन मानव पहाड़ो और गुफाओं में रहते थे तथा वन प्रदेशों में जानवरों का शिकार करके जीवन यापन करते थे। उन चित्रो को देखकर लगता है कि इन्हें चित्रकला का प्रारंभिक ज्ञान था और इस पर अनुराग भी था। इन्हें रगो की जानकारी भी थी जिसका उपयोग करके ये चट्टानों पर चित्र खींचा करते थे। शिकारो के ये चित्र इनके जीवन के प्रतिबिम्ब थे।[1] इन चित्रों के साथ अनेक सांकेतिक चिन्ह, जैसे--हाथ के पजों के चिन्ह, गोल या चोकोर अन्य चिन्ह आदि, स्पष्ट है कि विशेष अर्थो के लिए प्रयुक्त होते रहे होंगे।[2]

छत्तीसगढ़ के अन्तर्गत रायगढ़ जिले मे कबरा पहाड़ी तथा सिघनपुर की गुफाओं में, तथा होशंगाबाद जिले मे आदमगढ़, पचमढ़ी, रीवा, भोपाल तथा इनके आसपास अनेक पहाड़ी स्थानो मे ये चित्र देखे जा सकते है। कबरा पहाड़ी रायगढ़ से लगभग दस मील दूर आग्नेय कोण मे स्थित है। यहा की सारी चित्रकारियाँ रँगी हुई है। रंग गेरुवा सा जान पडता है। छिपकिली, घड़ियाल, सांभर तथा अन्य अनेक चित्र विशेष रूप से दर्शनीय है। इनके सिवाय कुछ प्रतीकात्मक चित्र भी है, किन्तु उनका सकेत क्या है, कहना कठिन है।

---

१. शुक्ल अभिनंदन ग्रंथ इति० खंड, पृष्ठ ६ बालचंद्र जैन।
२. सतपुड़ा की सभ्यता, पृष्ठ २५ प्रयागदत्त शुक्ल।

सिंधनपुर के गुफा-चित्र रायगढ़ से लगभग बारह मील की दूरी पर हैं किन्तु कबरा पहाड़ी से विपरीत दिशा में वहाँ पहुँचने के लिए भूपदेवपुर स्टेशन (दक्षिण पूर्व रेलवे) पर उतरना पड़ता है। यहाँ से सिंघनपुर लगभग तीन मील है। जिस पहाड़ी पर ये चित्र है, गाँव से लगी हुई है। पहाड़ी में दो गफाएँ हैं जो २५-३० फुट लम्बी और १५ फुट चौड़ी हैं। तीसरी गुफा जिसे चट्टानी आश्रम कहना अधिक उपयुक्त होगा, विशेष महत्व की है क्योंकि इसी गुफा में ये विश्वविख्यात चित्र खचित हैं। यह चित्रकारी गहरे लाल रंग मे है। इन चित्रों में चित्रित मनुष्य आकृतियाँ कहीं तो सीधी और खंडनुमा हैं और कहीं सीढ़ी-नुमा। यो कहना ठीक होगा कि आड़ी सीधी लकीरें खींच कर मनुष्य आकृतियाँ बना दी गई है। एक चित्र में बहुत से पुरुष लाठी ले कर किसी एक बड़े पशु का पीछा करते हुए दौड़े जा रहे हैं। पास ही एक छोटा पशु एक व्यक्ति पर सिर से हमला कर रहा है जैसे भेड़ या बकरा करते है।

वस्तुतः इन चित्रों की कलात्मक व्यंजना पर तो बहुत कुछ बातें नहीं कही जा सकतीं फिर भी इनमें से कुछ में तूलिका के प्रयोग की वैसी ही विधि का आभास मिलता है जैसे कि स्पेन राज्य के कोगुन नामक भित्ति चित्रों के आदिकालीन चित्रांकनों में के प्राचीनतम नमूनों में दिग्दर्शित है। सिंघनपुर के इन भित्तिचित्रों की प्रमुख कला-विशेषता उनका उल्लिखित भाव-प्रदर्शन तथा विषयांकन सम्बन्धी उनका धारा प्रवाह है। इन शैल-चित्रों और मिश्र के प्रागैतिहासिक काल के कथित जालीदार रेखाओं से खचित मिट्टी के बर्तनों पर की चित्रकारी में बहुत कुछ सादृश्य देखा जा सकता है। सच पूछिये तो इन चित्रों में जो कहानी चित्रांकित की गई है उसका पूरा रहस्योद्घाटन तथा अर्थ विवेचन होना अभी शेष है।

कालबली ने जहाँ एक ओर इनमें से कई शिलाचित्रों को मिटा डाला है वहाँ दूसरी ओर कुछ नये स्थानों में भी इस प्रकार के चित्रों की खोज हुई है जैसे रीवाँ और भोपाल की निकटवर्ती पहाड़ियों में। इन शैल-चित्रों के निर्माण-काल और निर्माण कर्त्ताओं के सम्बन्ध में अभी तक पुरातत्त्वज्ञों में मतभेद है। कोई इन्हें बीस हजार[1] वर्ष पहले का और कोई पचास हजार वर्ष पहले का बताता है। पर साधारण जनता की दृष्टि मे इस मतभेद का कोई मूल्य नहीं है जबकि मनुष्य का सारा जीवन सौ वर्ष के अंदर ही खप जाता है।

किन्तु इसके साथ ही एक बात ध्यान में रखने योग्य है कि एक सभ्यता

---

१. सतपुड़ा की सभ्यता, पृष्ठ २५, प्रयागदत्त।

को कुचलने के लिए दूसरी सभ्यता सदैव कटिबद्ध रहा करती है। उदाहरण के लिए अंग्रेजी राज्य में भारत का वर्तमान संपूर्ण चित्र आपके सामने उजागर है। अवसर पाते ही किसी भी समुन्नत और प्राचीन सभ्यता का नामोनिशान मिटा कर नई शक्तिवान सभ्यता अपनी नींव डालने में कभी भी पीछे नहीं हटती। इन नई सभ्यताओं की नींव के पत्थर उखाड़ कर देखिये तो प्राचीन सभ्यताओं की अस्थियाँ दृष्टिगोचर होंगी।

अभी तक विद्वानों ने छ० ग० में पुरातत्त्व संबंधी अनुसंधान किया है उनमें कनिंघम साहब को प्रथम स्थान दिया जा सकता है। तत्पश्चात् स्व० पं० श्री लोचन प्रसाद पाण्डेय ने 'महाकोसल हिस्टारिकल सोसाइटी'[1] की स्थापना कर इस दिशा में जो प्रयास किया है वह चिरस्मरणीय रहेगा। महामहोपाध्याय डा० वासुदेव विष्णु मिराशी, रायबहादुर हीरालाल और डा० दीक्षित तथा कतिपय और विद्वानो ने भी इस संबंध में बहुत कुछ परिश्रम किया है पर वास्तविकता तो यह है कि अभी भी छत्तीसगढ़ में पुरातत्त्व संबंधी अनुसंधान का कार्य समुद्र में बूंद के समान भी नहीं हुआ है। सारा छ० ग० (सरगुजा, रायगढ़, बिलासपुर, रायपुर, दुर्ग और बस्तर जिले) इस संबंध में अविकसित क्षेत्र कहा जा सकता है। विश्वास किया जा सकता है कि इस क्षेत्र में विधिपूर्ण खनन तथा शोध कार्य करने से इतिहास की अछूती, अपूर्ण और अज्ञात कड़ियाँ जुड़ती चली जावेंगी।

——०——

---
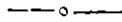
१. इस ग्रंथ का लेखक इस सोसाइटी का उप सचिव था।

२
द्रविड़ सभ्यता

भू-गर्भ विशारदों का मत है कि भारत के आकार-प्रकार में उत्तरभारत के भूमिखंड में परिवर्तन होने के बहुत पश्चात् और अधिक परिवर्तन होते गये और दक्षिण भारत छोटा होता गया। उसके त्रिकोणात्मक आकार में बहुत कटौती हुई और उसका वह भाग जो लंका, स्याम, मलेशिया, कम्बोडिया, सुमात्रा, बटेबिया, जावा, इंडोनेशिया, लेमूरिज आदि द्वीपों का पुंज भारत की मुख्य भूमि से या तो अलग थे या समुद्र ने अपना विस्तार बढ़ाकर उन्हें अलग कर दिया।

यहाँ जिस भूमिखंड को भारत के नाम से जानते हैं उसके प्राचीन निवासी आर्य थे कि अन्य, इस संबंध में बड़ा मतभेद है। कई विद्वानों का मत है कि आर्यों के बाहर से भारत में आने की कहानी सर्वथा कपोलकल्पित है।[१] सिकन्दर के राजदूत मेगास्थनीज लगभग ३०५ ई० पूर्व मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त की राजसभा में कुछ समय तक मौजूद था। उसने एक स्थान पर लिखा है कि "समस्त भारत एक विराट देश है और उसमें अनेक विभिन्न जातियाँ निवास करती हैं। इनमें से एक मनुष्य भी मूलतः विदेशी वंशोत्पन्न नहीं है। इसके अतिरिक्त भारत में विदेशियों का कोई उपनिवेश कभी स्थापित नहीं हुआ और न भारत ने ही विदेश में कोई उपनिवेश स्थापित किया।"[२] लगभग सौ-सवा सौ वर्ष पहले एलफिन्स्टन ने अपने भारत के इतिहास में मेगास्थनीज के इस विवृत को उद्धृत करते हुए लिखा है कि "भारतीय हिन्दुओं के पूर्वज कभी अपने वर्तमान निवासस्थान के अतिरिक्त किसी दूसरे देश में थे, ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है।" वेद, मनुस्मृति या इनके पूर्ववर्ती किसी ग्रंथ में आर्यों के पूर्व निवासभूमि का उल्लेख नही है क्योंकि उसकी जरूरत थी ही नहीं। हमारे शास्त्रों मे भी आर्यो के बाहर से आने का कोई उल्लेख नहीं मिलता। यह तो

---

१. इतिहास प्रवेश, पाद टीका २२, जयचंद्र विद्यालंकार।

२. एलफिन्स्टन का भारत का इतिहास।

अंग्रेज तथा अन्य विदेशी विद्वानों मैक्समूलर आदि की कल्पना है कि आर्य बाहर से आये और उनके इस निष्कर्ष को प्रबल समर्थन मिल गया जिनके अनेक कारणों में से राजनीतिक कारण मुख्य है ।[1]

भारत के मूल निवासी : विद्वानों के विभिन्न मत

दूसरा मत है कि आर्य उत्तर-पश्चिम सीमा से जब आगे भारत की ओर बढ़े तब जिन जातियों की राजसत्ता यहाँ कायम थी उनमें तीन जातियाँ प्रमुख थीं। (१) कोल-निषाद, (२) द्रविड़ (किरात, ब्रह्मा, तिब्बती, मंगोलियन) और (३) कोल-द्रविड़ का मिश्रण । इनमे से कोल को बहुत पुरानी जाति समझा जाता है । इनकी भाषा तथा इंडोनेशिया, मलाया, निकोबार आदि द्वीपों के वनवासियों की भाषा का मूल स्रोत एक ही है—ऐसा कुछ विद्वानों का मत है । यह भी हो सकता है कि हजारों वर्ष पहले ये सब देश भारत की भूमि से मिले रहे हों; यह भी संभव है कि इन जातियों ने उपर्युक्त द्वीपों में उपनिवेश स्थापित किये हों ।[2]

कुछ लोगों के मतानुसार ये कोल भी उत्तर-पूर्व के पर्वतीय मार्गों द्वारा भारत में आये थे । पश्चात् जब द्रविड़ उत्तर पश्चिम भागों से भारत आये तब उन्होंने कोलों को उत्तर-भारत के उपजाऊ मैदानों से खदेड़ कर वहां अपना अधिकार जमाना आरंभ कर दिया । परिणाम यह हुआ कि इन कोलों ने पर्वतीय प्रदेशों और वनों को अपना वास्तव्य स्थान बना लिया । कोलों के वंशज आजकल असम, बंगाल, तामिलनाड, छोटानागपुर आदि के वनप्रदेशों में पाये जाते है ।

द्रविड़ के मूल निवासस्थान के संबंध में भी बहुत मतभेद है । कुछ विद्वान इन्हें दक्षिण भारत के मूल निवासी मानते है पर अधिकांश विद्वानों की धारणा है कि ये लोग भी बाहर से आये थे तथा मंगोल जाति के थे । विद्वानों का एक दल और है जो समझता है कि हिन्द महासागर में लेमूरिज नामक एक द्वीप था जो अब समुद्र के गर्भ में समा गया है, द्रविड़ वहीं के निवासी है । द्रविड़ों का मूल स्थान चाहे जहाँ रहा हो पर इतना तो निश्चय है कि अंत में ये लोग दक्षिण भारत में स्थायी रूप से निवास करने लगे और वहीं इनकी सभ्यता और संस्कृति का उत्तरोत्तर विकास होता गया जो आर्यों की सभ्यता तथा संस्कृति से

द्रविड़-सभ्यता

द्रविड़ गाँवों तथा नगरों दोनों में निवास करते थे। सच पूछिये तो भारत में नगरों का निर्माण सर्वप्रथम द्रविड़ों ने ही किया था। शत्रुओं से इन नगरों की रक्षा करने हेतु ये किलाबंदी करते थे और सदैव सजग रहा करते थे। नागरिक जीवन तथा उसकी सभ्यता का आरंभ इन्होंने ही किया था। ये कुशल व्यापारी भी थे। विदेशों तक इनका व्यापार चलता था। कृषि कार्यों में भी ये परम निपुण थे। विभिन्न प्रकार के अन्नों की खेती करना, खेतों की सिंचाई के लिए बाँध या तालाबों का निर्माण करना, नदियों पर पुल बनाना आदि सब बातों की इन्हें जानकारी थी।

द्रविड़ों का समाज मातृप्रधान था और अभी भी है। मामा की पुत्री से व्याह करने का इन्हें प्रथम अधिकार है। इनके समाज में केवल ब्राह्मण और शूद्र पाये जाते हैं। ये बहुधा शिवपूजक हैं। गृह-निर्माण, सुन्दर आभूषण, कला-पूर्ण वस्त्रों की बुनाई तथा रंगाई, नृत्य, संगीत आदि सभी विद्याओं में ये शुरू से सिद्धहस्त रहे। ताड़ के पत्तों पर ये लिखते थे। इनकी सुनिश्चित शासन प्रणाली थी।[1]

सिन्धु घाटी-सभ्यता

सन् १९२२ में सिन्धु घाटी में हड़प्पा और मोहनजोदड़ो नामक स्थानों में उत्खनन कार्य हुआ और उससे जो सामग्री प्राप्त हुई उसके परीक्षण से यह अनुमान लगाया जा रहा है कि यह सभ्यता लगभग चार हजार वर्ष पुरानी है और इसका विस्तार एक त्रिभुज के आकार में ९५०,६०० तथा ५०० मील रहा होगा। इस सुविस्तृत क्षेत्र के अंतर्गत वर्तमान उत्तर-पश्चिमी भाग, सीमा प्रांत, पंजाब, सिंध, काठियावाड़ का अधिकांश भाग, गंगाघाटी का उत्तरी क्षेत्र तथा पूरा राजस्थान आ जाता है।

अभी हाल में भारत के सर्वेक्षण विभाग के श्रीकृष्णराव और राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान के निदेशक डा० फतहसिंह ने सिन्धुलिपि को अलग अलग पढ़ने का दावा किया है।[2] इन दोनों विद्वानों की स्पष्ट मान्यता है कि पूर्वाग्रहों से मुक्त हुए बिना सिन्धु घाटी सभ्यता का स्रोत जानना संभव नहीं है। विदेशियों द्वारा आरोपित प्रत्येक निष्कर्ष को सत्य स्वीकार कर लेना सर्वथा अनुचित है। सिन्धुघाटी सभ्यता का रहस्य उसके मुद्रा-चित्रों पर अंकित लिपि में छिपा

---

१. भारतीय संस्कृति का विकास, पादटीका ४०, मंगलदेव शास्त्री।

२. हिन्दुस्तान स्टेंडर्ड में प्रकाशित लेख।

हुआ है। इन विदेशियों का यह कहना कि सिन्धु घाटी सभ्यता द्रविड़ों की थी, इसे न फतहसिंह मानते हैं न कृष्णराव। इनके अनुसार सिन्धुघाटी सभ्यता में मूलत: आर्यो का निवास था, भले ही वर्तमान काल के समान भिन्न-भिन्न जाति और सभ्यता के लोग भी वहाँ आकर बस गये हों जैसे––आज भारत के शहरों में विभिन्न प्रांतों के निवासी व्यापार, नौकरी आदि के सिलसिले में आकर बस जाते हैं और यहाँ तक कि अधिक संख्या मे हो जाने पर मूल वास्तव्य स्थान को तिलांजलि दे देते हैं। मिस्र, सुमेरी, केटा, जर्मन आदि आर्यों की पृथक शाखाएँ थीं। कृष्णराव ने जिस पशुपति सील को पढ़ा है उसमें वैदिक देवताओं तथा ईशान, सोम, वरुण आदि का उल्लेख है। रावण आदि असुर-शासक भी इसमें उल्लिखित है। आर्यो ने विदेशी शासकों के साथ भी अपने राजनयिक सम्बन्ध कायम किये थे। विदेशी शासक सुलेमान का भी इसमें जिक्र है। फतहसिंह ने इस मुद्रालिपि में उपनिषदों का भी प्रतीक पाया है। "यज्ञ" शब्द का प्रयोग भी इसमें मिला है। लगता है कि जो लोग आर्यों और द्रविड़ों को पृथक मान कर भारतीय सभ्यता को समझने की कोशिश करते हैं, हठधर्मी में आ जाते हैं। सिन्धु घाटी की सभ्यता ईसा से तीन हजार पूर्व से लेकर नौ सौ ईसा पूर्व तक निर्धारित किया जा सकता है।

गोंड़वाना

द्रविड़ों का एक वर्ग "गोंड" छत्तीसगढ़ में रहता आया है। अभी भी इस क्षेत्र में गोंड़ों की जनसंख्या अधिक है। आर्यो के प्रवेश के पहले जिस भाग मे इनका राज्य था वह "गोंड़वाना" कहलाता था यद्यपि पूरे छ० ग० को गोंड़वाना नाम मुसलमानों ने दिया था।[1] नागपुर में तो 'गोंडवाना क्लब' तक खोल रखा गया है यद्यपि इसके सदस्य गोंड़ेतर सज्जन है और जो अत्यन्त सम्माननीय दृष्टि से देखे जाते हैं। गोंड़ो को अपनी स्वतंत्रता, सभ्यता तथा संस्कृति की रक्षा के लिए आर्यों से निरन्तर टक्कर लेना पड़ता था।

पर अनार्यों के वे वर्ग जो बहुत पिछड़े थे धीरे-धीरे दक्षिण के वन प्रदेश और पर्वतों में चले गये। इधर विन्ध्याचल, सतपुड़ा, मेकल छोटानागपुर के अंचलों में भी इन्होंने निवास करना आरंभ कर दिया और वनवासी जीवन व्यतीत करने लगे। यहां इन्होंने छोटे-छोटे राज्य भी स्थापित किये। इनके वंशज अभी तक यहां पाये जाते है। रायगढ़ और सरगुजा जिलों में

१. छत्तीसगढ़ परिचय, पृष्ठ १२ डा० बल्देव प्रसाद मिश्र तथा सतपुड़ा की सभ्यता, पृष्ठ २, प्रयागदत्त शुक्ल।

कोल्ड या मुंडाजाति पर्याप्त संख्या में है। कोल जाति की श्रेणी में कोल, कुरकू, कंवर, बैगा, बिझवार, भील, मुंजिया, भूमिया, धांगर, गुड़बा, महार, माँझी, सबरा, महतो आदि लोग आते हैं जब कि द्रविड़ों की श्रेणी में गोंड़, भटेहगोंड़ मारी गोंड़, गोत्तावर, गोंड़, धुररी गोंड़, कातोलवार गोंड़, खोड़, हल्बे, कोई आदि की गणना होती है। छत्तीसगढ़ में तीनों प्राचीन सभ्यता तथा संस्कृति की त्रिवेणी बहती है—१ कोल, द्रविड़ और आर्य।

अनार्यों ने वनप्रदेशों में अपना वास्तव्य स्थान बनाकर आर्यों को सताना बंद नहीं किया। उन्होंने आमने-सामने युद्ध करने के बजाय गुरिल्ला युद्ध प्रणाली अपना ली थी। आर्यों को अवसर पाकर लूट लेना, ऋषि मुनियों के यज्ञ-याग में विघ्न डालना, तपोवन में आग लगा देना या उन्हें मौत के घाट उतार देना, उनके परेशान करने के ढंग थे। ऐतरेय पुराण में ऐसी सात जातियों का उल्लेख है जो यज्ञोत्सव जैसे कार्यों में विघ्न डाला करती थीं—आंध्र, पुंड्र, सवर, पुलिन्द्र, मुतीक, किरात और बर्बर। वररुचि ने इस संबंध में जो नाम गिनाये हैं वे इस प्रकार हैं—द्रविड़, उत्कल, बसवादि, अभिरक और शकारि। महाभारतकार ने इन नामों में कंबोज और जोड़ दिया है। कम्बोज और शक विदेशी जातियाँ थी जिन्हें दस्यु की संज्ञा दी गई थी। अब तो उपर्युक्त प्राय: सभी जातियाँ और आर्य परस्पर मिल गये हैं।

सबरों का उल्लेख अनेक ग्रंथों में आगे भी मिलता है। वाण कवि कृत हर्षचरित में सबरों को विन्ध्याचल का वासी कहा गया है। कादम्बरी नामक उनके उपन्यास में भी इनका उल्लेख है। मिस्र के प्रख्यात ज्योतिषी (सन् १३०-१६१ ई०) ने भी नर्मदा के दक्षिण में सबर और पुलिन्द जाति के लोगों के निवास करने का उल्लेख किया है। रामायण में सबरी की कथा प्रसिद्ध है। आज भी सारंगढ़ (छ० ग० के अंतर्गत) क्षेत्र में सबरजाति के लोग पाये जाते हैं। सारंगढ़ नरेश के पास ऐसे ताम्रपत्र मौजूद हैं जो सबर राजाओं के द्वारा जारी किये गये हैं। इनसे ज्ञात होता है कि छ० ग० के किसी भाग में सबरों का राज्य रहा होगा।

नागवंश

प्राचीन अनार्य जातियों में एक जाति नागवंशियों की भी थी। शक और हूण की तरह ये लोग भी भारत में बाहर से आये थे। यह नाग-जाति इंडोसिथिया नामक स्थान से मध्य एशिया पार कर भारत आई थी। शक और हूण भी वहीं से आये थे और नागों की तरह आर्य सभ्यता अपना ली थी। इन्होंने अपनी गणना क्षत्रियों में करके उनमें घुलमिल गये। नागपुर तथा वहाँ

की नाग नदी का नाम नागजाति से संबंधित बताया जाता है ।[1] कि डा० हीरालाल लिखते हैं कि प्रसिद्ध बौद्धशास्त्रवेत्ता नागार्जुन नागपुर के पा रामटेक की पहाड़ी की एक कंदरा में रहते थे और उन्होंने 'नाग सहस्रिक नाम की पुस्तक भी लिखी थी, जिससे उन्हें नागार्जुन की उपाधि मिली ।

महाभारत काल में नागवंशियों का राज्य यमुना नदी के आसपास के प्रदे में फैला हुआ था । नागवंश की अनेक शाखाएँ उपशाखाएँ उद्भूत हुई थीं इनमें सबसे प्राचीन हैं—१. लक्ष्यवंश, २. कार्कोटक वंश और ३. शेष वंश (कथा सरित्सागर के अनुसार इनका राज्य मध्यप्रदेश में था) ४. वासुकि वं ५. मणिभद्रवंश । (इनका राज्य सुदूर दक्षिण में था) और ६. सिन्दव (इन्होंने दक्षिण में राज्य किया) सिन्दे या सिंधिया की उत्पत्ति इन्हीं से बत जाती है ।

इतिहासज्ञों के अनुसार श्रीरामचन्द्र के द्वितीय पुत्र की राजधानी उज्जै में थी । उस समय उज्जैन महाकोसल के अंतर्गत था और उत्तरकोसल से पृ था । कुश का विवाह-संबंध किसी नागवंशी कन्या के साथ हुआ था जो महाको के अंतर्गत किसी राजा की पुत्री थी । कहा जाता है कि मणिपुर या चित्रां पुर छ० ग० के रायपुर जिले के श्रीपुर (सिरपुर) का प्राचीन नाम है यहाँ अर्जुन के पुत्र बभ्रुवाहन राज्य करते थे ।[2] चित्रांगदा इसी मणिपुर न की पुत्री थी । भोज के पिता सिंधुराज ने भी नर्मदाघाटी के किसी नागवं राजा की पुत्री शशिप्रभा से विवाह किया था ।

इन सब विवरणों से ज्ञात होता है कि उस समय दक्षिण भारत अधिकांश भागों में नागवंशियों का राज्य था और उन्हें क्षत्रियों का प्राप्त था । आर्यों से और इनसे समय-समय पर संघर्ष होते रहे हैं । मत्स्यपु में लिखा है कि माहिष्मतीपुर (महेश्वर) में कार्कोटक के साथ सहस्रबाहु युद्ध कर उसे पराजित किया था और माहिष्मती को अपनी राजधानी बना थी । राजा परीक्षित की कथा इसी नागवंश से संबंधित है । जन्मेजय नागयज्ञ इसी संघर्ष की ओर संकेत करता है । महाभारत युद्ध में नाग क उलूपी के पुत्र इरावन ने पाण्डवों का पक्ष ग्रहण किया था ।

---

१. नागवंश का इतिहास, लाल प्रद्युम्न सिंह तथा भौगोलिक नामार्थ प पृष्ठ १३, डा० हीरालाल ।

२. छ० ग० परिचय, पृष्ठ १०६ डा० बल्देवप्रसाद मिश्र ।

विदेशी इतिहासकारों की खुराफातें

वर्तमान काल में दक्षिण, उत्तर की ओर बड़ी कुपित तथा तिरस्कार की दृष्टि से देख रहा है। वह नैतिक, सामाजिक तथा विभिन्न स्तरों पर भी उत्तर का विरोधी बन बैठा है। पर यह उसका दोष नहीं है। दोषी हैं वे विदेशी इतिहासकार जो "लोगों में फूट पैदा करो और उन पर राज्य करो"[१] की घिनौनी नीति में अपनी राजसत्ता को सहायता देते थे और इसी आधार पर भारत में विदेशी राजसत्ता की नींव को सुदृढ़ करने में जबरदस्त और प्रभावशाली योगदान देते थे। द्रविड़ संस्कृति के पृथक अस्तित्व की ओर संकेत करने वाले ये अंग्रेज इतिहासकार यह चाहते थे और चाहते हैं कि भारत सदैव विदेशियों की गुलामी करता रहे और वे उसका शोषण करते रहें। हिन्दू मुसलमानों में फूट का बीज बोकर उन्होंने पाकिस्तान को अस्तित्व में लाया और उनका यह प्रयत्न सदैव जारी रहा कि दक्षिणात्यों में भी ऐसी मनोवृत्ति निर्माण कर दें जिससे वे उत्तर भारत से सदैव ३६ का संबंध बनाये रक्खें और अवसर पाकर भारतीय संघ से अलग होने की माँग करें।

किन्तु यदि आप धैर्यपूर्वक आर्यों के प्राचीन साहित्य का अध्ययन करें तो पायेंगे कि वास्तविक स्थिति का बयान करते-करते जहाँ उनमें आर्यावर्त के महत्व का वर्णन किया गया है वहाँ दक्षिणापथ को भी गौरवपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। भारतीय संस्कृति ने जहाँ वैयक्तिक, प्रादेशिक, सामूहिक तथा सामाजिक विशिष्टताओं का सम्मान करना सिखाया है वहाँ उन सब में व्याप्त एकात्मता को पहिचान सकने की भी अंतर्दृष्टि दी है। वे एक में अनेक को सदैव देखते रहे हैं। "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः तमात्मानं ये नु पश्यन्ति धीराः।" हमारे ऋषि मुनियों का प्रारंभ से ही यह प्रयत्न रहा है कि वे बाह्य विविधताओं के आवरण के पीछे छिपे हुए, परन्तु सब में व्याप्त समग्रत्व रूपी आत्मतत्व के दर्शन करावें। विविधताओं का बाह्य शरीर, अचेतन और जड़ है, परन्तु "समग्रत्व" का आत्मतत्व जीवित एवं चेतन है जो बाह्य शरीर को भी शक्ति और गति प्रदान कर रहा है।[२]

पं० जवाहरलाल नेहरू ने भी अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "भारत की खोज" में लिखा है—"ऊपर से देखने में भारत के पठान और सुदूर दक्षिण के तमिल व्यक्ति में मुश्किल से कोई समानता दिखाई देती है—जाति, आकार, भाषा,

---

१. ए स्केच आफ् दी हिस्ट्री आफ इंडिया—डाडनेल।

२. भारतीय संस्कृति, अध्याय ८, ईश्वरी प्रसाद।

खान-पान, वेशभूषा, सभी तो भिन्न जान पड़ते है पर जरा टटोलिये तो आपको उनकी भारतीयता भीतर से झाँकती नजर आने लगेगी।"

तमिल के अत्यन्त लोकप्रिय साहित्यिक सुब्रह्म भारती इस तथ्य को पहिचानते थे। उन्होंने एक प्रसंग में कहा है—"भारतमाता अठारह बोलियाँ बोलती है, किन्तु उसका चिन्तन एक ही रहा है।"

प्रोफेसर राजगोपालन अंग्रेजों की इस कूटनीति को भलीभाँति समझते थे। उन्होंने लिखा है—"राम और कृष्ण, पाराशर और व्यास, शंकर और रामानुज, तुलसी और कंबन, बालिमकी और कुमार व्यास भारत के किसी एक प्रदेश का प्रतिनिधित्व नहीं करते, अपितु ये सब भारतीयता के प्रतिनिधि है।"

एक बात और ध्यान में रखने योग्य है कि भारत की वर्तमान जनता अनेक नृवंशों के सम्मिश्रण का परिणाम है। अनेक नृवंशों की रक्तधाराओं के संगम से भारत की वर्तमान संतति का प्रवाह निर्माण हुआ है। प्रसिद्ध इतिहासकार श्री जयचन्द्र विद्यालंकार लिखते है—"ऐसा नहीं मान लेना चाहिए कि आज जो लोग आर्य भाषाएँ बोलते है, वे सब प्राचीनकालीन आर्यो की सतान है और जो द्रविड़ भाषाएँ बोलते है वे द्रविडो की ही सतति है। नहीं, दोनो नृवंशों मे परस्पर सम्मिश्रण खूब हुआ है।" भारत में जाति प्रथा और वर्ण-धर्म का जब सामाजिक रूप स्थिर हुआ उससे बहुत पहले मानव इतिहास के लगभग आदि युग में ही नृवंशों की नस्ल की विशुद्धता लोप हो चुकी थी।

आर्यों और द्रविड़ों की विभिन्नता के सबंध मे इन - सायक्लोपीडिया ब्रिटेनिका के सन् १९६५ के सस्करण में यह मत प्रकट किया गया है—"कुछ समय पूर्व जो यह मत सामान्यत: प्रचलित था कि दो हजार वर्षो से भी पूर्व जब आर्यों ने भारत में प्रवेश किया, द्रविड जाति के लोग ही सपूर्ण भारत में फैले हुए थे अथवा यह मत कि वैदिक मत्रो मे जिन मूल निवासियो के साथ आर्यों के संबंध के संकेत है वे मूल निवासी द्रविड़ थे, जिन्हे आर्यो ने पराजित करके दक्षिण की ओर खदेड़ दिया था उन्हे अब ऐतिहासिक पुरातत्व स्वीकार नहीं करते। द्रविड़ जातिवाद की प्रबल भावना, जो अपने आपको भारत के अन्य लोगो से पृथक रूप मे प्रस्तुत करती है, वह अभी कुछ ही वर्षो के इतिहास की उपज है।" इस स्पष्ट कथन की हम प्रशसा करते है।

महान राजनीतिज्ञ चाणक्य भी द्रविड़ थे

भारत के धर्म, सभ्यता, राजनीति, शिष्टाचार [illegible] संस्कृति तथा भाषा, साहित्य, कला और अर्थनीति, आदि सभी क्षेत्रो [illegible] शैलियों

तथा जातियों-वंशों ने अपना-अपना अंश समर्पित किया है। अनेक वस्तुओं और तत्वों को, जिन्हें भारतीय हिन्दू या आर्य संस्कृति धर्म का अभिन्न तत्व मानते है, आर्येतर जातियों से उपलब्ध किया गया है, जिन्हें आज पृथक नही किया जा सकता। उदाहरण के लिए—शिव-नीलकंठ, गणेश, हलधर, बलदेव, गरुड़, स्कंद-कार्तिकेय, विष्णु आदि देवता मूलरूप में द्रविड़ो की देन है।[1] परंतु आज उन्हे आर्य देवताओं —ब्रह्मा, इन्द्र, वरुण, अग्नि, सरस्वती इत्यादि से पृथक करना असंभव है। इसी प्रकार पूजा-आर्चा की सामग्री तथा विधियों में भी द्रविड़ सभ्यता का बड़ा प्रभाव पड़ा है। भक्ति परम्परा द्रविड़ों से ही प्राप्त हुई है। वेदान्त के द्वैत, अद्वैत तथा विशिष्टाद्वैत इत्यादि दर्शनों के प्रवक्ता शंकर, रामानुज, वल्लभाचार्य सभी द्रविड़ देश की प्रतिभाएँ थीं परन्तु आज सारा देश उन्हें पूज्यदृष्टि से देखता है। महान राजनीतिज्ञ चाणक्य भी द्रविड़ थे।

वर्तमान राजशासन में भी दक्षिणात्यों को उच्च-से-उच्च पद देने में कोई आशंका नही की जाती। सर्वश्री राजगोपालाचारी, राधाकृष्णन, वेंकटवराह गिरि, मेनन और अन्य अनेक विशिष्ट जन भारत के राजशासन मे अत्यन्त सम्मानित पदों को सुशोभित कर चुके हैं और श्री गिरि आज भारत के राष्ट्रपति के पद पर आसीन है। भारत के इतिहास में हमारी प्रगति का निरंतर लक्ष्य यही रहा है कि छोटे-छोटे टुकड़े भी अपने विशिष्टताओं को सुरक्षित रखते हुए, इस विशाल भारत के अंग बने रहें। भारत की विशालता या बृहदता, भारतीयता की पूर्ण अनुभूति तथा अतर्दृष्टि के बिना भारत का सच्चा राष्ट्रीय इतिहास नहीं लिखा जा सकता।

भारत के भिन्न-भिन्न प्रांतों में तमिलनाड, आंध्र, मलयालम, केरल आदि विभिन्न राज्यों के दक्षिणात्य, धधों और व्यापार में, शासकीय तथा अशासकीय विभिन्न संस्थाओं में, अपने जीवकोपार्जन में रत रह कर ऐसा जीवन बिता रहे है—समाज के साथ ऐसे घुलमिल गये हैं कि न स्वयं उन्हे और न अन्य किसी को ऐसा बोध होता है कि वे विभिन्न सभ्यता और संस्कृति के पालक व्यक्ति हैं। अनेक परिवारों ने तो यहाँ जमीन-जायदाद हासिल कर ली है और उसे अपना स्थायी निवासस्थान बना लिया है।

एक बात स्मरण रखने योग्य है। विज्ञान, पुरातत्त्व, इतिहास आदि कुछ ऐसी विधायें हैं जिनके संबंध में अंतिम शब्द नही कहे जा सकते। आज के निर्णय,

---

१. संस्कृति के चार अध्याय, प्रकरण ३, दिनकर।

कल, नये अनुसंधान के प्रकाश में गलत साबित हो जाते हैं और नयी मान्यताएं स्थापित हो जाती हैं। इसी प्रकार इतिहास में भी नयी कड़ियाँ जुड़ जाती है और फिर भी वे संशोधन की अपेक्षा रख सकती हैं।

—०—

३

आर्य–सभ्यता

आर्य शब्द का अर्थ

आर्य का शाब्दिक अर्थ होता है[1]—श्रेष्ठ, सभ्य, कुलीन। परंतु व्यापक अर्थ में आर्य एक जाति है जिसका रूपरंग और आकृति मोहक तथा शारीरिक गठन दृढ़ और शक्तिशाली होता है। वे गौरवर्ण के होते हैं तथा उनकी नाक प्राय: लम्बी होती है। वे अपनी वीरता और साहस के लिए प्रसिद्ध हैं। भारत, ईरान और यूरोप के विभिन्न देश के निवासी आर्य जाति के माने जाते हैं। सबसे प्रथम आर्य शब्द का प्रयोग वेदों में पाया जाता है। आर्य प्रसंगवश प्राय: अन्य जातियों को 'अनार्य' कहते थे। शायद इससे उनकी कुलीनता झलकती थी। प्राचीन समय में भारतीय स्त्रियाँ अपने पति को 'आर्यपुत्र' कहकर संबोधन करती थीं।

आर्यों का मूल स्थान

आर्यों का मूल निवासस्थान कहाँ था, यह एक बड़ा विवादग्रस्त प्रश्न बन गया है। अभी तक इस संबंध में चार विभिन्न मत प्रतिपादित किये गये हैं। पहला मत "यूरोप के उत्तरी मैदान" को आर्यों का आदि स्थान मानता है, दूसरा मत "मध्य एशिया" के पक्ष में है। तीसरे मत वाले "उत्तरी ध्रुव" को यह मान्यता देते है और चौथे मत के पक्षधर कहते हैं कि भारत की सप्तसिंधु की घाटियाँ ही आर्यों का मूल निवास स्थान हैं, वे कहीं बाहर से नहीं आये। इन सब की दलीलें क्रमवार इस प्रकार हैं—

१—पहले मत के विरोधी कहते हैं कि केवल इस बात से कि संस्कृत और यूरोप की अन्य भाषाओं के अनेक शब्दों में समानता है, इस मत की पुष्टि नहीं होती कि आर्यों का आदि स्थान यूरोप के उत्तरी मैदान है। और संसार में केवल हंगरी ही ऐसा प्रदेश नही है जो भौगोलिक तथा सांस्कृतिक दृष्टिकोण से

---

१. कल्याण मासिक पत्र, वर्ष ३४, संख्या १ में प्रकाशित लेख "आर्य संस्कृति की तुलनात्मक गवेषणा"।

आर्यों के संपूर्ण लक्षणों से परिपूर्ण हो। जर्मनी तथा दक्षिण रूस के लिए भी यही दलीलें लागू होती हैं।

२––मध्य एशिया वाला मत इसलिए अस्वीकृत किया गया है कि इस भूखंड में जल का बड़ा अभाव है और भूमि भी उपजाऊ नहीं है। सिवाय इसके यहां आर्यों की एक भी बस्ती नहीं पायी जाती। इधर वेदों में भी इस बात का कहीं संकेत नहीं मिलता कि आर्यगण बाहर से आये। वेदों में तो 'सप्त सैन्धव' का ही गुणगान किया गया है।

३––उत्तरी ध्रुव प्रदेश––इस मत के प्रवर्तक लोकमान्य तिलक थे। उनकी दलील थी कि कालांतर में, जलवायु में, अत्यन्त शीतलता तथा हिमपात के कारण, आर्यों को यह प्रदेश छोड़ना पड़ा। वे कहते है कि इसमें संदेह नहीं कि ऋग्वेद के निर्माण-काल के बीच आर्यगण 'सप्त सैन्धव' मे आ चुके थे परन्तु उन्हें अपनी मूल जन्मभूमि की सुखद स्मृति बनी हुई थी। ऋग्वेद मे अनेक स्थलों पर छः मास की रात्रि तथा छः मास के दिन का वर्णन मिलता है। उसमें एक स्थल पर उषा की भी स्तुति की गई है जो भारत की क्षणकालिक उषा नहीं है वरन अन्य द्वीपों के समान वहाँ प्रभात होना ही नहीं है। और यह स्थिति उत्तरी ध्रुव में ही पायी जाती है।

लोकमान्य अपनी दलील जारी रखते हुए लिखते है––ऋग्वेद के अतिरिक्त महाभारत से भी प्रमाणित होता है कि उत्तर ध्रुव-प्रदेश ही आर्यों का मूल स्थान था। महाभारत मे सुमेरु पर्वत का वर्णन है जहां एक वर्ष की अहोरात्रि होती थी तथा वहाँ वनस्पतियाँ और औषधियां भी उत्पन्न होती थीं। पर कालांतर में तुषारपात के कारण इसे छोड़ना पड़ा। आर्य इन्हीं––कारणों से उत्तरी ध्रुव को छोड़ते हुए भी इन बातों को अपने स्मृति-पटल से हटा नहीं सके।[1]

ईरानियों के पवित्र ग्रंथ 'अवेस्ता' में भी ऐसे प्रमाण मिलते हैं जिनसे इस मत का अनुमोदन होता है कि उत्तरी ध्रुव ही आर्यों का आदि निवास स्थान था।

किन्तु तिलकजी के इस मत को अपेक्षाकृत बहुत कम समर्थन मिला। आलोचकों का कथन था कि तिलकजी जिन ऋग्वैदिक वर्णनों को उत्तरी ध्रुव से जोड़ते है वे बड़े संदिग्ध है। यदि आर्य उत्तरी ध्रुव-प्रदेश को अपनी आदि मातृभूमि समझते तो ''सप्त सैन्धव'' का उल्लेख कदापि 'देव-कृत-योनि' कहकर नहीं करते। इसके अतिरिक्त किसी भी भारतीय ग्रंथ या साहित्य में उत्तरी ध्रुव-प्रदेश को

---

१. आर्कटिक होम आफ् आर्यन और ओरायन, लो० मा० तिलक।

आर्यों का आदि स्थान ही बताया गया है। यदि वे ऐसा समझते तो कहीं-न-कहीं इसका स्पष्ट उल्लेख होता।

विपरीत मत

४—भारतीय मत के समर्थकों के अनुसार भारत ही आर्यों का आदि देश था। इस मत का प्रतिपादन डॉ० अविनाशचन्द्र दास ने किया है। इनके विचार में सप्त सैन्धव ही आर्यो का आदि स्थान था क्योंकि वेदों में उन्हों ने इसी का गुण-गान किया है। स्व० महामहोपाध्याय पं० गंगानाथ झा ने भारत को ब्राह्मण देश कह कर आर्यो के आदि स्थान होने की मान्यता दी है। पर डॉ० राजवली पाण्डेय के विचार में भारत का मध्यदेश आर्यो का आदि स्थान था। श्री एल० डी० कल्ला ने कश्मीर तथा हिमालय को यह सम्मान प्रदान किया है। आर्य-समाज के संस्थापक स्वामी दयानंद सरस्वती सुमेरु-कैलाश के समीपवर्ती भूखंड तिब्बत (त्रिविष्टय) को आर्यो की जन्मभूमि मानते है और प्रो० वेनफे इससे सहमत हैं।[1]

अन्य अनेक विद्वानों ने इस मत के समथन में भिन्न-भिन्न मत प्रकट किये हैं जो विस्तारभय से यहाँ नही लिखे जाते किन्तु इन मतों की अनेक विद्वानों ने तीव्र आलोचना की है। इनके तर्क इस प्रकार है:—

१—वे सब पशु और वनस्पति भारत में नहीं पाये जाते जिनके अस्तित्व का अनुमान भाषाओं की समानता के आधार पर आर्यो के मूल स्थान में किया गया है।

२—ऐतिहासिक काल में भिन्न-भिन्न जातियों का प्रवेश विदेशों से भारत में हुआ है। भारत से कोई जाति बाहर नही गई है। अतएव आर्यों के पश्चिम से पूर्व में आने की ही अधिक संभावना है।

३—यदि भारतवर्ष आर्यो का मूलस्थान रहा होता तो बाहर जाने के पूर्व ही समस्त भारत के आर्यकरण का काम सम्पन्न कर दिया गया होता परन्तु संपूर्ण दक्षिण भारत तथा भारत का कुछ भाग और बीच-बीच के कुछ भूमिखंड भाषा के दृष्टिकोण से अभी भी अनार्य हैं।

४—समस्त दक्षिण भारत तथा उत्तरी भारत के कुछ भाग में अनार्य भाषा, विशेषकर ब्राहुई (द्रविड़) भाषा का बलुचिस्तान में प्रयोगित होना इस बात का सूचक है कि संभवत: समूचे अथवा कम-से-कम भारत के बहुत बड़े भूभाग में, किसी काल में, अनार्य भाषाओं का चलन था।[2]

---

१. सत्यार्थ प्रकाश, दयानंद सरस्वती।

२. तामिल-संस्कृत संबंध पर, पृष्ठ ४४, सुनीत कुमार चाटुर्ज्या।

५—भारतीय यूरोपिय भाषाओं से संस्कृत की ध्वनि में जो विभेद हो गया है वह आर्यों के भारत प्रवेश करने के उपरान्त, कोल तथा द्रविड़ भाषाओं के प्रभाव के कारण ही हुआ है। [१-२]

६—बहुतेरे विद्वानों की यह धारणा है कि मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा की सभ्यता आर्य-सभ्यता से भिन्न तथा अधिक प्राचीन है। जब भारत की प्राचीनतम सभ्यता अनार्य नहीं थी तब इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि आर्यो का आदि देश भारत नहीं था।

परन्तु अभी हाल मे (सन् १९६९) डॉ० कृष्णराव, डॉ० फतेसिंह आदि विद्वानों ने उपर्युक्त दोनों स्थानो मे प्राप्त मुद्राचित्रों को पढ़ कर जो निष्कर्ष निकाला है उससे यह सिद्ध होता है कि ये मुद्राचित्र देवनागरी लिपि के आदि रूप हैं जिन्होंने क्रमशः विकसित होते-होते वर्तमान रूप धारण कर लिया है तथा उपर्युक्त दोनों स्थानो की सभ्यता उत्तर वैदिक काल की है। [३]

पाश्चात्य विद्वानों की राय को सत्य मान लेना अत्यन्त अनुचित है। अनेक भारतीय विद्वानों का यह निश्चित मत है कि धीरे-धीरे, जैसे-जैसे नये शोध होते जायेंगे इस बात के पुष्ट प्रमाण मिलते जायेगे कि आर्य भारत मे बाहर मे नहीं आये हैं और उनकी सभ्यता ई० पूर्व सहस्त्रों वर्ष पुरानी है। इसी बात पर जरा ख्याल कीजिए कि महाभारत काल आज मे लगभग पाँच हजार वर्ष पूर्व माना जाता है जब आर्य सभ्यता अपने उच्च शिखर पर थी। इससे यह सहज ही सिद्ध होता है कि वैदिक सभ्यता का महाभारत काल मे सहस्त्रों वर्ष प्राचीन होना अवश्यभावी है और वैदिक आर्य यथार्थ में भारत के विकास क्रम कालीन मूल निवासी है।

आर्यो का विस्तार

आर्यो के मूल स्थान मे शनैः-शनैः उनकी संख्या में निरंतर वृद्धि होने लगी, फलतः उन्हें जीवन-यापन के साधनो की खोज मे अपना मूल स्थान छोड़ना पड़ा। वे भारत के भीतरी भाग में बढ़ने चले। उन्हें अपने नये निवास स्थान की प्राप्ति में वहाँ के मूल निवासियों से संघर्ष भी करना पड़ा। ये मूल निवासी आर्य तो थे नहीं, अतः इन्हें अनार्य कहा जाने लगा। इनके रंग-रूप, डील-डौल, रहन-सहन आदि में भी भिन्नता थी। जब आर्यों ने अपना निवासस्थान छोड़ा तब वे तीन

---

१. भारतीय भाषाओं का इतिहास।
२. हिन्दी भाषा, डा० भोलानाथ तिवारी।
३. हिन्दुस्तान स्टंडर्ड का लेख।

प्रमुख शाखाओं में विभक्त हो गये। उनकी एक शाखा पश्चिम की ओर बढ़ी और धीरे-धीरे यूनान पहुँच गई और फिर वहाँ से सारे यूरोप में फैल गयी। दूसरी शाखा बढ़ते-बढ़ते ईरान तक पहुँच गई और तीसरी शाखा का विस्तार स्वयं भारत में होने लगा जैसा कि ऊपर लिखा गया है।[1]

आर्यों का आदि स्थान सप्तसिंधु नामक प्रदेश था। सप्तसिंधु वही प्रदेश है जो आजकल पंजाब के नाम से प्रसिद्ध है। उन दिनों इस प्रदेश में सात नदियाँ बहती थीं। इनमें से पाँच (झेलम, चनाव, रावी, सतलज और सिंधु) अभी तक विद्यमान हैं और दो नदियाँ सरस्वती और दृशद्वती विलुप्त हो गई हैं। प्राचीन आर्यों ने अपने ग्रंथों में सप्तसिन्धु का गुणगान किया है। इसे आप उनका प्रथम मुख्य आलय समझिये। इसी प्रदेश में उन्होंने वेदों की रचना की थी और यहीं पर उनकी संस्कृति और सभ्यता का सृजन हुआ था। इनकी संख्या उस समय लगभग चौरासी लाख थी और ये काबुल, कंदहार (गांधार) मानसरोवर, कैलाश, गुप्तकाशी, देवप्रयाग, रुद्रप्रयाग, वाल्यखलादि नदी के तट, हिमगिरि, त्रिजुगी नारायण आदि स्थानों तक फैले हुए थे जिनमें पहाड़ियों और वन्यप्रदेश की अधिकता थी।[2] लगता है—शांतिपूर्वक रहने के बावजूद उन पर निकटवर्ती अनार्यों के आक्रमण हुआ करते थे जिससे उनके अध्ययन और चिन्तन में बड़ा व्यवधान पड़ने लगा। फलत: उन्होंने एक संग्राम प्रधान अर्थात्, क्षत्रिय वर्ग का संगठन किया जिसमें हृष्ट-पुष्ट, निर्भय, साहसी, व्यक्तियों को प्रवेश दिया गया और उन्हें युद्ध और रक्षा के विविध और नित नये साधनों से लैस कर शत्रुओं से लोहा लेने योग्य बनाया। यह बुद्धिजीवी वर्ग ज्ञान चर्चा द्वारा समाज की मानसिक क्षुधा को भी शांत करने का प्रयास करता था। उस समय यह बुद्धिजीवी वर्ग ऋषि के नाम से जाना जाता था। तत्कालीन समाज में इनका बड़ा आदर था। लोग उनकी विधि व्यवस्था को मान कर चलते थे। उनके मत को "आर्षमत" कहा जाता था।

ये ऋषि सामान्यत: जन साधारण की तुलना में अधिक ज्ञानवान थे। और इसी अवधि में इन्होंने वेदों की रचना की थी। वेदों की संख्या चार हैं—१ ऋग्वेद, २. यजुर्वेद, ३. सामवेद और ४. अथर्ववेद। ये चारों एक दूसरे से सम्बद्ध

---

१. 'संस्कृति के चार अध्याय', प्रकरण २, दिनकर तथा वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृष्ठ ३८८-३८९, बल्देव उपाध्याय।

२. वयः रक्षामः, चतुरसेन शास्त्री तथा कल्याण मासिक पत्र में प्रकाशित लेखों के आधार पर।

हैं और इनका क्रमबद्ध विकास हुआ है। इन सबकी रचना अतीत काल में हुई थी। हमारे अनेक विद्वान उन पाश्चात्य विद्वानों के मत से सहमत नहीं है जो इनका रचनाकाल ईसा पूर्व २५०० से ५००० वर्ष तक अनुमानित करते है और जिनसे अनेक भारतीय विद्वानों ने प्रभावित होकर अपनी सहमति प्रकट की है। किन्तु यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि जब महाभारत काल लगभग ५००० वर्ष पूर्व माना जाता है जब कि भारत पूर्ण रीति से सभ्य और सुसंस्कृत हो चुका था तब क्या उसके बाद वेदों की रचना हुई थी ! यह नितांत गलत धारणा है। वेदों की रचना श्रीराम-काल के सहस्त्रों वर्ष पहले हो चुकी थी जबकि श्रीकृष्ण-महाभारत काल में पैदा हुए थे।

चारों वेद

ऋग्वेद—लगता है—सबसे पहले ऋग्वेद की रचना हुई थी। सूर्य, वायु, अग्नि आदि ऋग्वेद के प्रधान देवता हैं। इनकी ऋचाएँ इन्हीं देवताओं की स्तुति में रची गई हैं। ऋग्वेद शब्द का अर्थ भी इसी का द्योतक है। ऋक+वेद। ऋक का अर्थ होता है—स्तुति-मंत्र जिसे ऋचा कहते हैं। जिस वेद मे स्तुति-मत्रों का संग्रह हो वह ऋग्वेद कहलाया। इन ऋचाओं का संग्रह विभिन्न ऋषियों द्वारा विभिन्न समय में किया गया था। यद्यपि ऋग्वेद मे स्तुति-मत्रों का संग्रह है जिसका प्रधानतः धार्मिक और आध्यात्मिक महत्व है फिर भी ऐतिहासिक दृष्टि-कोण से भी इसका कुछ कम महत्व नहीं है। इसके कुछ मत्रो मे आर्यो के पारस्परिक तथा अनार्यो के साथ किये गये युद्धो का पता लगता है।

दाशराज्ञ युद्ध[1]

दस राजाओं का युद्ध :—प्राचीन आर्यो का कोई विशाल संगठित राज्य नहीं था प्रत्युत ये छोटे-छोटे राज्यों मे विभक्त थे और इनमें प्रायः संघर्ष हो जाया करते थे। फलतः आर्यों को न केवल अनार्यों से युद्ध करना पड़ता बल्कि उनमें परस्पर भी युद्ध हो जाया करते थे। ऋग्वेद मे इस प्रकार के एक युद्ध का वर्णन है जिसे दस राजाओं का युद्ध कहा जाता है।

ऋग्वेद भारत का ही नहीं प्रत्युत विश्व का सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। इसकी प्राचीनता के कारण ही विश्व में भारत का मस्तक ऊंचा है। इसमें अनेक भौगोलिक नामों का भी उल्लेख है जो आर्यों के क्रमशः विस्तार की सूचना देते हैं। आर्य अब आगे बढ़ते गये जहा पहाड़ी प्रदेशों की अपेक्षा जीवनयापन की अधिक

---

१. वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ० ४०४, बलदेव उपाध्याय।

सुविधा थी। तब उनकी संख्या भी दिनों दिन बढ़ने लगी। पर उनकी आगे बढ़ने की गति मंद थी। लगता है कि उन्हें स्थान-स्थान पर अनार्यो से संघर्ष करना पड़ता रहा होगा। सिवाय इसके, साथ में उनके बाल बच्चे भी थे। पर वे अनार्यों से अधिक वीर, साहसी और हिम्मती थे। अत: अनार्य पराजित होते गये। इस प्रकार उन्होंने कुरुक्षेत्र के सन्निकट प्रदेश पर अपना अधिकार जमा लिया और इस प्रदेश का नाम उन्होंने 'ब्रह्मावर्त' रक्खा। ब्रह्मा को सृष्टि का कर्त्ता समझ कर इस नाम में ब्रह्मा का नाम जोड़ा गया हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

इस सफलता से आर्यो का बड़ा उत्साहवर्द्धन हुआ। उनमें से कई परिवार आगे बढ़ते ही गये। अब उन्होंने पूर्वी राजस्थान, गंगा तथा यमुना के मध्य का प्रदेश तथा उसके निकटवर्ती क्षेत्रों पर अपना अधिकार जमाया। इस संपूर्ण क्षेत्र का नामकरण उन्होंने किया "ब्रह्मर्षि देश"।

आर्यो का एक दल और आगे बढ़ा और हिमालय तथा विध्य पर्वत के मध्य की भूमि पर अपना अधिकार जमा लिया। इस देश का नाम उन्होंने रक्खा "मध्य देश"।[1]

बिहार और बंगाल के दक्षिण-पूर्व का भाग आर्यो के प्रभाव से बहुत समय तक मुक्त रहा परंतु अंत में इस भूभाग पर भी उनकी दृष्टि पड़ी और उन्होंने उस पर भी कौशलपूर्वक अपनी प्रभुता स्थापित कर ली। अब उन्होंने सम्पूर्ण उत्तरी-भारत का नामकरण कर दिया—"आर्यावर्त।"

किन्तु ऋग्वेद में न तो कहीं नर्मदा नदी का नाम मिलता है और न विन्ध्यपर्वत का ही। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि इस समय तक आर्य मध्यप्रदेश में नहीं आये थे। वे केवल अफगानिस्तान, पंजाब, सिंधु, पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत, राजपुताना और पूर्व में सरयू नदी तक अपना विस्तार कर सके थे। उत्तर वैदिक संहिताओं एवं ब्राह्मण आरण्यकों में हमें मध्यप्रदेश के संबंध में कुछ सूचनाएँ मिलती है। जैसे शतपथ ब्राह्मण में पूर्व और पश्चिम का उल्लेख है। कौशीतक उपनिषद में विन्ध्य-पर्वत का उल्लेख है। शतपथ ब्राह्मण में एक पद 'रेवोतरस' आता है। वैदिकोत्तर साहित्य में तो 'रेवा' का उल्लेख स्पष्ट आता है।

फिर भी विन्ध्य-पर्वत तथा घने वन्य-प्रदेश के कारण दक्षिण भारत में आर्यो का प्रवेश बहुत समय तक नहीं हो सका। इन गहन वनों तथा पर्वतमाला को पार करने का साहस अगस्त्य मुनि के नेतृत्व में किया गया। आर्यो का यह

---

१. मध्यप्रदेश पृ० १५, डा० धीरेन्द्र वर्मा।

दक्षिण-प्रवेश विशेषतः मैत्री और सांस्कृतिक तालमेल की भावना से था। धीरे-धीरे संपूर्ण दक्षिण भारत में आर्य गण पहुँच गये और वहाँ के निवासियों से बिलकुल भाई-भाई के समान घुलमिल गये। दक्षिण भारत का नाम आर्यों ने रक्खा "दक्षिणा पथ।"

'ऐतरेय ब्राह्मण' में दक्षिण दिशा और उसके निवासियों के संबध मे पर्याप्त सूचना मिलती है। इस ग्रंथ के अनुसार यहाँ के निवासी 'सत्वन्त' कहलाते थे। इनके सिवाय वैदर्भ, निषध और कुंति लोग भी दक्षिण में रहते थे। इस ग्रथ में विदर्भ और उसके राजा भीम का भी उल्लेख मिलता है तथा उसकी प्राचीन राजधानी कुण्डिन का भी उल्लेख अनेक स्थानों पर है। दक्षिण के राजा नल की उपाधि "नैषिध" मिलती है। इस नैषिध को बाद मे "नैषध' कहने लगे जिसका अर्थ होता है निषध देश के निवासी। ये निषध, निषादों से सर्वथा विभिन्न हैं। निषाद अनार्य है और निषध आर्य। निषद देश विदर्भ के ही समीप होना चाहिए।

यह विवरण तो उत्तर और दक्षिण वैदिक काल की मध्य प्रदेशीय आर्य जाति के संबंध मे हुआ। अब तत्कालीन म० प्र० की अनार्य जातियो [1] के सबंध में पढ़िये। एतरेय ब्राह्मण मे जो आंध्र, पुण्ड्र, सबर, पुलिन्द, और मूतबजाति के लोगों को दस्यु कहा गया है, वे वास्तव मे आधे-आधे आर्य और अनार्य थे। इनमें से आंध्र और मूतिब लोगों का म० प्र० से निश्चयपूर्वक संबंध था। शुद्ध अनार्य केवल निषाद है। पुराणों से विदित होता है कि निषाद जाति विन्ध्य और सतपुड़ा के वनप्रदेशों मे निवास करते थे। इस प्रकार उपनिषद काल तक नर्मदा के निकटवर्ती प्रदेश जिसमें छ० ग० भी शामिल था तथा विदर्भ तक आर्यो का प्रवेश एव विस्तार हो चुका था।

यजुर्वेद[2]—यजुः+वेद=यजुर्वेद। यज शब्द का अर्थ होता है यजन अर्थात् पूजन और यजुः उन मंत्रों को कहते हैं जिनके द्वारा पूजन अर्थात् यज्ञ किये जाते है। फलतः यह कर्मकाण्ड प्रधान ग्रंथ है। इस वेद की रचना कुरुक्षेत्र मे हुई थी। इसमें आर्यो के सामाजिक तथा धार्मिक जीवन की झांकी है। इस वेद से यह भी पता चलता है कि अब आर्यगण कुरुक्षेत्र तक चले आये थे। इसमें यह भी जानकारी प्राप्त होती है कि अब प्रकृति पूजा की उपेक्षा होने लगी थी और जाति प्रथा अस्तित्व मे आ गई थी।

---

१. वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ० ४०५, बलदेव उपाध्याय।

२. मध्यप्रदेश पृष्ठ २५–२६, धीरेन्द्र वर्मा।

सामवेद[1] :—साम का अर्थ होता है शांति, पर यहाँ उसका अर्थ होता है गीत। अतएव सामवेद का अर्थ हुआ जिसके पद गेय अर्थात् गाये जा सकते हैं। यदि सामवेद का अर्थ "शांति-गीत" करें तो कोई अनुचित नहीं होगा। सामवेद में उसके केवल ९९ मंत्र है, शेष ऋग्वेद से लिये गये हैं। यज्ञादि के अवसरों पर सामवेद के मंत्रों का पाठ किया जाता है।

अथर्ववेद[2] :—अथ का अर्थ होता है मंगल या कल्याण। अथर्व का अर्थ होता है अग्नि। अथर्वन का अर्थ होता है पुजारी। फलतः अथर्ववेद उसे कहते हैं जिसके द्वारा आचार्य मंत्रों तथा अग्नि की सहायता से भूत-पिशाचों से रक्षा कर मनुष्य की मंगल कामना करता है। इस ग्रंथ में अनेक ग्रंथों और पिशाचों का उल्लेख है जिनसे बचने के लिए मंत्र दिये गये हैं। इसमें कुछ मंत्र ऋग्वेद और कुछ सामवेद के हैं। यह ग्रंथ आर्यों के पारिवारिक, सामाजिक तथा राजनैतिक जीवन पर भी प्रकाश डालता है। इस वेद की रचना तीनों वेद की रचना के बहुत समय पश्चात् हुई थी। इसमें प्राचीन संसार की जनश्रुतियों का इतना अधिक संग्रह सुरक्षित है कि सभ्यता के इतिहास के दृष्टिकोण से यह ऋग्वेद से भी अधिक रोचक तथा महत्वपूर्ण हो जाता है पर साहित्यिक दृष्टि से इसकी रचना को उत्कृष्ट नहीं कहा जा सकता।

सारांश यह है कि वैदिक काल में आर्य छत्तीसगढ़ में भी प्रवेश कर चुके थे, ऐसा ख्याल जो कुछ विद्वानों का है, प्रमाणित नहीं हो सका है। उत्तरवैदिक काल में नर्मदा तट तक उनका आगमन पाया जाता है और महाभारत-काल में तो छत्तीसगढ़ पूर्ण रूप से सभ्य और सुसंस्कृत हो चुका था जैसा कि रत्नपुर के महाराज मयूरध्वज की कथा तथा सकती के पास ऋषभ तीर्थ के लेख से पता लगता है।[3]

—o—

१—२. मध्यदेश पृष्ठ २५—२६, धीरेन्द्र वर्मा।

३. वैदिक सभ्यता, डा० सातवलेकर का लेख तथा विष्णु यज्ञ स्मारक ग्रंथ, लोचनप्रसाद पाण्डेय, संपादक—लेखक।

इतिहास-१

४· दक्षिण कोसल अर्थात् प्राचीन छ० ग०

५· भिन्न-भिन्न राजवंश

६· कलचुरि अर्थात् हैहयवंश

७· दक्षिण कोसल के कलचुरि

८· लहुरी शाखा (खलारी और रायपुर का कलचुरिवंश)

४
दक्षिण कोसल अर्थात् प्राचीन छत्तीसगढ़

दक्षिण कोसल की सीमा

भारत के अत्यन्त प्राचीन ग्रंथ बालिमकी-रामायण में दो कोसल का उल्लेख है—१ उत्तर कोसल और २ दक्षिण कोसल। पुराणों में दक्षिण कोसल के राजाओं की वंशावली भी दी गई है। वास्तव में कोसल देश इतना विस्तृत और महान था कि उसे सात खंडों में विभाजित करने की आवश्यकता पड़ गई थी जिसका उल्लेख वायुपुराण में है। इन सात खंडों के नाम इस प्रकार हैं :— १. मेकल कोसल २. क्रांति कोसल ३. चेदि कोसल, ४. दक्षिण कोसल ५. काशि कोसल ६. पूर्व कोसल और ७. कलिंग कोसल।[1]

किन्तु बालिमकी-रामायण में केवल दो कोसल का उल्लेख है जैसा कि आरंभ में उल्लिखित है। उत्तर कोसल महाजनपद, सरयूतट पर विस्तृत रूप से फैला हुआ था जब कि दक्षिण कोसल विन्ध्याचल पर्वत-माला के दक्षिण में विस्तृत था। इसी दक्षिण कोसल की राजकुमारी कौशिल्या उत्तर कोसल के राजा महाराज दशरथ अयोध्या-पति को व्याही गई थी और उनकी पटरानी पद पर सुशोभित थी। बिलासपुर जिले में कोसला नामक एक बड़ा-सा ग्राम है। जनश्रुति के अनुसार यह कोसला किसी समय अत्यन्त उन्नत अवस्था में था। कौशिल्या यहीं के राजा के पुत्री थी जो परम सुन्दरी थी तथा साथ-ही-साथ राजनीति में भी परम पटु समझी जाती थी।

रामायण के अनुसार दण्डाकारण्य ही में श्रीराम के लोकोद्धार संबंधी कार्यों की नींव पड़ी थी और यहाँ कितने ही स्थान उनकी स्मृतियों को अभी तक अपने में सुरक्षित रक्खे हुए हैं। कतिपय विद्वान वर्तमान अमरकंटक में लंका की स्थिति मानते हैं।[2] कहते हैं कि श्रीराम के स्वर्गारोहण के पश्चात् जिस प्रकार उनके

---

१. वायुपुराण—श्लोक १२६ से १३२।

२. म० प्र० का इतिहास, पृष्ठ ३, हीरालाल।

पुत्र लव ने लाहोर बसाया, उसी प्रकार कुश ने भी दक्षिण कोसल का राज्य किया। लगता है कि रामायण काल के पूर्व से ही विंध्याचल के दक्षिण में आर्यो का आगमन और निवास आरंभ हो गया था और क्रमशः उनमें इतनी वृद्धि होती गई कि महाभारत काल तक बड़े-बड़े राज्यों की स्थापना हो गयी थी। तत्कालीन विदर्भ के राजा रुक्म का भी उल्लेख उसमे पाया जाता है[1] जिसकी राजधानी गोदावरी के तट पर स्थित प्रतिष्ठानुपुर (पैंठन) में थी। महाभारत में चेदि नरेश शिशुपाल का भी वर्णन मिलता है, जिसका वध श्रीकृष्ण द्वारा हुआ था। ऐसी भी किबदंती है कि चेदि देश का राजा बभ्रुवाहन भी था जो पाण्डव-वंशी अर्जुन का पुत्र था और जिसकी राजधानी चित्रांगदपुर मे थी जो आजकल श्रीपुर (सिरपुर) के नाम से प्रसिद्ध है।

छत्तीसगढ़ के प्रसिद्ध विद्वान और पुरातत्वज्ञ पं० लोचन प्रसाद पाण्डेय ने अपने एक लेख में लिखा है कि "प्राचीन साहित्य के द्वारा कोसल देश पर जो प्रकाश पड़ा है, उससे उसका इतिहास ईसा के ७०० वर्ष पूर्व माना जा सकता है।[2] "महावैयाकरण पाणिनि" ने अपने व्याकरण में, "कलिंग और कोसल" संबंधी नियमों पर सूत्र लिखे है। अनेक भाष्यकारों का मत है कि "कोसल" शब्द का प्रयोग यहाँ पर "दक्षिण कोसल" के लिए ही किया गया है। तब अर्थात् ७०० वर्ष पूर्व इस भूखंड का नाम कोसल ही था ऐसा विश्वास होता है। ईसा से ३०० वर्ष पूर्व की ब्राह्मी लिपि में लिखित दो ताम्र मुद्राएँ लंडन के ब्रिटिश म्यूजियम में संग्रहीत है। इन पर कोसल—चेदि की राजधानी "त्रिपुरी" नाम अंकित है। साथ ही स्वस्तिक, सरित और शैल के तीन चिह्न उन पर बने हुए है, मानों ये तीन राज्य आर्थत् कोसल, मेकल और चेदि के द्योतक हो।

दक्षिण कोसल की सीमाएँ निश्चित करने मे बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। प्रयाग के किले मे स्थित स्तम्भ मे जो उत्कीर्ण लेख है उसमें "कोसल" का उल्लेख पाया जाता है। उसमे यह भी बताया गया है कि कोसल, दक्षिणापथ के राज्यो मे से एक है। प्रसिद्ध चीन यात्री ह्वेनसांग ने सन् ६१९ मे दक्षिण कोसल पद की यात्रा की थी। उसने इसकी सीमाओं के संबंध मे जो बाते लिखी है वे यर्थाथता के बहुत निकट जान पड़ती है। उसके अनुसार दक्षिण कोसल का विस्तार लगभग २००० मील के वृत्त मे था। इसके मध्य भाग में रायपुर, दुर्ग, बिलासपुर, रायगढ़ तथा सबलपुर जिलो का अधिकांश

---

१. किसन रुक्मणि री बेली, डिंगल भाषा पद २६।

२. विष्णु यज्ञ स्मारक ग्रंथ, पृष्ठ ७८, लोचन प्रसाद।

भाग आ जाता था। उत्तर में इसकी सीमा अमरकंटक को पार कर गई थी। अमरकटक जो नर्मदा नदी का उद्गम स्थान है मेकल पहाड़ की श्रेणियों के अंतर्गत आता है। ये श्रेणियाँ रायपुर, बिलासपुर, रायगढ़ और सरगुजा जिलों की ईशान कोण में फैली हुई उसकी सीमा बन जाती हैं। पश्चिम में इसकी सीमा दुर्ग तथा रायपुर जिलों के शेष भाग को समेटती हुई सिहावा तक चली जाती थी और बैनगंगा को पार कर बरार की सीमा को छूने लगती थी। दक्षिण में इसका विस्तार बस्तर तक चला गया था जबकि पूर्व में यह महानदी की उत्तरी घाटियों को समावेशित करती हुई सोनपुर तक चली गई थी जिससे पटना, बामड़ा, कालाहंडी (उड़ीसा) आदि भी इसके अंतराल मे आ जाते थे, जहाँ से सोमवंशी राजाओं की प्रशस्तियाँ भी प्राप्त हुई थीं।

पं० लोचन प्रसाद जी पाण्डेय के अनुसार दक्षिण कोसल की सीमा इस प्रकार थी––उत्तर में गंगा, दक्षिण में गोदावरी, पश्चिम में उज्जैन और पूर्व में पूर्वी समुद्र तटवर्ती पाली[१] (जिला बालासौर-उड़ीसा)। उज्जैन को दक्षिण कोसल के पश्चिम मे बताने वाला महाभारत के वनपर्व का श्लोक इस प्रकार है––

गोसहस्त्र फलं विन्द्यात् कुलंचैव समुद्धरेत् ।
कोसलां तुसमासाद्य, कालतीर्थमुप स्पृशेत् ॥ (अध्याय ८४, वन पर्व)

श्लोक में उल्लिखित कालतीर्थ से मतलब उज्जैन के 'महाकाल' से है।

चीनी यात्री हुएनसांग ने दक्षिण कोसल की तत्कालीन राजधानी सिरपुर (श्रीपुर) का जिस समय प्रवास किया था, उस समय सोमवशी राजा महाशिव-गुप्त बालार्जुन वहाँ राज्य करता था। इसके पूर्व सोमवंशी राजा त्रिवरदेव ने, सिरपुर में स्थित हो, राजिम और सिहावा की प्रशस्तियाँ उत्कीर्ण कराई थीं जिनमें उसे कोसलाधिपति अंकित किया गया है।

हुएनसांग अपने यात्रा-विवरण में और लिखता है––"मौर्य राजा अशोक ने दक्षिण कोसल की राजधानी मे स्तूप तथा अन्य इमारतों का निर्माण कराया था।"[२] चीनी यात्री का यह उल्लेख गलत नहीं है। अशोक के समय के धर्मलेख सरगुजा जिले में रामगढ़ की सीताबोंगरा और जोगीमारा नामक गुफाओं मे पाये गये हैं। कई विद्वानों ने मेघदूत मे कालिदास द्वारा वर्णित "रामगिरि"

---

१. लो० प्र० पाण्डेय की जीवनी, पृष्ठ १४३, प्रणेता, लेखक।
२. हुएनसांग की भारत यात्रा।

इसी रामगढ़ को माना है। सीताबोंगरा के प्रवेश द्वारा के उत्तरी भाग में गुफा के छत के नीचे पाली भाषा में नीचे लिखी दो पक्तियाँ उत्कीर्ण हैं—

आदि पयंति हृदयं। सभावगरू कवयो ये रातयं—दुले अबसंतिया। हासावनुभूते। कुदस्पीतं एवं अलंगेति।[1]

इन पक्तियो का अर्थ है[2]—"हृदय को आलोकित करते है। स्वाभाव से महान ऐसे कविगण रात्रि में—वासन्ती दूर हैं। हास्य और संगीत से प्रेरित। चमेली के पुष्पों की मोटी मालाओं का ही आलिंगन करता है।"[3] इन, पक्तियों से स्पष्ट होता है कि यह गुफा सांसारिकता से विमुख साधु संतो की तप: स्थली नही थी प्रत्युत यह एक सांस्कृतिक एवं कलात्मक आयोजनों का रंगमच था जहा कविताओं का सस्वर पाठ होता था, प्रेमगीत गाये जाते थे और नाटको का अभिनय होता था। इसका संबंध किसी भी धर्म या सम्प्रदाय मे न होकर मानवीय प्रकृति एवं अनुभूतियों से था। गुफा की आतंरिक सुव्यवस्था देखकर यह एशिया की सबसे प्राचीन नाट्य शाला कही जा सकती है। यह नाट्यशाला ग्रीक थियेटर के आकार की बनी हुई है। संभवत: इसी के आधार पर कतिपय विद्वान भारतीय नाट्य-कला पर ग्रीक नाट्य-कला का प्रभाव मानते है। हमारे कुछ राष्ट्रीयतावादी साहित्यिक मित्र कहते है कि इस मत के विपरीत मान्यता क्यों न प्रतिष्ठित की जाय!

नृत्यांगनाओं का विश्राम कक्ष

सीताबोंगरा के निकट ही जोगीमारा गुफा है। यह २० फुट लम्बी और १५ फुट चौड़ी है। इसका द्वार पूर्व की ओर है। 'भारत की चित्रकला' नामक पुस्तक में इसे वरुण मन्दिर कहा गया है। यहा सुतनुका नामक देवदासी निवास करती थी। पर वह परम्परा के विरुद्ध देवदीन नामक कलाकार के प्रेम मे दीवानी थी। गुफा की उत्तरी भित्ति पर इसी आशय की पाँच पंक्तियाँ उत्कीर्ण है जो नीचे लिखे अनुसार हैं:—

पहली पंक्ति—शुतनुक नाम

दूसरी पंक्ति—देवदार्शक्यि

तीसरी पंक्ति—शुतनुक नाम। देवदार्शक्यि

चौथी पक्ति—तं कमयिथ वलन शेये।

पाँचवी पक्ति—देवदिने नम नम। लुपदखे।[3]

---

१. कोसल-प्रशस्ति-रत्नावली, लोचन प्रसाद।

२. अनुवाद—डा० कटारे।

३. कोसल-प्रशस्ति-रत्नावली पष्ठ २।

इन पंक्तियों का अर्थ इस प्रकार है—"सुतनुका नाम की देवदासी थी। उसे प्रेमासक्त किया वाराणसी निवासी देवदीन नामक रूपदक्ष (कलाकार) ने।"[1] इस लेख से यह स्पष्ट होता है कि सुतनुका के वियोग में व्यथित देवदीन ने अपने प्रेम को स्थायित्व देने के लिए अपने हृदय के उद्‌गार को दीवाल पर अंकित कर दिया जैसे आजकल कुछ मनचले लोग चाक या स्याही से दीवाल पर या अन्यत्र कभी कुछ गालियाँ या मनमानी बातें लिख देते हैं और अपने हृदय का गुबार निकालते हैं। इधर देवदीनजी तो शिल्पी ही थे। उससे रहा नहीं गया होगा और उसने यह रहस्य उत्कीर्ण कर यह प्रेम उजागर कर ही दिया। इन गुफा-मंदिरों की भीतरी दीवालों पर कुछ ऐसे चित्र खचित हैं जो उस समय की ललित कला के नमूने हैं। ये भित्तिचित्र उसी शैली में निर्मित हैं जिस शैली में अजन्ता या एलोरा के गुफा मंदिरों के चित्र खचित हैं।

सन् १११४ के एक शिलालेख मे दक्षिण कोसल का उल्लेख मिलता है। उसकी प्रथम पंक्ति इस प्रकार है—"**लाढ़ा दक्षिण कोसलान्ध्र खिमड़ी वैरागरम् लंजिका**।" इसमें दक्षिण कोसल का स्पष्ट उल्लेख है।[2]

गिब्बन नामक एक अंग्रेज लेखक ने लिखा है कि संबलपुर के निकट हीराकूट (हीराकुंड) नामक एक छोटा-सा द्वीप है। यहाँ हीरा मिला करते थे। इन हीरों की रोम में बड़ी खपत थी। गिब्बन के लेख से यह सिद्ध होता है कि कोसल का व्यापार-सम्बन्ध रोम से था और रोम के सिक्के, जो महानदी की रेत में या अन्यत्र पाये गये हैं, वे इसके प्रमाण है। हुएनसांग ने भी अपने यात्रा विवरण में लिखा है कि "मध्यदेश से हीरा लेकर लोग कलिंग में बेचा करते है।" यह मध्यदेश महानदी तट पर स्थित कोसल देशान्तर्गत सम्बक या संबलपुर छोड़ अन्य नही है। ब्रिटिश कालीन पुराने रेकार्ड से पाया जाता है कि लार्ड क्लाइव ने सन् १७६६ मे टी० मोटे नामक एक अंग्रेज को हीरे के व्यापार करने की संभावना का पता लगाने संबलपुर भेजा था।[3] शर्त यह थी कि खर्च काटकर लाभ का एक तिहाई भाग मोटे को मिलेगा और दो तिहाई क्लाइव को। मोटे बहुत कष्ट उठाकर संबलपुर पहुँचा पर जलवायु की प्रतिकूलता तथा लोगों की अप्रामाणिकता के कारण वह सात मास में ही कलकत्ता लौट गया। वहाँ लार्ड क्लाइव सख्त बीमार था। फिर भी वह इस आश्वासन से

१. जलज अभिनंदन ग्रंथ, पृष्ठ २४७।

२. सतपुड़ा की सभ्यता, पृष्ठ १३८, प्रयाग दत्त शुक्ल।

३. अर्ली यूरोपियन ट्रेव्हलर्स इन नागपुर टेरीटरी।

संतुष्ट हो गया कि भविष्य में जब कभी हीरे का व्यवसाय शुरू किया जायगा उसे फिर बुला लिया जायगा । इसके पहले भी माल्रोक नामक योरोपियन व्यापारी भी केवल चौबीस घंटे संबलपुर में ठहर कर इस कष्टसाध्य व्यापार को आरंभ करने में असफल होकर लौट गया था । ये हजरत किसी मि० हेनरी वेन्सीटाई द्वारा इस व्यापार के निमित्त भेजे गये थे। पूर्वीय समुद्र तट पर एक बंदर स्थान था जिसका नाम "कोसल" था। व्यापारीय स्थान होने के कारण विदेशों में इसे प्रसिद्धि मिली होगी, यह स्पष्ट है ।

छत्तीसगढ़ नाम

छत्तीसगढ़ शब्द का अर्थ होता है--३६ गढ़ अर्थात् किले। जो भूभाग इन दिनों छ० ग० के नाम से प्रख्यात है वह सदैव इसी नाम से नहीं पुकारा जाता था । छ० ग० शब्द का उल्लेख न पुराणों में है, न और कहीं । महाभारत, रामायण, प्राचीन कथावार्ता--कहीं भी यह नाम नहीं पाया जाता। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि इस भूभाग के लिए छत्तीसगढ़ नाम सन् १४९३ के लगभग प्रचार में आया। इसके पहले प्रस्तुत छ० ग० क्षेत्र के लिए सर्वत्र कोसल, महा-कोसल या दक्षिण कोसल नाम का प्रयोग हुआ है । अयोध्या का राज्य उत्तर कोसल कहलाता था और छ० ग० का यह क्षेत्र कुछ विस्तृत सीमा के साथ दक्षिण कोसल।

इतिहासविद् डा० कनिघम ने अपनी पुस्तक में इस भवन या महाकोसल या छत्तीसगढ़ कहकर यह सिद्ध करना चाहा है कि महाकोसल ही छत्तीसगढ़ है। महाकोसल में चेदिवंशी राजाओं के राज्य होने के कारण यह चेदीसगढ़ कहलाने लगा जो बिगड़ते बिगड़ते बोलचाल में छत्तीसगढ़ हो गया। राय बहादुर हीरालाल[1] जी इस मत से सर्वथा सहमत थे । उन्होंने अपने मत के समर्थन में छत्तीसगढ़ के कलचुरि (हैहयवंशी) राजाओं के कुछ उत्कीर्ण लेखों में चेदि सवत या चेदिश्य संवत् जैसे प्रयोग की ओर संकेत किया है । यद्यपि यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि इस भूभाग पर चेदिवंशीय हैहय राजाओं का राज्य रहा है किन्तु इतिहास या लोक परम्परा में वह किसी भी समय चेदीसगढ़ के नाम से उल्लिखित हुआ हो ऐसा प्रमाण नहीं मिलता ।[2] श्री जयचन्द्र विद्यालंकार 'चेदिकोसल' के महत्व के संबंध में लिखते हैं--

---

१. इंसक्रिप्शन्स आफ् सी० पी० एण्ड बरार, पृष्ठ ११६, हीरालाल ।

२. 'त्रिपुरी का इतिहास,' में उल्लिखित 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' पृष्ठ १०, लेखक, जयचंद्र विद्यालंकार ।

"चेदि नाम शुरू शुरू से चंबल और केन के बीच, जमुना के दक्खिन कांठे का अर्थात् केवल उत्तरी बुंदेलखंड का था। महाभारत युद्ध से पहले वसुचद्यो-परिचर के समय न केवल उसके पड़ोस के कौशाम्बी (वत्सभूमि, प्रयाग के चौगिर्द का प्रदेश) और कारूय देश (बघेलखंड) चेदि के साथ एक ही राज्य में सम्मिलित थे, प्रत्युत मगध और मत्सय भी उसी राज्य में थे। बुद्ध के समय से ठीक पहले महाजनपद-काल मे चेदि या चेति और वत्स की एक जोडी गिनी जाती थी। दूसरी शताब्दी ई० पू० मे कलिंग राजा खारवेल चेत या चेति (चेदि) वंश का था। मूल चेदि देश से कलिंग तक, चेदि लोग, कोसल या छत्तीसगढ़ के द्वारा ही फैले होंगे। १४ वी शताब्दी ई०पू० में उत्कल लिपि में लिखे गये एक प्राचीन ऐतिहासिक संस्कृत संदर्भ से स्पष्ट सूचित होता है कि खारवेल के पूर्वजों की राजधानी पहले कोसल में थी और वहाँ से वे खण्डगिरि (उड़ीसा में धोली) गये थे।"

जयचद्र जी लिखते चले गये हैं—

"आधुनिक बुंदेलखड का दक्खिनी अंश उसमें कब से सम्मिलित हुआ है उसका कोई ऐतिहासिक निर्देश मुझे नही मिला, किन्तु बोली की एकता सिद्ध करती है कि चेदि लोग बहुत आरंभिक काल में ही जमुना कांठे से दूर दक्खिन तक समूचे बुंदेलखंड में फैल गये थे। मध्यकाल में इस दक्खिनी बुंदेलखंड में जबलपुर के उत्तर तिवर या त्रिपुरी मे एक हैहय राज्य था जो चेदि कहलाता था। यदि यह दक्खिनी बुंदेलखंड शुरू से चेदि में सम्मिलित न भी रहा हो तो मध्यकाल में उसका चेदि नाम पड़ जाने का एक यह कारण हो सकता है कि त्रिपुरी के राज्य ने कालिजर का किला और उसके साथ समूचा उत्तरी बुंदेलखड, जो कि चेदि था, जीत लिया था। जो भी हो, उस समय से समूचे बुंदेलखड का नाम चेदि है। उसी समय में इसके साथ लगा हुआ महाकोसल या छत्तीस-गढ़ का राज्य था जिसकी राजधानी मणिपुर (मणिपुर-रतनपुर कहाता था) में थी। चेदि और कोसल दोनों राज्य हैहयों के थे और दोनों मे परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध था। डॉ० स्टेन कोनो तो महाकोसल राज्य को पूर्वी चेदि राज्य ही कहते हैं। इस प्रकार यदि प्राचीन काल से नहीं तो मध्य काल से चेदि और कोसल क्षेत्र का एक होना निश्चित है।"

पर इससे यह तो सिद्ध नही होता कि छत्तीसगढ को कभी चेदीशगढ़ कहा जाता था।

छत्तीसगढ़ नाम की सार्थकता पर विचार करते हुए टालेमी ने लिखा है कि

इस प्रदेश का प्राचीन नाम अधिष्ठ्री था और अधिष्ठान पर्वत माला इसके दक्षिण में है। कनिंघहम के अनुसार अधिष्ठ्री का 'अत्रिष्' ही छत्तीस हो गया हो।[१]

जे० डी० बेग्लर[२] ने इस संबंध में जो लिखा है वह अत्यन्त हास्यास्पद है। वह लिखता है कि विहार में जनश्रुति है कि जरासंध के राज्यकाल में चमारों के ३६ घर दक्षिण की ओर चले गये थे और वहीं बस गये थे। इसीलिए इसका नाम छत्तीस "घर" पड़ा जो बोलचाल में बिगड़ते बिगड़ते छत्तीसगढ़ हो गया। इसके प्रमाण में वे कहते हैं कि यही छत्तीस परिवार बढ़ते-बढ़ते इतने अधिक हो गये कि छ० ग० में चमारों की संख्या विशेष रूप से अधिक है।

साहित्य में छ० ग० शब्द का प्रयोग

साहित्य में छत्तीसगढ़ शब्द का प्रयोग प्रथम बार खैरागढ़ के चारण कवि दलराम राव की रचना में पाया जाता है जो इस प्रकार है। वह अपने राजा लक्ष्मीनिधि राय से सन् १४६७ में अपनी एक प्रशस्ति मे कहता है :—

लक्ष्मी निधि राय सुनौ चित्त दै, गढ़ छत्तीस में न गढ़ैया रही
मरदुमी रही नहिं मरदन के, फेर हिम्मत से न लड़ैया रही
भय भाव भरे सब कांप रहे, भय है नहिं जाय डरैया रही
दलराम भनै सरकार सुनौ, नृप कोउ न ढाल अड़ैया रही ।[३]

इससे यह प्रमाणित हो जाता है कि हमारे पूर्व कथन के अनुसार कि कुछ विद्वानों का अनुमान है कि इस भूभाग के लिए छत्तीसगढ़ नाम सन् १४६३ के लगभग प्रचार में आ चुका था, बिलकुल सही है।[४]

साहित्य में छ० ग० का द्वितीय बार प्रयोग रतनपुर के कवि-कुल-दिवाकर गोपाल मिश्र ने "खूब तमाशा" नामक पुस्तक में किया है जिसकी रचना उन्होंने सन् १६८६ (संवत १७४६) में की थी। वे पंक्तियां इस प्रकार है :—

छत्तीस गढ़ गाढ़े जहाँ बड़े गढ़ोई जानि
सेवा स्वामिन को रहैं सकें ऐंड़ को मानि।[५]

---

१. हिन्दी भाषा, डा० भोलानाथ तिवारी द्वारा उल्लिखित ।
२. छ० गढ़ी बोली का अध्ययन पृ० ३, तेलंग ।
३. छत्तीसगढ़ के साहित्यकार, पृष्ठ ८, डा० आदर्श पृ० ३, ।
४. विष्णु यज्ञ स्मारक ग्रंथ, लो० प्र० पाण्डेय का लेख ।
५. खूब तमाशा, गोपाल कवि ।

इन पंक्तियों से स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है कि सन् १६८६ में छत्तीसगढ़ शब्द का और अधिक प्रचलन हो गया था। इसके १५० वर्ष बाद रतनपुर के प्रसिद्ध विद्वान बाबू रेवाराम कायस्थ अपने "विक्रम-विलास" नामक ग्रंथ में "छत्तीसगढ़" शब्द का प्रयोग इस प्रकार करते हैं:--

तिनमें दक्षिन कोसल देसा, जहं हरि ओतु केसरी बेसा।
तासु मध्य छत्तिसगढ़ पावन, पुण्यभूमि सुर मुनि मन भावन।
रत्नपुरी तिनमें है नायक, कासी सम सब विधि सुख दायक।[1]

इस क्षेत्र में छत्तीस संख्या का प्रयोग केवल "गढ़ों" की संख्या में ही नहीं प्रत्युत अन्य संदर्भ में भी हुआ है। उपर्युक्त गोपाल कवि लिखते हैं--

परजा के अमनैक गांउ प्रति बसै छत्तीसो जातैं
परजा देइ साहेब की अमनैको समया तैं।
कोई जानि चालि अपने तै बढ़त बढ़त चलि जाहीं
सो पुनि पांच पचास गांउ के ठाकुर एक कहाहीं।
ठाकुर पांच पचास ठीक तें, बड़े बड़े उमरावै
ते उमराव पचास पाँच तें राजा एक कहावै।
राजा पांच पचास के ऊपर बड़े एक जो छाजा
सो देखै सो खूब तमासा ते राजन पर राजा।[2]

इन पदों में जहाँ एक ओर शासकीय तंत्र प्रणाली का व्यौरा दिया गया है वहाँ यह भी बताया गया है कि प्रति गाँव में छत्तीसों जाति बसते हैं। नाइयों को तो छत्तीसा कहने की चाल ही पड़ गई है जब उनका मजाक उड़ाना हो तो।

रतनपुर के सुकवि गोपाल और बाबू रेवाराम भी अपनी रचनाओं में छत्तीस "कुरी" का उल्लेख करने मे नहीं चूके हैं। गोपाल कवि "खूब तमाशा" के नीति शतक में लिखते है[3] --

बरन सकल पुर देव देवता, नरनारी रस रसके
बसय छत्तीस कुरी सब दिनके, रस बासी बस बस के।

ये पद्यांश रतनपुर नगर के सौन्दर्य वर्णन से लिये गये है। इसी प्रकार १५० वर्षों के बाद भी रेवाराम बाबू ने छत्तीस 'कुरी' का प्रयोग रतनपुर नगर के वर्णन में किया है--

---

१. विक्रम विलास रेवाराम बाबू कृत हस्तलिखित ।

२. खूब तमाशा, गोपाल कवि कृत ।

३. खूब तमाशा, गोपाल कवि ।

बसत नगर शोभा की खानि, चार बरन जिन धर्म निदान
अति विस्तार सघन बहु बसे, रचि बाजार महल जहं लखे।
अमरावती सरस पुर सोभा, देखत परम रम्य सुर लोभा।

उपर्युक्त पदों में छत्तीसगढ़ के साथ जो 'कुरी' का प्रयोग है वह "कुल" शब्द का द्योतक है। अर्थात् नगर में ३६ क्षत्रिय कुल के लोग बसते थे। छत्तीस कुरियाँ क्षत्रियों की कही जाती हैं। अपनी पुस्तकों में कर्नल टाड और कविचंद बरदाई ने इन छत्तीस कुरियों के नाम भी गिनाये हैं।

लगता है उस समय किसी राज्य की समर विजयिनी शक्ति का अनुमान लगाने तथा महत्ता की ओर इंगित करने के लिए उनके राज्य के अंतर्गत गढ़ों की संख्या की गणना की जाती थी। जैसे बावन गढ़ मंडला, सोरागढ़ नागपुर, बाइसडंड उड़ियान, अठारह गढ़ रतनपुर, अठारह गढ़ रायपुर, बावनगढ़ गढ़ा आदि। सच्चाई यह जान पड़ती हैं कि छत्तीसगढ़ के नामकरण में भी ३६ गढ़ों का ही आधार है। इन ३६ गढ़ों में १८ गढ़ शिवनाथ नदी के उत्तर में थे और शेष १८ गढ़ उसके दक्षिण में। कालान्तर में उत्तर में स्थित गढ़ रतनपुर राज्य के अधीन रहे और दक्षिण के गढ़ रायपुर राज्य के अधिकार में चले गये। इन गढ़ों की सूचियाँ चीजम और हेविट द्वारा लिखी रिपोर्टों में दी गई है।[1] आगे चलकर गढ़ों की संख्या में कमी-बेशी भी होती रही, पर एक बार छत्तीसगढ़ नाम जो पड़ा सो पड़ ही गया और प्रचलित हो गया। गढ़ों की संख्या के आधार पर नामकरण होना अस्वाभाविक भी नहीं है।

इन ३६ गढ़ों[2] के नाम नीचे दिये जाते है:—

शिवनाथ नदी के उत्तर में	शिवनाथ नदी के दक्षिण में
१. रतनपुर	१. रायपुर
२. मारो	२. पाटन
३. विजयपुर	३. सिमगा
४. खरौद	४. सिंगारपुर
५. कोटगढ़	५. लवन
६. नवागढ़	६. अमीरा
७. सोंठी	७. दुर्ग
८. ओखर	८. सारधा

१. सेटलमेंट रिपोर्ट १८६८ और हेविट की रिपोर्ट १८६६।
२. संदर्भ—रतनपुर में प्राप्त रेवाराम बाबू तथा शिवदत्त शास्त्री का इतिहास (अप्रकाशित) तथा रायपुर एवं बिलासपुर जिले के गजेटियर।

९. पंडरभठा	९. सिरसा
१०. सेमरिया	१०. मोहदी
११. मदनपुर (चांपा जमींदारी)	११. खलारी
१२. कोसगंई (छुरी जमींदारी)	१२. सिरपुर
१३. लाफा	१३. फिंगेश्वर
१४. केंदा	१४. राजिम
१५. मातिन	१५. सिंगारगढ़
१६. उपरोड़ा	१६. सुअरमार
१७. कड़री (पेंडरा)	१७. टैंगनानगढ़
१८. करकट्टी (अब बघेलखंड में)	१८. अकलबाड़ा

तत्कालीन गणना के अनुसार रतनपुर राज्य में	३५८६ गाँव
और रायपुर राज्य में	२१३६ गाँव
कुल	५७२२ गाँव

अब यह विचारणीय है कि दक्षिण कोसल आगे चलकर महाकोसल क्यों कहलाने लगा जिसका प्रयोग कनिंघम ने ऊपर लिखे अनुसार किया है। सच पूछिये तो दक्षिण के स्थान पर "महा" विशेषण लगाना कब से आरंभ हुआ और क्यों हुआ इसका ठीक ठीक पता नहीं चलता। लगता है कि कार्तवीर्य सहस्त्रार्जुन के वंशज चेदि हैहयों ने जिनका राज्य इस ओर लगभग डेढ़ हजार वर्षो तक रहा, इसकी महत्ता बढ़ाने के लिए इसे "महाकोसल" कहना आरंभ कर दिया, ठीक उसी तरह जैसे नदी महानदी बन गई, एक छोटा सा गाँव महासमुन्द हो गया, आराध्यदेवी "महामाया" कहलाने लगी और राजाओं के नाम में से एक "महाशिवगुप्त" हो गया।[1]

स्मरण रहे जब मध्यप्रदेश से बरार अलग किया गया और नागपुर संभाग के मराठी भाषा-भाषी जिले मध्यप्रदेश से अलग कर, उन्हें तथा बरार—जिलों को मिलाकर एक पृथक विदर्भ प्रांत की रचना की गई तब म० प्र० के हिन्दी भाषा भाषी १८ जिले बच गये। उस समय पं० रविशंकर शुक्ल म० प्र० के मुख्यमंत्री थे। उनके मंत्री मण्डल ने इन १८ जिलों को एक पृथक राज्य का रूप दे, पं० लोचन प्रसाद पाण्डेय के सुझाव के अनुसार उसका नामकरण "महा-कोसल" किया था।

—o—

१. छत्तीसगढ़ परिचय, पृष्ठ १०१ डा० बल्देव प्रसाद मिश्र।

५

भिन्न-भिन्न राजवंश

मौर्य काल

(ईसा पूर्व ४००–२०० वर्ष)

पुराणों में दक्षिण कोसल के कतिपय राजाओं के नाम मिलते हैं पर उन नामों के आधार पर इतिहास का सिलसिला कायम नही किया जा सकता। सच पूछिये तो अभी तक छ० ग० में मौर्यकालीन इतिहास का पर्याप्त परिवेक्षण नहीं हुआ है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि छ० ग० का भूभाग नदों और मौर्यों के विस्तृत साम्राज्य के अन्तर्गत था। चीनी यात्री हुएनसांग के यात्रा-विवरण से यह अनुमान होता है कि बौद्ध सम्राट मौर्य अशोक छ० ग० से ही होकर दक्षिण गये होंगे और तभी उन्हे दक्षिण कोसल की राजधानी मे स्तूप तथा अन्य प्रासादों का निर्माण कराने का अवसर मिला होगा। यह भी पता लगता है कि उनके राजत्वकाल में सिरपुर और भाण्डक में बौद्धधर्मावलम्बी कोई क्षत्रिय नरेश राज्य करते थे। यह भाण्डक या भद्रावती चांदा के समीप है और तत्कालीन वाकाटक-वंश की राजधानी थी।[1] अशोक के समय के दो भित्तिलेख सरगुजा जिले में लक्ष्मणपुर के निकट रामगढ़ और जोगीमारा नामक गुफाओं मे पाये गये है। ये शिलालेख ईस्वी सन् पूर्व ३०० वर्ष के आसपास के है और इनकी भाषा पाली है। इस सबंध मे पिछले पृष्ठों में किंचित विस्तार से लिखा जा चुका है।

सम्राट अशोक के बाद ही स्वतंत्र गणराज्यों का उदय होता है। इन गण-राज्यों में एरिकि (एरन) भी एक था। एरिकिन मे धर्मपाल के नाम से अंकित सिक्के मिलते है। ये सिक्के प्राचीनतम उत्कीर्ण सिक्के है। ऐसे सिक्के छ० ग०

---

१. मेगस्थनीज़ की भारत यात्रा तथा विष्णुयज्ञ स्मारक ग्रंथ, पृष्ठ ८७, ज्वाला-प्रसाद मिश्र।

में अभी तक नहीं पाये गये हैं । संभवतः ये सिक्के ईसा पूर्व ५०० से २०० वर्ष तक चलते रहे। मौर्यकालीन आहत मुद्रायें पतली और गोल है जबकि बाद के सिक्के मोटे हैं और अनेक प्रकार के चिन्हों से अंकित हैं। नंद-मौर्य काल के चाँदी के सिक्के रायपुर जिले के तारापुर में तथा सारंगढ़ और बिलासपुर जिले में अकलतरा के आसपास अच्छी संख्या में पाये गये हैं। इन सिक्कों में से ठठारी ग्राम में पाये गये सिक्के महत्वपूर्ण रूपभाषक सिक्के हैं। आहत सिक्के चाँदी या ताँबे के होते थे।[1] चन्द्रगुप्त मौर्य ने जिस बड़े राज्य की नींव चाणक्य के सहयोग से डाली थी और जिसकी प्रगति बिंदुसार तथा अशोक के राज्य-काल में होती रही, वह अशोक के बाद बहुत समय तक स्थिर नहीं रह सका। मौर्य साम्राज्य के पतन का प्रधान कारण धार्मिक आंदोलन था। अशोक ने बौद्ध-धर्म को राज्य-धर्म बनाया था, जिससे वैदिक ब्राह्मणों का महत्व घट गया था। ज्योंही अशोक का निधन हुआ त्योंही वैदिक धर्म के कर्णधारो ने मौर्य राज्य के विरुद्ध प्रबल आंदोलन करना आरंभ कर दिया । परिणाम यह हुआ कि बौद्ध-राष्ट्रीय मौर्य शक्ति क्षीण और संकुचित हो गई ।

शुङ्ग और खारवेल-वंश
(ईसा पूर्व १८३–१५२)

सेनापति शुंगवंशीय पुष्यमित्र[2] अशोक के वंशधर बृहद्रथ को मरवाकर स्वयं राजगद्दी पर चढ़ बैठा । राजशक्ति पाते ही उसने सबसे प्रथम बौद्धों को शासन से हटाया और बौद्ध संघ के प्रभाव को दूर किया । वैदिक हिन्दू धर्म की जागृति के हेतु उसने वर्षों से बंद अश्वमेध यज्ञ का पुनः प्रचलन कर "विक्रमादित्य" की उपाधि ग्रहण की जिससे उसके राज्य में गाय, ब्राह्मण और गंगा को फिर से उच्च स्थान प्राप्त हो गये । ईसा से १५५ वर्ष पूर्व यूनानी वंश के राजा मिनेन्डर ने काबुल और पंजाब से आकर शुङ्ग राज्य पर आक्रमण किया और लूटमार करते हुए मथुरा तक पहुँच गया। मिनेन्डर के ताँबा के सिक्के बालाघाट जिले में प्राप्त हुए हैं । किन्तु पुष्यमित्र ने विशाल सेना लेकर मथुरा के आसपास इन यवनों को घेर लिया और उन्हें अच्छी तरह कुचल दिया जिससे वे सिन्धु पार भाग गये ।

पता चलता है कि दूसरा आक्रमण शुङ्गों पर कलिंग के खारवेल ने किया

---

१. Catalogue of Coins in the British Museum-Allan.

२. सतपुड़ा की सभ्यता, पृष्ठ ४६, प्रयागदत्त ।

था। भुवनेश्वर के पास खंडगिरि की हाथी गुफा में इस राजा की प्रशस्ति अंकित है। खारवेल वास्तव में चेदिवंश का था। चेदिवंश घटनाक्रम में बुंदेलखंड से कोसल में आ बसा था और फिर कलिंग चला गया। चेदि देश ऐर या ऐल वंश का जनपद होने के कारण उस वंश के लोग चेत या चेदि कहलाते थे।[1]

प्राचीन जनश्रुति के अनुसार यह वंश महाकोसल से खंडगिरि धौली (उड़ीसा) चला गया था। विशालकाय हाथियों पर सवार होकर निकलने के कारण ये लोग मेघ या मेघवाहन कहलाते थे। जान पड़ता है कि महाकोसल पर मेघवाहनों का राज्य काफी समय तक बना रहा होगा। अनुमानतः खारवेल का जन्म ईसा पूर्व १६४ वर्ष में हुआ होगा। इसने जैनधर्म के प्रचारार्थ काफी प्रयास किया था। इसका शासनकाल बड़ा प्रशंसनीय रहा।[2]

सातवाहन काल

(ईसा पूर्व ६० वर्ष से ईसा की दूसरी शताब्दी)

जैसा कि लिखा जा चुका है कि मौर्य-साम्राज्य के पतन होते ही भारतवर्ष के विभिन्न भागों में चार मुख्य राजवंशों का उदय हुआ। मगध पर मौर्यों के उत्तराधिकारी शुंगों का अधिकार हो गया, कलिंग में चेदिवंश जम गया, दक्षिणापथ में सातवाहनों का राज्य हो गया और पश्चिमोत्तर प्रदेशों में यवनों के पैर जमने लगे। शुंग नरेश पुष्यमित्र के राजत्वकाल में पाटलिपुत्र (पटना) तक यूनानियों के आक्रमण होने लगे यद्यपि वे निष्फल सिद्ध हुए। सातवाहनी राजे अपने को 'दक्षिणापथ स्वामि' कहते थे। पुराणों में इस वंश के तीस से अधिक राजाओं का उल्लेख मिलता है और कहा जाता है कि इन्होंने ४०० से अधिक वर्षों तक राज्य किया। इन शासकों के संरक्षण में अनेक अश्वमेध, राजसूय यज्ञादि हुए। ये बौद्ध धर्म के विरोधी नहीं थे। इनके समय में शिव तथा कृष्ण की पूजा का काफी प्रचार था। इनके राज्यकाल में प्राकृत साहित्य की पर्याप्त रूप से उन्नति हुई। एक सातवाहन शासक "हाल" ने प्रसिद्ध प्राकृत सतसई गाथा सप्तशतिका का संग्रह किया था। इन्हीं के समय में गुणाढ्य ने 'बृहत्कथा'-प्राकृत भाषा में लिखी थी। इनकी राजधानी प्रतिष्ठान (पैठन) में थी। सातवाहनों के प्रथम नरेश का नाम 'शिशुक' या 'सिमुक' था। ये कदाचित ब्राह्मण थे। इस वंश में राज्य विस्तारवादी अनेक नरेश हुए। शातकर्णि-प्रथम के राजत्वकाल में सातवाहनों का राज्य-विस्तार डाहल (जबलपुर) प्रदेश तक हो गया

---

१. अर्ली हिस्ट्री आफ इंडिया, पृष्ठ १६८, विंसेंट स्मिथ।

२. शुक्ल अभिनंदन ग्रंथ, इतिहास खंड, पृष्ठ ११।

नगररविनो वीरपालित चिर गोइक सेनापति देव

प्रतिहार 'रविपति' गणक नाग है आसि गार्हपतिय घरिक भंडारिक

किरारी का काष्ठ यज्ञ स्तम्भ, तालाब के मध्य में (ब्लाक लेखक द्वारा प्रदत्त)

था और त्रिपुरी इनके अधिकार मे था। उपर्युक्त शातकर्णि और गौतमी पुत्र सातकर्ण के बीच मे होने वाले राजाओं में एक राजा अपीलक नाम का था। इसके ताँबा के सिक्के बालपुर (जिला बिलासपुर) के निकट महानदी की रेत में पाये गये है।[१] चीनी यात्री हुएनसांग ने लिखा है कि प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन दक्षिण कोसल की राजधानी के समीप एक बिहार में निवास करते थे। इस समय कोसल में सद्वाह नामक सातवाहन राजा राज्य करते थे। नागार्जुन के कारण सुदूर चीन तथा सिंहल द्वीप में भी कोसल का नाम विख्यात था। चीनी भाषा मे इनके ग्रंथों का अनुवाद किया गया है। चीन-प्रवासी कुमारजीव नामक विद्वान ने नागार्जुन के संस्कृत जीवनचरित का अनुवाद चीनी भाषा में सन् ४०५ मे किया था। नागपुर के निकट रामटेक-पहाड़ी की "नागार्जुन गुफा" इस महायान बौद्ध सम्प्रदाय के विख्यात विद्वान् का स्मरण दिलाती है। इस वंश का अंतिम शासक "पुलुमायि" था। सातवाहनों के शासन काल में दक्षिण में आर्य-संस्कृति का विस्तार अधिक रूप में हुआ।[२]

दक्षिण कोसल में सातवाहन वंशीय राजों के आधिपत्य का पता कुछ शिलालेखों से भी चलता है। बिलासपुर जिले के सकती (शक्ति) तहसील में गुंजी नामक एक गाँव है। गाँव के निकट ही दामदहरा नामक नाला है। पास ही चट्टान पर एक लेख प्राकृत भाषा में उत्कीर्ण है। यह राजा कुमार वरदत्त के राजत्वकाल का है। इसमें उसके अमात्य द्वारा ब्राह्मणों को एक हजार गायें दान में देने का उल्लेख है। फिर उसने दुबारा एक हजार गायों का दान लगभग एक वर्ष के बाद दिया। उसकी देखादेखी दण्डनायक इंद्रदेव ने भी एक हजार गायें दान में दीं। यह स्थान ऋषभ तीर्थ कहलाता है और इसका उल्लेख महाभारत में है।

सातवाहन काल में निर्मित पाषाण प्रतिमाएँ बिलासपुर जिले में प्राप्त हुई है। इसी समय का एक काष्ठ स्तंभ रायपुर संग्रहालय में है जो बिलासपुर जिले के किरारी नामक ग्राम के तालाब के बीच गड़ा हुआ था। डाक्टर हीरानंद शास्त्री इस यज्ञ-स्तंभ को अद्वितीय मानते है। इस यज्ञ स्तम्भ में जिन राजकर्मचारियों के पदों का उल्लेख है उससे यह प्रमाणित होता है कि यज्ञकर्ता अवश्य ही एक महापराक्रमी महाराजाधिराज था एवं उसकी राज शासन प्रणाली उच्चकोटि की थी। सम्प्रति बिलासपुर जिले के मलार (मल्हारि-

---

१. स्व० लो० प्र० पाण्डेय, ।

२. शुक्ल अभि० ग्रंथ, इतिहासखंड, पृष्ठ १५ ।

पत्तन) नामक गाँव के पास बूढ़ीखार गाँव में वैष्णव देव पर मूर्तिलेख प्रथम शताब्दी ई० का मिला है। यह ब्राह्मी लिपि में है। इस लेख में प्रजावती और भारद्वाजी नामक महिलाओं द्वारा किये गये निर्माण का उल्लेख है।[1]

इस काल मे भारत का व्यापार-संबंध पश्चिमी देशों विशेषतः रोम से बढ़ चला था। रोम के सोने के सिक्के बिलासपुर जिले में प्रायः मिला करते हैं। बिलासपुर तथा चकरबेढ़ा नामक गाँव में ऐसे दो सिक्के प्राप्त हुए थे जो रायपुर संग्रहालय में हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि बिलासपुर जिला उन दिनों पर्याप्त रूप से समृद्ध था। इसी प्रकार कुषाण राजाओं के ताँबे के सिक्के भी बिलासपुर जिले में मिलते रहते है। इससे यह अनुमान होता है कि कुषाण राज्य का विस्तार भी छत्तीसगढ़ तक अवश्य रहा होगा; भले ही वह अल्पकालीन रहा हो।

वाकाटक-वंश

(ईसा की तीसरी और चौथी शताब्दी)

इधर ईसा की तीसरी शताब्दी ने प्रवेश किया, उधर सातवाहनों की शक्ति क्षीण होती चली और वाकाटकों ने अपना राज्य स्थापित कर लिया। अनुमान है कि ओड़छा राज्य में स्थित "वाकाट" ग्राम वाकाटक वंश का मूल स्थान है। इस वंश का प्रथम नरेश विंध्यशक्ति हुआ। कुछ विद्वानों का मत है कि वह सातवाहनों के पतनोन्मुख साम्राज्य के अधीन नगर का कोई स्थानीय पदाधिकारी रहा होगा। वाकाटक वंश ने अपने राज्य का विस्तार करने में बड़ा ध्यान दिया और वे बढ़ते-बढ़ते नागपुर के समीपवर्ती प्रदेश में आ पहुँचे जहाँ उन्होंने पूरिका में अपनी राजधानी की स्थापना की। विंध्यशक्ति का पुत्र प्रवरसेन प्रथम हुआ। यह प्राकृत का कुशल कवि था और इसने इस भाषा में ग्रंथ भी लिखे थे। कहते हैं कि कविवर कालीदास को प्रवरसेन का आश्रय प्राप्त था। इसके समय मे वाकाटक-राज्य का विस्तार बुंदेलखंड से आंध्रप्रदेश तक विस्तृत हो गया था। प्रथम प्रवरसेन के पश्चात् ही इस साम्राज्य का पतन होने लगा और वह अनेक खंडों में विभाजित हो गया। कालांतर में दक्षिण कोसल इनके हाथ से निकल जाने पर इन्होंने फिर से उस पर अधिकार जमाने के लिए कई बार आक्रमण किये पर वे सब अस्थायी और निरर्थक सिद्ध हुए।[2]

---

१. विष्णु यज्ञ स्मारक ग्रंथ, लेखक लो० प्र० पाण्डेय।

२. शुक्ल अभि० ग्रंथ, पृ० १६५–१६६ मिराशी।

गुप्त वंश
(ई० की चौथी शताब्दी)

ईसा की चौथी शताब्दी के मध्य में (३३५-३७५ ई०) दक्षिण कोसल दो भागों में विभाजित था। उत्तरी भाग का राजा महेन्द्र था और दक्षिण भाग जो महाकान्तार (बस्तर और सिहावा प्रदेश) के नाम से प्रसिद्ध था, व्याघ्रराज द्वारा शासित होता था। कुछ विद्वानों का मत है कि "महेन्द्र" किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं था प्रत्युत समुदायवाची संकेत प्रतीत होता है। संभव है कि दक्षिण में समुद्रगुप्त ने जिन बारह राज्यों को परास्त किया था उनका एक संगठन रहा हो और "महेन्द्र" उस व्यक्ति की उपाधि हो जो उनका प्रमुख रहा हो। मगध के गुप्तवश का प्रभाव छ० ग० में उस समय से पड़ा जब गुप्तवंश के समुद्रगुप्त ने आर्यावर्त के राजाओं को जीतकर दक्षिणापथ की विजय यात्रा की। प्रयाग के किले मे समुद्रगुप्त का एक स्तम्भ है। इस पर महाकवि हरिषेण का जो लेख खुदा है (३६० ई०) उससे ज्ञात होता है कि ऊपर लिखे दोनों राजे समुद्रगुप्त द्वारा कैद कर लिये गये थे पर बाद में छोड़ दिये गये। इसने गद्दी पर बैठते ही भारत विजय की ठानी थी। पहले गंगा नदी के समीपवर्ती राजाओं को पराजित कर वह छुटिया नागपुर होते हुए दक्षिण कोसल पहुँचा और महेन्द्र तथा व्याघ्रराज को हराते हुए आगे बढ़ गया। वहाँ कांजीवरम के दक्षिणी प्रान्तों को जीतकर वह महाराष्ट्र तथा खानदेश होते हुए मगध लौट आया। उसने पराजित राजाओं को करद राज्य बनाने का कोई प्रयत्न नहीं किया। लेकिन दक्षिण कोसल के राजाओं ने समुद्रगुप्त के सदृश्य शक्तिशाली महाराजा के अधीन रहने में अपना लाभ देखा, अत: वे गुप्तवंश के पतन के एक शताब्दी पश्चात् तक उनकी अधीनता मानते रहे और शासकीय कार्यों में गुप्तवंश का प्रयोग करते रहे। गुप्तवंश का वाकाटक वंश से वैवाहिक संबंध भी था। चन्द्रगुप्त द्वितीय की पुत्री प्रभावती का विवाह वाकाटक वंश के राजकुमार रुद्रसेन द्वितीय के साथ हुआ था। अपने पति की मृत्यु के पश्चात् प्रभावती ने बड़ी योग्यतापूर्वक शासन किया था। उसने स्वभावत: अपने प्रशासन कार्य में अपने नैहर गुप्त साम्राज्य के राजकर्मचारियों से सहायता ली और इस प्रकार वाकाटक राज्य के पूरे प्रशासन पर गुप्त साम्राज्य का नियंत्रण हो गया।[1] इसका प्रमाण अधिकतर छत्तीसगढ़ के तीर्थस्थलों पर प्राप्त होता है। वर्तमान

---

१. शुक्ल अभि० ग्रंथ, पृ० १६६, मिराशी।

राजिम तथा वहाँ से दस मील दूर फिंगेश्वर ग्राम में समुद्रगुप्त के सेनानायक कई मास तक पड़ाव डाले हुए थे। राजिम से तेरह मील दूर कोपरा ग्राम में समुद्रगुप्त की पत्नी रूपा कुछ समय तक निवास करती रही। उस समय धमतरी, राजिम, कोपरा तथा पाटन दुर्ग में स्वर्णकार एवं देवांगन सामन्तों का अधिकार था। राजिम स्थित स्वर्णतीर्थ के तट पर स्वर्णेश्वर महादेव का इसी समय निर्माण कराया गया था

इस प्रसंग पर गुप्तवंश के संबंध में कुछ अधिक प्रकाश डाला जाय तो अच्छा होगा क्योंकि इसने भारत के तत्कालीन इतिहास में गौरवपूर्ण पार्ट अदा किया है। पूर्व-उल्लिखित प्रयाग के लौह स्तम्भ पर अत्यन्त रोचक दो अभिलेख उत्कीर्ण हैं। एक अभिलेख देवानामप्रिय प्रियदर्शिन अशोक का है, जिसने इस अभिलेख में अपनी प्रजा को शांति और सदाचार के मार्ग पर चलने की सीख दी है। यह अभिलेख ईसा-पूर्व तीसरी शताब्दी में अंकित किया गया था। ६०० वर्ष बाद इसी स्तम्भ पर ३३ पंक्तियों का एक दूसरा अभिलेख उत्कीर्ण किया गया है। इस में कहा गया है कि समुद्रगुप्त महाराज-गुप्त का प्रपौत्र, महाराज घटोत्कच का पौत्र, और महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त तथा लिच्छवि राजकुमारी कुमारदेवी का पुत्र था। चन्द्रगुप्त ने परम्परा से आगे बढ़कर "महाराजाधिराज" की उपाधि धारण की थी। यह उपाधि-परम्परा पूर्व में कुषाण राजाओं द्वारा चलाई गई थी। इस अभिलेख में कुमारदेवी का विशेष रूप से उल्लेख महत्वपूर्ण है। इसका स्पष्ट अर्थ है कि चन्द्रगुप्त और कुमारदेवी का विवाह गुप्तवंश के लिए एक गौरववर्द्धक घटना है। बौद्ध धर्म के प्रारंभिककाल में लिच्छवि एक ख्यातिप्राप्त जाति थी जो गणतंत्र का उपभोग करती थी। इनका सबसे अधिक शक्तिशाली संघ पाटलिपुत्र के उत्तर में गंडक नदी के किनारे वैशाली के चतुर्दिक क्षेत्र में स्थापित था। फलतः इस विवाह का परिणाम यह हुआ कि शक्तिशाली लिच्छवि और गुप्त राजवंश का एकीकरण हो गया जिसने भावी गुप्त साम्राज्य की नींव डाली। इस लौह स्तम्भ के द्वितीय अभिलेख में समुद्र गुप्त ने जिस गर्व के साथ अपने आपको लिच्छविवंश की पुत्री का पुत्र कहा है उससे यह बात और अधिक स्पष्ट हो जाती है।[1]

कुमारदेवी से विवाह करने के अतिरिक्त चन्द्रगुप्त ने अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करने में बड़ी बुद्धिमत्ता और अग्रिम विचार का परिचय दिया है। उपर्युक्त अभिलेख में बताया गया है कि चन्द्रगुप्त ने भरे दरबार में घोषणा

१. सतपुड़ा की सभ्यता पृ० ७०, प्रयागदत्त।

थी कि समुद्रगुप्त उसका उत्तराधिकारी होगा। इस घोषणा से बहुत लोग प्रसन्न हुए और कुछ असंतुष्ट भी। अभिलेख के इस भाग को बहुत महत्व-पूर्ण समझा गया है और इस संबंध में चंद्रगुप्त की प्रथम स्त्री से जन्मा ज्येष्ठ पुत्र 'काच' का नाम लाने का प्रयत्न भी किया गया है जिसके स्वर्ण सिक्के थोड़ी बहुत संख्या में प्राप्त भी हुए है। सन् १९५२ में छ० ग० के बानबरद नामक गांव में २० स्वर्ण सिक्के प्राप्त हुए हैं जिनमें से १ सिक्का काच, १ सिक्का समुद्रगुप्त और ७ सिक्के चंद्रगुप्त के है। काच का असल नाम रामगुप्त था।

प्रयाग[1] के अभिलेख में समुद्रगुप्त की विद्वत्ता, बुद्धिमत्ता, उसकी प्रखर तथा परिमार्जित प्रतिभा, एवं संगीत तथा काव्य-कला में उसकी दक्षता का उल्लेख किया गया है। उसके चलाये सिक्कों में उसकी बहुमुखी प्रतिभा प्रतिबिंबित होती है। उसके छः विभिन्न प्रकार के सिक्के चलते थे। इनमें से तीन प्रकार के सिक्कों पर जो प्रतीक चिन्ह् खचित हैं उनसे उसके शौर्य तथा रणक्षेत्र में उसकी रुचि का पता चलता है। एक सिक्के पर उसे राजसी वस्त्र तथा आभूषणों से पूरी तरह सुसज्जित, बायें हाथ में धनुष और दाहिने हाथ में बाण लिये हुए दिखाया गया है, इस मुद्रा पर ये शब्द अंकित हैं--"पृथ्वी पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् अपराजेय ने अपने सत्कार्यों द्वारा स्वर्ग पर विजय प्राप्त की।" दूसरे सिक्के पर उसे हाथ में फरसा लिये हुए दिखाया गया है और कहा गया है--"अजेय राजाओं का अपराजेय विजेता मृत्यु का फरसा लिये हुए।" तीसरे सिक्के पर उसे एक सिंह पर पैर रक्खे खड़े हुए दिखाया गया है। कुछ सिक्कों में उसका बिलकुल विभिन्न रूप दर्शाया गया है। जैसे चौथे प्रकार के सिक्के में उसे एक सिंहासन पर घुटने पर वीणा रक्खे संगीत में तल्लीन बैठे हुए दिखाया गया है। पाँचवें प्रकार के सिक्के अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न करने की स्मृति में और छठे प्रकार के सिक्के माता-पिता के प्रति श्रद्धा स्वरूप जारी किये गये थे। सिक्कों की बनावट भी अत्यन्त उत्कृष्ट तथा कला की दृष्टि से भी वे सुंदर थे। समुद्रगुप्त का दीर्घ शासन काल लगभग ३८० ई० में समाप्त हुआ था। उसकी पटरानी दत्तादेवी और उत्तराधिकारी चंद्रगुप्त द्वितीय था।

राजर्षि तुल्य-कुल

(ई० की पाँचवीं शताब्दी)

रायपुर जिले में आरंग नामक एक ऐतिहासिक कसबा है। वहाँ एक ताम्र-

---

१. सतपुड़ा की सभ्यता तथा त्रिपुरा का इतिहास, पृ० ४८, राजेंद्र सिंह।

पत्र पाया गया है। उससे यह ज्ञात होता है कि ईसा की पाँचवी शताब्दी में, दक्षिण कोसल में राजर्षि-तुल्य कुल नामक कोई राजवंश राज्य करता था[1] यह ताम्रपत्र महाराज भीमसेन द्वितीय द्वारा सुवर्ण (सोन) नदी के तट से दिया गया था और इसमें भीमसेन द्वितीय द्वारा हरिस्वामी और बपस्वामी को दोण्डा में स्थित भट्पल्लिका नामक ग्राम दान में दिये जाने का उल्लेख है। यद्यपि लेख में भीमसेन और उससे पूर्व पाँच पीढ़ियों के राजाओं के नाम अंकित हैं किंतु तत्संबंधी अन्य बातों की जानकारी नहीं मिलती। इस ताम्रपत्र के अनुसार राजर्षि-तुल्य कुल में सबसे प्रथम महाराज शूर, फिर पुत्र दयित वर्मा, फिर विभीषण, फिर भीमसेन प्रथम, फिर दयित वर्मा द्वितीय और अंत में भीमसेन द्वितीय राज्य करते थे। राजर्षि कुल के उदय का समय ईस्वी सन् चौथी पाँचवीं शताब्दी है।

एक बात और है। कलिंग के खारवेल की जो प्रशस्ति उड़ीसा में है उसमें "राजर्षि वंशतुल्यकुल विनसृत" लिखा है। इससे लगता है कि खारवेल भी राजर्षिवंश कुल का था।

नलवंश

(ईसा अनुमानतः की तीसरी से पाँचवीं शताब्दी)

नलवंश वाकाटकों के समकालीन माना जाता है। इस वंश का राज्य विस्तार और उसके राजाओं के संबंध में उत्कीर्ण लेख बहुत कम मिले है। अन्य राजवंशों की प्रशस्तियों में भी इनके संबंध में अत्यन्त संक्षिप्त और भ्रामक सूचनाएँ मिली हैं। दो तो उड़ीसा राज्य में मिले है और तीसरा अमरावती (बरार) और चौथा रायपुर जिले में है। बस्तर जिले में नलवंशीय स्वर्ण मुद्राएँ भी प्राप्त हुई है।[2] इन सामग्रियों से विदित होता है कि नल वंश का आधिपत्य बस्तर राज्य मे विशेष रूप से था। एक उत्कीर्ण लेख जो कसरिबेड़ (कोरापुट : उड़ीसा) में मिला है उसमें अर्थपति भट्टारक का नाम पाया जाता है। दूसरे शिलालेख में भवदत्त वर्मन का उल्लेख है। इस खंडित लेख में ब्राह्मणों को दान देने तथा भवदत्त वर्मन के पुत्र स्कन्द वर्मन के द्वारा नलवंश की पुनर्स्थापना एवं पुष्करी को राजधानी बनाने का उल्लेख है। पुष्करी संभवतः बस्तर और आंध्र की सीमा पर (गोपालपटनम) के पास रही होगी। स्कन्दवर्मन बड़ा शक्तिशाली था। इसने अपने शत्रुओं को

---

१. उत्कीर्ण लेख, पृष्ठ ४, बालचंद्र जैन और म० प्र० का इतिहास, पृष्ठ २२, मिराशी।

२. कैटलाग आफ क्वायन्स इन ब्रिटिश म्यूजियम, एलन।

पराजित कर अपना खोया हुआ राज्य पुनः प्राप्त कर लिया था और पोढ़ामढ़ (उडीसा) में विष्णुमंदिर का निर्माण कराया था। भवदत्त वर्मन ने वाकाटकों के अंतिम शासक से युद्ध कर नागपुर और बरार तक का क्षेत्र हस्तगत कर लिया था। किन्तु जब वाकाटकों ने पुनः शक्ति प्राप्त कर ली तो नाग-विदर्भ प्रदेश, नलवश से निकाल कर फिर अपने राज्य में मिला लिया पर नलवंश बस्तर सहित कोसल के अपने मूल भूखंड पर बराबर राज्य करता रहा। नलवश का चौथा लेख सन् ७०० ई० का राजिम (रायपुर जिले) के राजीवलोचन के मंदिर में लगा हुआ है। इसमें पृथ्वीराज के पुत्र विरूपाक्ष के उत्तराधिकारी विलासतुंग के द्वारा अपने स्वर्गीय पुत्र के पुण्य की वृद्धि के लिए विष्णुजी के मंदिर का निर्माण करने का उल्लेख है। यद्यपि विलासतुंग और उसके पूर्वजों का पूर्व उल्लिखित नलवंशी नरेशों से सम्बन्ध रखने का कोई विश्वस्त प्रमाण नहीं पाया जाता क्योंकि यह शिलालेख बहुत पीछे का है; तथापि इसमे वंश का प्रारभ नल घराने से हुआ था, ऐसा खचित होने के कारण विलासतुंग और उसके पूर्वजों को भी नलवंशीय मान लिया गया है। इस प्रकार यह तो ज्ञात होता है कि नलवंशीय नरेश छत्तीसगढ़ और बस्तर के भूखंडों पर पर्याप्त समय तक राज्य करते रहे पर राजत्वकाल के समय की गणना के संबंध में निश्चयपूर्वक कुछ लिखा नही जा सकता। संभव है कि पाण्डुवंश ने जिसका आगे चल कर वर्णन किया जा रहा है, इन्हें पराजित कर इनका राज्य हथिया लिया हो।

शरभपुर-वंश

(ई० की पाँचवीं और छठीं शताब्दी)

सन् ईस्वी की पाँचवी शताब्दी के अंतिम चरण में या छठी शताब्दी के प्रारंभ में दक्षिण कोसल में एक नवीन राजवंश का उदय हुआ जिसने शीघ्र अपनी प्रमुखता स्थापित कर ली। इस वंश की राजधानी शरभपुर थी पर शरभपुर कहाँ था इसका पता निश्चित रूप से अभी तक नही लगा है। कुछ विद्वानों का मत है कि इस वंश का आदि पुरुष महाराज शरभराज थे जिनकी राजधानी सारंगढ़ में थी। गुप्त संवत् १९१ (सन् ५१०) की एक प्रशस्ति में शरभराज को गोपराज का नाना कहा गया है जो गुप्तवंशी राजा भानुगुप्त का सामंत था और एरन के युद्ध में मारा गया था। किंतु यह कहना कठिन है कि शरभपुर के शरभराज और गोपराज के नाना शरभ-राज दोनों एक ही व्यक्ति थे। हाल में प्राप्त एक ताम्रपत्र के अनुसार शरभ-

पुर वंश "अमरार्यकुल" के अन्तर्गत आता है पर बहुधा वह "शरभपुरीय" ही कहा जाता था। अमरार्यकुल के नरेश वैष्णव धर्म का पालन करते थे। इनके संबंध मे अभी तक यह नही कहा जा सकता कि इन्होंने अपने राज्य मे कौन-सा महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न कराया था।

शरभराज [१] के पुत्र का नाम नरेन्द्र था। नरेन्द्रकालीन दो ताम्रपत्र या ताम्र शासन प्राप्त हुए हैं—एक पिपरदुला (सारंगढ़ के अंतर्गत) में और दूसरा कुरुद (जिला रायपुर) में। पिपरदुला में प्राप्त ताम्रपत्र, स्थान शरभपुर से, नरेन्द्र के सिंहासनारूढ़ हो जाने के तीसरे वर्ष दिया गया था। इससे राहुदेव नामक भोगपति (अर्थात् ताल्लुकेदार जैसा कोई शासकीय पद) द्वारा नंदपुर भोग में स्थित शर्करापद्र (सभवत: सांकरा ग्राम) ग्राम आत्रेय गोत्रीय स्वामिष्प को दान में देने और महाराज नरेन्द्र द्वारा उसका पुष्टिकरण करने की सूचना मिलती है। कुरुद मे प्राप्त ताम्रपत्र से यह ज्ञात होता है कि यह महाराज नरेन्द्र द्वारा अपने राज्य के चौबीसवें वर्ष में तिलकेश्वर-शिविर से जारी किया गया था। इसमें इस बात का उल्लेख है कि चुल्लाडसीमा-भोग में स्थित केशवक नामक ग्राम परमभट्टारक द्वारा भाश्रुतस्वामी नामक ब्राह्मण को तालपत्र पर दानपत्र लिख कर दिया गया था, पर यह तालपत्र अग्नि मे भस्मीभूत हो गया। फलत: महाराज नरेन्द्र ने उपर्युक्त भाश्रुत स्वामी के सुपुत्र शंखस्वामी के पक्ष में यह ताम्रपत्र उत्कीर्ण कराकर उस तालपत्रीय दान का पुष्टीकरण कर दिया जिसे अग्नि ने उदरस्थ कर लिया था। शरभपुरी नरेशों के दानपत्रों की राजमुद्रा पर गजलक्ष्मी की खड़ी प्रतिकृति खुदी मिलती है।

नरेन्द्र का उत्तराधिकारी कौन था, पता नही चलता; किन्तु उसके पश्चात् प्रसन्नमात्र का उल्लेख मिलता है जो निश्चय ही इस वंश का प्रतापी राजा रहा होगा क्योंकि प्राय: सभी पश्चाद्वर्ती लेखों में उसी से वंश वृक्ष का प्रारंभ किया गया है। प्रसन्नमात्र ने अपने नाम की स्वर्ण मुद्राओं का चलन किया था और निडिला नदी के तट पर प्रसन्नपुर नामक नगर बसाया था। शरभपुर, श्रीपुर और प्रसन्नपुर इन तीनों राजधानियो के नाम ताम्रपत्रों में मिलते है। इनमें से शरभपुर और प्रसन्नपुर अमरार्यकुल के नरेशों द्वारा बसाये गये थे पर इन दोनों का आज पता नही चलता। सन् १९५५ ई० में सिरपुर के कुछ प्राचीन स्थलों की खुदाई की गई थी और सबसे नीचे के धरातल में

१. शिलालेख की प्रतिलिपि, उत्कीर्ण लेख, पृष्ठ सात, आठ, नौ, जैन।

प्राप्त अवशेषों से उनका निर्माण काल ईसा की पाँचवी शताब्दी अनुमानित किया गया था। इस काल-निर्धारण में वहाँ प्राप्त एक स्वर्णमुद्रा से भी सहायता मिली है जो अमरार्य कुल के राजा प्रसन्नमात्र की मुद्रा थी। उत्खनन में वर्गाकार तथा आयताकार दोनों प्रकार के कमरे तथा अनगढ़ों के चिन्ह मिले थे पर इतने ही से या इनके आधार पर अमरार्यकुल कालीन स्थापत्य के संबंध में यथेष्ट जानकारी प्राप्त नहीं होती। प्रसन्नमात्र के सिक्के न केवल छत्तीसगढ़ में प्रत्युत पूर्व में कटक जिले में तथा पश्चिम में चांदा जिले में भी प्राप्त हुए हैं जिससे प्रसन्नमात्र के राज्य-विस्तार का अनुमान बाँधा जा सकता है।[1]

एक ही व्यक्ति के दो या दो से अधिक नाम होने से इतिहास निरूपण में बड़ी कठिनाई आन पड़ती है। अभी तक यह प्रतीत किया जाता था कि राजा प्रसन्नमात्र के दो पुत्र थे--(१) जयराज और (२) मानमात्र और जयराज के तीन पुत्र थे (१) सुदेवराज, (२) प्रवरराज और (३) व्याघ्रराज लेकिन अब नये तथ्य प्रकाश में आने से ऐसा जान पड़ता है कि "मानमात्र" नाम जयराज का ही था। प्रमाण में निम्नलिखित तथ्य प्रस्तुत किये जाते हैं—(१) मानमात्र का अलग से कोई लेख या प्रशस्ति नही मिलती। (२) जयराज के ताम्रपत्रों मे उसे प्रसन्नमात्र का पुत्र कहा गया है। (३) सुदेवराज और प्रवरराज की मुद्राओं पर उन्हें मानमात्र का पुत्र और प्रसन्नराज का पौत्र बताया गया है। तथा (४) मल्लार में प्राप्त व्याघ्रराज के ताम्रपत्र मे प्रवरराज को जयराज का पुत्र कहा गया है। इस प्रकार जयराज और मानमात्र एक ही व्यक्ति के दो नाम हैं। लेकिन इतने से ही मामला खत्म नही होता। कौवाताल में प्राप्त एक और ताम्रपत्र मे जयराज का एक तीसरा नाम "दुर्गराज" मिलता है। इस प्रकार जयराज उर्फ मानमात्र उर्फ दुर्गराज के कुल तीन ताम्रपत्र प्राप्त हुए हैं। इनमें से एक आरंग में और दो मल्लार मे प्राप्त हुए हैं। ये तीनों दानपत्र शरभपुर से जारी किये गये थे। इनमें से एक दानपत्र जो आरंग से और दूसरा जो मल्लार से संबंधित है राज्य के पाँचवें वर्ष में और मल्लार का शेष एक दान-पत्र राज्य के नवें वर्ष में उत्कीर्ण किये गये थे।

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है जयराज के तीन पुत्र थे—१—सुदेवराज, २—प्रवरराज और ३—व्याघ्रराज। इनमे से ज्येष्ठ पुत्र सुदेव राज को

---

१. महाकोशल में बालचंद्र जैन का लेख

शरभपुर की राजगद्दी मिली। इसके ६ ताम्रपत्र प्राप्त हुए हैं, इनमें से रायपुर से प्राप्त ताम्रपत्र में उसके राज्यारोहण के दसवें वर्ष का उल्लेख है। सुदेव राज ने शरभपुर और श्रीपुर दोनों स्थानों से दानपत्र जारी किये थे। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि शरभपुर और श्रीपुर दोनों स्थानों में उसकी राजधानियाँ थीं। लेकिन एक बात है। श्रीपुर राज्य की स्थापना सुदेवराज के मझले भाई प्रवरराज ने की थी जो किसी भी कारणवश शरभपुर से श्रीपुर चला आया था। प्रवरराज के ताम्रपत्रों से इस तथ्य की पुष्टि होती है। इसमें उत्कीर्ण है कि प्रवरराज ने अपनी भुजाओं के जोर से अपना राज्य उपार्जित किया था। प्रवरराज के केवल दो ताम्रपत्र अभी तक प्राप्त हुए हैं। इनमें से एक ठाकुरदिया (सारंगढ़) और दूसरा मल्लार (बिलासपुर) में प्राप्त हुआ था। दोनों ताम्रपत्र उसके राज्यकाल के तीसरे वर्ष के हैं। अनुमान किया जाता है कि प्रवरराज का राज्य, चाहे जिस कारण से हो, अल्पकालीन रहा। कदाचित वह अल्पायु रहा हो या बड़े भाई ने उसे अलग से राज्य की स्थापना न करने दी हो। इसके पश्चात् श्रीपुर का राज्य बड़े भाई सुदेवराज को प्राप्त हो गया।[1]

सुदेवराज ने अपने राज्य के सातवें वर्ष में श्रीपुर में एक दानपत्र जारी किया था जबकि उसका एक अन्य दानपत्र उसी वर्ष शरभपुर में उत्कीर्ण किया गया था। प्रसन्नमात्र का तृतीय पुत्र व्याघ्रराज प्रसन्नपुर में निवास करता था। वह अपने मझले भाई प्रवरराज का सामंत मात्र था। उसने राज्य संवत ४ में एक ताम्र पत्र उत्कीर्ण कराकर ऋग्वेदी विप्र दुर्गस्वामी के पुत्र दीक्षित अग्निचंद्र स्वामी को पूर्वराष्ट्र में स्थित कुन्तरपद्र नामक ग्राम दान में दिया था। यह ताम्रपत्र मल्लार में प्राप्त हुआ था। इस लेख में वंश का नाम अमरार्यकुल बताया गया है।

इस प्रकार छठी शताब्दी में शरभपुरीयवंश जो अमरार्यकुल कहलाता था छत्तीसगढ़ में राज्य करता था। इस वंश के अंतिम राजा सुदेव राज के समय में पाण्डुवंशियों ने दक्षिण कोसल पर विजय प्राप्त कर शरभपुरीय राजवंशों को समाप्त कर दिया और श्रीपुर (सिरपुर, जिला रायपुर) को अपनी राजधानी बनाया।

अमरार्यकुल के राज्यकाल में शासन-व्यवस्था

पूर्व उल्लिखित नरेन्द्र नामक नरेश के एक ताम्रशासन (तांबे के दानपत्र) में उल्लेख है कि पहले दानपत्र तालपत्रों को कीलों से उत्कीर्ण करके दिये

---

१. उत्कीर्ण लेख, पृष्ठ सात, बा० चं० जैन।

जाते थे पर बाद में जब एक तालपत्र अग्नि में जलकर भस्म हो गया (और यह डर बना रहा) तब उसे ताम्रपत्रों में उत्कीर्ण कर अनुमोदित किया गया (और भविष्य मे ताम्रपत्रों का ही उपयोग किया जाने लगा)।

ताम्रशासन ताँबे की तीन आयताकार पट्टिकाओं पर उत्कीर्ण मिलते है।[1] इन पट्टिकाओं के बाये हाशिये की ओर एक गोल या वर्गाकार छेद रहता है जिनमें छल्ले के दोनो छोरों को राजमुद्रा की ढली हुई प्रतिकृति के साथ जोड़ दिया जाता था। राजमुद्रा की प्रतिकृति शासन के प्रमाणीकरण के लिए लगाई जाती थी। व्याघ्रराज के शासन को छोड़कर अन्य सभी नरेशों की राजमुद्रा के ऊपरी भाग में गजलक्ष्मी की कलापूर्ण छवि पाई गई है और लक्ष्मी जी को कमलपुष्प पर खड़ी खचित किया गया है। लक्ष्मी जी के पृष्ठ भाग में प्रभामण्डल छापा गया है और उसके दोनों ओर कमल-पत्रों पर खड़े हुए गज अपनी सूंड़ में कलश लेकर लक्ष्मी जी का अभिषेक कर रहे हैं। व्याघ्रराज के ताम्रपत्र के साथ जो मुद्रा मिली है उसके ऊपरी भाग में सिंह की आकृति है तथा एक ओर शंख तथा दूसरी ओर चक्र खचित है।[2]

व्याघ्रराज का ताम्रलेख कीलशीर्ष अक्षरों में है पर नरेन्द्र, सुदेवराज और प्रवरराज के लेख पेटिका शीर्ष लिपि में उत्कीर्ण हैं। सभी ताम्र शासनों की भाषा संस्कृत है। नरेन्द्रकालीन लेखों की भाषा पूर्वकाल के नरेशों के ताम्रपत्र की भाषा की अपेक्षा सादी और अनावश्यक विशेषणों तथा अलंकारों से रहित है। लेखों के उत्कीर्ण करने वाले शिल्पियों में श्री दत्त, अचलसिंह, ज्येष्ठसिह, द्रोणसिंह और गोलसिंह के नाम अंत में खोदे हुए पाये गये हैं। ज्येष्ठसिंह का निवासस्थान प्रसन्नपुर बताया गया है। गोलसिंह श्रीपुर का और श्रीदत्त, अचलसिंह तथा द्रोणसिंह शरभपुर के राजकीय शिल्पी थे।

अमरार्यकुल के ताम्रपत्रों में जैसा कि उल्लेख है जान पड़ता है शासकीय सुविधा हेतु राज्य, वर्तमान राज्य शासन प्रणाली के सदृश ही राष्ट्र, भोग, भुक्ति, आहार तथा ग्रामों में विभाजित था। राज्य में कई संभाग होते थे जो राष्ट्र कहलाते थे। जयराज, सुदेवराज और व्याघ्रराज के ताम्रपत्रों में पूर्व राष्ट्र का और प्रवरराज के लेख में तुण्डराज का उल्लेख मिलता है। यदि हम तत्कालीन राष्ट्र को आजकल का संभाग (कमिश्नरी) समझ लें तो उपयुक्त ही होगा। प्रत्येक राष्ट्र में कई भोग, भुक्ति और आहार होते थे।

---

१. निरीक्षण द्वारा।

२. निरीक्षण द्वारा।

इन ताम्रपत्रों में इस ढंग के कई नाम मिले हैं, जैसे—शबरभोग, नंदपुर भोग, चुल्लाडसीमा भोग, हाकिरी भोग, शंखचक्र भोग, तोसडंड भुक्ति और क्षिति-मण्ड आहार । इन भोगों और भुक्तियो मे नगर, उपनगर और ग्रामों की संख्या कितनी रहती थी, पता नही लगा है या फिर नियमित सीमाबद्धता रहती रही होगी । भोग के अधिकारी को भोगपति कहा जाता था। राजा की अनुमति से उसे ग्रामदान करने का अधिकार था। इसके अतिरिक्त प्रतिहार, हरण्यग्राह, चाट, भट, सामंत, दूतक, कार्णिक, सर्वाधिकाराधिकृत, राजकुल, महादेवी आदि कई राजपदों का उल्लेख इन ताम्रपत्रों में पाया जाता है। ग्रामों में शंकरापद्र, कदम्बपद्रुल्ल, केशवक, नवन्नक, पम्बा, मित्रग्राम, आषाढ़क, सुविका, श्रीसाहिका जैसे नाम भी इन ताम्रपत्रों मे उल्लिखित पाये गये है ।

ब्राह्मणों को उस समय भी बड़ा सम्मान दिया जाता था । इन ब्राह्मणों को चन्द्रग्रहण अथवा अन्य पुण्यपर्वो पर ग्रामदान देने के अभिलेख पाये गये हैं जिनमें इन विप्रों के नाम, गोत्र, प्रवर, शाखा सभी बातों की सूचनाएँ उनके नाम के साथ दी जाती थीं । अमरार्यकुल परम वैष्णव था । इस कुल के नरेशों द्वारा किस स्थान पर कौन सा मंदिर या अन्य धर्मक्षेत्र स्थापित किया गया था पता नही चलता ।[1] महाराजा नरेन्द्र का राज्य विस्तार राजिम क्षेत्र तक था । आश्चर्य नही यदि राजीव लोचन के मदिर के निर्माण के प्रारंभिक काल में इनका हाथ रहा हो; वैसे पश्चात्काल मे इस मदिर मे अनेक बार जीर्णोद्धार के कार्य किये गये हैं और मंदिर के मूल रूप में अनेक परिवर्तन हुए है ।

शरभपुर, श्रीपुर और प्रसन्नपुर इन तीन राजधानियो के नाम अमरार्य-कुल के ताम्रपत्रों में मिलते है। इनमें से शरभपुर और प्रसन्नपुर तो अमरार्यकुल-नरेशों द्वारा बसाये गये थे और श्रीपुर मे भी ये लोग पाण्डुराज्यो से पूर्व राज्य कर चुके थे । मुश्किल तो यह है कि शरभपुर और प्रसन्नपुर का ठीक-ठीक पता अभी तक नही चल सका है । श्रीपुर मे अमरार्यकुल और पाण्डुकुल के राज्यकाल के बीच विशेष अंतर रहने से दोनो के काल मे प्रचलित कला या शिल्प में क्या अंतर था इसका पृथक् करना कठिन है। लगभग सन् १९५४-५५ में श्रीपुर के कुछ प्राचीन स्थानो का उत्खनन डॉ० मोरेश्वर दीक्षित ने सागर वि० वि० के तत्वावधान मे किया था । उन्होंने सब से नीचे की सतह मे प्राप्त भवनो के अवशेषों को पांचवीं शताब्दी का अनुमानित किया था।

---

1. उत्कीर्ण लेख, पृष्ठ ८. बालचन्द्र जैन ।

इन भवनों के नीचे प्राकृतिक रेत मिलने के कारण ये भवन श्रीपुर के प्रथम काल के प्रासाद माने जा सकते हैं। इस काल-निर्धारण में वहीं प्राप्त एक सोने के सिक्के से भी सहायता मिली है। यह सिक्का अमरार्यकाल के राजा प्रसन्नमात्र का है।

पाण्डु वंश

(ईसा की पाँचवीं शताब्दी)

पाण्डुवंश को भ्रमवश महाभारत कालीन पाण्डववंश न समझ ले। ये वास्तव में सोमवंशी थे। प्रशस्तियों में इनका उल्लेख इस प्रकार किया गया है—**"सोमवंश संभव, शशिवंश संभूत, शीतांशुवंश, विमलाम्बर, पूर्णचंद्र"** आदि। यह वंश पाँचवी शताब्दी में छत्तीसगढ़ का शासक था। इस वंश के प्रथम नरेश का नाम उदयन था। इसका पुत्र हुआ—इन्द्रबल। भांडक में प्राप्त भवदेव रणकेसरी के शिलालेख से विदित होता है कि इन्द्रबल के चार पुत्र थे।[1] इनमे से चतुर्थ पुत्र भवदेव रणकेसरी अपने भाई नन्नदेव के सामंत के रूप में चाँदा जिले में शासन करता था। भवदेव का दूसरा नाम चिन्तादुर्ग भी था। इसने सूर्यघोष नामक किसी पूर्वकालीन राजा द्वारा निर्माण कराया हुआ बौद्ध-मंदिर का जीर्णोद्धार कराया था। इन्द्रबल का तृतीय पुत्र ईशानदेव का उल्लेख खरौद (जिला बिलासपुर) के लखनेश्वर मंदिर मे प्राप्त शिलालेख में मिलता है। इससे यह प्रमाणित होता है कि पाण्डुवंशियों का राज्य पर्याप्त रूप से विस्तृत था। इनके संबंध में विशेष जानकारी राजिम, बलौदा और बोंडा में प्राप्त तीवरराज के ताम्रपत्रों से प्राप्त होती है।

शरभपुर नरेश सुदेवराज की एक प्रशस्ति में महा सामन्त इन्द्रबल को उसका सर्वाधिकृत उल्लिखित किया गया है। अब यहाँ भ्रम पैदा होता है कि यह इन्द्रबल पाण्डुवंशी इन्द्रबल है या कोई अन्य। आश्चर्य नही कि यह पाण्डुवंशी ही हो और सामन्त से राजा बन गया हो। यह भी संभव है कि इन्द्रबल के पुत्र नन्नदेव ने शरभपुरीय नरेशों को जीत कर दक्षिणकोसल पर अपना अधिकार जमा लिया हो। नन्नदेव के राज्य का विस्तार पश्चिम में चाँदा जिले तक था, यह पहले लिखा जा चुका है। पर सच पूछिये तो पाण्डुवंश को शक्तिवान बनाने का यश नन्नदेव के सुपुत्र महाशिव त्रिवर या तीवर देव को प्राप्त हुआ। तीवरदेव शैव धर्म अनुयायी था। यह दो विरुद धारण किया करता था—(१) महाशिव और (२) महाभव। इसने कोसल, उत्कल

---

१. पूर्णा, पृष्ठ २६, विदर्भ हिन्दी सा० स० का प्रकाशन।

और अन्य मण्डलों पर अपने पराक्रम से अधिकार प्राप्त किया था और कोसलाधिपति की उपाधि धारण की थी। विष्णुकुण्डी नरेश माधव वर्मा प्रथम के समकालीन होने के कारण नन्नदेव का समय ईस्वी की छठी शताब्दी निश्चित की जा सकती है। तीवरदेव के तीन ताम्रपत्र राजिम, बलौदा और बोंडा में प्राप्त हुये हैं। ये ताम्रपत्र जिन कड़ियों में नत्थी किये गये हैं उनकी मुद्रा पर गरुड़जी की छवि उत्कीर्ण है।

महाशिव तीवरदेव का पुत्र महानन्न देव अपने पिता का उत्तराधिकारी हुआ। अब इसने अपनी प्रशस्तियों मे अपने को पांडव या पाण्डुवंशी के स्थान पर सोमवंशीय कहना आरंभ कर दिया। यह भी परम वैष्णव था और सकल कोसलमण्डल का अधिपति था। इसके समय का केवल एक ही ताम्रपत्र प्राप्त हुआ है, जिसमें इसके द्वारा अष्टद्वार विषय (जिला) मे स्थित कोन्तिणीक ग्राम दान में दिये जाने का उल्लेख है। तीवरदेव की सभी प्रशस्तियों के समान नन्नदेव का यह ताम्र पत्र भी राजधानी सिरपुर से दिया गया था। लगता है कि तीवरराज के पुत्र नन्नदेव का राज्य अल्पकालीन था या फिर वह निष्पुत्र रहा हो क्योंकि उसके पश्चात् उसका चाचा चन्द्रगुप्त दक्षिण कोसल के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। चन्द्रगुप्त का पुत्र हर्षगुप्त हुआ और उसका विवाह मगध के मौखरिवंशी राजा सूर्यवर्मा की कन्या वासटा से संपन्न हुआ। उसके निधन हो जाने पर उसकी विधवा रानी वासटा ने उसकी स्मृति में हरि के एक उत्तुंग मंदिर का निर्माण कराया। वासटा द्वारा मंदिर का निर्माण अपने पुत्र (या भतीजा) महाशिवगुप्त बालार्जुन के राज्यकाल में निर्माण किया गया था। यह मंदिर वर्तमान समय में भी विद्यमान है और भारतीय वास्तुकला की अनुपम कृति है। इसमे लगे शिलालेख की रचना कविवर चितातुरंगजी ने की थी।

महारानी वासटा बड़ी दानशीला थी। उसने चारों[1] वेदों के ज्ञाता पंद्रह विद्वान ब्राह्मणों को पाँच गाँवों में जीविका के हेतु भूमि दी थी। उन विद्वानों के नाम इस प्रकार थे—

१—ऋग्वेदी—ब्रह्म त्रिविक्रम, महिरदेव, अर्क और विष्णुदेव।
२—यजुर्वेदी—कपर्दोपाध्याय, भास्कर, मधुसूदन और वेदगर्भ।
३—सामवेदी—भास्कर, स्थिरोपाध्याय, त्रैलोक हस एव मोहड़ा।
४—अन्य शास्त्रों के विद्वान्—वामववदिन, वामन और श्रीधर।

इन पन्द्रह विप्रों को निम्नलिखित शर्तों पर भूमि प्रदान की गई थी—

१. सतपुड़ा की सभ्यता, पृष्ठ ६६-६७, प्रयागदत्त शुक्ल।

इनके पुत्र और पौत्रादि विद्वान हों, उन्हें जुए की लत न हो, व्यभिचारी न हों, कुसंगति में न रहें, मुख स्वच्छ रक्खें और किसी की सेवकाई में न रहें। यदि इनमें से किसी की मृत्यु हो जाय तो रिक्त स्थान की पूर्ति विप्र मंडली करे। नयी नियुक्ति उनका संबंधी, ज्ञानी और वयोवृद्ध हो। कोई भी ब्राह्मण प्रदत्त भूमि को न बेच सकेगा और न बंधक रख सकेगा। दान वंशपरंपरागत चलता रहेगा। इन गाँवों की समस्त आय ब्राह्मणों को ही मिलेगी और जो इसमें हस्तक्षेप करेगा वह नरकगामी होगा।

बालार्जुन महाशिव गुप्त सन् ५९५ के लगभग सिंहसनारूढ़ हुआ और लगभग ६० वर्ष तक राज्य करता रहा। बालपन से ही उसने धनुर्विद्या में प्रवीणता प्राप्त कर ली थी। फलतः उसे बालार्जुन की उपाधि से अलंकृत किया गया था। उसकी राजमुद्रा पर बैठे हुए नंदी की छवि पाई जाती है। उसकी धर्मसहिष्णुता अनुकरणीय थी। उसके राज्यकाल में श्रीपुर तथा राज्य के अनेक अन्य स्थानों में शैव, वैष्णव, बौद्ध तथा जैनियों के धर्ममंदिरों का निर्माण हुआ। मल्लार में प्राप्त ताम्रपत्र[1] से जान पड़ता है कि तारंडशक भोग (याने आजकल की तहसील) में स्थित कैलासपुर (केसला) नामक ग्राम तरडंशक (तरोड़) की विहारिका में रहने वाले बौद्ध भिक्षुओं के संघ को दान में दिया गया था। महाशिवगुप्त के समय में उसकी राजधानी श्रीपुर की महिमा दूर-दूर तक फैल चुकी थी, और वहाँ बौद्ध तथा अन्य धर्मावलम्बियों का ताँता लगा रहता था। हाल ही में सिरपुर में खुदाई का कार्य जारी किया गया था और उस समय वहाँ से अनेक बौद्ध बिहार, विशाल प्रतिमाएँ और शिलालेख प्राप्त हुए हैं जो तत्कालीन धार्मिक एवं सामाजिक स्थितियों पर प्रकाश डालते हैं। बालार्जुन महाशिवगुप्त के चार ताम्रपत्र अभी तक बारदुला, लोधिया, मल्लार तथा बोंडा नामक स्थानों से प्राप्त हुए हैं। बारदुला (बेलादुला) और लोधिया नामक ग्राम सारंगढ़ तहसील में हैं। इन ताम्रपत्रों से यह जानकारी मिलती है कि महाशिवगुप्त के राज्य का विस्तार रायपुर, बिलासपुर, रायगढ़ आदि जिलों के उस पार तक विस्तृत था। तत्कालीन प्रायः सभी शिलालेख सिरपुर ही में उपलब्ध हुए हैं जो संख्या में इतने अधिक हैं कि जान पड़ता है कि वहाँ निर्माण कार्य अविराम चलता रहता था। महाशिवगुप्त के राज्यकाल को छत्तीसगढ़ का स्वर्णयुग कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी।

---

१. एपिग्राफिआ इंडिका, जिल्द २३।

महाशिवगुप्त के उत्तराधिकारी के सम्बन्ध में अभी तक कोई जानकारी प्राप्त नहीं हुई है और न यह भी ज्ञात हो सका है कि पाण्डुवंशियों ने कब तक छ० ग० में राज्य किया। ऐसा अनुमान किया जाता है कि चालुक्य राजा द्वितीय पुलकेशिन ने कोसल राज्य को क्षति पहुँचाई थी।[1] यह भी सभव है कि पूर्वकालीन नल राजा के वशजों ने इस वंश को समाप्त किया हो क्योंकि राजिम के शिलालेख मे नलवशी विलासतुंग के लेख मे उसके पूर्वजो के नाम मिलते है।

ऊपर चालुक्य राजा द्वितीय पुलकेशिन का प्रसगवश उल्लेख किया गया है। यहाँ उसके संबंध में कुछ अधिक जानकारी देना अवसर के अनुकूल ही समझा जायगा। सन् ५५० ई० के लगभग चालुक्यवश के सस्थापक पुलकेशिन प्रथम ने वातापीपुर (बादामी) मे अपनी राजधानी स्थापित कर उसके आसपास के इलाके को अपने अधिकार में ले लिया। उसके पुत्रों ने देश विजय की परम्परा को आगे बढ़ाया और कोंकण, कुर्नूल तथा बेलारी जिलों के बहुत बड़े भाग को अपने राज्य मे मिला लिया। कुछ समय के पश्चात् सौराष्ट्र और उत्तरी गुजरात को छोड़कर वर्तमान बम्बई राज्य का पूरा इलाका चालुक्यों के राज्य मे आ गया। पुलकेशिन प्रथम के दो पुत्र थे—कीर्तिवर्मन प्रथम और मंगलेश। इन दोनो मे से छोटा भाई मगलेश गद्दी पर बैठा। मंगलेश अपने बाद अपने एक पुत्र को गद्दी पर बिठाना चाहता था पर उसके ज्येष्ठ बधु कीर्तिवर्मन प्रथम के पुत्र पुलकेशिन द्वितीय ने युद्ध में अपने चाचा को परास्त करके उसे मार डाला और स्वय चालुक्यों का राजा बन बैठा। फिर बडी निपुणता से उसने अपनी स्थिति को दृढ़ किया।

ऐसा प्रतीत होता है कि देश इस समय समान रूप मे दो शक्तिशाली राज्यों मे विभाजित था। उत्तर मे गुप्तवंशी हर्ष का शासन था और दक्षिण मे चालुक्य वशी पुलकेशिन का एकछत्र राज्य था। ऐसा अनुमान किया जाता है कि इन दोनों राज्यों मे सौराष्ट्र जैसे सीमावर्ती प्रदेशों पर जहाँ मैत्रकों का राज्य था, प्रमुत्व प्राप्त करने के हेतु युद्ध छेडा गया। सन् ६३० ई० से ६३४ तक लगभग दोनों राज्यों की सेनाएँ नर्मदा नदी के तटों पर फैली हुई डटी रही। इसी समय आश्चर्य नहीं कि चालुक्य राजा द्वितीय पुलकेशिन ने दक्षिण कोसल के राज्य को क्षति पहुंचाई हो। दक्षिण कोसल के राजे मगध के महा-

---

1. सतपुड़ा की सभ्यता, पृष्ठ ६७, प्रयागदत्त शुक्ल।

राज गुप्तवंश को मान्यता देते चले आये थे--यही कारण चालुक्यों की नाराजी का रहा होगा ।

शैलवंश

(ईसा की सातवीं या आठवीं शताब्दी)

शरभपुरी वंश और कोसल राज्यों के बीच जब युद्ध चल रहा था तब इसी अव्यवस्था से लाभ उठा कर एक शैलवंशी[1] राजाओं, की शाखा ने कुछ समय तक छ० ग० के एक क्षेत्र मे राज्य किया था जिसका उल्लेख दुर्ग और बालाघाट के सरहदी ग्राम रघोली मे प्राप्त ताम्रलेख में है । इसके अनुसार इसकी वंशावली श्रीवर्द्धन से आरंभ होती है। श्रीवर्द्धन का पुत्र पृथ्वीवर्द्धन और पौत्र जयवर्द्धन था । श्रीवर्द्धन ने इस दानपत्र के द्वारा "सूर्य मदिर" को खट्टिका नामक ग्राम दान में दिया था। यह ग्राम रघोली से दो मील पर है। लेख तिथि विहीन है पर लगता है ७ वीं या ८ वी सदी (ईस्वी) का होगा और ये राजे सूर्यवंशी रहे होंगे ।

मेकल के पाण्डव वंश

(ईसा की पाँचवीं शताब्दी)

नर्मदा नदी मेकलसुता कहलाती है और अमरकंटक जो इसका उद्गम स्थान है मेकल पहाड़ की श्रेणियों का एक उत्तुंग शिखर है। इस अमरकंटक में, पांचवी शताब्दी मे एक पाण्डववंश राज्य करता था ।
निश्चय ही इसका सम्बन्ध महाभारत में वर्णित पाण्डुकुल से नहीं था, पर पूर्ववर्ती पृष्ठों में उल्लिखित पाण्डववंश से था कि नहीं, कहना कठिन है। अध्ययन से केवल यही ज्ञात हो सका है कि इस शाखा के राजा भरतबल ने कोसल की राजकुमारी लोकप्रकाशा से विवाह किया था । कुछ इतिहासज्ञों की यह राय कि लोकप्रकाशा कोसल पाण्डुवंश की पुत्री थी, असगत इसलिए जान पड़ती है कि प्रथम तो भरतबल के राजत्वकाल तक कोसल के पाण्डुवंशियों की इस प्रदेश पर सत्ता स्थापित नहीं हुई थी और द्वितीय यह कि संभव है कि दोनों पाण्डव वंश सगोत्रीय हों जिससे शास्त्रों के अनुसार परस्पर विवाह संबंध होना सर्वथा धर्मविरुद्ध है । वास्तविकता यह जान पड़ती है कि कोसल-कन्या लोक-प्रकाशा शरभपुरवंशी हो और वह राजा शरभ की पुत्री अर्थात् नरेन्द्र की सहोदरा हो । बम्हनी में भरतबल का एक ताम्रपत्र मिला है । इस ताम्रपत्र में

---

१. सी० पी० इन्सक्रिप्शंस, हीरालाल ।

महाराज नरेन्द्र की सराहना प्रच्छन्न रूप से की गई है जो पारस्परिक मधुर संबंध होने के कारण हो सकती है । इस ताम्रपत्र मे लोकप्रकाशा को 'अमरज-कुलजा' कहा गया है जो "अमरार्यकुल" का पर्याय हो सकता है जिस वंश के नरेन्द्र थे ।

महाराजा भरतबल का दूसरा नाम इन्द्र था । इसकी माता का नाम इन्द्र-भट्टारिका और पिता का नाम नागबल था । प्रशस्तियों में नागबल को भी महाराज की उपाधि से अलंकृत किया गया है पर उसके पिता वत्सराज तथा वत्सराज के पिता जयबल का उल्लेख बिना किसी उपाधि के किया गया है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि वत्सराज और जयबल मगध के गुप्तवंश के साधारण सामन्त रहे होंगे। आगे चलकर जब गुप्तवंश में क्षीणता आ गई तब नागबल स्वतंत्र होकर राजा बन बैठे और महाराज की उपाधि धारण कर ली होगी। भरतबल के पश्चात् इस वंश का कुछ अता-पता नहीं चलता ।[1]

सोमवंश

(ईसा की नवीं से ११ वीं शताब्दी)

पाण्डु या पाण्डव वंश का वर्णन पूर्ववर्ती पृष्ठों में करते हुए यह लिखा गया है कि महाशिवगुप्त के पुत्र महानन्ददेव ने अपनी प्रशस्तियों में अपने को पाण्डुवंशी कहना बंद कर दिया और उसके स्थान पर सोमवंशी शब्द का प्रयोग करने लगा। पर आगे चलकर एक ऐसे राजवंश का आविर्भाव हुआ जिसका संबंध उपर्युक्त पाण्डुवंश से नहीं पाया जाता और जो शुद्ध सोमवंशी कहाते थे। ये अपने को कोसल, कलिंग और उत्कल इन तीनों कलिंगों के अधिपति मानते थे और इन्होंने 'त्रिकलिंगाधिपति' की उपाधि भी धारण कर ली थी। यद्यपि इनके प्रथम राजा का नाम शिवगुप्त था फिर भी यह प्रमाणित नहीं हो सका है कि पूर्ववर्ती पाण्डुवंशों से इनका कोई संबंध रहा है। उल्टा पाण्डु-वंशी राज्य प्रणाली के विपरीत, किन्तु शरभपुरवंशीय राजाओं के सदृश इनकी राज मुद्राओं पर गजलक्ष्मी की छवि पाई जाती है ।

इस सोमवंश के प्रथम नरेश हुए—शिवगुप्त, पर इनकी कोई प्रशस्ति अभी तक उपलब्ध नहीं हुई है। किन्तु इनके सुपुत्र महाभवगुप्त की एक प्रशस्ति में इन्हें अंकित किया गया है—"स्वस्ति श्रीमत् परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर शिवगुप्त पादानुध्यात् परम भट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर

---

१. उत्कीर्ण लेख, पृष्ठ दस, बालचंद्र जैन ।

सोमकुल तिलक त्रिकलिंगाधिपति महाराज श्री भवगुप्त[1]—" अनुमान है कि शिवगुप्त के राज्यकाल में त्रिपुरी के कलचुरि (हैहय वंशी) राजा मुग्धतुंग ने कोसल पर चढ़ाई करके उससे पाली (जिला बिलासपुर) छीन ली थी। इस आक्रमण को दक्षिण कोसल पर हैहयों का प्रथम आक्रमण समझना चाहिए। शिवगुप्त के पश्चात् उसका पुत्र जनमेजय महाभवगुप्त (प्रथम) गद्दी पर बैठा। इसका एक नाम और था—धर्मकंदर्प। इसने अपनी राजधानी सुवर्णपुर (उड़ीसा) से, अपने पैंतीस वर्ष के राज्यकाल के मध्य अनेक ताम्रपत्र जारी किये थे। पर रायपुर के संग्रहालय में जिस ताम्रपत्र का संग्रह है वह मुरसीमा से दिया गया था। इस ताम्रपत्र के द्वारा महाभवगुप्त ने अपने राजत्वकाल के आठवें वर्ष में कशलोडा विषय (जिला) के सतलम्मा नामक ग्राम का दान श्री सांथकर ब्राह्मण को दिया था। इसी ताम्रपत्र से यह भी जानकारी मिलती है कि इस समय महासन्धि विग्रहिक के पद पर राणक श्री मल्लदत्त नियुक्त थे। महाभवगुप्त बहुत शीघ्र कोसल के आधिपत्य से त्रिपुरी के कलचुरि राजा द्वारा खदेड़ दिया गया।[2]

महानुभाव के पश्चात् उसके पुत्र महाशिवगुप्त के हाथ में सत्ता आई। यह ययाति के नाम से भी जाना जाता था। इसका राज्यकाल लगभग पचास वर्ष सन् ६५० से १००० ई० तक पाया जाता है। राजत्वकाल के प्रथम चरण में इसके दानपत्र विनीतपुर से जारी किये गये थे किन्तु राज्यारोहण के चौबीसवें तथा अट्ठाइसवें वर्ष के दानपत्र ययाति नगर से प्रदत्त किये गये थे। संभव है कि इसने ययाति नगर नामक नया नगर राजधानी के हेतु बसाया हो या फिर विनीतपुर का नाम ही ययातिनगर कर दिया हो। इसके दानपत्रों में दक्षिण कोसल में स्थित ग्रामों के दान का उल्लेख है। इससे इस बात की पुष्टि होती है कि इसके अधिकार में कोसल का कुछ भाग अवश्य था और कोसल के लिए सोमवंशियों और कलचुरियों में युद्ध हुआ करते थे।

ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारंभ में ययाति महाशिवगुप्त का पुत्र भीमरथ द्वितीय महाभवगुप्त शासन के अधिकार में आया। इसने सन् १००० से १०१५ तक राज्य किया और राजधानी ययातिनगर में ही रक्खी। इसके राज्य-काल में इसके एक मांडलिक राणक श्री पुञ्ज ने वामण्डापाटि शिविर से गिडाण्डा मण्डल में स्थित लोइसरा नामक ग्राम जनार्दन ब्राह्मण को दान में प्रदत्त

१. ताम्रपत्र की प्रतिलिपि, पृष्ठ ५१ उत्कीर्ण लेख।
२. पूर्णा द्वैमासिक पत्र, पृष्ठ २६, विदर्भ हि० सा० स० का प्रकाशन।

किया था, जिसका उल्लेख एक ताम्रपत्र में है जो रायपुर संग्रहालय में है, और जो भीमरथ के राज्यारोहण के तेरहवें वर्ष में जारी किया गया था।[1] मठर वंशीय राणक पुञ्ज पंद्रह ग्रामों का माण्डलिक था और उसने पंचमहाशब्द प्राप्त किये थे। इस ताम्रपत्र के संबंध मे यह विशेषता है कि इसे लेनपुर के सेठ श्रीकरण के सुपुत्र पूर्णादत्त ने लेखबद्ध किया था।

द्वितीय महाभवगुप्त के पश्चात् उसका पुत्र धर्मरथ सत्तारूढ़ हुआ। इसने महाशिवगुप्त (द्वितीय) की उपाधि धारण की थी। इसने केवल पाँच वर्षों तक राज्य किया और सन् १०२० के लगभग निःसंतान इसका निधन हो गया। फलतः इसका भाई नहुष राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ, पर शासनभार सँभाल नहीं सका और राजकाज में निर्बलता आती गई। इधर कलचुरियों के सतत आक्रमणों से राज्य की स्थिति बिगड़ती गई और धीरे-धीरे इनके अधिकार से कोसल तथा उत्कल के भूखंड खिसकते गये। अब ययाति चण्डीहर (महाशिवगुप्त तृतीय) का शासनकाल आया। यह बड़ा शूरवीर और प्रतापी था। भुवनेश्वर मे इसकी राजधानी थी। भुवनेश्वर के मदिरों के निर्माता अधिकांश रूप में कोसल के सोमवंशी ही थे। वर्तमान समय में भी ये मदिर तत्कालीन स्थापत्यकला की निपुणता प्रकट करते है। इसने राजकाज में बड़ी प्रगति की तथा खोये हुए कोसल और उत्कल के अंतर्गत अपने भूखंडो को आक्रान्ताओं से मुक्त भी कर लिया। चण्डीहर के पश्चात् सन् १०५५ में उद्योत केसरी राजा हुआ। इसने महाभवगुप्त (चतुर्थ) का पद धारण किया। इसका राजत्वकाल लगभग २५ वर्षों तक रहा। यह भी बडा शूर निकला। इसने जहाँ एक ओर कलचुरियों के आक्रमणों का उत्तर दिया वहाँ दूसरी ओर बगाल के पालो से भी लोहा-से-लोहा बजाया। पर लगता है यह सोमवंशियों का अतिम भाग्य-दीप था जो बुझने के पहले प्रज्वलित हो उठा था, पश्चात् यह सदा के लिए ठंडा हो गया। फलतः त्रिपुरी के कलचुरि (हैहय) वंश की एक शाखा प्राचीन छ० ग० मे उस समय भी मौजूद रही, और अपनी राजधानी तुम्माण मे स्थापित की।

---

१. उत्कीर्ण लेख, बालचंद्र जैन।

६

कलचुरि अर्थात् हैहय वंश

(ईसा की छठी शताब्दी)

पौराणिक

हैहयवंश का पूरा वृत्तान्त पुराणों में मिलता है और पुराण वस्तुतः इतिहास की कड़ी जोड़ने में समय-समय पर बड़े सहायक सिद्ध होते हैं। छतीसगढ़ (प्राचीन दक्षिण कोसल या महाकोसल) की राजधानी रत्नपुर के हैहयवंशी राजाओ ने अपना जो इतिहास लिखवाया था उसके अनुसार उनका वंश-विवरण इस प्रकार है–"ब्रह्मा के पुत्र अत्रि और उनके पुत्र सोम हुए जिनसे सोमवंशी उत्पन्न हुए। इस वंश में ऐल नामक राजा हुआ, जिसके वंशज ययाति, यदु और कुरु थे। यदु का पुत्र हैहय था जिसने अपना राज्य नर्मदा तट पर माहिष्मती में स्थापित किया। कुछ ग्रंथो में हैहय के बाद चौथी पीढ़ी मे उत्पन्न राजा महिष्मान ने इसे बसाया था ऐसा उल्लेख है (आजकल यह नगर महेश्वर कहलाता है)। यहीं से हैहयवंश की बेलि बढ़ी और लहलहा उठी। हैहय की चौथी पुश्त में कृतवीर्य राजा हुआ और उसका पुत्र कीर्तिवीर्यार्जुन या सहस्रार्जुन था।"[१]

पुराणों से यह भी पता चलता है कि मुनिवर जमदग्नि के पुत्र परशुराम ने हैहयों का सम्पूर्ण रूप से नाश करने की प्रतिज्ञा की थी। फिर भी कहा जाता है कि पाँच हैहयवंशी लुक-छिप कर बच गये। इनमें से एक जयध्वज था। इसकी पंद्रह पीढ़ियो ने अर्थात् राजा कोणपाद तक राज्य किया। माहिष्मती उनकी राजधानी बनी रही। कोणपाद के पुत्र हंसध्वज, नीलध्वज और मयूरध्वज मध्य-देश मे राज्य करते थे। पाण्डव राजा युधिष्ठिर ने इन तीनों को अपना माण्ड-लिक राजा बना लिया था।

---

१ पुराण, शिलालेख, तथा रेवाराम बाबू कृत रतनपुर का इतिहास।

मयूरध्वज की कथा

जैमिनी पुराण में मयूरध्वज की कथा प्रसिद्ध है। वर्तमान रत्नपुर को उस समय रत्नावली नगरी कहा जाता था। मयूरध्वज यही राज्य करते थे। प्राचीन दंतकथा के अनुसार रत्नपुर छत्तीसगढ़ की चारों युग की राजधानी थी। हस्तिनापुर में पाण्डववंश के राजा युधिष्ठिर ने अश्वमेध यज्ञ संपन्न करने का संकल्प किया और तदनुसार आयोजन भी किया गया। वीर अर्जुन की संरक्षकता में अश्व छोड़ा गया। उसी अवसर पर मयूरध्वज ने भी अश्वमेध यज्ञ करने की योजना बनाई थी और उनका पुत्र ताम्रध्वज सेना सहित उस अश्व की रक्षा में नियुक्त था। संयोग से महाराज युधिष्ठिर का छोड़ा हुआ अश्व रत्नपुर राज्य में पहुँच गया और ताम्रध्वज ने उस अश्व को पकड़ लिया। परिणाम यह हुआ कि ताम्रध्वज और अर्जुन में युद्ध छिड़ गया। इधर श्रीकृष्णजी, जो सदा अर्जुन के साथ रहते थे और उसके प्रेरणादायक थे, ने युद्ध रोक कर दोनों में मेल करा देने का प्रयत्न किया। उन्होंने अर्जुन से कहा कि राजा मयूरध्वज और उसका समस्त परिवार परम वैष्णव, धार्मिक और सत्यवादी तथा मेरा भक्त है अतएव दोनों में मेल हो जाना अच्छा। पर अर्जुन ने स्वीकार नहीं किया। वह ताम्रध्वज से युद्ध के बीच बुरी तरह से घायल हो चुका था। अर्जुन का कथन था कि मयूरध्वज मुझसे अधिक आपका भक्त नहीं हो सकता। श्रीकृष्ण ने कहा तो फिर इसकी परीक्षा हो जाय। अर्जुन राजी हो गया। श्री कृष्ण जी बूढ़े ब्राह्मण बन गये और अर्जुन उनका युवापुत्र। दोनों मयूरध्वज के पास पहुँचे। मयूर ध्वज ने इन दोनों का भलीभाँति सत्कार किया और इतना कष्ट उठाकर आने का कारण पूछा। श्रीकृष्ण जी ने बडी लम्बी चौड़ी भूमिका बाँधकर कहा—यह मेरा प्राण प्यारा एकलौता पुत्र है। इसे एक सिंह ने रास्ते में पकड़ लिया और इसका भक्षण करना चाहा। लेकिन मेरी प्रार्थना पर उसने इसे इस शर्त पर रिहाई दी है कि राजा मयूरध्वज का दाहिना अंग इसके बदले में उसे भक्षण के हेतु मिले। बता, अब तू क्या कहता है। राजा राजी हो गया। उसने कहा—"यदि मेरा दाहिना अंग पाने से आपके पुत्र को प्राण दान मिल सकता है तो यह मेरा सौभाग्य है।" परिणाम यह हुआ कि श्रीकृष्ण के हठ करने पर स्वयं पुत्र ताम्रध्वज और उसकी माता रानी कुमुददेवी को ही आरे से मयूरध्वज को सिर मस्तक की ओर से चीरना पड़ा। जब नाक तक सिर चीर डाला गया तब मयूरध्वज की बायीं आँख से आँसू की धारा बह निकली। इस पर श्रीकृष्ण जी ने घोर आपत्ति उठाते हुए कहा-"राजा यदि दुखित होकर यह दान दिया जा रहा है तब मैं इसे स्वीकार नहीं करता।" रानी ने उत्तर दिया--"देव बायीं आँख [illegible] दुखी [illegible] विकल रहा है

कि उन्हें इस बात का खेद है कि मेरा दाहिना अंग तो परोपकार में लग रहा है पर हाय ! बायां अंग किसी काम मे नहीं आया।" श्रीकृष्ण जी इस उत्तर से बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने तत्काल अपना सच्चा स्वरूप प्रकट कर मयूरध्वज के चीरे हुए अंगो को जोड़ दिया और अर्जुन के साथ उन सबकी मित्रता करा दी।

कहना न होगा कि यह कथा सारे देश मे प्रसिद्ध है। तबसे लोग कहते है कि रतनपुर राज्य मे आरा का उपयोग बंद हो गया। और तब से जितनी इमारतें उस राज्य में बनाई जातीं सबमें बिना आरा से चीरी लकड़ी लगाई जाती।[1]

पुराणो मे इसके बाद मयूरध्वज की वंशावली दी गई है पर इस इतिहास से उसका संबंध नही। यह तो हुई पौराणिक कथा। अब इतिहास की ओर लौटिये और राजवंशो की शृंखला मे अगली कड़ी जोड़िये। मध्यप्रदेश के प्राचीन इतिहास में कलचुरि (हैहय) राजवंश का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। माहिष्मती, त्रिपुरी, तुम्माण, रत्नपुर, खलारी और रायपुर के हैहयवंशी राजाओं के समय मे इस प्रदेश ने—विशेषकर छत्तीसगढ़ ने बहुत ही अच्छे दिन देखे है। इनके समय में कला और विद्या की बड़ी प्रगति हुई तथा उत्तर और दक्षिण भारत में परस्पर न केवल राजनयिक प्रत्युत सामाजिक संबंध भी स्थापित हुए।

इस अध्याय के आरंभ मे आप हैहयवंश की उत्पत्ति के संबंध में पढ़ चुके हैं। अब यह जानकारी लीजिए कि हैहय, कलचुरि कैसे कहलाने लगे।

कलचुरि कौन थे ?

प्रथम बार कलचुरिवंशीय राजा कृष्णराज का प्रादुर्भाव माहिष्मती (महेश्वर) नगरी में हुआ। उसने यहाँ सन् ५५० से ५७५ तक के लगभग राज्य किया। उस समय माहिष्मती में कौन राजा राज्य कर रहा था, इसका पता नहीं। लेकिन यह तो अनुमान लगाया जा सकता है कि कृष्णराज यों ही, अपना लावजामा लेकर वहाँ नही उठ आया होगा। ऐसा लगता है कि उस समय माहिष्मती हैहयवंशियों की राजधानी रही हो या न रही हो पर एक महत्वपूर्ण स्थान अवश्य था जहाँ इस समय भी उत्खनन कार्य जारी है और जहाँ प्राचीन काल की बहुत सी साबित या टूटी-फूटी सामग्रियाँ प्राप्त हो रही हैं। लगता है कि ऐसे स्थान को कृष्णराज ने वहां के तत्कालीन राजा को परास्त कर या लूट कर अपने को वहाँ का राजा घोषित किया होगा। इस प्रकार उसने हैहयवंशियों की प्राचीन राजधानी या राज्य को ही केवल नही लूटा वरन उनका वंश भी लूट लिया और स्वयं अपने को हैहय-

---

१. **जनश्रुति, जिसका समर्थन सेटलमेंट विभाग के एक पुराने अधिकारी ने किया है—सतपुड़ा की सभ्यता, पृष्ठ १०५, प्रयागदत्त।**

वंशी घोषित कर दिया। साथ ही यह भी संभव है कि वहाँ का स्थानीय असल हैहयवश वही से लुप्त हो गया हो या नष्ट हो गया हो तथा कलमी गुलाब के समान, कलचुरि हैहयवंश बन कर पनप उठा हो।

तो यह कलचुरि कौन थे, कहाँ से वे आये, उनकी उत्पत्ति का स्रोत क्या है, उनका मूल पुरुष कौन था ?

ये प्रश्न अवश्य विचारने योग्य हैं। आप कलचुरि शब्द का प्रयोग या उसकी उत्पत्ति की कथा किसी पुराण में या अन्यत्र नही पावेंगे। राजशेखर रचित "बाल रामायण" में इसका उल्लेख इस प्रकार है—

यन्मेखला भवति मेकल शैल कन्या
वीतेन्धनो वसति यत्र च चित्रभानुः
तामेष पाति कृतवीर्ययशोवतंसा
माहिष्मती कलचुरेः कुल राजधानीम्।

इस श्लोक में माहिष्मती को कलचुरि नरेशों की भी "कुल राजधानी" कहा गया है, डा० मिराशी ने एक स्थान पर कहा है कि कलचुरि नरेश अपने को हैहय सहस्रार्जुन कहाने में गौरव अनुभव करते थे, इसीलिए शिलालेखों में उनका उल्लेख हैहयवंश के रूप में हुआ है।[1] यह बात अनुमानतः ठीक हो सकती है पर साथ ही उसमें यह तथ्य स्पष्टतः निहित है कि कलचुरि आदि में हैहयवंशी नही थे अपितु केवल गौरव तथा महत्व अर्जन करने के लिए हैहयवंशी बने हुए थे। वस्तुतः ई० की पाँचवी-छठी शताब्दी के पश्चात् भारतीय राजागण पुराण-कालीन सुप्रसिद्ध राजवंशो से अपना संबंध जोड़ने में विशेष श्रद्धास्पद, सम्माननीय तथा प्रतिष्ठित अनुभव करने लग गये थे। फलतः किसी ने सूर्य से, किसी ने चंद्रमा से, किसी ने दोनों से अपना संबंध जोड़ा तो कुछ नलवंशी बन गये, और कुछ पाण्डवों को अपना पूर्व पुरुष बनाने लगे। त्रिपुरी के हैहयवंशियो ने जो पूर्व में कलचुरि थे, अपना संबंध चन्द्रमा से जोड़ा, जैसा कि कुछ दानपत्रों में इनकी वंशावलियों में, इनके पूर्व पुरुषों में चद्रमा, सोम, बुध, पुरुरवस, भरत, हैहय आदि का उल्लेख मिलता है। इसके विपरीत रत्नपुर के हैहयवंशी त्रिपुरी शाखा से सम्बन्धित होते हुए भी अपनी अनेक प्रशस्तियों में अपने को सूर्य, उसके पुत्र मनु-वैवस्वत और उसी वंश के हैहय से अपने को सम्बन्धित बताते है।[2] भारत में किसी वंश का सूर्य, चद्रमा या अन्य ग्रहों से संबंध जोड़ना विस्मयजनक नहीं है, पर

---

१. कलचुरि नरेश और उनका शासनकाल, मिराशी।

२. रत्नपुर में प्राप्त शिलालेख।

विज्ञान तथा तर्क के जमाने में गगन स्थित ग्रहों से संबंध जोड़ना कोई मायने नहीं रखता।

शिलालेखों में कल्चुरियों का प्रथम बार उल्लेख त्रैकुटकों के शिलालेख में हुआ है। कृष्णराज को इस शिलालेख में 'पूर्वापर समुद्रान्तादि देश स्वामी' (अर्थात् पूर्वी एवं पश्चिमी समुंद्र के समीपवर्ती तथा अन्य देशों का स्वामी) कहा गया है। अत्यन्त प्राचीन शिलालेखो मे कलचुरियो को 'कटच्चुरि' के नाम से उल्लेख किया गया है जो मूल नाम का संस्कृतीकरण किया गया जान पड़ता है। (मिराशी) कलचुरियों के प्रतिस्पर्धी वातापी (बदामी) के चालुक्यों के लेखो मे इन्हें 'कलत्सूरि' कहा गया है जबकि कुछ प्रशस्तियों में इन्हें 'कलचुति' या 'कालचुर्य' के नाम से उल्लेख किया गया है।

प्रसिद्ध पुरातत्वज्ञ डा० देवदत्त पंत भांडारकर का अनुमान है कि कलचुरि मूलतः भारतीय न होकर विदेशी थे। पर मिराशी जी इससे सहमत नहीं है। इन्होने बड़ी युक्तिपूर्वक इसका खंडन किया है और अभी तक इनकी आदि उत्पत्ति के संबंध में अनभिज्ञता प्रकट करते हैं। यह बड़ी विडम्बना की बात है कि जिस राजवंश ने लगभग ८५० वर्षो तक दक्षिण कोसल (प्राचीन छ० ग०) में अटूट राज्य किया था, जो सन् ५५० से १७४० अर्थात् ११९० वर्षों तक भारत-वर्ष के उत्तर अथवा दक्षिण स्थित किसी-न-किसी प्रदेश में बिना किसी व्यव-धान के राज्य करता रहा, जिसने इतनी लंबी अवधि तक भारतवर्ष के किसी-न-किसी भाग में सत्तारूढ़ रहकर भारत के राजवंशों के प्रति लोगों की निष्ठा की अद्वितीय मिसाल पैदा कर दी, जिसने अपने साम्राज्य का विस्तार तो किया ही पर साथ-ही-साथ जो विद्या, साहित्य, धर्म, शिल्प तथा कला को उदारतापूर्वक आश्रय देकर अपनी यशः पताका दूर-दूर तक फहराता रहा, वह कलचुरि मूलतः कौन था, इसका निराकरण अभी तक यथार्थ रूप में प्रमाणों के साथ नहीं हो पाया है कोकल्ल के ताम्रपत्र में कलचुरि अपनी उत्पत्ति के संबंध में कहते हैं—

अहिहय नृपवंशे शंभुभक्तोऽवतीर्ण
कलचुरिरिति शाखां प्राप्यतीव प्रतापः।[1]

लेकिन इससे यही प्रकट होता है कि कलचुरि और हैहय एक ही थे। रायपुर से प्रकाशित महाकोशल दैनिक के २६ जनवरी, १९७२ के विशेषांक में श्री शिव-कुमार नामदेव ने भी कुछ प्रमाण देकर यही मान्यता स्वीकार की है।

---

१. प्रतिलिपि।

त्रिपुरी के कलचुरि

पिछले पृष्ठों में लिखा जा चुका है कि कलचुरि वंश के जिस मूल पुरुष का प्रादुर्भाव माहिष्मती मे हुआ, वह कृष्णराज था जिसका राज्यकाल सन् ५५० से ५७५ तक के लगभग रहा। तदनंतर कलचुरि नरेशों ने उत्तर और दक्षिण भारत मे अपने साम्राज्य का विस्तार किया और कालजर, त्रिपुरी, प्रयाग, काशी, तुम्माण, रत्नपुर, खलारी, रायपुर आदि स्थानों मे उनकी राजधानियाँ स्थापित हुई। कृष्णराज[1] की कोई प्रशस्ति अभी तक प्राप्त नही हुई है लेकिन इसके नाम के सिक्के उत्तर में राजपुताना और मालवा प्रदेश मे, पश्चिम में बम्बई और साष्टी द्वीप में, दक्षिण मे सतारा और नासिक जिले मे और पूर्व मे अमरावती तथा बैतूल जिले में प्राप्त हुए है।[2] इसके मांडलिक का एक ताम्रपत्र रामटेक के निकट नगरधन नामक ग्राम मे मिला है। इन प्रमाणो के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कलचुरि नरेशों का साम्राज्य अत्यन्त विस्तृत था। ऊपर जिन सिक्कों का उल्लेख किया गया है वे सब चांदी के थे। उनके अग्रभाग मे राजा की मुखाकृति और पृष्ठभाग मे नदी की आकृति खुदी थी तथा उसके चारो ओर 'परममाहेश्वर माता पितृपादानुध्यात् श्री कृष्णराज' उत्कीर्ण था। इन सिक्को को 'कृष्णराज रूपक' कहा जाता था। वह 'परममाहेश्वर' अर्थात् भगवान शंकर का एकनिष्ठ उपासक था।

शंकरगण

कृष्णराज के बाद उसका पुत्र शंकरगण ने ई० सन् ५७५ से ६०० तक राज्य किया। उसका सन् ५९५ ई० का एक दानपत्र नासिक जिले के आभोण नामक ग्राम मे प्राप्त हुआ है जो उज्जयिनी मे प्रदत्त किया गया था। सिवाय इसके उसके एक माडलिक का एक अपूर्ण ताम्रपत्र गुजरात मे प्राप्त हुआ है। इन दो ताम्रपटों से यह प्रमाणित होता है कि राजा शंकरगण ने पूर्व विस्तारित राज्य कायम रक्खा था।[3]

बुद्धराज

शंकरगण के पश्चात् उसका पुत्र बुद्धराज सन् ६०० के लगभग सिंहासनारूढ हुआ। उसे शीघ्र ही वातापी (बदामी) के चालुक्यवंशी मगलेश से युद्ध करना

---

१ कलचुरि नरेश और उनका काल, मिराशी।

२ कलचुरि-चेदि सवत मे उत्कीर्ण लेख।

३ कलचुरि नरेश और उनका काल, पृष्ठ ८, मिराशी।

पड़ा जिसमें बुद्धराज की हार हुई किन्तु इसके बाद ही मंगलेश और पुलकेशी आपस मे लड़ पड़े जिससे बुद्धराज को लाभ हुआ और वह बीच मे कुछ समय के लिए फिर शक्तिशाली हो गया। उसके शिलालेखो से पता लगता है कि उपर्युक्त विरोधी शत्रुओं की आपसी लड़ाई मे बुद्धराज को काफी माल लूट मे मिला। यह घटना सन् ६०१ मे घटी होगी। इस बीच बुद्धराज ने दो ताम्रपट विदिशा (वर्तमान भेलसा के निकट बैसनगर) तथा आनदपुर (गुजरात स्थित बडनगर) से प्रदत्त किये थे। दानपत्र मे उल्लिखित गाँव क्रमशः नासिक और भड़ौच जिले में थे।

अंत मे चालुक्य नरेश पुलकेशी से, जो अत्यन्त महत्वाकांक्षी था, रहा नही गया। उसने अपने निकटवर्ती प्रदेशो पर आक्रमण कर उन्हें अपने अधिकार में ले लिया और बढ़ते-बढ़ते स्वयं बुद्धराज के राज्यान्तर्गत महाराष्ट्र पर आक्रमण कर उसे जीत लिया। बुद्धराज की यह पराजय लगभग सन् ६२० में हुई होगी। इस पराभव के पश्चात् कलचुरिवंश क्रमशः क्षीण होता गया। यहाँ तक कि लगभग डेढ़ पौने दो सौ वर्षो तक की अवधि की उनकी प्रशस्तियाँ तक नहीं मिलतीं। अन्य शिलालेखों से यह विदित होता है कि उन्होने अपने पूर्व वैभव प्राप्त करने के प्रयत्न इस बीच किये भी, पर वे सर्वथा निष्फल सिद्ध हुए और आखिर में उन्हें चालुक्यों की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। आगे चल कर पूर्व और पश्चिम के चालुक्य नरेशों से उनका कौटुम्बिक संबंध स्थापित हो गया जैसा कि चालुक्यों के शिलालेखों से ज्ञात होता है।

टीप :—इसके आगे दक्षिण कोसल में कलचुरि (हैहय) वंश का राज्यकाल आरभ होता है। इस संबंध में लिखने के पहले यह वांछनीय समझा गया कि त्रिपुरी के कलचुरियों के संबंध मे पहले प्रकाश डाला जाय क्योंकि त्रिपुरी की एक शाखा ने ही दक्षिण कोसल (प्राचीन छतीसगढ़) पर चढ़ाई कर अपना राज्य स्थापित किया था। इससे छ० ग० के कलचुरियों के पूर्व पुरुषों के इतिहास की जानकारी तथा मध्यप्रदेश की तत्कालीन स्थिति का ज्ञान होगा।

कलचुरियों द्वारा त्रिपुरी-राज्य की स्थापना[१-२]
(ईसा की नवीं शताब्दी)

ईसा पश्चात् सातवी शताब्दी के अंत में कलचुरि वंशी वामराजदेव का प्रादुर्भाव हुआ। यह बड़ा महत्वाकांक्षी था। इसने राज्य विस्तार की योजना बनाई

१. कलचुरि नरेश और उनका काल, पृष्ठ १२ मिराशी, और
२. सतपुड़ा घाटी की सभ्यता, पृष्ठ, १०२ प्रयागदत्त शुक्ल।

होगी पर दक्षिण की ओर उसने बढ़ना कठिन समझा होगा क्योंकि वहाँ चालुक्यों की प्रभुता पूर्ण रूपेण व्याप्त थी। अतएव उसने उत्तर-पूर्व की ओर अगला कदम उठाना श्रेयस्कर समझा होगा। क्योंकि उधर हर्षदेव के निधन के उपरान्त सर्वत्र अराजकता फैल रही थी। उसने इस अवसर का लाभ उठाया और कालंजर के दुर्भेद्य किले पर आक्रमण कर उसे अपने अधिकार में कर लिया। वहाँ से उसने बुन्देलखंड और बघेलखंड पर अपनी प्रभुसत्ता स्थापित की। उसका साहस अब बढ़ता चला और उसने गंगा पार कर अयोमुख प्रदेश (वर्तमान प्रतापगढ़ और रायबरेली जिले के अंतर्गत) भी अपने अधिकार मे ले लिया। तदुपरान्त उसने श्वेतपद (गंडक नदी के उस पार स्थित गोरखपुर प्रदेश) को पराजित कर अपने लघुभ्राता लक्ष्मणराज को गद्दी पर बिठाया। लक्ष्मणराज के वंशजों ने इस प्रदेश पर अनेक पीढ़ियों तक राज्य किया। ये कलचुरि 'सरयूपार[1] के कलचुरि' कहलाये।

इस प्रकार वामराजदेव का राज्य उत्तर में गोमती नदी से लेकर दक्षिण में नर्मदा नदी तक विस्तृत हो गया। उसने तत्कालीन पद्धति का अनुकरण कर सम्राट के पद को प्रदर्शित करने वाले परम भट्टारक, महाराजाधिराज और परमेश्वर आदि अलंकार अपने नाम के पूर्व धारण किये। उसने सैनिक दृष्टि से अपनी राजधानी कालजर में स्थापित की थी। मध्यभारत मे कालंजर और चित्रकूट के किले प्रतिरक्षा की दृष्टि से बड़े महत्वपूर्ण समझे जाते थे। ये किले जिस राजा के अधिकार में रहते थे, उसे उत्तर भारत पर अपना वर्चस्व स्थापित करने में बडी सुविधा रहती थी। प्रशस्तियों मे दिये गये उल्लेख से पता लगता है कि बाद में दक्षिण के राष्ट्रकूटों[2] ने भी वहा अपना सैन्य रखा था। ऐसा लगता है कि माहिष्मती के हैहयवंशी राजपरिवार मे आपसी मनमुटाव हो जाने के कारण एक पक्ष ने दूसरे स्थान मे चले जाना अच्छा समझा होगा। "लड़ने की अपेक्षा टलना नीक" ऐसी एक लोकोक्ति भी है। परिवार मे सदस्यो की संख्या मे वृद्धि होने से आपसी संघर्ष का भय सदैव बना रहता है।

---

१. कलचुरि नरेश और उनका काल, पृष्ठ ३२, मिराशी।

२. स्मरण रहे कि अशोक की प्रशस्ति में जिन्हें 'राष्ट्रीक' कहा गया है, वास्तव में वे ही राष्ट्रकूट थे। इनका उत्कर्ष दक्षिण में आरंभ हुआ था। बैतूल जिले में भी राष्ट्रकूट की दो प्रशस्तियां प्राप्त हुई है। इनका सबसे पुराना लेख मध्यप्रदेश से संबंधित है।

लगता है इसी विचारधारा में बहते हुए वामदेवराज को त्रिपुरी[1] पसंद आया होगा। माहिष्मती के सदृश वह भी नर्मदा तट पर बसा हुआ है। सिवाय इसके उसे ऐतिहासिक तथा पौराणिक महत्ता भी प्राप्त थी। महाभारत में इसके संबंध में कहा गया है कि युधिष्ठिर पाण्डव के द्वारा आयोजित राजसूय यज्ञ के समय उसके लघु भ्राता सहदेव ने त्रिपुरी के राजा को परास्त कर उसे करद राज्य बना लिया था। फलतः वामराजदेव ने कालंजर में एक राजधानी रहते हुए भी त्रिपुरी में दूसरी राजधानी स्थापित कर ली। इस नगर के नाम के कुछ सिक्के जो ईसा पूर्व दूसरी या तीसरी शताब्दी के हैं, प्राप्त हुए हैं। परिव्राजक-नरेश संक्षोभ के सन् ५१८ के ताम्रपत्र में डभाला (डाहल अर्थात् जबलपुर क्षेत्र) देश में स्थित 'त्रिपुरी' विषय (जिला) का उल्लेख आया है। फिर उसके पश्चात् त्रिपुरी पर किसका अधिकार रहा, पता नहीं चलता।

एक बात और स्मरण रखने योग्य है कि वामराजदेव के समय से कलचुरियों को 'चेदिदेश के नरेश' अथवा 'चेदि नृपति' या 'चैद्य' कहा जाने लगा। प्राचीन काल में चेदि वंश के अंतर्गत यमुना नदी के दक्षिण का प्रदेश और चंबल नदी के आग्नेय में स्थित, नर्मदा नदी तक का प्रदेश आता था। बाद में यह नाम बघेलखंड को प्राप्त हुआ।

वामराजदेव त्रिपुरी के कलचुरि राज्य का संस्थापक[2] था। फलतः उसके नाम का उल्लेख, उसके वंशों के ताम्रपत्रों में सम्मानपूर्वक किया जाता था। कर्ण, यशःकर्ण, गयाकर्ण, जयसिंह और विजयसिंह नामक पाँच कलचुरि राजाओं के ताम्रपटों में उसके नाम के पूर्व 'परम भट्टारक–महाराजाधिराज परमेश्वर-परममाहेश्वर-वामदेवपादानुध्यात' इस अलंकार का प्रयोग हुआ है।

प्रथम शंकरगण

वामदेव के पश्चात् दो-तीन पीढ़ियों के राजाओं के संबंध में कोई सूचना नहीं मिलती। पश्चात् चेदिदेश में प्राप्त सभी शिलालेख जो सागर और कटनी-मुरवाड़ा क्षेत्रों के हैं, प्रथम शंकरगण से संबंधित हैं। यह राजा अपना वर्णन 'वाम राजदेव-पादानुध्यात्' लिखकर करता था, पर यह केवल वामराजदेव के प्रति

---

१. त्रिपुरी आजकल तेवर ग्राम कहलाता है जो जबलपुर से छः मील दूर है। यहीं अखिल भारतीय राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) का एक अधिवेशन नेताजी सुभाषचंद्र बोस की अध्यक्षता में हुआ था।

२. कलचुरि नरेश और उनका काल, पृष्ठ ११, मिराशी।

सम्मानप्रदर्शन के हेतु। यह कदापि संभव नहीं है कि यह बामराजदेव के पश्चात् ही सिंहासनारूढ़ हुआ होगा। इसने भी बामराजदेव के सदृश सम्राट पद का द्योतक परमभट्टारक आदि पदवियाँ धारण की थीं। शिलालेखों की लिपि के आधार पर इसका राज्यकाल आठवीं शताब्दी के मध्य में रहा होगा, ऐसा अनुमान किया जाता है।

प्रथम लक्ष्मणराज

प्रथम लक्ष्मणराज का प्राप्त खंडित शिलालेख कलचुरि संवत् ५९३ सन् ८४१-८४२ में लिखा गया था। इस प्रकार प्रथम शंकरगण और प्रथम लक्ष्मण-राज के बीच लगभग सौ वर्षों का अंतर है। इस अवधि में उत्तर भारत की राज-कीय स्थिति में पर्याप्त रूप से उथल-पुथल मची हुई थी। आठवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में राजपुताना के प्रतिहार और बंगाल के पाल के बीच सम्राट पद ग्रहण करने के निमित्त होड लगी हुई थी। लेकिन दक्षिण भारत के शक्तिशाली नरेश ध्रुव और तृतीय गोविन्द ने प्रतिहार और पाल दोनों को पराजित किया। संजान ताम्रपट में उल्लिखित है कि तृतीय गोविन्द फिर वहाँ से नर्मदा नदी की ओर लौटा और उसने मालव, कोसल (दक्षिण), कलिंग, वेंगी, डाहल, ओड्रक आदि देशों को जीतकर उनके अधिपति का पद अपने सेवकों को प्रदान कर दिया। इस समय डाहलदेश पर कलचुरियों का अधिकार था। ऐसा प्रतीत होता है कि कल-चुरि लक्ष्मणराज को इस प्रसंग पर दबना पड़ा और उसने राष्ट्रकूट राजाओं की अधीनता स्वीकार कर ली। यही कारण है कि कारीतलाई (जिला जबलपुर) में स्थित देवी की मढ़िया में जड़े हुए एक खंडित शिलालेख में जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है तृतीय गोविन्द के पुत्र प्रथम अमोघवर्ष का गुणगान किया गया है तथा तत्कालीन कलचुरि नरेश प्रथम लक्ष्मणराजदेव का नामोल्लेख उस लेख के हाशिया में गौणरूप से कर दिया गया है। तदनन्तर कलचुरि और राष्ट्रकूट के वंशों में परस्पर उत्तरोत्तर स्नेह संबंध बढ़ता गया जिसकी परिणति वैवाहिक गठबंधन में पूर्ण हुई। कई पीढ़ियों तक कलचुरि-राजकन्याओं का विवाह राष्ट्र-कूट राजकुमारों से सम्पन्न होता रहा। कलचुरि नरेशों ने राष्ट्रकूटों को उनकी उत्तर और दक्षिण भारत की चढ़ाइयों में दिल खोलकर सहायता पहुँचाई और कई अवसरों पर तो राज्यक्रांति करके अपने इष्ट सगे-संबंधियों को सिंहासनारूढ़ कराया गया। नवीं और दसवीं शताब्दी की अनेक राजकीय घटनाओं में इन दो राजवंशों का पारस्परिक मेल-मिलाप दिखाई पड़ता है। प्रथम लक्ष्मणराज का राज्यकाल लगभग पच्चीस वर्ष सन् ८२५ से ८५० तक रहा।

प्रथम कोकल्ल

प्रथम लक्ष्मणराज के पश्चात् प्रथम कोकल्ल गद्दी पर बैठा; पर उसका लक्ष्मण-राज से क्या सबंध था, पता नही चलता। प्रथम कोकल्ल बड़ा महत्वाकांक्षी और प्रतापी राजा था। यद्यपि स्वयं उसकी कोई प्रशस्ति प्राप्त नही हुई है किन्तु आगे चल कर जो कलचुरियों के लेख उपलब्ध हुए हैं उनसे उसकी शक्ति और सामर्थ्य का पता चलता है। उसने स्वयं चंदेलवंश की राजकुमारी नट्टादेवी से विवाह कर तथा अपनी पुत्री महादेवी को दक्षिण के राष्ट्रकूट नृपति द्वितीय कृष्ण-राज को ब्याह में देकर इन राजवंशो से अपना संबंध स्थापित किया। बिलहरी में प्राप्त एक शिलालेख में उल्लेख किया गया है—"समस्त पृथ्वी को जीत लेने के पश्चात् कोकल्ल ने अपनी विजय के दो स्तम्भ खड़े किये, दक्षिण में कृष्ण और उत्तर में भोजदेव।" भोजदेव का मतलब कन्नौज के राजा प्रथम भोजदेव से है जिसे सहायता देकर कोकल्ल ने उसके राज्य की नींव पक्की कर दी। उसने एक बड़ी सेना के साथ अपने पुत्र द्वितीय शंकरगण को भेजकर राष्ट्रकूटों को विजय दिलाने में अमूल्य सहायता दी। वाराणसी के राजा कर्ण के एक ताम्रपत्र में उल्लिखित है कि कोकल्ल ने भोज, वल्लभराज, चित्रकूट के गुहिल राजा श्री हर्ष और सरयूपार के कलचुरि राजा शंकरगण को भी सहायता पहुँचाई थी। इस प्रकार कोकल्ल ने उत्तर और दक्षिण भारत में अपना वर्चस्व स्थापित किया। उसका राज्यकाल लगभग ८५० से ८९० तक माना जाता है। कोकल्ल के १८ पुत्र थे।

द्वितीय शंकरगण

प्रथम कोकल्ल के पश्चात् उसका पुत्र द्वितीय शंकरगण जो मुग्धतुंग, प्रसिद्ध धवल और रणविग्रह भी कहलाता था, सन् ८९० के लगभग गद्दी पर बैठा। इसने अपने रिश्तेदार राष्ट्रकूट राजाओं की सदैव सहायता करना अपना परम कर्त्तव्य समझा। चालुक्यवंशी विनयादित्य के विरुद्ध संचालित युद्ध में द्वितीय राष्ट्रकूट कृष्णराज की ओर से कलचुरि सेनाओ ने युद्ध किया था लेकिन किरण-पुर में जो युद्ध हुआ उसमें दोनों राज्यो की सम्मिलित सेना चालुक्यों के सन्मुख टिक नहीं सकी जिससे कृष्णराज और मुग्धतुंग दोनों का पराभव हुआ और चालुक्यों ने किरणपुर को अग्नि से भस्मीभूत कर दिया। मुग्धतुंग की दोनों पुत्रियाँ लक्ष्मी और गोविन्दाम्बा राष्ट्रकूट राजा जगतुंग को ब्याही गई थीं।

शंकरगण (अर्थात् मुग्धतुंग) ने कोसल की भी विजययात्रा की थी और सोमवंशी राजा को पराजित कर उससे पाली (जिला-बिलासपुर) छीन लिया

था। उसने इस प्रदेश पर अपने भाई को अधिपति बना कर इसका शासक नियुक्त कर दिया था। यद्यपि अभिलेखों में उसके इस भाई का नाम उल्लिखित नही है तथापि यह ज्ञात होता है कि इसकी राजधानी तुम्माण मे थी जो बिलासपुर जिले में अब एक गाँव मात्र रह गया है। यहाँ अभी भी प्राचीन भग्नावशेष मंदिर, प्रासाद आदि पर्याप्त सख्या मे मौजूद है। अनुमान है कि कलचुरियों ने यहाँ दो तीन पीढ़ियाँ बिताई होंगी पर किसी प्रशस्ति के प्राप्त न होने से इस सबंध मे प्रमाणिकता पूर्वक कुछ कहा नही जा सकता। तदुपरात यह ज्ञात होता है कि स्वर्णपुर (वर्तमान सोनपुर, उड़ीसा) के सोमवंशी राजा ने कलचुरि की इस शाखा को मार भगाया था। आगे चलकर त्रिपुरी नरेश द्वितीय कोकल्लदेव के राज्यकाल में सन् ९९०–१०१५ के बीच कलिगराज नामक कलचुरि राजपुत्र ने अपने बाहुबल से दक्षिण कोसल को जीतकर तुम्माण नगर मे जहाँ से उसके पूर्वजों ने राज्य चलाया था अपनी राजधानी पुनः स्थापित की।[1] इसका विशेष वर्णन इस पुस्तक में आगे चलकर यथास्थान मिलेगा।

बालहर्ष

शकरगण (मुग्धतुग) के बाल्हर्ष और युवराजदेव दो पुत्र थे। युवराजदेव का दूसरा नाम केयूरवर्ष भी था। सन् ९१० के लगभग मुग्धतुग की मृत्यु के अनतर इसका ज्येष्ठ पुत्र बाल्हर्ष गद्दी पर बैठा। कर्ण के वाराणसी वाली प्रशस्ति मे कहा गया है—"भूमेर्भर्ताविभूह क्षति रिपु नृपति बाल्हर्षः सुजन्मा" पर अन्य उत्कीर्ण लेखो मे उसका नाम निर्देश तक नहीं किया गया है। इससे जान पड़ता है कि उसने थोड़े ही समय तक राज्य किया होगा और शीघ्र मर गया होगा। इसीलिए उसका लघुभ्राता युवराजदेव राज्याधिकारी हुआ।

प्रथम युवराजदेव (केयूरवर्ष)

युवराजदेव सन् ९१५ ई० के लगभग त्रिपुरी की राजगद्दी पर आसीन हुआ। इसने चालुक्यकुलोत्पन्न अवनि वर्मा की कन्या नोहला के साथ अपना विवाह किया था जो उसकी अत्यत प्रिय पटरानी थी। वाराणसी मे प्राप्त प्रशस्ति मे लिखा है कि "युवराजदेव धनुर्विद्या मे अर्जुन के समान पराक्रमी था। उसने ससार के सभी मार्गो मे जाने वाली सेना के द्वारा अपने शत्रुओं को स्वर्ग भेजा था।" कारीतलाई के शिलालेखो मे बताया गया है कि उसने गौड़ कोसल, गुर्जर और दक्षिण दिशा के राजाओं को जीत लिया था। बिल्हरी के शिलालेख मे उसकी प्रशसा बड़े आकर्षक ढग मे की है। उसमे लिखा है—युवराजदेव ने गौड़देश की युवतियो

---

1. कार्पस इन्स्क्रिप्शन इंडिकेर, जिल्द ४, पृ० २०४।

की मनोकामना पूर्ण की, कर्नाटक की बालाओं के साथ क्रीड़ा की, लाटदेश की ललनाओं के ललाट अलंकृत किये, काश्मीर की कामिनियों से अपना रनिवास शोभित किया और कलिंग की स्त्रियों से मनोहर गीत सुने तथा कैलाश से लेकर सेतुबंध तक और पश्चिम की ओर समुद्र पर्यंत उसके शस्त्रों ने शत्रुओं के हृदय में पीड़ा उत्पन्न कर दी थी।

चंदेलवंश की प्रशस्तियों से पता चलता है कि "यशोवर्मा ने चेदिपति युवराज देव को हरा कर चेदियों को त्राहि त्राहि करके छोड़ा।[1] पर सच पूछिये तो त्रिपुरी-राज्य पर उसका कोई असर नहीं हुआ। उसी प्रकार राष्ट्रकूटों द्वारा आक्रमण से होने वाली क्षति भी अस्थायी रही।

राष्ट्रकूटों के वंशज राजा तृतीय कृष्ण के आक्रमण में कलचुरि बड़ी बुरी तरह से पराजित हुए थे और सारा डाहल मंडल[2] कृष्णराज की कृपा पर आश्रित हो गया था। स्मरण रहे कि यह तृतीय कृष्ण, युवराजदेव की पुत्री कन्दकदेवी का पुत्र था जो कृष्ण के पिता तृतीय अमोघवर्ष को ब्याही गई थी। इस प्रकार यद्यपि वह माँ और पत्नी दोनों का रिश्तेदार था फिर भी कृष्ण से पराजित होने के बाद युवराजदेव चुप नहीं बैठा रहा। उसने अवसर मिलते ही राष्ट्र-कूटों को शीघ्र ही डाहल मंडल से मार भगाया। युवराज देव के दो मंत्रियों के नाम उत्कीर्ण लेखों में पाये जाते है—१. गोल्लाक और २. भाकमिश्र। गोल्लाक ने बाँधवगढ़ में मत्स्य, कूर्म, वाराह, परशुराम और बलराम आदि अवतारों की उत्तुंग प्रतिमाओं का निर्माण कराया था। भाकमिश्र बड़ा धर्मात्मा और विद्वान था। उसका पुत्र सोमेश्वर, युवराज देव के उत्तराधिकारी लक्ष्मणराज का मंत्री था।

सुविख्यात संस्कृत कवि और नाटककार राजशेखर युवराजदेव के आश्रय में रहते थे। पहले ये कन्नौज में प्रतिहार नरेश महेन्द्रपाल और महिपाल के आश्रित थे। पर युवराज देव द्वारा महिपाल के पराजित हो जाने पर ये त्रिपुरी राज्य में आ गये। यहाँ इन्होंने "विद्धशालभंजिका" नामक नाटिका और

---

१. एपीग्राफिआ इंडिका, जिल्द १, पृष्ठ १३२।

२. मद्रास प्रांत के मलकापुर ग्राम की प्रशस्ति में लिखा है कि भागीरथी और नर्मदा के मध्य में स्थित मध्यदेश 'डाहल' कहलाता था। लेख इस प्रकार है—

अस्ति विश्वंभरा सारः कमला कुल मंदिरं
भागीरथी नर्मदोर्म्म डाहल मण्डलम्।

संस्कृत साहित्य-शास्त्र पर "काव्य मीमांसा" नामक एक बहुमूल्य ग्रथ की रचना की। इनमें से उपर्युक्त नाटिका प्रथम बार त्रिपुरी के रंगमच पर प्रस्तुत की गयी थी। म० म० मिराशी जी लिखते हैं कि इस नाटिका की कथावस्तु काल्पनिक होने पर भी उसकी पृष्ठभूमि ऐतिहासिक है। युवराजदेव और उसकी पटरानी नोहला दोनों ही शिव के परमभक्त थे। उन्होंने मत्तमयूर मठ के प्रभाव-शिव नामक आचार्य को बुलाकर गुर्गी मठ का प्रबंधभार सौंपा था। इसी प्रकार त्रिपुरी के निकट गोलकी मठ का निर्माण हुआ जिसके अधिष्ठाता सद्भाव शंभु नामक आचार्य को तीन लाख गाँव दान में दिये गये थे। इसका अर्थ यह हुआ कि युवराजदेव ने अपने राज्य का एक तिहाई[1] भाग इस शैव मठ को दान में दिया था। इसी के राज्यकाल मे भेड़ाघाट के निकट एक टेकड़ी पर चौसठ योगिनियों का एक गोलाकार मदिर का निर्माण कराया गया था। इस टेकड़ी के गोलाकार होने के कारण उसके समीपस्थ निर्मित शैवमठ का नाम "गोलकी मठ" पड़ गया। पर इस संबंध मे विद्वानों में मतैक्य नही है। कुछ विद्वानो का मत है कि चौसठ योगिनियो का मंदिर ही गोलकी मठ है। आगे चलकर उसकी शाखाएँ दक्षिण भारत में जगह-जगह स्थापित हुई।

आचार्य सद्भावशंभु बड़े उदार, परोपकारी और यथानाम तथा गुण: प्रकृति के थे। उन्होंने इस गोलकी मठ को एक कल्याणकारिणी सस्था का रूप दिया, जिसका सारा व्यय राज्य द्वारा प्रदत्त ग्रामदान से चलता था। इस मठ के द्वारा महाविद्यालय, विश्वजन सत्रालय, आरोग्यशाला, प्रसूतिशाला, छात्रालय, पुस्तकालय, उद्यान आदि विविध प्रकार के जन हितकारी कार्यों का सचालन होता था। जो विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करने हेतु यहाँ आते थे, उन्हे निवास, भोजन तथा वस्त्रादि की सहायता नि:शुल्क दी जाती थी। विद्यालय मे शिक्षण देने के हेतु विद्वान ही नियुक्त होते थे। विश्वजन सत्रालय में ब्राह्मण से लेकर चांडाल तक भोजन पाते थे। इस प्रकार की मठ-संस्थाएँ बिलहारी भेड़ाघाट, चन्द्रेहा (सोन नदी के तट पर) विन्ध्यदेश के गुर्गी ग्राम मे तथा अन्यत्र भिन्न-भिन्न योग्य संन्यासी के उत्तर-दायित्व और नियंत्रण मे चलाई जाती थीं।

एक प्रशस्ति मे युवराज देव को "नीतिनियन" कहा गया है। काशी जी की प्रशस्ति मे उल्लेख है कि "उसने कैलाश नाम का एक विशाल प्रासाद और शिवालय काशी मे निर्माण कराया था और वह नागर की आराधना करके शिवरूप हो गया था।"

---

१. कलचुरि नरेश और उनका काल, पृष्ठ १८, मिराशी।

इस प्रकार प्रथम युवराजदेव केयूरवर्ष के शासनकाल में न केवल कलचुरि-साम्राज्य का विस्तार हुआ प्रत्युत साहित्य, धर्म और कला का भी समुचित विकास हुआ। युवराजदेव स्वयं पराक्रमी, शूरवीर, राजनीतिज्ञ, उदार, दानी, रसिक, कला-प्रेमी और परम शैव था। उसका राजत्वकाल सन् ९१५ से ९५० के लगभग रहा।

द्वितीय लक्ष्मणराज

प्रथम युवराजदेव का पुत्र और उत्तराधिकारी द्वितीय लक्ष्मणराज था जो सन् ९५० के आसपास राजसिंहासन पर अभिषिक्त हुआ। यह भी अपने पिता के समान ही महाप्रतापी था। जैसा कि अभिलेखों में वर्णित है, इसने वंग, पांड्य, लाट, गुर्जर, कश्मीर आदि देशों के नरेशों को पराजित किया था। अपने पिता के समान इसने भी दक्षिण कोसल (वर्तमान छत्तीसगढ़) पर चढ़ाई की थी[1] और ओड्र (उड़ीसा) की विजय यात्रा कर वहाँ के तत्कालीन राजा को पराजित किया था। फिर उससे "कालियनाग" की रत्नजड़ित स्वर्णप्रतिमा छीन कर ले लिया और आगे चलकर उसे सौराष्ट्र के सोमनाथ को अर्पित कर दिया। इसके शासन-काल में राजमाता "नोहला" ने हृदयशिव नामक शैव आचार्य को बुलाकर बिलहारी के वैद्यनाथ शिवमंदिरों से संलग्न मठों का अधिष्ठाता नियुक्त कर दिया और इनकी व्यवस्था के लिए अनेक गाँव दान में दिये। इन्हीं के शिष्य अघोर शिव को नोहलेश्वर शिवमंदिर और मठ का निर्माण करके उनका प्रबंध भार सौंप दिया। एक अन्य शैव आचार्य प्रशांत शिव को गुर्गी के मठ का अधिकारी नियुक्त कर दिया गया और चन्द्रेह में सोन नदी के तट पर तथा वाराणसी में मठ स्थापित किये।

लक्ष्मणराज का मंत्री सोमेश्वर एक परम विद्वान और वेदों में पारंगत ब्राह्मण था। वह वैष्णव धर्म अनुयायी था। उसने कारीतलाई में विष्णु भगवान के वाराह अवतार का "सोमस्वामी" नामक एक उत्तुंग देवालय निर्माण कराकर उसके पास ही सोमस्वामिपुर नामक अग्रहार गृह-विद्वानों के लिए बसाया तथा मध्य में एक वापी का निर्माण कराया। एक प्रशस्ति में उसके द्वारा दैत्य सूदन के विशाल मंदिर के निर्माण कराने की जानकारी मिलती है। इस मंदिर के व्यय के लिए सोमेश्वर ने दीर्घशाखिका नामक ग्राम दान में दिया था। इन देवालयों के व्यवस्था-व्यय के निमित्त राजा लक्ष्मणराज, रानी राहड़ा तथा युवराज शंकर-

---

१. कलचुरि नरेश और उनका काल, पृष्ठ १९; तथा त्रिपुरी का इतिहास, पृष्ठ १०४, राजेंद्र सिंह।

गण ने कई ग्राम दान में दिये थे। लक्ष्मणराज का राज्यकाल सन् ९५० से ९७० के करीब तक रहा।

तृतीय शंकरगण

लक्ष्मणराज के बाद उसका पुत्र तृतीय शंकरगण सिंहासनारूढ़ हुआ। यह अपने पूर्व पुरुषों के विरुद्ध परम वैष्णव था। इसने भी कन्नौज के प्रतिहार और महोत्सव-पुर (महोबा) के चंदेलों से युद्ध किया था। इसके राज्यकाल की घटनाओं के संबंध में विशेष जानकारी नहीं मिलती।[1] लगता है इसका राज्य अल्पकालीन रहा। संभवतः इसके निष्पुत्र निधन हो जाने के कारण इसका कनिष्ठ बंधु युव-राजदेव त्रिपुरी के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ।

द्वितीय युवराजदेव

सन् ९८० के लगभग द्वितीय युवराजदेव ने त्रिपुरी राजसत्ता की बागडोर सँभाली। यद्यपि तत्कालीन कलचुरि प्रशस्तियों में यह उल्लिखित है कि युवराजदेव ने अनेक राजाओं को पराजित किया था किन्तु विभिन्न राजवंशों के लेखों से ज्ञात होता है कि इसके समय में कलचुरियों की शक्ति क्षीण हो चली थी। परमारों की उदयपुर वाली प्रशस्ति से पता लगता है कि परमार नरेश वाक्पति मुंज ने इसके राज्य पर आक्रमण किया था और युवराजदेव को पराजित कर तथा उसके सेनापति का वध कर त्रिपुरी पर अधिकार कर लिया था। मुंज ने चालुक्यों पर भी कई आक्रमण किये थे। परमारों ने तैलप चालुक्य को ६ बार हराया किन्तु इसी तैलप ने सातवीं बार मुंज को हराकर धार की ओर भागने के लिए बाध्य कर दिया। इन युद्धों का वर्णन 'प्रबंध चिन्तामणि' में मेरुतुंगाचार्य ने किया है। परंतु भागने के पहले मुंज ने कलचुरियों से संधि कर ली थी।[2]

ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल में कलचुरि नरेश अपनी शक्तिहीनता के कारण नगण्य हो चले थे। इसका प्रमाण यह है कि इसी समय जब गजनी के सुल्तान सुबुक्तगीन और महमूद के आक्रमणों को विफल करने के लिए पंजाब के जयपाल और आनंदपाल ने जिन उत्तर-भारतीय नरेशों को अपनी सहायता के लिए आह्वान किया था उनमें कलचुरियों का उल्लेख नहीं पाया जाता। युवराज-देव द्वितीय का राजशासन सन् ९९० ई० तक रहा होगा।

---

१. इसका एक खंडित शिलालेख मिराशी जी ने "अनाल्स आफ् दी भांडारकर ओरियंटल रिसर्च इन्स्टी०" में प्रकाशित किया है।

२. प्रबंध चिन्तामणि, लेखक मेरुतुंगाचार्य सन् १३०४ में।

द्वितीय कोकल्लदेव

ऐसा जान पड़ता है कि युवराजदेव द्वितीय का शासनकाल अच्छा नहीं था। मुंज से उसका पराजित हो जाना लोगों को अच्छा नहीं लगा। इसीलिए जब त्रिपुरी-राज्य मुंज के कब्जे से मुक्त हो गया तब मंत्रियों ने युवराजदेव को गद्दी देने के बजाय उसके पुत्र द्वितीय कोकल्ल को राजा बनाया। उसने अपने राज्य को पुनः शक्तिशाली बनाने का खूब प्रयत्न किया। उसने त्रिपुरी को खूब सजाया था। जबलपुरवाली प्रशस्ति में लिखा है कि "उसकी चतुरगिणी सेना के आगे समुद्र की लहरें निष्क्रिय दिखाई देती थीं।" वाराणसी के लेख में उत्कीर्ण है कि—"इस प्रतापी राजा ने अपने शत्रुओं को नत कर दिया, तूणीर की भाँति पीछे डाल दिया, दण्ड के समान हाथ में धारण कर लिया और तलवार की भाँति नग्न कर दिया।" उसने कन्नौज के प्रतिहारवंशी राज्यपाल, गौड़ देश के राजा महीपाल और कुंतलाधिपति चालुक्य नरेश विक्रमादित्य को पराजित किया था। इसका राज्यकाल लगभग पंद्रह वर्ष रहा (सन् ९९० से १०१५ तक)।

प्राप्त उत्कीर्ण प्रशस्तियो से ज्ञात होता है कि द्वितीय कोकल्ल के अट्ठारह पुत्र थे। इनमें से ज्येष्ठ पुत्र, परम्परा के अनुसार त्रिपुरी के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ और शेष छोटे भाई निकटवर्ती मण्डलों के अधिपति बना दिये गये। इन छोटे भाइयों में से एक भाई का पुत्र कलिंगराज दक्षिण कोसल-जनपद चला आया जिसे उसने अपने बाहुबल से जीतकर अपने पूर्वजों शंकरगण द्वितीय अर्थात् मुग्ध-तुंग के लघु भ्राता द्वारा स्थापित तुम्माण नगर में ही अपनी राजधानी स्थापित की और नये सिरे से यहाँ कलचुरि (हैहय) राज्य की नींव डाली। यह लगभग सन् १००० की घटना होगी, जब तुम्माण में सोमवंशी राजा था।

गांगेय देव विक्रमादित्य

द्वितीय कोकल्लदेव के पश्चात् उसका पुत्र गांगेयदेव सन् १०१५ के लगभग त्रिपुरी राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। यह महान प्रतापी और महत्वा-कांक्षी था। इसने थोड़े ही समय में वंश की पतनोन्मुख कीर्ति का पुनरुद्धार कर लिया और उत्तर भारत के राजाओं में सम्मानित होने लगा। महोबा में प्राप्त एक चंदेलवंशी उत्कीर्ण शिलालेख से विदित होता है कि गांगेयदेव ने आरंभ में चंदेल राजा विद्याधर की प्रभुता स्वीकार कर ली थी लेकिन क्रमशः इसने अपनी शक्ति इतनी बढ़ा ली कि चंदेलों की स्थिति निर्बल हो गई। इसने स्वतंत्र होकर अपने राज्य का खूब विस्तार किया और कुन्तल के चालुक्य नृपति जयसिंह पर आक्रमण कर उसे पराजित किया, पर राज्य उसके हाथ में रहने दिया। इस

युद्ध में गांगेयदेव ने परमार भोज और चोल राजेन्द्र से मित्रता कर कुंतल पर तीन ओर से आक्रमण किया था। किंतु इसके विपरीत, चालुक्य अपनी प्रशस्ति में लिखते हैं कि राजा जयसिंह ने मालव नरेश के आधिपत्य में रहने वाले राजाओं को मार भगाया था। ऐसी स्थिति में कौन जीता, कौन हारा; निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता।[1]

किन्तु परमारों और कलचुरियों की मैत्री अधिक समय तक टिक नहीं सकी। "पारिजात मंजरी" नामक संस्कृत नाटक की प्रस्तावना में कहा गया है कि धाराधिपति भोज ने गांगेय को पराजित कर अपनी इच्छा पूर्ति की थी। इन दो पड़ोसी राजवंशों में अनेक पीढ़ियों तक वैमनस्य चलता रहा और फलतः इन दोनों को अपरिमित हानि उठानी पड़ी।[2]

यह वही समय है जब महमूद गजनवी की चढ़ाइयों और लूटमार से उत्तर-भारत आतंकित था। इसने सन् १००० से सन् १०२६ तक भारत के विभिन्न भागों पर १७ बार आक्रमण किये थे। भाग्यवश त्रिपुरी राज्य उसके आक्रमण से बच गया था। महमूद के साथ आने वाले अलबेरूनी ने अपने भारत के इतिहास में लिखा है—"डाहल एक देश है जिसकी राजधानी तिओरी (त्रिपुरी) है और राजा गांगेयदेव है।"

आगे चलकर गांगेय ने दक्षिण कोसल नरेश कलचुरि वंशज कमलराज की सहायता से उड़ीसा पर आक्रमण किया और पूर्वी समुद्र तट तक अपना राज्य फैलाया। इसी प्रसंग पर उसने इस विजय के प्रतीक स्वरूप "त्रिकलिंगाधिपति" की उपाधि से अपने को अलंकृत किया जो इसके पश्चात् त्रिपुरी नरेशों के लिए गौरवमयी परम्परा बन गई और उनकी प्रशस्तियों में इस उपाधि का उल्लेख किया जाने लगा।

महमूद गजनवी के आक्रमण से कन्नौज के प्रतिहारों की सत्ता समाप्त हो चुकी थी। इसी भांति मध्यभारत के चंदेले भी क्षीण-शक्ति हो चले थे। इस अवसर का लाभ उठाकर गांगेय ने गंगा-यमुना नदी के अन्तराल प्रदेश को अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया और प्रयाग में एक दूसरी राजधानी स्थापित की। तत्पश्चात् उसने वाराणसी को भी अपने अधिकार में ले लिया। गांगेय के राज्यकाल के अंतिम चरण में उसके पुत्र कर्ण ने मगध और गया तक को अपना आक्रमण क्षेत्र बनाया। गया के अनेक बौद्ध मठ लूटे गये और चार भिक्षुओं एवं एक उपासक को,

---

१. एपीग्राफिआ इंडिका, भाग २।
२. पारिजात मंजरी, प्रस्तावना।
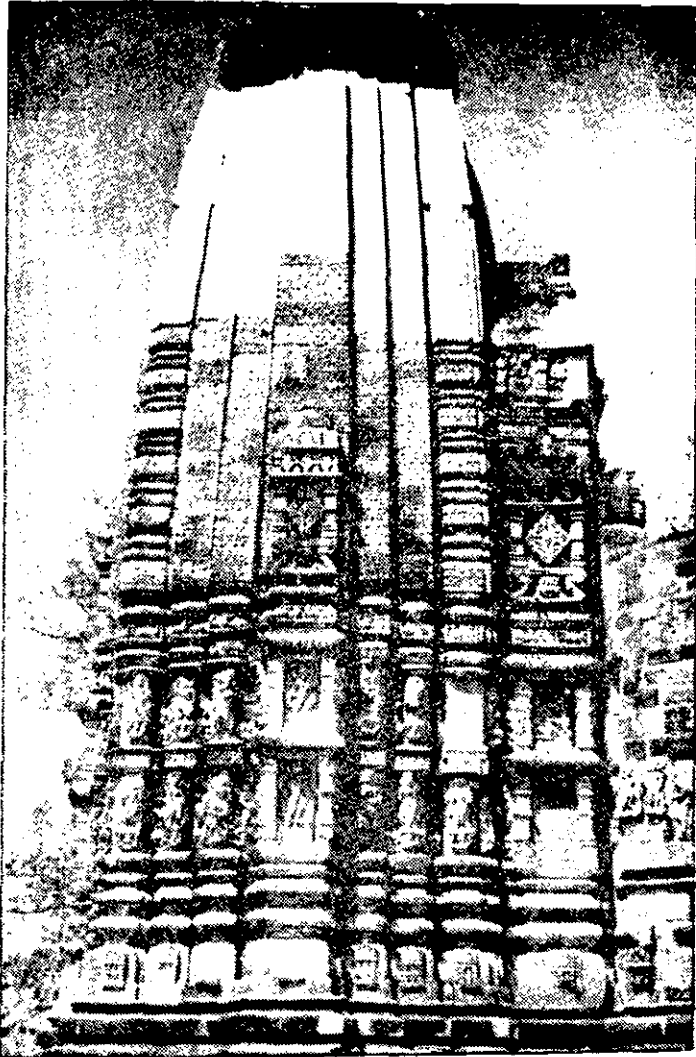
पाली का प्रसिद्ध शिव मंदिर

हत्या कर दी गई। अंत में अतिश दीपंकर नामक एक सुप्रसिद्ध बौद्ध-भिक्षु की मध्यस्थता से संधि हो गई।

गांगेय शिवभक्त था। प्रयाग में अक्षयवट की छाया में उसकी मृत्यु कल-चुरि संवत् ७९२ फाल्गुन कृष्ण २ (२२ जनवरी, १०४१) को हुई थी।

गांगेयदेव की तुलना भारतवर्ष के प्रमुख और प्रबल प्रतापी सम्राटों में की जाती है। उसने अपनी शक्ति और पराक्रम से कलचुरिवंश को समृद्धिशाली बनाया था। उसने महाराजाधिराज, परमेश्वर तथा विक्रमादित्य की उपाधि धारण की थी। विरोधी नरेश भी उसे "जितविश्व" कहते थे। राजनीति में वह परम चतुर था। वह मंदिरों के निर्माता के रूप में भी प्रसिद्ध है। उसने अपने नाम के सोने के सिक्के भी चलाये थे। इन सिक्कों के सामने भाग पर तीन पंक्तियों में गांगेयदेव का नाम और पीठ पर चार भुजाधारी लक्ष्मीजी की छवि छपी रहती थी।[1]

कर्णदेव

गांगेय के पश्चात् उसके पुत्र कर्णदेव ने त्रिपुरी का शासन-भार सँभाला। वह अपने पिता से भी बढ़कर पराक्रमी निकला। उसने अपने राज्यारोहण के प्रथम सात वर्षों में ही अनेक स्थानों पर विजय प्राप्त की थी। उसने पहले पूर्वी बंगाल पर आक्रमण किया और वहाँ के राजा गोविंदचन्द्र या उसके उत्तरा-धिकारी को पदच्युत कर वह राज्य वज्रवर्मा को प्रदत्त कर दिया और फिर उसके पुत्र जातवर्मा के साथ अपनी कन्या वीरश्री का व्याह कर दो राजपरिवारों के बीच दृढ़ संबंध स्थापित कर लिये। तत्पश्चात् उसने दक्षिण की ओर कूचकर पल्लव, चोल और कुंतल (उत्तर चालुक्य) नरेशों को पराजित किया।

फिर कर्णदेव ने गुर्जर देश पर आक्रमण करके वहाँ के राजा भीम को परा-जित किया। किन्तु बाद में उससे संधि कर ली और उसकी सहायता लेकर मालवा के परमारों पर चढ़ दौड़ा। यों राजा भोज स्वयं भी बड़ा पराक्रमी था और वह कर्ण के पिता गांगेयदेव को एक बार पराजित कर चुका था। स्पष्टतः यह हार कर्ण के हृदय में काँटे के समान गड़ रही थी और इसी का बदला लेने के लिए उसने गुर्जर नृपति भीम से संधि करके मालव राज्य पर आक्रमण कर दिया। युद्ध में विजय प्राप्त करने के पश्चात् जब कर्ण ने परमारों की राजधानी धारा नगरी पर अपना अधिकार कर लिया तब संधि की शर्तों के अनुसार उसने

---

1. दी क्वायन्स आफ इंडिया, प्लेट ६ नं० ९, लेखक सी० जे० ब्राउन तथा म० प्र० के उत्कीर्ण लेख, पृष्ठ २३०, डा० हीरालाल।

भीम को विजित प्रदेश का आधा हिस्सा नहीं दिया। फलतः भीम ने क्रोधित होकर चेदि देश पर चढ़ाई कर दी। तब राजनीति में पटु कर्णदेव ने भीम को भाँति-भाँति के उपहार एवं परमारों से लूट में प्राप्त स्वर्ण मण्डपिका आदि सामग्री देकर संतुष्ट कर दिया।

तदनंतर कर्ण ने चंदेलों के राज्य पर आक्रमण कर वहाँ के राजा देववर्मा को मार डाला और उसका राज्य अपने अधिकार में कर लिया। इसके बाद उसने मगध और गौड़ देश के अधिपति तृतीय विग्रहपाल को पराजित कर उससे संधि कर ली और फिर अपनी द्वितीय पुत्री यौवनश्री का विवाह उससे रचाकर स्थायी मैत्री स्थापित कर ली। इससे राजा कर्ण की राजनीतिज्ञता का अच्छा पता चलता है।

धीरे-धीरे सन् १०५२ ई० तक कर्णदेव का यश-सूर्य उच्च शिखर पर पहुँच गया। उसने परमार और चंदेलों के राज्य अपने राज्य मे मिला लिये थे। उत्तर में उसके साम्राज्य की सीमा कीर (काँगड़ा) देश तक पहुँच चुकी थी। पूर्व में पाल और वर्मन राजाओं से उसके परिवारिक संबंध होने से वे उसके पक्के समर्थक बन गये थे। पश्चिम में गुजरात नरेश भीम से उसका मैत्रीपूर्ण संबंध था। दक्षिण के चोल और चालुक्य नरेशों को वह पराजित कर चुका था। इस प्रकार वह भारत का चक्रवर्ती राजा बन बैठा था। इस उपाधि की घोषणा करने के हेतु उसने १०५२-५३ ई० में अपना द्वितीय बार राज्याभिषेक बड़ी धूमधाम के साथ सपन्न कराया। इस समय उसके विरुद में उसे इस प्रकार घोषित किया जाता था[1] —

"श्रीमद्विजयकटकात्परम् भट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर श्री वामदेव पादानुध्यात परम माहेश्वर त्रिकलिंगाधिपतिअश्वपति गजपति नरपति राजत्रयाधिपति श्रीमत्कर्णदेव।"

इसकी प्रशस्तियों पर राजमुद्रा इस प्रकार अंकित रहती थी—

"दोनों ओर हाथी सूंड उठाये, नीचे नदी, पार्वती और नदी के ऊपर में लिखित—श्री कर्ण देव।"

त्रिकलिंगाधिपति की उपाधि यह सूचना देती है कि कर्णदेव कलिंग, कोसल और उत्कल का अधिपति था। कन्नौज के प्रतिहार अश्वपति कहलाते थे, उसी प्रकार कलिंग के राजा गजपति तथा चालुक्य नरेश नरपति कहलाते थे और

१. एपीग्राफिआ इंडिका, जिल्द २, पृष्ठ १८५।
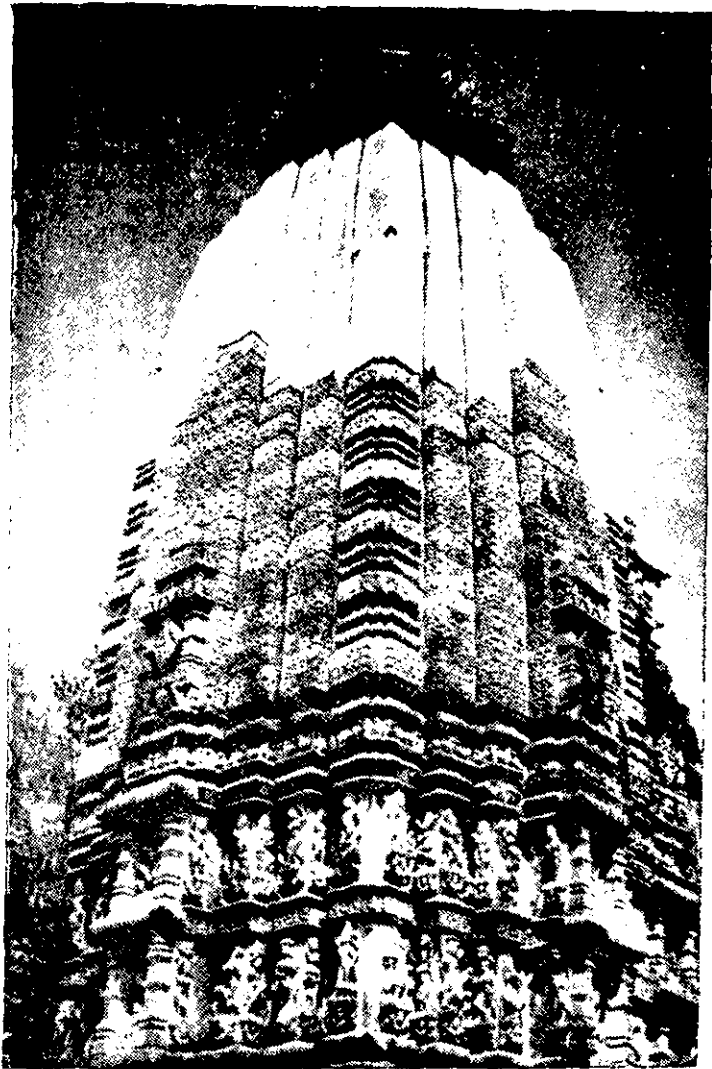
पाली के शिव मंदिर में नक्काशी का दृश्य, पिछला भाग

इन तीनों पर विजय प्राप्त करके कर्णदेव त्रयाधिपति हो गया था। और परम शैव होने के कारण परममाहेश्वर था ही।

कर्णदेव महान योद्धा तो था ही, किन्तु धर्म, विद्या और कला का उदार आश्रयदाता भी था। उसने काशी में विशाल शिव मंदिर और प्रयाग में, गंगा पर कर्णतीर्थ नामक घाट का निर्माण कराया था। उसने कर्णावती नगरी बसाई थी। अमरकंटक के कई मंदिर कर्ण के बनवाये कहे जाते है। वह विद्वानों का आदर करता था और उन्हे आश्रय देता था। कश्मीर के सुकवि बिल्हण को उसकी सभा में सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त था। उसकी सभा के अन्य कवियों में वल्लण, नाचिराज, कर्पूर और विद्यापति मुख्य थे, उसकी महारानी आवल्ल देवी हूण राजकन्या थी। उससे उत्पन्न यशःकर्ण नामक पुत्र था जिसे उसने अपने जीते जी राज-सिंहासन पर बैठाया था। अनुमानतः सन् १०४१ से लेकर १०७३ पर्यंत बत्तीस वर्ष राज्य करने के पश्चात् कर्ण को राजकाज से वैराग्य हो गया। फलतः उसने अपने पुत्र को राजतिलक कर दिया। प्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ काशी-प्रसाद जायसवाल उसे 'भारतीय नेपोलियन' लिखते रहे।[1]

यशःकर्ण

राज्यारोहण के उपरान्त शीघ्र ही यशःकर्ण ने आंध्र देश पर चढ़ाई कर द्राक्षाराम पर्यंत आक्रमण किया और वहाँ पहुंचकर भीमेश्वर की पूजा की। इस विजय यात्रा में उसने वेंगी के चालुक्य नृपति सप्तम विजयादित्य को पराजित किया था। इस चढ़ाई में संभवतः[2] उसे दक्षिण कोसल की राजधानी रत्नपुर की कलचुरि शाखा के नृपति प्रथम जाजल्लदेव से सहायता मिली होगी क्योंकि जाजल्लदेव ने अपने रत्नपुर के शिलालेख में चेदिनरेश से स्थापित अपनी परम-मैत्री का गौरवपूर्ण उल्लेख किया है।

इसके बाद शीघ्र ही उसे गाहड़वालवंशी चन्द्रदेव से पराजित हो कन्नौज प्रांत पर से अपना अधिकार छोड़ना पड़ा। यशःकर्ण ने एक बार उत्तर स्थित प्रदेशों को जीतने का प्रयत्न किया पर सफलता हाथ नहीं लगी। उसने बिहार प्रांत में चम्पारन तक चढ़ाई की और उसे उजाड़ दिया पर उससे कोई लाभ नहीं हुआ। उल्टा उसे अपनी राजधानी प्रयाग से त्रिपुरी लानी पड़ी। अब पुराने शत्रुओं ने उससे बदला लेना शुरू किया। परमार नरेश लक्ष्मणदेव, चंदेल नरेश सल्लक्षण

१. त्रिपुरी का इतिहास में उल्लिखित डा० हीरालाल का कथन पृ० ११८, राजेन्द्रसिंह।

२. यशःकर्ण लेख, पृष्ठ बाईस तथा शिलालेख की प्रतिलिपि ७२–७६।

वर्मा और कुन्तलाधिपति चालुक्य षष्ठ विक्रमादित्य सभी ने उसे पराजित किया। फलतः उसका राज्य बघेलखंड तक सीमित रह गया।

गयाकर्ण

यशःकर्ण के पश्चात् उसका पुत्र गयाकर्ण सन् ११२३ ई० के लगभग गद्दी पर बैठा। यह अपने पिता से भी अधिक शक्तिहीन सिद्ध हुआ। इसके समय के दो लेख मिले है—१ तेवर (त्रिपुरी) में और २ बहुरीबंद में जो जबलपुर जिले में है। चन्देल राजा मदनवर्मा ने चेदिनरेश को परास्त किया—ऐसा स्पष्ट उल्लेख चंदेलों के अभिलेखों में पाया जाता है।

दक्षिण कोसल (छत्तीसगढ़) के कलचुरि नृपति जो अभी तक अपने को त्रिपुरी की मुख्य शाखा के अधीन बताते हुए राज्य करते थे, गयाकर्ण के समय में स्वतंत्र हो गये। इसके पूर्व इस वंश के अनेक राजाओ ने त्रिपुरी मूलशाखा को कई युद्धों में सहायता देकर उन्हे विजय दिलाई थी, पर अब जब मूलशाखा ही सूखने लगी तो उन्होंने भी उसे त्याग दिया। इस पर गयाकर्ण ने रत्नपुर के तत्कालीन नरेश द्वितीय रत्नदेव के विरुद्ध बड़ी भारी सेना भेजी पर उल्टे गयाकर्ण ही पराजित हो गया।[1] गयाकर्ण को पराजित करने के पहले रत्नदेव का साहस और आत्म-विश्वास और अधिक इसलिए बढ़ गया था कि वह अपने राज्य पर अनंतवर्मा चोडगंग की चढाई को रोकने में सफल हो गया था।

गयाकर्ण का विवाह गुहिलवंशी राजा विजयसिंह की कन्या अल्हण देवी से हुआ था। यह परमार नरेश उदयादित्य की पुत्री श्यामलदेवी की कन्या थी। ऐसा प्रतीत होता है कि इस संबंध से कलचुरि और परमारवंशों के बीच, अनेक पीढ़ियों तक चली आई वैर-भावना दब सी गई थी। राजपूताने मे पाशुपति पंथ का वर्चस्व था। अल्हण देवी भी इसी पंथ की अनुयायिनी थी। उसने पति की मृत्यु के बाद भेड़ाघाट में वैद्यनाथ शिव का मन्दिर बनवाकर उसे लाट देश (गुजरात) से रुद्रराशि नामक पाशुपति पंथी आचार्य को बुलवाकर सौंप दिया, क्योंकि गयाकर्ण के गुरु शक्तिशिव थे और ये दोनों परम शैव थे। गयाकर्ण का निधन सन् ११५३ ई० में हुआ था।

नरसिंह और जयसिंह

गयाकर्ण के नरसिंह और जयसिंह नामक दो पुत्र थे। दोनों भाइयों में परस्पर राम-लक्ष्मण जैसा प्रेम था। गयाकर्ण के पश्चात् नरसिंह सिंहासनारूढ़ हुआ। इसके राज्यकाल की राजनैतिक घटनाओं का विवरण कहीं नहीं मिलता। यह सन् ११५३ से ११६३ तक राज्य करता रहा।

---

१. कार्पस इंस्क्रिप्शनं इंडिकेरं, पृष्ठ ४४३।
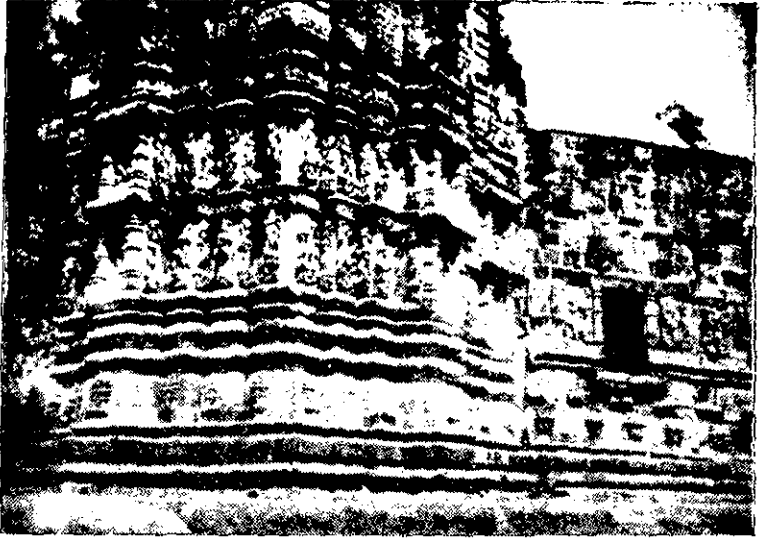
पाली के मंदिर में नक्काशी का अनुपम दृश्य
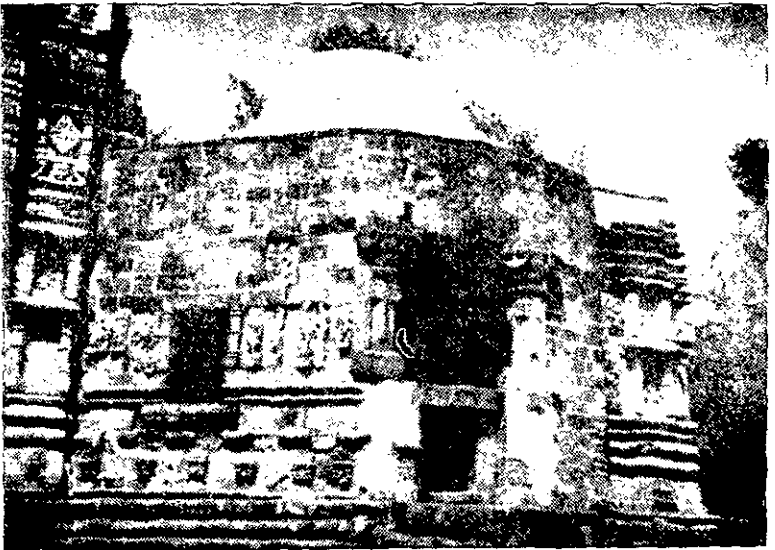
पाली के मंदिर का जीर्णोद्धार वाला भाग

नरसिंह की मृत्यु के बाद उसका छोटा भाई राजगद्दी पर बैठा । इसके राजगुरु कीर्तिशिव नामक शैव आचार्य थे । जयसिंह के जबलपुर और कुंभी के ताम्रपत्रों में उल्लिखित है कि जयसिंह के राज्याभिषेक का समाचार सुनकर गुर्जर, तुरुष्क और कुंतल नरेशों का हृदय धड़क उठा था; पर लगता है कि यह प्रशंसा मात्र थी, अन्यथा हृदय धड़काने वाले किसी कारनामे का उल्लेख जो जयसिंह द्वारा सम्पन्न किये गये हों कहीं नहीं मिलता। शिवरीनारायण (जिला बिलासपुर) के एक शिलालेख में जयसिंह द्वारा दक्षिण कोसल पर आक्रमण करने का उल्लेख अवश्य है पर इसमें जयसिंह, द्वितीय जाजल्लदेव द्वारा स्वयं पराजित हो गया था।[१] यह घटना सन् ११६५ के लगभग घटी थी । चन्देलों की प्रशस्तियों से ज्ञात होता है कि चंदेल राजा परमर्दिदेव ने भी जयसिंह देव को त्रस्त कर रक्खा था। जयसिंह की दो रानियाँ थीं—केल्हणदेवी और गोसल देवी । गोसलदेवी के द्वारा बसाया गया गोसलपुर आज भी जबलपुर के समीप विद्यमान है। इसके राजगुरु विमलशिव नामक शैव आचार्य थे।

विजयसिंह

जयसिंह का उत्तराधिकारी उसका पुत्र विजयसिंह सन् ११८० के लगभग त्रिपुरी के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। उसके समय में उसके एक सामन्त कर्करेडी के कौरववंशी सल्लक्षण ने विद्रोह कर उसकी सत्ता समाप्त करने का प्रयत्न किया था पर उसके मंत्री मलयसिंह ने उसे दबा दिया। सन् १२१० के लगभग चंदेल राजा त्रैलोक्य वर्मा ने कलचुरियों के राज्य पर आक्रमण कर रीवा के निकटवर्ती प्रदेश पर अपना अधिकार कर लिया। ऐसा मालूम होता है कि इसके पूर्व यादव नरेश सिंहण ने भी विजयसिंह को पराजित किया था। इस प्रकार विजयसिंह के समय में कलचुरि राज्य की दशा बुझते हुए दीपक के समान हो रही थी कि सागर और दमोह जिलों वाला भाग तथा बघेलखंड को चंदेलों ने अपने अधिकार में ले लिया और विजयसिंह का राज्य केवल जबलपुर जिला तक सीमित रह गया। बाद में यह भाग भी कलचुरियों के हाथ से निकल गया। उसके पुत्र महाराज कुमार अजयसिंह का उल्लेख उत्कीर्ण लेखों में मिलता है। पर उसे राज्य करने का अवसर मिला कि नहीं, अज्ञात है। इस भाँति कलचुरियों का त्रिपुरी राज्य सन्ध्याकाल के सूरज के समान अस्त हो गया।[२]

---

१. कार्पस इंस्क्रिप्शनं इंडिकेरं, पृष्ठ ६४५ ।

२. सतपुड़ा की सभ्यता, पृष्ठ ११६, प्रयागदत्त शुक्ल तथा हेविट की सेप्लिमेंट रिपोर्ट।

७

दक्षिण कोसल के कलचुरि (हैहयवंशी)

(लगभग ई० सन् की नवीं शताब्दी से)

रतनपुर-राज्य

ईस्वी सन् की नवीं शताब्दी के अंतिम चरण में त्रिपुरी के कलचुरियों ने दक्षिण कोसल में अपनी शाखा स्थापित करने का प्रयत्न किया था। प्राप्त अभिलेखों से ज्ञात होता है कि प्रथम कोकल्ल के पुत्र द्वितीय शंकरगण अर्थात् मुग्धतुंग प्रसिद्ध धवल ने तत्कालीन कोसल नरेश से पाली (जिला बिलासपुर) प्रदेश जीत लिया था। पाली इस समय एक ग्राम मात्र है, जहाँ शिवजी का एक कलापूर्ण मंदिर है जिसमें नक्काशी का काम बड़ी सुंदरता से किया गया है। इस मंदिर के गर्भगृह की चौखट पर अंकित लेख के आधार पर से यह प्रतीत होता है कि वहाँ नवीं शताब्दी के अंत में बाणवंशी प्रथम विक्रमादित्य (सन् ८७० से ८९५) का अधिकार था।[1] इससे अथवा इसके उत्तराधिकारी से त्रिपुरी के शंकरगण ने यह प्रदेश जीत लिया होगा। लेकिन इस संबंध में कुछ विद्वानों का अभी भी मतभेद है। उनका कहना है कि पाली के मंदिर का निर्माणकर्त्ता वह विक्रमादित्य नहीं है जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है। वे मुग्धतुंग द्वारा पराजित राजा को सोमवंशी मानते हैं।

लेकिन मुग्धतुंग यहाँ रहा नहीं। उसने अपने छोटे भाई को इस प्रदेश का शासक नियुक्त कर दिया और स्वयं त्रिपुरी लौट गया। यद्यपि अभिलेखों में उसके इस छोटे भाई का नाम पाया नहीं जाता, तथापि यह ज्ञात होता है कि सन् ९०० के लगभग इसकी राजधानी तुम्माण में थी। तुम्माण इस समय बिलासपुर जिले में एक ग्राम मात्र रह गया है। यहाँ अभी भी प्रासादों और मंदिरों के भग्नावशेष प्रचुर संख्या में मौजूद हैं। लगता है कि कलचुरियों ने यहाँ दो-तीन पीढ़ियां बिताई होंगी पर इस संबंध में किसी अभिलेख की प्राप्ति न होने के कारण प्रमाणिकता के साथ कुछ कहा नहीं जा सकता।

---

१. पाली का यह मंदिर रतनपुर-कटघोरा-रोड पर स्थित है।

तत्पश्चात् यह ज्ञात होता है कि स्वर्णपुर (सोनपुर उड़ीसा) के सोमवंशी राजा ने सन् ९५० के लगभग कलचुरियों की इस शाखा को तुम्माण से मार भगाया। अभिलेखों से विदित होता है कि इसके पश्चात् त्रिपुरी नरेश युवराज देव और उसके पुत्र द्वितीय लक्ष्मणराज ने सन् ९५० से ९७० के बीच, दक्षिण कोसल पर चढ़ाई करके वहाँ के राजाओं को पराजित किया था। संभव है कि इन चढ़ाइयों का उद्देश्य सोमवंशी राजाओं को पराजित करना रहा हो। पर इन चढ़ाइयों में त्रिपुरी अधिपतियों को विजय मिली भी हो तो भी यह नहीं ज्ञात होता कि दक्षिण कोसल में कलचुरि राजाओं की सत्ता पुनः प्रतिष्ठापित हुई।

कलिंगराज

दक्षिण कोसल में त्रिपुरी के कलचुरियों का राज्य प्रतिष्ठित करने का असल समय आया सन् १००० के लगभग, जब द्वितीय कोकल्लदेव के राज्यकाल (९९० से १०१५) में उसके अठारह पुत्रों में से किसी एक छोटे पुत्र के तनय कलिंगराज ने दक्षिण कोसल-जनपद की विजय यात्रा की और उसे अपने बाहुबल से जीतकर उसी तुम्माण नगर में अपनी राजधानी स्थापित की जिसे उसके पूर्वजों (मुग्ध-तुंग के लघुभ्राता) ने १०० वर्ष पूर्व अपनी राजधानी बनाई थी। तुम्माण में राज्य करते हुए कलिंगराज ने अपने शत्रुओं का क्षय किया और राज्यश्री को बढ़ाया।[१]

कमलराज

सन् १०२० के लगभग कलिंगराज का पुत्र कमलराज तुम्माण की राजगद्दी पर बैठा। इसके राज्यकाल में त्रिपुरी नरेश गांगेयदेव ने उड़ीसा पर चढ़ाई की थी। दक्षिण कोसल मार्ग में पड़ता था। उसने अपने वंशज कमलराज को ससैन्य साथ में ले लिया। कलचुरि-ताम्रपत्र में उत्कीर्ण है कि कमलराज ने अपनी मूलशाखा के स्वामी के लिए उत्कल नरेश को पराजित कर उसके अनेक हाथी, घोड़े तथा अन्य संपत्ति लूट में ले ली और गांगेयदेव को अर्पण कर दिया।[२] संभवतः पराजित उत्कल नरेश "करवंशी द्वितीय शुभाकर" होगा। उत्कल युद्ध से कमलराज को एक लाभ यह हुआ कि "साहिल्ल" नामक एक योद्धा उसके साथ कोसल चला आया। साहिल्ल और उसके वंशजों ने अपने स्वामी के लिए छत्तीसगढ़ के अनेक राज्य जीते थे।[३]

---

१. उत्कीर्ण लेख, पृष्ठ चौबीस, बालचंद्र जैन तथा प्रथम जाजल्लदेव का रतनपुरीय-शिलालेख।

२. प्रथम पृथ्वीदेव का अमोदा में प्राप्त ताम्र-पत्र, पृष्ठ ६६ पूर्वोक्त।

३. पूर्वोक्त पृष्ठ ६६।

प्रथम रत्नराज

सन् १०४५ के लगभग कमलराज का पुत्र प्रथम रत्नराज सिंहासनारूढ़ हुआ। उसने कोमोमंडल के अधिपति वज्जूक अर्थात् वज्रवर्मा की पुत्री नोनल्ला से विवाह किया था। इस संबंध के कारण कलचुरियों का प्रभाव छ० ग० में दृढ़तर हो गया क्योंकि तत्पश्चात् अनेक ताम्रपत्रों में इसका उल्लेख किया गया है। पश्चात् रत्नराज ने मणिपुर नामक प्राचीन गाँव को नगर के रूप में परिवर्तित कर उसे रत्नपुर नाम दिया और उसे अपनी राजधानी बना ली। पहली राजधानी तुम्माण को इससे जरूर धक्का लगा जहाँ उसने वंकेश्वर, रत्नेश्वर आदि शिवमंदिर, तालाब, बाग-बगीचे लगवाकर उसे अति सुन्दर बना दिया था। रत्नपुर इस समय बिलासपुर जिले में एक कसबा मात्र रह गया है और तुम्माण एक ग्राम। रत्नराज ने यश नामक एक वैश्य को नगर सेठ (श्रेष्ठि) का पद प्रदान किया था।[1]

प्रथम पृथ्वीदेव

सन् १०६५ के लगभग रत्नदेव का पुत्र प्रथम पृथ्वीदेव रत्नपुर के राजसिंहासन पर आसीन हुआ। इसके दो उत्कीर्ण लेखों में इसे "महामण्डलेश्वर" तथा "समधिगताशेषपंच महाशब्द" कहा गया है जिससे विदित होता है कि यह त्रिपुरी की मुख्य शाखा के एक सामंत के रूप में कोसल में राज्य करता था। फिर भी उसने अपने राज्य का विस्तार कर "सकल कोसलाधिपति" की पदवी धारण कर ली थी और कोसल के इक्कीस सहस्र ग्रामों का स्वामी बन गया था। किन्तु इस बात का पता नहीं लगता कि उसके अधिकार में संबलपुर आदि अंचल (कोसल का पूर्वी भाग) था कि नहीं। अलबत्ते उसके राज्यकाल में पूर्वोल्लिखित साहिल्ल के वंशजों ने दक्षिण कोसल का बहुत-सा भाग जीतकर उसे कलचुरि राज्य में मिला लिया था।[2]

पृथ्वीदेव तुम्माण में स्थापित वंकेश्वर महादेव का परम भक्त था और अपने राज्य को उनके आशीर्वाद का प्रसाद स्वरूप मानता था। उसने तुम्माण के वंकेश्वर मंदिर में "चतुष्किका" (चार खंभों वाला मंडप) का निर्माण कराया था और उस अवसर पर एक ग्राम दान में दिया था। पृथ्वीदेव की रानी का नाम राजल्ला था। उसके दो मंत्रियों के नाम उत्कीर्ण लेखों में मिलते हैं—विग्रहराज और सोढ़देव। पृथ्वीदेव ने तुम्माण में पृथ्वीदेवेश्वर नामक शिव मंदिर और रत्नपुर में समुद्र के समान एक विशाल सरोवर का निर्माण कराया था।

---

१. बाबू रेवाराम का रतनपुर का इतिहास तथा कार्पस इं. इंडिकेरं।

२. शिलालेखों की प्रतिलिपियाँ।

प्रथम जाजल्लदेव

पृथ्वी देव की रानी राजल्ला के गर्भ से जिस पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई उसका नाम रखा गया था—जाजल्लदेव। उसने सिंहासनारोहण के बाद शीघ्र ही अपने राज्य को विस्तृत करने के उद्देश्य से वैरागढ़, लंजिका (लांजी), भाणार (भंडारा) तलहारिमंडल (मल्लार का क्षेत्र, जिला बिलासपुर) को अपने अधिकार में ले लिया। उसके बाद उसने बंगाल में दंडकपुर (मिदनापुर) तथा आंध्र और खिमड़ी (जिला गंजाम) आदि सुदूर प्रदेशों पर चढ़ाइयाँ कर उन पर विजय प्राप्त की। इनके सिवाय नंदावली और कुक्कुट के राजा भी उसकी सत्ता स्वीकार कर उसे वार्षिक कर देने लगे। इन लड़ाइयों में उसके सेनापति जगपाल ने बड़ा शौर्य दिखलाया था।

पश्चात् जाजल्लदेव ने चक्रकोट (बस्तर) के छिंदक नागवंशी राजा सोमेश्वर को दण्ड देने की तैयारी की। इसका कारण यह था कि सोमेश्वर ने इसके पूर्व रत्नपुर पर आक्रमण करके कोसल का बहुत सा प्रदेश अपने अधिकार में कर लिया था। इसका भारी बदला जाजल्लदेव ने उससे लिया।[1] उसकी सारी सेना नष्ट कर दी और उसकी राजधानी में आग लगा दी। फिर सोमेश्वर को रानियों और मंत्रियों सहित कैद कर लिया। किन्तु बाद में अपनी माता के अनुरोध करने पर उन्हें मुक्त भी कर दिया। जाजल्लदेव ने सुवर्णपुर (सोन-पुर, उड़ीसा) को भी जीत लिया था और उत्कलदेश के राजा को पदच्युत कर दिया था। इसके संबंध में रत्नपुर में जो शिलालेख मिला है, उसमें उसका कवि लिखता है—"ब्रूत स ईदृशः क्षितिपतिर्दृष्टः क्षितौ वा श्रुतः" अर्थात बताइये कि क्या आपने सारी पृथ्वी में ऐसा राजा देखा या सुना है ?

जाजल्लदेव की कीर्ति शीघ्र ही दूर-दूर तक फैल गई। उत्तर के राजे जैसे कन्नौज के गाहड़वाल, जेजाभुक्ति (बुंदेलखंड) के चंदेल और कहाँ तक कहें खुद उसके गोत्रज और प्रभुसत्ता के स्वामी त्रिपुरी के राजा यशःकर्ण तक उससे मैत्री का हाथ बढ़ाने लगे और उसे उपहार भेजने लगे।[2] सुअवसर देखकर उसने त्रिपुरी की प्रभुसत्ता को ठुकरा दिया और अपने स्वातंत्र्य की घोषणा कर दी तथा अपने नाम के सोने और ताम्बे के सिक्के जारी कर दिये। सोने के सिक्के के अग्रभाग पर बड़े अक्षरों में "श्रीमज्जाजल्लदेव" और उसके पृष्ठ भाग पर कलिंगदेश के नृपति गंग पर मिली विजय का प्रतीक गजशार्दूल चिन्ह अंकित रहता था। ताँबे

---

१. उत्कीर्ण लेख, चित्रकूट के छिंदक नाग, पृष्ठ उन्नीस, बा० चं० जैन।

२. शिलालेखों के आधार पर।

के सिक्कों पर चंदेलों के सिक्के के समान हनुमान की आकृति बनी थी। इस तरह के सिक्के बाद में रत्नपुर के अनेक कलचुरि नरेशों ने जारी किये। जाजल्लदेव ने अपने नाम से जाजल्लपुर नामक नगर बसाया था जो आज जाँजगीर कहाता है। उसने वहाँ एक तालाब खुदवाया और आम्रवन लगवाया। पाली के प्रसिद्ध शिवमंदिर का भी उसने जीर्णोद्धार कराया था। इस मंदिर की दीवाल और स्तम्भ पर "श्रीमज्जाजल्लदेवस्य कीर्तिः" खुदा हुआ अभी भी देखा जा सकता है।[1] जाजल्लदेव की रानी लाच्छल्ला देवी, गुरु रुद्रशिव, सांधिविग्रहिक विग्रहराज और मंत्री पुरुषोत्तम के नाम उत्कीर्ण लेखों में पाये जाते हैं। गुरु सदाशिव के संबंध में रत्नपुर के शिलालेखों में उल्लिखित है कि वे शैवागम में ही नहीं, प्रत्युत दिङ्नागादि के बौद्ध दर्शनग्रंथों में भी पारंगत थे।[2]

द्वितीय रत्नदेव

प्रथम जाजल्लदेव के पश्चात् उसकी रानी लाच्छल्ला देवी के गर्भ से उत्पन्न रत्नदेव सन् ११२० के लगभग राजगद्दी पर आरूढ़ हुआ। अपने पिता के समान इसने भी त्रिपुरी नरेश की प्रभुसत्ता स्वीकार नहीं की। फलतः त्रिपुरी नरेश गयाकर्ण ने कोसलदेश पर आक्रमण किया परन्तु उसे रत्नदेव से पराजित होना पड़ा। इस विजय का उल्लेख तत्कालीन शिलालेख में किया गया है।

रत्नदेव के राज्यकाल में दूसरी संस्मरणीय घटना, गंगवंशी नृपति अनंतवर्मा चोड़गंग द्वारा कोसल राज्य पर चढ़ाई, थी। चोड़गंग एक अत्यन्त शक्तिशाली नरेश था जिसने उत्तर में गंगातट तक आक्रमण कर अनेक बार विजय प्राप्त की थी। उसने जाजल्लदेव द्वारा, पदच्युत किये गये उत्कल नरेश को पुनः गद्दी पर बिठाया था और बाद में रत्नपुर पर चढ़ाई कर दी थी। चोड़गंग के राज्य के मुकाबिले में दक्षिण कोसल की कोई हस्ती नहीं थी। ऐसे बलशाली राज्याधीश का सामना करना टेढ़ी खीर थी। फिर भी रत्नदेव तथा उसके माण्डलिकों ने अपनी सम्मिलित शक्ति से चोड़गंग को करारी हार दी और उसे वापस लौटा दिया तथा लूट में उसके हाथी, घोड़े, स्वर्ण आदि बहुत सा माल प्राप्त किया। इस युद्ध का उल्लेख दक्षिण कोसल के अनेक लेखों में मिलता है।

इस विजय से रत्नदेव का साहस बढ़ गया और उसने दूर-दूर के प्रदेशों पर आक्रमण करना शुरू कर दिया। उसने गौड़ (बंगाल) पर चढ़ाई कर उस पर विजय प्राप्त की। इस युद्ध में इसके दो सामन्त वल्लभराज और उसके मंत्री

---

१. विष्णु यज्ञ स्मारक ग्रंथ, पृष्ठ १५०, लेखक मिराशी।

२. शिलालेखों के आधार पर।

पुरुषोत्तम राज ने बड़ा शौर्य दिखाया था। वल्लभराज वैश्य जाति का होते हुए भी रत्नदेव के प्रमुख सामन्तों में स्थान पाता था। रत्नदेव की माता लाच्छल्लादेवी जो उसे अपने पुत्र के समान मानती थी। वल्लभराज ने रेवन्त[१] और शिव मंदिरों का निर्माण कराया था और सरोवर खुदवाये थे। उसी प्रकार पुरुषोत्तम सर्वाधिकारी (प्रधानमंत्री) ने भी अनेक धार्मिक कृत्य किये थे तथा मठ, मंदिर और तालाबों की संख्या बढ़ाई थी। रत्नदेव के राज्यकाल में विद्वानों और कलाकारों को उदार आश्रय मिलता था और उसकी कीर्ति की गाथा श्रवण कर दूर-दूर के विद्वान ब्राह्मण उसके दरबार में आने के लिए उत्सुक रहते थे।[२]

द्वितीय पृथ्वीदेव

रत्नदेव के दो पुत्र थे—पृथ्वीदेव और जयसिंह। इनमें से ज्येष्ठ पुत्र पृथ्वीदेव सन् ११३५ के लगभग रत्नदेव के पश्चात् राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ और द्वितीय पृथ्वीदेव कहलाया। उसने अनेक राजाओं को अपने अधीन कर लिया था। उसके जगपाल नामक सेनापति ने राजिम स्थित राजीवलोचन के मंदिर का जीर्णोद्धार कराया था। इसमें जो शिलालेख लगा है उसमें उल्लिखित है कि जगपाल ने सरहरागढ़ (सारंगढ़) और मचका सिहावा (सिहावा) के किले जीत लिये थे।[3] तत्पश्चात् भ्रमरवद्र (बस्तर का भाग), कांतार, कुसुमभोग, कांदाडोंगर और काकरय (कांकेर) आदि प्रदेश भी जगपाल ने जीतकर पृथ्वीदेव के राज्य का विस्तार किया था। जगपाल वास्तव में बड़ा शूरवीर था और मूलतः उत्तरप्रदेश के मिरजापुर जिले के दक्षिण में स्थित बड़हा नामक ग्राम का निवासी, जाति का राजमाल था।[४]

प्राचीन छत्तीसगढ़ का बहुत-सा भाग अपने राज्य में मिला लेने के बाद पृथ्वीदेव ने चक्रकोट (बस्तर) पर आक्रमण कर उसे नष्ट कर दिया। इसके बाद चोड़गंग द्वारा दक्षिण कोसल पर किये गये आक्रमण का बदला लेने के लिए उसने उसके राज्य कलिंग देश पर चढ़ाई की, पर इस बीच गंगवंशी राजा अनंतवर्मा की मृत्यु हो गई और उसका पुत्र जटेश्वर—मधुकामर्णव गंगवंश की राजगद्दी पर आसीन हुआ, पर अंत में पृथ्वीदेव द्वारा कैद कर लिया गया। इस युद्ध में तलहारि मण्डल (मल्लार) का माण्डलिक सामन्त ब्रह्मदेव ने बड़ी शूरता दिखाई थी। फलतः पृथ्वीदेव ने उससे संतुष्ट हो उसे राजधानी में बुला लिया और मंत्री का पद प्रदान किया।

---

१. सूर्य के एक पुत्र का नाम
२. उत्कीर्ण लेख, पृष्ठ ७२, बा० चं० जैन।
३. राजीव लोचन के मंदिर में प्राप्त शिलालेख।
४. पूर्वोक्त तथा छ० ग० परिचय, डा० बल्देव प्रसाद मिश्र।

द्वितीय पृथ्वीदेव ने भी अपने दो पूर्व पुरुषों के समान सोने और ताँबे के सिक्के चलाये थे।[1] उसके चलाये हुए बहुत ही छोटे आकार के चाँदी के कुछ सिक्के भी प्राप्त हुए हैं। पृथ्वीदेव तथा उसके सामंत वल्लभराज और ब्रह्मदेव ने कई देवालय बनवाये, सरसरोवर खुदवाये, बाग बगीचे लगवाये और अन्नसत्र स्थापित किये। पृथ्वीदेव के समय में किसी देवनाग ने सम्बा में एक मंदिर निर्माण कराया था। इस संबंध में प्राप्त शिलालेख में जिन स्थानों का उल्लेख है उनमें से मल्लाल (मल्लार), बरेलापुर (बरेला) और बम्हनी (अकलतरा के पास) बिलासपुर जिले में स्थित हैं। नारायणपुर रायपुर जिले में है।

द्वितीय जाजल्लदेव

द्वितीय पृथ्वीदेव के बाद द्वितीय जाजल्लदेव ने सन् ११६५ के लगभग राज्यारोहण किया। इसके समय में इसकी मूलशाखा के त्रिपुरी नरेश जयसिंह देव ने दक्षिण कोसल पर चढ़ाई की थी किन्तु जाजल्लदेव ने अपने सामंतों की सहायता से जयसिंह का प्रयत्न विफल कर दिया। इस युद्ध में, जो शिवरीनारायण के समीप हुई होगी, जाजल्लदेव का एक वीर सामन्त उल्हणदेव काम आ गया और उसकी तीनों रानियाँ सती हो गईं। शिवरीनारायण का चन्द्रचूड़ मंदिर इसी उल्हणदेव के द्वारा निर्माण कराया गया था। इसमें लगे लेख में कहा गया है कि उल्हणदेव की मृत्यु के बाद उसके पुत्र आमणदेव का लालन-पालन जाजल्लदेव ने निज पुत्र की भाँति किया था।

तत्कालीन एक उत्कीर्ण लेख (सन् ११६७) में थीरू द्वारा राजा जाजल्लदेव के पकड़े जाने का उल्लेख है।[2] रायबहादुर हीरालाल का मत है कि यह थीरू किसी जनजाति का सरदार था जिसने विद्रोह का झंडा फहराया था। डाक्टर भंडारकर का अनुमान है कि राजा को थीरू नामक यक्ष लग गया था पर महामहोपाध्याय मिराशी का ख्याल है कि थीरू नामक क्षत्रिय ने जाजल्लदेव को पकड़ लिया था। जो हो वास्तविकता क्या थी, पता नहीं चल सकता क्योंकि क्षत्रियों ने नामकरण करने की कोई प्रथा पाई नहीं जाती। परन्तु पशु पक्षियों के नाम अभी भी रक्खे जाते है। अस्तु, प्राण बचने की इस खुशी में जाजल्लदेव ने अपने ज्योतिषी राघव और पुरोहित नामदेव को बुंदेरा नामक ग्राम दान में दिया था। बुंदेरा वर्तमान बुंदेला हो सकता है जो अमोदा के निकट है। इस उत्कीर्ण ताम्रलेख के रचयिता जंडेर गांव के श्रीवास्तववंशी (कायस्थ) वत्सराज के पुत्र धर्मराज

---

१. कलचुरि नरेश और उनका काल, पृष्ठ ४१, मिराशी।

२. उत्कीर्ण लेख, पृष्ठ सत्ताईस और १२५।

थे। ताम्रलेख में उल्लिखित जंडेरगांव जोंधरा है जो बिलासपुर जिले के जांजगीर तहसील में है।[1]

द्वितीय जाजल्लदेव के राज्यकाल (सन् ११६७–६८) में सोमराज नामक एक ब्राह्मण ने मल्लार में केदारेश्वर महादेव का मंदिर निर्माणकराया था। यहाँ जो शिलालेख प्राप्त हुआ है उसमें जाजल्लदेव को तुम्माणाधिपति कहा गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि यद्यपि उस समय कलचुरियों की राजधानी रत्नपुर आ गई थी तथापि तुम्माण का महत्व अक्षुण्ण बना हुआ था।

जगद्देव (द्वितीय जाजल्लदेव का ज्येष्ठ बंधु)

द्वितीय जाजल्लदेव का राज्यकाल अल्पकालीन सन् ११६८ से ११७८ तक रहा होगा। उसकी मृत्यु के बाद दक्षिण कोसल में उपद्रव प्रारंभ हो गये। खरौद के शिलालेख में बताया गया है कि जब जाजल्लदेव का स्वर्गवास हुआ तब चारों ओर अंधकार छा गया और अव्यवस्था फैल गई। समाचार पाकर उसका ज्येष्ठ बंधु पूर्व देश से दौड़ा आया और उसने शांति और सुव्यवस्था स्थापित की। चोर उचक्के समाप्त हो गये तथा सभी प्रकार की विघ्न बाधाएँ लुप्त हो गईं, राज्य के शत्रु भाग खड़े हुए।[2]

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि ज्येष्ठ बंधु के रहते जाजल्लदेव कैसे और क्यों गद्दी पर बैठा। किन्तु खरौद के शिलालेख के संकेत से स्पष्ट है कि जगद्देव ने अपनी इच्छा से अपना अधिकार त्याग कर द्वितीय जाजल्लदेव को सिंहासन पर बिठाया था और स्वयं पूर्व दिशा में स्थित शत्रु गंग राजाओं को दबाने के लिए निकल पड़ा था किन्तु ज्योंही उसने भाई की मृत्यु और राज्य में अव्यवस्था फैलने का समाचार सुना, उससे रहा नहीं गया और तत्काल राज्य में लौट आया। उसके शासन की बागडोर हाथ में लेते ही सारी गड़बड़ियाँ समाप्त हो गई और शांति और संतोष का आलम छा गया। जगद्देव ने संभवतः ११६८-११७८ तक राजसत्ता अपने हाथों में रक्खी होगी।

तृतीय रत्नदेव

जगद्देव की रानी सोमल्लादेवी से जो पुत्र पैदा हुआ था उसे तृतीय रत्नदेव का नाम देकर राजगद्दी पर बिठाया गया। वह सन् ११७८ के लगभग सिंहासनारूढ़ हुआ होगा। उसका एक शिलालेख खरौद के लखनेश्वर मंदिर की दीवाल पर जड़ा हुआ है। ज्ञात होता है कि उसके राज्यकाल में जब अव्यवस्था

---

१. उत्कीर्ण लेख पृ० सत्ताईस और १२५।
२. खरौद में प्राप्त शिलालेख के आधार पर।

फैली, लोग दुर्भिक्ष से मरने लगे, हाथियों की सेना निर्बल हो गई और राजकोष खाली हो गया, तब रत्नदेव ने गंगाधर नामक एक विद्वान तथा कार्य-सक्षम ब्राह्मण को अपना मंत्री नियुक्त किया। उसने अपनी योग्यता के बल पर राज्य में सुव्यवस्था स्थापित की, शत्रुओं का नाश किया और प्राय: सभी रुकावटों को दूर कर राज्य में शांति स्थापित की। गंगाधर ने खरौद-स्थित लखनेश्वर मंदिर के सभा मंडप का जीर्णोद्धार कराया और अनेक देवालय निर्मित कराये उनमें से रत्नपुर के समीप एक टेकड़ी पर वीरादेवी का मंदिर है जिसे लोग अब लखमी-देवी का मंदिर कहने लगे हैं। तृतीय रत्नदेव ने लगभग बीस वर्ष राजशासन किया था।[1]

प्रतापमल्ल

तृतीय रत्नदेव के बाद उसका पुत्र प्रतापमल्ल सन् ११९८ के लगभग राज-सिंहासन पर बैठा। इसके दो ताम्रपत्र प्राप्त हुए हैं। इनमें से पहला ताम्रपत्र पेंडराबंध का है जो कलचुरि सं० ९६५ (सन् १२१८) और दूसरा ताम्रपत्र बिलाईगढ़ का है जो कलचुरि सं० ९६९ (सन् १२२२) में उत्कीर्ण किया गया था। प्रतापमल्ल के संबंध में बिलाईगढ़ के ताम्रपत्र में सूचित किया गया है कि वह बालक होने पर भी बल से दूसरा बलि है। प्रतापमल्ल के केवल ताँबे के सिक्के मिले हैं जिनपर सिह तथा कटार की आकृति खचित हैं। ये मुद्राएँ चक्राकार तथा षट्कोण हैं।[2]

प्रतापमल्ल के बाद

प्रतापमल्ल के बाद, कलचुरि राज्य से संबंधित प्रामाणिक ऐतिहासिक सामग्रियां सर्वथा अप्राप्य हो गई। सन् १२२२ और सन् १४९४ के बीच के न कोई ताम्रपत्र प्राप्त हुए और न कोई अन्य प्रशस्तियाँ या मुद्राएँ या शिलालेख मिलीं जिनसे टूटी हुई कड़ियाँ जोड़ी जा सकें। अलबत्ते रत्नपुर के दो प्रसिद्ध विद्वान बाबू रेवाराम कायस्थ तथा पं० शिवदत्तराय शास्त्री गौरहा के द्वारा लिखे गये हैहयवंशियों के हस्तलिखित इतिहास मिले हैं जिनकी प्रसंगानुसार चर्चा होती जायगी।

ऊपर लिखे अनुसार राजा प्रतापमल्ल के सन् १२२२ के ताम्रपत्र के पश्चात् राजा वाहरसाय के तीन उत्कीर्ण लेख प्राप्त हुए हैं। पहला लेख रत्नपुर के महामाया के मंदिर की दीवाल पर जड़ा हुआ है। इसमें उल्लिखित है कि राजा

१. लखनेश्वर मंदिर खरोद में प्राप्त शिलालेख।
२. कलचुरि नरेश और उनका काल, पृष्ठ ४२, मिराशी।

बाहरसाय ने सं० १५५२ वि० (सन् १४९५) में महामाया के मंदिर के सभागृह का जीर्णोद्धार कराया था। इसके सिवाय उन्होंने बहरैया तालाब भी खुदाया था। दूसरा लेख बिलासपुर जिले के छुरी (जो पहले जमीन्दारी थी) से ७ किलोमीटर पर स्थित कोसगंई के किले में प्राप्त हुआ था। इस लेख में कोई तिथि नहीं दी गई है। पर ऐसा लगता है कि कोसगंई में उसने दूसरी राजधानी स्थापित की थी जहां वह एक परम दृढ़ किले का निर्माण कर वहां अपना संपूर्ण कोश सुरक्षित रखकर निश्चित रहता था। इसका माधव नामक एक चतुर और वीर मंत्री था जो कोसगंई (वर्तमान कोसंगा) में शत्रुओं से लूटमार करने पर जो धन मिलता था सब भर देता था। उसने पठानों की भूमि छीन ली थी और उन्हें पराजित कर सोन नदी तक भगा दिया था तथा उनसे स्वर्ण, तथा अन्य धातु छीनकर ऊंटों पर लाद कर यहां भर दी थी। लूट में हाथी, घोड़े और संख्याहीन गाय और भैंसे मिली थीं। पर ये पठान कौन थे, पता नहीं चलता।[1]

तीसरा शिलालेख उपर्युक्त द्वितीय शिलालेख की पीठ पर उत्कीर्ण है। इस पर विक्रम सं० १५७० (सन् १५१३) की तिथि पड़ी हुई है। यह वस्तुतः एक दस्तावेज है जिससे यह विदित होता है कि राजा वाहरसाय ने कोसगंई किले का अधिपति घाटम्मदेव को नियुक्त कर वह किला उसे प्रदान कर दिया था और घाटम्मदेव ने इस प्रदत्तीकरण के स्मृतिस्वरूप यह शिलालेख उत्कीर्ण करा लिया था जब उसने उस किले का द्वारा निर्माण कराया था। घाटम्मदेव भी विभिन्न राजवंश का था और उसके अमात्य का नाम गोरक्ष था।

लेकिन हल करने के लिए एक प्रश्न रह जाता है कि प्रतापमल्ल के पश्चात् और वाहरसाय के बीच सन् १२२२ से १४९४ तक कलचुरियों के इस वंश की वंशावली क्या है? कोसगंई के द्वितीय शिलालेख में तो वाहरसाय के पूर्व केवल ६ राजाओं के नाम मिलते हैं:—१. सिंघण २. डंघीर ३. मदनब्रह्मा ४. रामचंद्र ५. रत्नसेन, फिर उसकी पत्नी गुण्डायी के गर्भ से उत्पन्न ६. बाहरसाय। तृतीय शिलालेख में उसकी कोई वंशावली नहीं है। लेकिन द्वितीय शिलालेख में राजा सिंघण से जो वंश आरंभ होता है, वह प्रतापमल्ल का ही पुत्र था-इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता।[2]

---

१. शिलालेख की प्रतिलिपि, उत्कीर्ण लेख पृष्ठ १३८।

२. शिलालेख के आधार पर।

रत्नपुर के प्रसिद्ध विद्वान बाबू रेवाराम कायस्थ के अनुसार प्रतापमल्ल-देव के बाद पीढ़ी दर पीढ़ी नीचे लिखे राजा रत्नपुर में हुए—

१. जयसिंह देव
२. धर्मसिंह देव (इसके राज्यकल में मुगल बादशाहों की प्रभुसत्ता में रत्नपुर-राज्य आ गया)
३. जगन्नाथ सिंह देव
४. वीरसिंह देव (इसके राज्यकाल में आपसी बंटवारा होकर रायपुर इलाका लहुरी शाखा को दी गई)
५. कमलदेव
६. शंकरसाय
७. मोहनसाय
८. दादूसाय
९. पुरुषोत्तम साय
१०. बाहरसाय (सन् १५४४ तक)[1]

रेवाराम बाबू ने अपने इतिहास में बाहरसाय का राज्य काल सं० १५८३ उल्लिखित किया है जबकि बाहरसाय के तृतीय शिलालेख में सं० १५७० उत्कीर्ण है जो निश्चय ही बाहरसाय के राज्यकाल के अंतर्गत आता है। और इस प्रकार इतिहास और शिलालेख के काल में समसामयिकता आ जाती है।

इधर रायपुर के कलचुरिवंश की एक शाखा जो रत्नपुर राज्य से ही चौदहवीं शताब्दि के अंतिम चरण मे अलग हुई थी और जिसने रायपुर को अपनी राजधानी बनाई थी, के दो शिलालेख प्राप्त हुए हैं जिनमें से एक में सं० १४५८ (सन् १४०२) और दूसरे में सं० १४७० (सन् १४१३) पड़े हुए हैं। इन शिलालेखों में दी हुई वंशावलियों से रायपुर के चार कलचुरि राजाओं के नाम ज्ञात होते हैं, १. लक्ष्मीदेव. २. सिंघण ३. रामचंद्र और ब्रह्मदेव। इन राजाओं में से प्रथम दो राजाओं के नाम जैसे नाम रतनपुर की वंशावली में भी मिलते हैं जो वहाँ के राजा बाहरसाय के पूर्वज थे। कुछ विद्वानों की राय में राजा सिंघण के डंघीर और रामचंद्र नामक दो पुत्र रहे होंगे। इनमें से डंघीर तो रत्नपुर के राजसिंहसन में बैठा होगा और दूसरा रामचंद्र ने रायपुर नगर बसाकर उसे अपने राजधानी बनाई होगी। लेकिन कोसंगई वाले शिला लेख में डंघीर के बाद मदनब्रह्म राजा हुआ था और मदनब्रह्म के बाद रामचंद्र,

---

१. रतनपुर का इतिहास, (पांडुलिपि) रेवाराम।

फिर रामचंद्र का पुत्र रत्नसेन हुआ और इसी की पत्नी से बाहरसाय का जन्म हुआ। इससे रामचंद्र की वंशावली ही रत्नपुर में राज्य करते पाई जाती है। अतएव इस निष्कर्ष से संतोष नहीं होता। उपर्युक्त नामों में से ३ नाम (हम्मीर, मदन ब्रह्मा और रत्नसेन की खोज) सर्वप्रथम पं० लोचन प्रसाद पाण्डेय ने की थी। पाण्डेयजी द्वारा उल्लिखित नाम हम्बीर संभवतः डंघीर हो॥[1]

कुछ रतनपुरीय विद्वानों का मत है कि जैसे उज्जैन के राजा ने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की थी या मगध के राजाओं ने राज्यारोहण करते समय या किसी महत्वपूर्ण विजय के समय जो उपाधि धारण कर ली थी वे उसी उपाधि-स्वरूप नाम से प्रसिद्धि पाते थे। यही हाल रत्नपुर के राजाओं का रहा होगा अन्यथा रत्नदेव, पृथ्वीदेव, जाजल्लदेव जैसे नाम प्रायः नहीं रखे जाते थे। ये नाम उपाधिमात्र थे जिससे ये प्रसिद्ध हुए। उनका कथन है कि संभवतः यही पद्धति बहुत समय तक जारी रही होगी जो कालांतर में किसी राजा के पुरुषार्थ बता न सकने के कारण उसे न दी गई होगी और इस प्रकार यह उपाधि धारण की प्रथा समाप्त हो गई होगी जब इनकी प्रभुता क्षीण होने लगी और उत्तर में पठान या मुगलों की प्रभुसत्ता विस्तृत हो गई। इसका समर्थन रेवाराम बाबू के इतिहासमें भी मिलता है जब सं० १३९० सन् (१३३३) रत्नपुर के राज्य की व्यवस्था में भी अंतर आ गया। रेवाराम बाबू के शब्दों में ही इसका वर्णन सुनिये—

"यही जमाने में (सं० १३९०) हिन्दू बादसाही गारद हो के यमनवंश बादशाह हुये। कायदा पुराना जो कि राजाओं के चला आता था सो बुर्द होकर दूसरे कायदे और मुल्कों के बइन्साफ आलिपनाह पुरनूर जनाब खुदाय दान हजरत आलीसान बखुदाय बादशाह तख्तनशीन की बंदोबस्त की गई।"[2]

कोसगंई और रायपुर के शिलालेखों में कुछ नामों में साम्यता का पाया जाना एक संयोगमात्र भी हो सकता है। रायपुर के कलचुरियों की वंशावली कब शुरू हुई इसकी जानकारी आगे चलकर मिलेगी। प्रतापमल्ल के बाद रत्नपुर के हैहयवंशियों के इतिहास से संबंधित रेवाराम बाबू तथा शिवदत्त राय शास्त्री गौरहा के इतिहास तथा बाहरसाय के तीन शिलालेखों को छोड़कर अन्य दस्तावेज मिले ही नहीं हैं जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है अतएव अब उपर्युक्त दोनों विद्वानों के द्वारा लिखे गये इतिहास के सहारे रत्नपुर के कलचुरि राजाओं का विवरण नीचे दिया जाता है—

---

१. लोचन प्रसाद पाण्डेय की जीवनी पृष्ठ १२५, लेखक कृत।

२. रतनपुर का इतिहास हस्त लिखित, ले० रेवाराम।

कल्याणसाय

बाहरसाय के बाद राजा कल्याणसाय गद्दी पर आसीन हुआ । इसने किले में श्री जगन्नाथ स्वामी के मंदिर की स्थापना की । इसका राज्यकाल लगभग सन् १५४४ से सन् १५८१ तक पाया जाता है। इसे आठ वर्षों तक मुगल बादशाह जहाँगीर की राजधानी दिल्ली में रहना पड़ा था। इसके संबंध में जहाँगीरनामा में जो उल्लेख है वह इस प्रकार है--

Memoirs of Jahangir by Rodgers and Beveridge Vol. II. On Saturday, the 25th Khurdad, Hizri 1028. My son Sultan Parvez came from Allahabad and with presentation at the threshold of the Khalife, illuminated the forehed of Stuarety. After he had performed the ceremoney of kissing the ground and been honoured with special favour, I bade him sit. He presented 2000 Mohars and 2000 rupees by way of Nazar and made an offering of a diamond. As his elephants had not yet arrived , he would produce them another occasion. He had brought with him to the court which is the asylam of the world, Raja Kalyan, Zamindar of Ratanpur, against whom, this my son, had, by order sent an army and had taken from him an offering of 80 elephants and Rupees one lac. My son brought him with him and he had the good fortune to kiss the threshold.[1]

उपर्युक्त लेख में राजा कल्याण साय को रतनपुर का जमीन्दार बताया गया है जिसे जहाँगीर के पुत्र परवेज ने सेना भेजकर पकड़ मंगवाया था और जहाँगीर के सामने पेश किया था ।

रेवाराम बाबू के इतिहास से ज्ञात होता है कि राजा कल्याणसाय को दिल्ली में आठ वर्ष तक रहना पड़ा था। उसके बाद उन्हें "खिल्लत पायदारी साथ निशान व मोरपंखी आफताबी खिताब मुल्कम सूरकारी कान्ह धनुर्धर की मिली, साथ मानदान बिदा हुजूरवाला से बमुरातवे वतन मुल्क रियासत सहर सं० १६२८ में लालपुर (रतनपुर का मुहल्ला) आबाद किये ।"[2]

---

१. मेमाअर्स आफ् जहाँगीर

२. रतनपुर का इतिहास अप्रकाशित ले० रेवाराम बाबू ।

शिवदत्त शास्त्री ने कल्याणसाय के बारे में लिखा है—"वह गोपालराय[1] के प्रताप से फिरे, टकोरी माफ भये।"

राजा कल्याणसाय के पश्चात् निम्नलिखित राजाओं के नाम पाये जाते हैं:—

लक्ष्मणसाय	सन् १५८१
शंकरसाय	सन् १५९६
त्रिभुवनसाय	सन् १६२२
जगमोहनसाय	सन् १६३५
अदलीसाय	सन् १६४९
रणजीतसाय	सन् १६७५
तखतसिंह	सन् १६८९

तखतसिंह का बसाया तखतपुर ग्राम था जो आज बिलासपुर जिले में एक बड़ा कसबा बन गया है तथा अनाज के व्यापार का केन्द्र है। तखतसिंह के तीन भाई थे १. सिरदारसिंह २. बख्तसिंह और ३. रघुनाथ-सिंह। तखतसिंह के पश्चात् उसका पुत्र राजसिंह गद्दी पर बैठा। पं० शिवदत्त राय शास्त्री गौरहा ने अपने अप्रकाशित ग्रंथ "रत्नपुर इतिहास समुच्चय" में राजा राजसिंह की जन्म-कथा के संबंध में जो लिखा है वह इस प्रकार है—"तखतसिंह तखतपुर बसाये, उसके दीवान बड़गैया ब्राह्मण थे। तखतसिंह पुत्र विहीन थे, अतएव उन्होंने शास्त्र देखकर और द्रव्य देकर बड़गैया ब्राह्मण दीवान से अपनी स्त्री का नियोग कराया। इसमें कोई दोष नहीं है। तब जो पुत्र उत्पन्न हुआ उसका नाम राजसिंह था। राजसिंह रत्नपुर के समीप राजपुर को बसा कर वहीं निवास करने लगे जो अब जूनाशहर कहलाता है। राजसिंह के पुत्र विश्वनाथसिंह राजा होने के पूर्व ही मर गये। तब राजसिंह दुखी होकर राजपुर छोड़कर रतनपुर बस्ती में रहने लगे। पीछे उन्हें जब यह मालूम हुआ कि बड़गैया ब्राह्मण के वीर्य से पैदा हुए हैं तब उन्हें बड़ा दुख हुआ और उन्होंने बड़गैया के जौहर करा दिया।"

---

१. शिवदत्त शास्त्री का 'इतिहास समुच्चय' अप्रकाशित।

गोपालराय जो गोपल्लावीर कहाता था, राजा कल्याणसाय को जहांगीर बादशाह के दरबार की हाजिरी से मुक्त दिलाने के हेतु दिल्ली गया और वहां उसे अपनी पहलवानी के करतब दिखाकर अपने राजा को केवल वापस ही नहीं लाया वरन टकोली भी माफ करा ली और खिल्लत आदि दिलवाकर उसका मान-मर्तबा भी बढ़वाया।

जौहर करा दिया का अर्थ लिया जाता है कि उनके घरद्वार में आग लगवा दिया। बिलासपुर जिले में अभी भी बड़गैंया ब्राह्मणों की बस्ती है और उनके एक घराना को अभी भी "देवान" कहा जाता है।

रेवाराम बाबू अपने इतिहास में लिखते हैं—"राजसिंह बड़े प्रतापी नामवर राजा हुए, दानपुण्य अपने हद भर किये, मुल्क आबाद किये।" रतनपुर के प्रसिद्ध कवि गोपल मिश्र का नीति परक "खूब तामाशा" ग्रंथ जो राजसिंह की प्रेरणा से ही लिखा गया था, प्रसिद्ध है। राजसिंह का देहावसान सन् १७१२ में हुआ। राजसिंह का पुत्र विश्वनाथसिंह का पहले ही निधन हो चुका था, फलतः उसने अपने काका "सिरदार सिंह" को गद्दी सौंप दी।

राजा सिरदारसिंह ने सन् १७३२ तक राज्य किया। राजा सिरदारसिंह भी निष्पुत्र था, अतः उसके छोटेभाई रघुनाथसिंह गद्दीनशीन हुआ जिसकी आयु उस समय ६० वर्ष की थी।

इस समय तक रत्नपुर राज्य बहुत निर्बल हो चुका था। उसके आधीनस्थ गढ़ाधिपतिगण राजा का खुल्लमखुल्ला विरोध करने लग गये थे। यहाँ तक कि जिन भूमिखंडों पर स्वयं राजा का अधिकार था, उन्हें भी वे दबा बैठे थे। छुरी और पंडरिया के जमीनदारों ने ऐसी बहुत सी जमीन दबा ली थी। गोंड, कंवर और बिंझवारों तथा अन्य कई जातियों ने हैहयवंशी—राज्यकाल के प्रारंभ में जो भूमिखंड प्राप्त कर निष्ठावान बने हुए थे वे ही अब परीक्षा की घड़ी आने पर केवल कोरा उत्तर ही नहीं दिया प्रत्युत विरोध करने के लिए खड़े हो गये।

जब राज्य ऐसी परिस्थिति के बीच गुजर रहा था, सन् १७४० के अंतिम चरण में नागपुर के भोंसला राज्य के सेनापति भास्कर पंत ने छ० ग० पर चढ़ाई कर दी। इस समय राजधानी रत्नपुर में राजा रघुनाथसिंह अपने एकलौते पुत्र की मृत्यु से बड़ा दुःखी था और लगभग १ वर्ष से राजकाज की ओर ध्यान देना छोड़ दिया था। "दूबर को दो अषाढ़" एक तो योंही निर्बल प्रकृति का मनुष्य, फिर बुढ़ापा और ऊपर से पुत्र शोक। उसने राज्य को बचाने के हेतु कोई प्रयत्न नहीं किया। भास्करपंत ने तोप द्वारा किले का एक हिस्सा उड़ा दिया, फिर भी चुप। आखिर रानियों ने बुर्ज पर सफेद झंडा दिखाकर युद्ध बंद करा दिया। किले के फाटक खोल दिये गये। सेना भीतर घुस आई। राजधानी पर भोंसलों का कब्जा हो गया। इस प्रकार प्रबल प्रतापशाली हैहयवंशी (कलचुरि) राज्य का अंत हो गया।

८

लहुरीशाखा (खलारी और रायपुर का कलचुरिवंश)

रेवाराम बाबू के इतिहास के अनुसार ईसा की १५ वीं सदी में रतनपुर के कलचुरि (हैहयवंशी) राजा जगन्नाथसिंह के दो पुत्र हुए १. वीरसिंगदेव और २. देवसिंगदेव। ज्येष्ठपुत्र होने के कारण वीरसिंगदेव को तो रत्नपुर की राजगद्दी मिली और उसके वंशज पीढ़ीदर पीढ़ी रतनपुर के राजा होते गये। इसी समय राज्य का बंटवारा कर दिया गया और छोटे भाई देवनाथसिंह को रायपुर-राज्य (शिवनाथ नदी का दक्षिण भाग) दिया गया। इस संबंध में रेवाराम बाबू ने जो अपने इतिहास में लिखा है वह इस प्रकार है। भाषा १८ वीं सदी की है—

"राजा वीरसिंह तख्त रतनपुर राज्य के मालिक, माँ बाप ऊपर लिखे मुताबिक, रानी कनकदेवी चौहान पटनावाले बैजल देव की बेटी, बेटा राजा कमलदेव, राज्य ३६ वर्ष किये। कलयुगी ४५०८, सं० १४६४ (सं० १४३७ तक। दरम्यान भाई देवनाथसिंग सैन्यापति तख्त ब्रह्मदेव राजा के सहर रायपुर हिस्सा आपुस के कर दिया गया। (याने आपसी बंटवारा) खिल्लत बवरियाफ्त वंश परम्परा वक्त बंदोबस्त बादसाही के कायदे २ अव्वल १ तख्त रतनपुर बड़ाभाई के कब्जे में, तख्त दोयम रायपुर छोटाभाई देवनाथसिंह देव, रानी धोपादेवी राजा गंगवंशी सोमदेव के बेटी, इनके पुत्र १ राजा केशवदेव के बंशावली राजा रायपुर के हाजिरहाल सं० १४२० से बयान जुदा है परंतु संक्षेप में यहाँ लिखा गया।"

किन्तु रायपुर में सं० १४५८ और खलारी में संवत् १४७१ विक्रम के जो शिलालेख प्राप्त हुए हैं उनमें राय या हरि ब्रह्म देव को रायपुर का राजा बताया गया है। इन शिलालेखों तथा रेवाराम बाबू के इतिहास पर से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि रत्नपुर के कलचुरि राजवंश में आपसी झगड़े शुरू हो

---

१. रेवाराम बाबू का रतनपुर का इतिहास (पांडुलिपि)।

गये थे और उसी वंश का कोई भाई, भतीजा या चाचा लक्ष्मीदेव रायपुर में आकर जम गया था। फिर लक्ष्मीदेव का पुत्र सिंघण हुआ जिसे सं० १४७१ के शिलालेख में शत्रुओं के १८ गढ़ जीत लेने का यश प्रदान किया गया है। सिंघण का पुत्र रामचंद्र हुआ जिसे इस शिलालेख में रामदेव कहा गया है। रामदेव का पुत्र ब्रह्मदेव हुआ। इसी ब्रह्मदेव को दोनों शिलालेखों में राजा ब्रह्मदेव कहा गया है जबकि रेवाराम बाबू इन्हें अपने इतिहास में "सैन्यपति तख्त ब्रह्मदेव राजा के सहर रायपुर" कहते हैं। सिवाय इसके सं० १४५८ वि० के शिलालेख में लेखक कहता है—"ब्रह्मदेव के पूर्वजों के क्या नाम थे, यह कौन बता सकता है और ब्रह्मदेव के वंश को तो बड़े-बड़े जानते हैं।" ये सब बातें भ्रमपूर्ण और टालमटोल की ओर संकेत करती हैं यद्यपि कुछ विद्वान इन्हें प्रशंसात्मक वाक्य समझते हैं।[1] सिवाय इसके लक्ष्मीदेव—पुत्र सिंहण—पुत्र रामचंद्र उर्फ राम-देव—पुत्र ब्रह्मदेव पुत्र हाजिराज इन सब का पता न तो पीढ़ी दर पीढ़ी चलने वाले रत्नपुर राजवंश और न रायपुर राजवंश में चलता है। ऐसा लगता है कि ब्रह्मदेव इस राजकुल का तो होगा पर पीढ़ी दर पीढ़ी आने वाली वंश परम्परा में वह नहीं था। इसके समय में संपूर्ण छ० ग० राज्य का कलचुरियों द्वारा पक्का बंटवारा हो गया होगा और देवनाथसिंह के पुत्र केशवदेव को रायपुर की गद्दी और विवाद मिटाने के लिए लक्ष्मीदेव के वंशज को खाल्वाटिका (खलत्री, अब खलारी) का क्षेत्र दे दिया गया होगा। अन्यथा ब्रह्मदेव के शिलालेख में खल्वाटिका को मुख्य राजधानी बताने की जरूरत क्या थी। इसके बाद खलारी में राजधानी बने रहने का पता नहीं चलता। इधर रायपुर राज्य में केशवदेव की पीढ़ी ही राज्य करती चली आई। आश्चर्य नहीं कि खलारी वाली पीढ़ी हाजिराज के बाद खतम हो गई हो और वह राज्य भी रायपुर राज्य में मिला लिया गया हो। खलारी में ब्रह्मदेव के समय में देवपाल मोची द्वारा निर्माण कराया गया नारायण का मंदिर है पर वह शिल्प-कला शून्य है।

एक और भ्रमोत्पादक बात सुनिये सं० १४५८ के शिलालेख में उत्कीर्ण है—कि राय ब्रह्मदेव के राज्यकाल में नायक हाजिराजदेव ने रायपुर में हाट-केश्वर मंदिर का निर्माण कराया। फिर १७वें श्लोक में हाजिराज की वंशावली प्रारंभ होती है। और इस नायक हाजिराज के पिता का नाम भी ब्रह्मदेव था जो राजा का नाम भी था। अब हम हाजिराज की वंशावली सुनिये। नायक हाजि-राज—पुत्र दो—१. पद्मनाभ और २. पाहिदेव, पद्मनाभ का पुत्र कान्हड़ और

---

१. उत्कीर्ण शिलालेख पृष्ट १४७।

पाहिदेव का पुत्र शिवशर्मा। अब ये शर्मा कहाँ से आ गये जो ब्राह्मणों की पदवी है। नायक तो बंजारा किस्म की जाति को कहते हैं। इसी शिलालेख में हाजि-राज का "महात्मा" के नाम से भी बखान किया गया है। सं० १४७१ के शिला-लेख में उल्लिखित वंशावली में हाजिराज का नाम दिया ही नहीं गया है। कमता है कि यहाँ वंशविधान में कुछ तो भी गड़बड़ी है।

अब वंशावली के संबंध में रेवाराम बाबू के इतिहास में दी गई पीढ़ी का सूत्र पकड़ कर चला जाय—गजेटियर में यह पीढ़ी सूची इस प्रकार है—

नाम राजा	राज्यकाल की अवधि की समाप्ति
१. केशवदेव (पिता देवनाथसिंह)	सन् १४०७ से १४३७
२. भुवनेश्वरदेव	„ १४३८
३. मानसिंगदेव	„ १४६३
४. संतोषसिंगदेव	„ १४७८
५. सूरतसिंगदेव	„ १४६८
६. सन्मानसिंगदेव	„ १५१८
७. चामुंडसिंगदेव	„ १५२८
८. बंशीसिंगदेव	„ १५६३
९. धनसिंगदेव	„ १५८२
१०. जैतसिंगदेव	„ १६०३
११. फतेसिंगदेव	„ १६१५
१२. यादवसिंगदेव	„ १६३२
१३. सोमदत्त	„ १६५०
१४. बल्देवसिंगदेव	„ १६६३
१५. उमेदसिंगदेव	„ १६८५ (मेरसिंग—रेवाराम)
१६. बनबीरसिंहदेव	„ १७०५ (बरियार सिंह—रेवाराम)
१७. अमरसिंगदेव	„ १७४१ से १७५०
१८. शिवराजसिंगदेव	० (नवरातसिंह—रेवाराम)

रेवाराम बाबू के इतिहास में उपर्युक्त क्रमसंख्या १५ पर उमेदसिंग के नाम के बजाय मेरसिंग का नाम है और क्र० सं० १६ में बरियारसिंग का नाम है। और सं० १८ में—शिवराजसिंग के बजाय नवरातसिंग का नाम है जिसका मुकाम राजनांदगांव इलाका रायपुर उल्लिखित है। एक बात और। सं० १७४५ में रत्नपुर—राज्य के राजा तख्तसिंह ने रायपुर—राज्य के राजा मेरसिंह के नाम पर ही पत्र लिखा था जो इस पुस्तक में अन्यत्र दिया गया है।

राजा अमरसिंह का एक ताम्रपत्र सं० १७९२ वि० (सन् १७३५) आरंग (जिला रायपुर) में पाया गया है जिसके द्वारा राजा अमरसिंह ने नंदू ठाकुर को कुछ रियायतें बख्शी थीं।

भोंसलों ने छत्तीसगढ़ पर जब सन् १७४१ में चढ़ाई की तब न उन्होंने और न उसके बाद भोंसलों के पिट्ठू राजा मोहनसिंग ने राजा अमरसिंग से कोई छेड़-छाड़ की पर बकरी की मां कब तक खैर मनाती। आखिरकार सन् १७५० में उससे उसका राज्य छीन लिया गया और रायपुर, राजिम और पाटन का इलाका उसे दिया गया और ७००० रु० वार्षिक टकौली बांध दी गई। सन् १७५३ में राजा अमरसिंग का देहांत हो गया। उस समय उसका पुत्र शिवराजसिंग तीर्थयात्रा पर था। फलतः उपर्युक्त इलाके भी उसके लौटने के पहले जब्त कर लिये गये। बाद में जब बिम्बाजी भोंसले छत्तीसगढ़ के राजा हुए तब महासमुंद तहसील में स्थित एक ग्राम "बड़गांव" उसे माफी में दे दिया गया और यह भी अधिकार दिया गया कि वह जिले के प्रत्येक गांव से एक-एक रुपया परवरिश के लिए वसूल कर लिया करे।

इतिहास-२

१. मराठा राज शासन

१

मराठा राज शासन

छत्तीसगढ़ पर मराठों की शुरू से नजर थी—लालच भरी हुई। वन-पहाड़ों से आच्छादित यह अंचल यद्यपि यथेष्ठ रूप से धनी नहीं समझा जाता था पर धान तथा वनोपज ने इसे लुभावना बना दिया है। इसका नाम "धान का कटोरा", यों ही नहीं रक्खा गया है। उस समय इसकी अधिकांश प्रजा आदिवासी थी जो अपनी निष्कपटता और भोलेपन के कारण सहज ही वश में हो जाने वाली समझी जाती थी। सिवाय इसके यह उड़ीसा और बंगाल के लिए प्रवेशमार्ग भी था। अतएव मराठे केवल अवसर ढूंढ़ रहे थे कि कब इस पर चढ़ाई की जाये और इसे अधिकार में लिया जाये ताकि आगे बढ़ने में सुविधा हो। और ऐसा हुआ भी।

इस समय हैहयवंशियों, जिन्हें कलचुरि या चेद भी कहा जाता है, का भाग्य-सूर्य छत्तीसगढ़-राज्य के गगन से अस्ताचल की ओर गमन कर रहा था। लगभग ७०० वर्ष राज्य करने के बाद इस वंश के अंतिम राजा रघुनाथसिंह को राजगद्दी पर बैठे केवल आठ वर्ष हुए थे कि नागपुर के रघुजीराव भोंसले ने उड़ीसा और बंगाल पर चढ़ाई करने की योजना बनाई और सन् १७४२ में अपने सेनापति भास्कर पंत को लगभग तीस हजार सैन्य साथ देकर अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए रवाना किया। मराठों की सेना लूटमार करने में प्रसिद्ध थी ही। भास्कर पंत ने सेना सहित बुंदेलखंड होते पेंडरा की ओर से छ० ग० में प्रवेश किया और ससैन्य रतनपुर पहुँचा तथा बिना प्रयास उसे अपने अधिकार में ले लिया।[1]

वास्तविकता यह थी कि राजा रघुनाथ सिंह उस समय वयोवृद्ध हो चुके थे। साठ वर्ष की आयु में तो इन्हें गद्दी मिली थी। आठ वर्ष और बीत गये इतने में इनके एकमात्र पुत्र की मृत्यु हो गई। ये अत्यन्त शोक संतप्त हो गये,

---

१. बिलासपुर जिले का गजेटियर तथा काशीराव गुप्ते कृत 'भोंसला घराना' १८१८ ई०।

लगभग एक वर्ष से राजकाज तक देखना छोड़ दिया था। एक तो यों ही निर्बल-हृदयी, उस पर बुढ़ापा, फिर पुत्र शोक। इसने राज्य की रक्षा का कोई प्रयत्न नहीं किया। इधर भास्कर पंत ने तोप द्वारा किले का एक अंग उड़ा दिया। रघुनाथ सिंह की दो रानियाँ थीं। पहली लक्ष्मण कुंवर और दूसरी पद्मकुंवर, जो बस्तर नरेश भुवनेश्वर देव की पुत्री थी।[1] आखिर इन दोनों ने आपस में सलाह कर किले के बुर्ज से सफेद झंडा दिखाकर लड़ाई बंद करा दी। किले के फाटक खोल दिये गये। सेना भीतर घुस आई। राजधानी पर मराठों का अधिकार हो गया। इस प्रकार प्रबल प्रतापी हैहयवंश राज्य का छ० ग० में अंत हो गया।

लगता है—राज्य के प्रायः सभी मुख्य पदों और स्थानों पर एक ही वंश के लोगों की नियुक्ति होने से कुछ बातें जरूर अच्छी होती हैं, पर समय बीत जाने पर ये वंशज-अधिकारी अपने को राज कर्मचारी नहीं, बल्कि राजा का एक अंग समझने लगते हैं। हैहयवंशी राजाओं की हुकूमत में लगभग १७वीं-१८वी शताब्दी से शनैःशनैः निर्बलता आती गई और इनकी शाखाएं प्रबल होती गई। और एक समय ऐसा आया कि गढ़ों के गढ़ाधिपतिगण ही नहीं प्रत्युत उनके आधीनस्थ बारह गांव के अधिकारी, जिन्हें बरहों या दाऊ कहते थे, एक दूसरे से स्वतत्र बन बैठे। अपने सदर मुकामों को उन्होंने दृढ़ बना लिया। कुछ सेना भी रखने लगे और अपने अधिकारियों को लगान देना बंद कर दिया। राजा कल्याणसाय के पश्चात् से ही राजशासन में ऐसी निर्बलता आरंभ हुई थी।

ऐसे वातावरण की मौजूदगी में भी, ऐसा लगता है कि यदि राजा रघुनाथ सिंह कमर कसकर छ० ग० के विभिन्न गढ़ों में बिखरी हुई सेनाएँ एकत्र करते और भास्कर पंत का मुकाबला डटकर करते तो आश्चर्य नहीं कि पासा पलट जाता। लेकिन इस प्रकार के प्रतिकार का कोई प्रयत्न ही नहीं हुआ। न तो रत्नपुर के अधीनस्थ गढ़ाधिपतियों ने और न रत्नपुर राज्य की प्रजा ने राज्य को शत्रुओं के हाथ से बचाने के लिए प्रयत्न किया, फलतः भास्कर पंत का साहस बढ़ गया।

भास्कर पंत ने रतनपुर से एक लाख रुपया वसूल किया तथा सारा राजकोष एवं तोशकखाना हड़प लिया। राजा रघुनाथसिंह पर उसने इतनी कृपा दिखाई कि उसे नाममात्र का राजा बने रहने दिया और कल्याणगिरि गुसाई को अपना प्रतिनिधि नियुक्त कर वहां से रवाना हो गया। उसका प्रधान लक्ष्य उड़ीसा-बंगाल

---

१. रेवाराम का रतनपुर का इतिहास (अप्रकाशित)।

पर चढ़ाई करना था। इधर राजा रघुनाथ सिंह और कल्याणगिरि से पटरी नहीं बैठी। फल यह हुआ कि भास्कर पंत के पीठ फेरने के कुछ समय पश्चात् ही राजा ने कल्याणगिरि को निकाल बाहर किया। पर वह स्वयं भी राजसुख बहुत दिनों तक नहीं भोगने पाया, जब मोहन सिंह, जिसे रघुनाथसिंह के बड़े भाई राजसिंह अपनी मृत्यु के पश्चात् छ० ग० के राजसिंहासन पर बिठाना चाहते थे, आ पहुँचा और बिना प्रयास गद्दी पर अपना अधिकार जमा लिया।

मोहनसिंह कौन था ?

मोहनसिंह कौन था, इस संबंध में कई प्रकार की किंवदंतियां प्रचलित थीं। कोई तो उसे हैहयवंशियों की रायपुर-शाखा का जन बताया था[१] और कोई उसे रघुजी भोंसला का दासी पुत्र कहता था। रतनपुर के प्रसिद्ध विद्वान बाबू रेवाराम कायस्थ, जिन्होंने सन् १८५८ में रतनपुर का इतिहास लिखा था, लिखते हैं—

"राजा मोहनसिंह कौम राजपूत था—हैहयवंशी। यह राज्य रत्नपुर में वास्ते हिस्सा लेने, बखेड़ा करके क्षत्री से भोंसला हो गया था। इसे इसीलिए परवरिश के लिए रत्नपुर के राजगद्दी पर बिठा दिया गया।"[२] जो हो, वास्तविकता यह जान पड़ती है कि राजा राजसिंह की इच्छानुसार मोहनसिंह रतनपुर की राजगद्दी पर नहीं बैठ सका, क्योंकि वह राजसिंह की मृत्यु के समय उपस्थित नहीं था। परिणाम यह हुआ कि राजसिंह ने विवश होकर मृत्यु के समय भाई सिरदारसिंह को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया और सिरदारसिंह के पश्चात् उसके नि:संतान होने के कारण भाई रघुनाथसिंह को गद्दी मिली। भास्करपंत की चढ़ाई के समय मोहनसिंह फिर भी गैरहाजिर था जिससे उसके संबंध में कुछ विचार ही नहीं हो सका। मोहनसिंह इन घटनाओं से बड़ा दुखी था। उसने तब प्रतिज्ञा की कि वह रतनपुर राज्य की गद्दी लेकर ही विराम लेगा।[३] अपने लक्ष्य पर पहुंचने के लिए पहले तो उसने बलवा मचाने का प्रयत्न किया, लेकिन जब उसे इसमें सफलता नहीं मिली, तब नागपुर चला गया और वहां के राजा रघुजी प्रथम की सेवकाई ग्रहण कर ली। धीरे-धीरे रघुजी उसे बहुत चाहने लगे और बंगाल की चढ़ाई में अपने साथ ले लिया। सन् १७४५ में जब रघुजी बंगाल पर आक्रमण करने फिर जाने लगे तब उसने रींवा होकर रत्नपुर पर फिर चढ़ाई की और रघुनाथसिंह को गद्दी से उतार कर मोहनसिंह का राज्यतिलक कर दिया।

---

१. चीजम की सेटलमेंट रिपोर्ट सन् १८६८, कंडिका ६१।
२. रेवाराम बाबू का रतनपुर का इतिहास।
३. रायपुर जिले का गजेटियर, पृष्ट ५४।

तबसे मोहनसिंह सन् १७५८ तक छ० ग० का राज शासन करता रहा। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि उसे स्वतंत्र राजा के संपूर्ण अधिकार प्राप्त थे। वह किसी हद तक राजा मात्र था और उसे भोंसलों के संकेतानुसार चलना पड़ता था। एक बात उल्लेखनीय है कि राजसिंह, सरदारसिंह और रघुनाथसिंह तीनों भाई थे और ये तीनों ही रतनपुर के राजसिंहासन पर आसीन हुए थे लेकिन भोंसलों के इतिहास में मोहनसिंह का कोई जिक्र नहीं है।

भोंसले कौन थे ?

भोंसला-वंश की उत्पत्ति चित्तौड़ के सिसोदिया-वंश से है, यह तथ्य प्रायः सभी विद्वानों एवं स्वयं भोंसलों ने स्वीकार किया है। राजस्थान के इतिहासकारों ने भी इसका समर्थन किया है। पर मारवाड़ के प्रसिद्ध कविराजा मुरारीदीन इससे सहमत नहीं थे। इधर "बीर-विनोद" नामक एक वृहदग्रंथ[1] के लेखक महामहोपाध्याय कविवर शामलदास ने लिखा है कि मेवाड़ के महाराणा अजयसिंह ने अपने बड़े भाई अरिसिंह के पुत्र हमीरसिंह को राज्य का उत्तराधिकारी बनाया, जिससे उसके पुत्र सज्जनसिंह और क्षेमसिंह नाराज होकर दक्षिण की ओर चले गये, जिनके वंशज भोसले कहलाते हैं और जिनमें सतारा, कोल्हापुर, तंजावर, नागपुर तथा सावंतवाड़ी के राजवंश प्रमुख है। मराठी इतिहासकारों ने लिखा है कि चित्तौड़ त्याग देने पर इस सिसोदिया शाखा ने "भोंसे" या "भोंसवत" नामक ग्राम में अपनी बस्ती कायम की, अतएव ये भोंसले कहलाये। अधिकांश प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि भोंसलों के आदि पुरुष चित्तौड़ के सिसोदिया वंशी राजपूत ही थे।

प्रसिद्ध मराठावीर छत्रपति शिवाजी इसी भोंसले वंश में पैदा हुए थे। नागपुर के भोंसलों का विस्तृत इतिहास परसोजी भोंसला से आरंभ होता है। परसोजी शिवाजी के प्रपितामह बाबाजी के भाई थे। बाबाजी से सतारा के भोंसलों का वंश चला और परसोजी से नागपुर के भोंसलों का। शिवाजी के परम शक्तिशाली होते जाने के साथ ही साथ सन् १६४१ के बीच मराठों के हृदय में ऐसी लालसा उत्पन्न हुई कि सारे भारतवर्ष में मराठों का सार्वभौमिक एकछत्र स्वराज्य स्थापित हो जाय और उसे "हिन्दू पद पादशाही" संज्ञा दी जाय। इसी भावना से प्रेरित होकर मराठों ने शिवाजी को "छत्रपति" के अलंकार से विभूषित किया।[2] मराठों के अरमान इतने बढ़े-चढ़े हुए थे कि भारत के उन खंडों पर भी जो

१. बीर विनोद, शामलदास।

२. हिस्ट्री आफ मराठा १८२६—ग्रांट डफ।

उनके अधिकार में नहीं आये थे, अधिकार संपन्नता दिखाई जाने लगी और उन खंडों के निवासियों तथा राजाओं से "चौथ" वसूल करने का हक सौंपा जाने लगा। मंशा यह थी कि यह सनद लो और जाओ, लड़ो तथा उस प्रदेश को कब्जे में लेकर छत्रपति के राज्य में शामिल कर दो तथा प्रदत्त अधिकार का उपभोग करो।

शिवाजी की सेना में साबाजी भोंसला एक साधारण दर्जे का सैनिक था, पर था बड़ा शूरवीर और आज्ञाकारी। सिवाय इसके वह शिवाजी के वंश की एक शाखा का प्रतिनिधित्व भी करता था जैसा कि ऊपर लिखा गया है तथा परसोजी का भाई भी था। यही परसोजी आगे चलकर नागपुर के भोंसले राज्य का संस्थापक साबित हुआ। बात ऐसी हुई—शिवाजी ने साबाजी की सेवाओं से प्रसन्न होकर उसे "सेना साहबसूबा" की उपाधि से विभूषित किया। और सन् १६७४ में एक अधिकार-पत्र लिख कर उसे दे दिया[1] कि वह बरार तथा गोंड-वाना से चौथ वसूल करे हालाँकि ये दोनों प्रदेश उस समय उसके अधिकार में नहीं थे। लेकिन वह तो इस लोकोक्ति का कायल था कि "सभी भूमि गोपाल की यामे अटक कहां, जाके मन में अटक है वाही अटक रहा।" इस सनद-पत्र की परिणति यह हुई कि साबाजी ने अपने भाई परसोजी को भेजकर इन दोनों प्रदेशों से चौथ वसूल करने का लग्गा लगा दिया और जब सन् १६६६ में शिवाजी का निधन हो गया तब शिवाजी के उत्तराधिकारी से इस अधिकार-पत्र का नवीनीकरण करा लिया तथा इसमें "छत्तीसगढ़" का स्पष्ट उल्लेख कराते हुए कुछ अन्य प्रदेश भी शामिल करा लिये जिससे इन "सेनासाहब सूबा" का अधिकार क्षेत्र और विस्तृत हो गया। स्मरण रहे कि साबाजी के भाई होने के साथ-साथ परसोजी शिवाजी के घुड़सवारों का एक सरदार भी था और शिवाजी के राजत्वकाल से ही बरार में पहुँच कर लूटमार मचाया करता था।

इधर मुगलों और मराठों का संबंध "सांप और नेवले" के स्तर पर था। औरंगजेब ने शिवाजी के निधन हो जाने के बाद उसके पुत्र संभाजी को मरवा डाला था तथा संभाजी के पुत्र शाहू को कैद कर रक्खा था। लेकिन जब सन् १७०७ में औरंगजेब की मृत्यु हो गई तब उसके उत्तरा-धिकारी शाहू जी को स्वराज्य का पूर्ण हक प्रदान कर तथा दक्षिणी प्रदेशों से चौथ वसूल करने का अधिकार देकर उसे घर वापस चले जाने की अनुमति

---

१. हिस्ट्री आफ मराठा १८२६—ग्रांट डफ।

दे दी। दिल्ली से वापस होते समय शाहू ज्यों ही नर्मदानदी पार कर खान-देश के समीप पहुँचा, त्यों ही परसोजी भोंसला पंद्रह हजार सैनिक सवार लेकर उससे जा मिला। शाहू ने इसका प्रतिदान इस प्रकार दिया कि जब उसे सतारा की गद्दी प्राप्त हो गई तब उसने परसोजी को "सेना साहब सूबा" का पद प्रदान करते हुए, बरार, चांदा और गोंडवाना प्रान्त से चौथ वसूल करने के हेतु सनद भी दे दिये। इसके साथ उसे जरीपटका, चौघड़ा, आदि सारी पोशाक प्रदान कर उसकी इज्जत में वृद्धि की। सन् १७१५ में परसोजी के निधन हो जाने पर उसका पुत्र कान्होजी उसका उत्तराधिकारी नियुक्त हुआ।[1]

इस समय तक नागपुर के भोंसला परिवार में तीन शाखाएँ फूट चुकी थीं। कान्होजी को जब तक पुत्र रत्न का लाभ नहीं मिला था, उसने अपने भाई बापूजी के पुत्र रघुजी जिसका जन्म सन् १६९८ में सतारा जिले के पांडव-वाड़ी ग्राम में हुआ था, का पुत्रवत् पालन किया।[2] रघुजी स्वयं भी अपने काका कान्होजी की देखरेख में सैनिक शिक्षा प्राप्त करता था और संगठन का कार्य सीखता था, लेकिन जब कान्होजी को पुत्र की प्राप्ति हो गई तब रघुजी ने पाया कि अब उसका पूर्ववतआदर सम्मान नही रहा। फलतः उसने काका का आश्रय छोड़ना ठीक समझा और १०० सैनिकों सहित देवगढ़ के राजा चांद सुल्तान के पास चला गया जहां उसे यथेष्ट आदर मिला, पर वह वहाँ भी अधिक दिनों तक नहीं टिका और इलिचपुर होते हुए सतारा जा पहुँचा।

इधर नागपुर स्थित भोंसलों की तीनों, शाखाओं में परस्पर ऐक्य नहीं था। "सरंजाम" के संबंध में आपस में झगड़े बहुत होते रहते थे। फलतः छत्रपति शाहू ने सरंजाम का वितरण समानता के आधार पर कर दिया और ऐसी व्यवस्था कर दी कि एक दूसरे के महाल में कोई उपद्रव न करे।

उधर सतारा में रघुजी ने छत्रपति शाहू का निकट सान्निध्य प्राप्त कर उसे खूब प्रसन्न कर लिया। एक समय उसे शेर के शिकार में शाहू के प्राण बचाने का मौका मिल गया। तब से शाहू उसे और अधिक मानने लगा, यहाँ तक कि उसका ब्याह शिर्के-खानदान में अपनी छोटी रानी की चचेरी बहिन सालूबाई से कराकर अपना निकट संबंधी बना लिया। सन् १७३४ के लगभग

---

१. ग्रांट डफ तथा सरदेसाई का मराठों का इतिहास।

२. मल्हारराव कृत 'राजाराम चरित्र,' पृष्ठ ३७-३८।

शाहू की कान्होजी पर अकृपा हो गई और कई घटनाएँ ऐसी हुई जिनसे उसे, नाराज हो कर कान्होजी को दबाने के लिए उसके भतीजे रघुजी को ही भेजना पड़ा। सन् १७२५ में देउरगांव नामक स्थान में काका-भतीजे का युद्ध हुआ और कान्होजी बंदी बना लिया गया। इसकी अंतिम परिणति यह हुई कि शाहू ने रघुजी को "सेना साहब सूबा" का पद प्रदान कर और अधिक अपना कृपाभाजन बना लिया। उस समय भोंसलों का सदर मुकाम "भाम" नामक स्थान पर होने से ही नागपुर के भोंसले सन् १८०३ तक बरार के राजा कहलाते रहे।

रघुजी राव भोंसला

रघुजी राव भोंसला को जिस समय छत्रपति शाहू ने 'सेना साहब सूबा" का पद प्रदान किया, उस समय शाहू ने उससे यह शर्त करा ली थी कि वह प्रति वर्ष उसे नौ लाख रुपये नजराना देगा और राज्य की सेवा के लिए पंद्रह हजार जवानों की सेना तैयार रक्खा करेगा। तब उसे (सन् १७३०) में गोंडवाना से चौथ वसूल करने की सनद भी मिली।

रघुजी (प्रथम) को जिन दिनों "सेना साहब सूबा" के पद पर नियुक्ति की गई उन दिनों नागपुर में गोंड़ों का राज्य था और राजा था "चांद सुल्तान" जो राजा बख्त बुलन्द का पुत्र था। बख्त बुलंद मुसलमानी नाम है, जो इसका गोंड़ से धर्म परिवर्तन कराकर औरंगजेब द्वारा रक्खा गया था। सन् १७३५ में जब चांद सुल्तान की मृत्यु हो गई, उसके नाजायज पुत्र बलीशाह ने गद्दी के लिए झगड़ा करना शुरू कर दिया। उसने गद्दी के जायज हकदार मीर बहादुर को मरवा डाला। उस समय मीर बहादुर के दो छोटे भाई अकबर शाह और बुरहानशाह नाबालिग थे, अतः वे कुछ करने-धरने में लाचार थे। विवश होकर उनकी मां रतनकुंवर ने रघुजी से मदद मांगी। इस मदद के बदले उसने रघुजी को दस लाख रुपये नकद और गोंड़-वाना राज्य का तीसरा हिस्सा प्रदान किया। यह बात सन् १७३७ की है जब रघुजी को यह अलभ्य लाभ सहसा प्राप्त हो गया। इससे उसकी खूब बन आई और अब वह गोंड़ से परिवर्तित मुसलमान नाबालिग राजाओं का संरक्षक बन कर नागपुर में निवास करने लगा। असल राजे केवल नाममात्र के लिए राजे रहे, असल राजा तो रघुजी रहा। बाद में अकबर और बुरहानशाह आपस में लड़ पड़े और अकबर को विष देकर समाप्त कर दिया गया। बदले में अकबर का हिस्सा रघुजी को मिला। इतिहासकार ग्रांट डफ के अनुसार बुरहानशाह को रतनपुर की जागीर दी गई, जिसकी आय से उसका

जीवन-निर्वाह यथेष्ट रूप से हो जाता था। पर इसका पुष्टीकरण कहीं नहीं पाया जाता। बुरहानशाह के वंशज १८वीं शताब्दी के अंत तक नागपुर दरबार में रहते रहे और स्थानीय जागीर के कुछ अंश का उपभोग करते रहे।[1] सारांश यह कि सन् १७४१ में रघुजी प्रथम नागपुर राज्य का वैधानिक राजा बन गया। इससे उसे एक मनोवांछित लाभ यह हुआ कि उड़ीसा और बंगाल पर चढ़ाई करने के हेतु छ० ग० प्रवेश द्वार के रूप में प्राप्त हो गया जैसा कि आरंभ में उल्लेख किया जा चुका है कि रघुजी का स्पष्ट उद्देश्य यह था कि छ० ग० पर कब्जा कर उड़ीसा और बंगाल को मराठा राज्य में शामिल किया जाये।

रघुजी राजकाल में बड़ा निपुण और अग्रसोची था उसकी दो ब्याहता स्त्रियाँ थीं। मुधोजी और बिम्बाजी बड़ी स्त्री से पैदा हुए और जानोजी तथा साबाजी दूसरी स्त्री से। लेकिन उम्र के हिसाब से जानोजी ज्येष्ठ पुत्र था।[2] उसने अपने जीते जी अपने राज्य को चार भागों में विभाजित कर दिया और एक-एक भाग अपने प्रत्येक पुत्र को सौंप दिया। जानोजी को नागपुर-राज्य, मुधोजी को चांदा-राज्य, साबाजी को दारवा और बरार तथा बिम्बाजी को छ० ग० राज्य इस बंटवारे में मिला। सन् १७५५ में रघुजी का उदर शूल से निधन हो गया। उस समय उसकी आयु ६० वर्ष की थी। मृत्यु के समय उसकी १३ स्त्रियाँ थीं, जिनमें से दो तो ब्याहता थीं, शेष स्त्रियाँ अंकशायिनी मात्र। फिर भी उसके शव के साथ उसकी छः स्त्रियाँ चिता में प्रवेश कर सती हो गईं।[3]

नागपुर के भोंसले के स्वतंत्र रहने के बावजूद पूना के पेशवा की सार्वभोमिकता अर्थात केन्द्रीय अधिकार तो उन पर था ही। रघुजी के बाद पेशवा ने "सेना साहब सूबा" का पद जानोजी को प्रदान किया, जबकि मुधोजी को "सेना धुरंधर" के पद से अलंकृत किया गया। रघुजी ने अपने जीते जी नागपुर राज्य का जो बंटवारा अपने चारों पुत्रों में कर दिया

---

१. शुक्ल अभिनंदन ग्रंथ, इतिहास खंड पृष्ट ६३ प्रयागदत्त शुक्ल, तथा ग्रांट, डफ का मराठों का इतिहास, जिल्द १।

२. मराठों का नवीन इतिहास, खंड २, पृष्ट ३५६, ए स्केच आफ दी हिस्ट्री आफ भोंसला फेमिली, सर देसाई।

३. दैनिक नवभारत, रायपुर १८ फरवरी १९६८, सुरेन्द्र शर्मा।

था, पेशवा ने उसे मान्यता प्रदान की।[1] मान्यता की तिथि है—६ अगस्त, १७६१ ई० सतारा दरबार द्वारा।

किन्तु इन सब व्यवस्थाओं के बावजूद जानोजी और मुधोजी का पारस्परिक विरोध समाप्त नहीं हुआ और दोनों भाई लड़ पड़े। हार मुधोजी की हुई और उसने भागकर अपनी राजधानी चाँदा में ही दम लिया। बिम्बाजी मुधोजी का पक्षधर था अतएव उसे भी भाई के साथ चांदा जाना पड़ा। बिम्बाजी को बंटवारे में रतनपुर राज्य मिला था, जिसकी राज्य व्यवस्था वह अपने दीवान नीलकंठ द्वारा करता था पर अंत में नीलकंठ प्रामाणिक नहीं पाया गया। फलतः उसके स्थान पर धोंडो महादेव की नियुक्ति की गई। इस नये दीवान के साथ कई मराठे सरदार छ० ग० भेजे गये, जिनमें प्रमुख थे—कृष्ण भट्ट उपाध्ये, मशार निल्हे, रामचंद्र बक्षी, माधव रामचंद्र-मजूमदार, हरबाजी पंत-फड़नवीस कृष्णाजी मोहिते, महमद खां, कादरखां आदि। पश्चात् बिम्बाजी भी रतनपुर चला आया।

इधर मोहन सिंह की तिकड़मबाजी बंद नहीं हुई। रघुजी की मृत्यु के बाद वह भोंसलों से स्वतंत्र होने की चेष्टा करने लगा। वह पग-पग पर बिम्बाजी का विरोधी करता। उसने सन् १७५८ में छ० ग० राज्य बिम्बाजी के अधिकार से छीन लेने के लिए रायपुर के समीप सेना एकत्र की लेकिन भाग्य उसके विपरीत था। वह अचानक बीमार पड़ गया और मर गया। बिम्बाजी को उससे लड़ने की जरूरत नहीं पड़ी। कुछ इतिहासकरों का मत है कि सन् १७५४ ही में मोहन सिंह की मृत्यु हो चुकी थी। शिवदत्त शास्त्री ने अपने 'इतिहास समुच्चय' (अप्रकाशित) पुस्तक में उसे केवल ६ वर्षों तक रतनपुर का राज्य करना बताया है। किन्तु इससे उसका निधन हो जाना तो प्रमाणित नहीं होता जब कि यह स्पष्ट लिखा है कि बिम्बाजी ने सन् १७५८ में उसे अधिकार रहित कर दिया था।[2]

कलचुरि (हैहयवंशी) रायपुरी शाखा का अंत

इस[3] समय रायपुर राज्य में हैहयवंशियों की लहुरी शाखा के वंशज अमर सिंह राज्य कर रहा था। इसके पूर्व न तो उसे भास्कर पंत ने छेड़ा और न मोहनसिंह ने। फलतः वह सन् १७५० तक बड़े मजे से राज्य करता रहा।

---

१. शुक्ल अ० नं० ग्रं, इति खंड, पृष्ट १००, प्रयागदत्त शुक्ल।
२. अ—नवभारत दैनिक दि० २५ फरवरी ६८, सुरेन्द्र शर्मा।
३. सतपुड़ा की सभ्यता, पृष्ठ १३४ प्रयागदत्त शुक्ल।

किन्तु इसके बाद मराठों ने उसे पदच्युत करके रायपुर, राजिम और पाटन ये तीन परगने जागीर के रूप में प्रदान कर दिये, जिसके बदले उसे सात हजार रुपये लगान के रूप में देना पड़ता था। सन् १७५३ में अमरसिंह की मृत्यु हो गई। मृत्यु के समय उसका पुत्र शिवराज सिंह तीर्थयात्रा के लिए गया हुआ था। मराठों को अच्छा मौका मिला। उसकी गैरहाजिरी में इन्होंने उसके तीनों परगने हड़प लिये। जब विम्बाजी छ० ग० का शासक बना, तब उसने बड़ी कृपा की और सन् १७५७ में शिवराज सिंह[1] को बड़गांव नामक गाँव (महासमुन्द तहसील) माफी में और परगनों के अंतर्गत प्रति गांव पीछे एक रुपया वसूल करने का अधिकार प्रदान कर दिया जो सन् १८२२ तक चालू रहा। पश्चात् शिवराज सिंह के पुत्र रघुनाथ सिंह को प्रति गांव एक रुपया के बदले मुरेना, नांदगाँव और मालेसर ग्राम उसके जीवन-निर्वाह के लिए माफी में दे दिया गया। उधर विम्बाजी ने रतनपुर के अंतिम राजा रघुनाथसिंह के लिए भी यही व्यवस्था की थी। इस प्रकार हैहयवंशियों की रतनपुरीय और रायपुरीय शाखा का अंत एक ही स्तर पर हो गया और छ० ग० में मराठों का एक छत्र राज्य स्थापित हो गया।

बिम्बाजी भोंसले

बिम्बाजी का शासन छ० ग० में सन् १७५७ से १७८७ तक लगभग तीस बत्तीस वर्ष रहा। यद्यपि वह अपने एक ही माता से जन्मे भाई मुधोजी का पक्षधर था फिर भी उसे नागपुर राज्य के अधीनस्थ होकर रहना पड़ता था, यद्यपि यथार्थ में वह सभी भांति स्वतंत्र था। विम्बाजी का पृथक दरबार था, पृथक सलाहकार थे और पृथक सेना भी थी। इस व्यवस्था में नागपुर शासन किसी प्रकार हस्ताक्षेप नहीं कर सकता था। बिम्बाजी ने राजशासन चलाने के लिए विभिन्न पदों पर प्रायः मराठों की नियुक्तियाँ की। आरंभ में उसने जनता का बड़ा दमन किया पर शासन के उत्तरार्धकाल में उसने अपने व्यवहार को पर्याप्त रूप से संयत कर लिया और कुछ लोकप्रियता भी प्राप्त कर ली। रतनपुर की चोर पहाड़ी पर उसका बनवाया श्री रामचंद्र का मंदिर प्रसिद्ध है। कुछ लोग कहते हैं कि यह मंदिर हैहयवंशी राज्यकाल में निर्माण कराया गया था और प्रमाण में उस स्तम्भ को दिखाते है जिस पर केवल 'विक्रमसेन' शब्द पढ़ा जा सकता है। इस पर से शोध करने योग्य सूत्र जरूर मिल जाता है क्योंकि रामपहाड़ी के उत्तर में जो

---

१ सतपुड़ा की सभ्यता, पृष्ठ १३४, प्रयागदत्त शुक्ल।

बड़ा तालाब उसकी तलहटी में लहरा रहा है उसका भी नाम विक्रम है जो बिगड़ कर अब 'बिकमा' कहलाता है। डा० हीरालाल इस उत्कीर्ण नाम को किसी भृत्य का नाम समझते हैं (सी० पी० इंसक्रिप्शल्स नं १६४) इस मंदिर के बन जाने पर पहाड़ी भी राम पहाड़ी या रामटेकड़ी कहलाने लगी। बिम्बाजी ने किले में एक और दरवाजा बनवाया, जिसका नाम सेमर दरवाजा था। वास्तव में यह दरवाजा भास्कर पंत ने तोड़ा दिया था। बिम्बाजी के समय में भोंसला राज्य को रतनपुर-राज्य से लगभग तीन लाख रूपयों की वार्षिक आय थी और पूरे छ० ग० से छ: लाख रूपये।[1]

जैसा कि पूर्ववर्ती पृष्ठों से ज्ञात होगा कि शुरू-शुरू में बिम्बाजी को लगभग सन् १७६६ तक नागपुर की राजनीति में उलझना पड़ा था और छ० ग० का शासन उसके दीवानों के भरोसे ही चलता रहा। इसका लाभ छोटे-छोटे जमीन्दारों ने उठाना चाहा और भोंसलों से स्वतंत्र होने के प्रयत्न भी किये पर असफलता ही हाथ लगी और रही सही स्वतंत्रता भी जाती रही। कहना न होगा कि मराठे सरदार भी दमन नीति के प्रयोग करने में बड़े माहिर थे। जमीन्दारों में जिन्होंने भोंसलों का विरोध करने में प्रमुखता दिखाई, उनमें कोरबा जमीन्दार फतेसिंह को शीर्षस्थान दिया जा सकता है। यह कभी चांपा जमीन्दारी पर चढ़ बैठता, कभी छुरी जमीन्दारी पर। इसे सर करने में बिम्बाजी को पर्याप्त रूप से परिश्रम करना पड़ा। उसने बिलासपुर में अरपा नदी के तट पर एक किला निर्माण कराया पर वह पूरा नहीं हो पाया और आज भी परिवर्तित रूप में विद्यमान है। अंत में जमींदार को पराजित कर कोरबा जमीन्दारी जब्त कर ली गई और उस पर दो हजार रूपये वार्षिक लगान मढ़ दिया गया।

इधर रायपुर राज्य में सिरपुर के जमीन्दार ने भी सिर उठाया तो उसकी जमीन्दारी सोनाखान जमींदारी में मिला दी गई। और जब सोनाखान का जमीन्दार बिगड़ खड़ा हुआ तब सिरपुर की जमीन्दारी गुल्लू के जमीन्दार जौहरसिंह गोंड़ को दे दी गई। पर स्वतंत्रता प्राप्त करने की परम्परा इसने भी जारी रक्खी। फलत: सिरपुर की जमीन्दारी उससे छीन कर तरेंगा के अग्रवाल दाऊ को इनायत की गई, जिसे लगान वसूल करने का अधिकार दिया गया और "ताहुतदार" का पद प्रदान किया गया। धमधा का गोंड़

---

१. *लैंकी नामक एक योरोपियन की रिपोर्ट जिसने सन् १७६६ में रतनपुर की यात्रा की थी, अर्ली जिसने योरोपियन ट्रेव्लर्स, पृष्ठ ६६।*

जमीन्दार रेवाराय ने भी भोंसलों से विद्रोह किया और पराजित इसलिए हो गया कि उसी के एक कर्मचारी ने नमकहरामी की और किले का दरवाजा खोल दिया। नतीजा यह हुआ कि मराठों की सेना मजे से भीतर घुस गई।

सन् १७५५ में खैरागढ़ के राजा खड़गराय ने भी स्वाधीनता का झंडा फहराया और लांजी पर हमला कर दिया तब उसे भी पराजित कर उस पर १५०० रु० वार्षिक लगान लगा दिया गया। जब सन् १७५६ में खड़गराय की मृत्यु हो गई तब उसके पुत्र टिकैतराय को गद्दी देने के उपलक्ष में यह लगान बढ़ाकर ८००० रु० वार्षिक कर दिया गया। आगे चलकर जब डोंगरगढ़ के जमीन्दार ने मराठी सत्ता का विरोध किया, तब टिकैतराय ने नाँदगाँव के राजा मोतीराम की मदद से उसे दबा दिया। पुरस्कारस्वरूप मराठों ने डोंगरगढ़ राज्य खैरागढ़ में मिला दिया पर साथ ही वार्षिक लगान की राशि ४४००० रु० बढ़ा दी गई।

टिकैतराय जब अपने नाबालिग पुत्र ब्रजपाल सिंह को अपना उत्तराधिकरी छोड़ परलोकवासी हुआ, तब नाँदगाँव के राजा ने डोंगरगढ़ जमीन्दारी के प्रश्न को लेकर झगड़ा शुरू कर दिया। परिणाम यह हुआ कि यह जमीन्दारी खैरागढ़ और नांदगांव में बराबर-बराबर बांट दी गई।

स्मरण रहे कि शुरू-शुरू में पूर्ण नागपुर राज्य के चारों भाइयों में बंटवारा होने के बाद बिम्बाजी ने अपना हिस्सा रतनपुर राज्य के शासन के हेतु नीलकंठ को अपना दीवान नियुक्त किया था। नीलकंठ ने सन् १७५६ में बस्तर पर चढ़ाई कर दी, जब वहाँ का राजा दलपतदेव सिंहासनारूढ़ था। दलपत निर्बल था, अतः वह पास की जमीन्दारी जैपुर भाग गया। तब नीलकंठ को कुछ नहीं सूझा तो राजघराने के कुछ व्यक्तियों को ही पकड़ कर साथ ले आया। राजा दलपत की जैपुर में मृत्यु हो गई तब उसके पुत्र दयादेव ने मराठों की आधीनता स्वीकार कर ली। फलस्वरूप वह बस्तर का राजा बना दिया गया।

सन् १७५८ में भोंसलों ने सरगुजा राज्य पर हमला बोल दिया। जब राजा अजीतसिंह ने देखा कि वह मराठों की अपेक्षा निर्बल है, तब उसने उनकी आधीनता स्वीकार कर ली। फल यह हुआ कि इस स्थिति में राज्य के अंतर्गत अन्य जमीन्दारियाँ-उदयपुर, जशपुर, कोरिया, चांदभखार आदि अपने आप मराठों के अधिकार में आ गई। इधर पेंडरा जमीदारी पर भी मराठों ने आक्रमण कर उसे अपने अधीनस्थ बना लिया।

मराठे राजनीति की अपेक्षा शोषणवृत्ति में अधिक पटु थे। नजराना के रूप में पर्याप्त राशि वसूल कर उन्होंने सरगुजा, सारंगढ़, कंवर्धा, राजनांदगांव, खैरागढ़, छुईखदान आदि कुछ संस्थानों के शासकों को "राजा" का पद प्रदान कर दिया और रायगढ़ के राजा दरियावसिंह के "राजा" पद की मान्यता को स्वीकृति दे दी। इसके पहले यह राज्य सारंगढ़ के अधिकार में था। कंवर्धा में महाबलीसिंह और छुईखदान में तुलसीदास को भोंसलों ही ने "राजा" बनाया। सन् १७७८ में बालोद उनके कब्जे में आ गया।

मराठों[1] के इतिहास की विशेष जानकारी रखने वाले प्रसिद्ध विद्वान श्री सुरेन्द्र शर्मा के अनुसार छ० ग० के जिन व्यक्तियों ने मराठों को अपनी अमलदारी कायम करने में विशेष रूप से योगदान दिया उनमें रायपुर के रामचंद्र दानी और जगन्नाथ तिवारी, लवन के जगतसिंह, धमतरी के चिचपुरी गुसांई, दुर्ग जिले के मिन्होरी गांव का परगनिहा, डाढ़ी का गोंड़ जमीन्दार, जामुल का बनिया, नंदकठी के अग्रवाल, तरेंगा के ताहुतदार, पेंडरा के ध्यान सिंह आदि प्रमुख थे। बिम्बाजी का राज्यकाल राज्य विस्तार के स्थान पर आर्थिक शोषण पर अधिक आधारित रहा।

बिम्बाजी की मृत्यु सन् १७८७ में रतनपुर में हुई। उसकी दो रानियाँ थीं—आनंदी बाई और उमाबाई।[2] उमाबाई तो पति के शव को लेकर सती हो गई पर बड़ी रानी आनंदी बाई राजशासन चलाने के लिए बनी रही। लोगों का ऐसा आग्रह भी था क्योंकि बिम्बाजी निःसंतान था। आनंदीबाई ने अपने भतीजे चिमनाबापू को जिसका राशि नाम खंडोजी था, अपना लिया और उसे "सेना धुरंधर" के पद से विभूषित कर दिया।[3] पर उसका निवासस्थान रक्खा नागपुर ही। उसे यह आशंका थी कि रतनपुर में उसे बुला कर रखने से उसकी खुद की प्रमुखता चली जावेगी। पर चिमनाबापू अधिक समय तक जीवित नहीं रहा और चार मास बाद ही सन् १७८९ में उसकी मृत्यु हो गई। लोगों को संदेह था कि रघुजी (द्वितीय) ने कटक से चार तांत्रिकों को बुलवा कर मंत्रसाधना से उसे मरवा डाला। स्मरण रहे कि चिमनाबापू

---

१. दैनिक नवभारत में प्रकाशित सुरेन्द्र शर्मा का लेख, २५ फरवरी १९६८।

२. एग्न्यू की रिपोर्ट पृष्ठ ३ में बिम्बाजी की मृत्यु नर्रा जमींदारी में बताई गई है। इसी प्रकार रियासतो के गजेटियर में बिम्बाजी की रानियों की संख्या ७ बताई गई है जब कि कप्तान ब्लंट अपनी रिपोर्ट में तीन रानी का ही नाम देते हैं—तीसरी रानी थी—रमाबाई।

३. विल्स ब्रिटिश रिलेशन्स, पृ० ८८।

खुद उसका छोटा भाई था। रघुजी को भय था कि कहीं आगे चलकर चिमनाबापू नागपुर राज्य के सिंहासन का दावेदार न बन जाय।

इसका एक कारण भी था कि चिमनाबापू ने अपने अधिकार के लिए रघुजी से झगड़ा करना शुरू कर दिया था। उसकी इच्छा थी कि वह छत्तीसगढ़ और उड़ीसा का एक छत्र राजा घोषित कर दिया जाय पर रघुजी उसे चाँदा में रखना चाहता था। दूसरों की बात छोड़िये स्वयं रघुजी की माता चिमनाबापू की मृत्यु को संदेहजनक दृष्टि से देखती थी और इसीलिए वह सुरक्षा की दृष्टि से अपने कनिष्ट पुत्र व्यंकोजी को लेकर नागपुर से दूर कटक चली गई। रघुजी (द्वितीय) बड़ा महत्वाकाँक्षी था और अपने पिता मुधोजी और बिम्बाजी की मृत्यु के बाद 'सेना साहब सूबा" का पद ग्रहण कर एक छत्र राज्य करने लगा था। उसने जानबूझ कर चिमनाबापू के रतनपुर का सूबा नियुक्त होने जाने के बाद भी उसे नागपुर में रक्खा था जो आनंदीबाई के मनोनुकूल था। रघुजी ने चिमनाबापू की मृत्यु के बाद यशवंत कालू को रतनपुर का सूबा नियुक्त कर दिया और रतनपुर जाने का निर्देश दे दिया।

इधर आनंदीबाई ने रतनपुर में रहकर यह प्रयत्न करना शुरू कर दिया कि वह सब प्रकार से नागपुर के प्रभाव से अपने को मुक्त कर ले और पूर्ण रूप से स्वाधीनता के साथ छत्तीसगढ़ का शासन करे। फलतः उसने यशवंत कालू के पहुँचने के पहले ही उसका सामना करने की तैयारी कर ली और एक छोटी-सी सेना का संगठन कर लिया। उसके पक्ष में मराठे सरदार थे—कृष्णभट्ट पाध्ये, महिपतराव काशी, महादजी भोंसले, हरबाजी पंत, रामचंद्र बक्षी आदि। रघुजी को जब इन सब बातों का पता लगा तो उसने यशवंत कालू के साथ दो मराठे सरदार सेना सहित भेजे। ये सरदार थे—भवानी शंकर और नत्थू जी भोंसला। दोनों पक्ष के युद्ध में यशवंत कालू पराजित हुआ। तब रघूजी ने राजनीति के दाँव खेले। उसने महीपत दिनकर को जो आनंदी बाई का भी विश्वासपात्र था, सूबा बनाकर रतनपुर भेजा। उसने रतनपुर आकर आनंदीबाई को साम, दाम, दण्ड और भेद की युक्तियों से कायल कर रघु जी से समझौता करा दिया। निश्चय यह हुआ कि रतनपुर राज्य का सूबा, सारा राजकाज आनंदीबाई की सलाह से चलावे और उस सलाह से बाध्य रहे।[1] इस प्रकार आनंदीबाई छत्तीसगढ़ की

---

१. चीजम की सेटिलमेंट रिपोर्ट पृष्ठ ६५।

रानी तो बन गई पर राज्य की बागडोर रघुजी के हाथों में ही रही। आनंदीबाई को असहाय महिला समझ कर और अपने भविष्य का ध्यान रख उसके कुछ सरदार रघुजी का पक्ष लेने लगे थे। इधर महीपत दिनकर, रतनपुर का राज्य प्रबंध ठीक करके संबलपुर का विद्रोह दबाने चला गया और विजय प्राप्त कर वापस लौटा। इस बीच रघुजी को उस पर कुछ संदेह हो गया। फलतः उसके भाई विट्ठल दिनकर को उसके स्थान पर सूबा नियुक्त कर भेजा गया। इसने आते ही सरगुजा और कौड़िया पर चढ़ाई कर उन्हें मराठा राज्य में मिला लिया।

इन घटनाओं के पूर्व रघुजी (द्वितीय) के छोटे भाई व्यंकोजी ने भी छ० ग० राज्य का दौरा किया था पर दो या तीन बार ही। उसने कभी छ० ग० के राजकाज के संबंध में दिलचस्पी नहीं दिखाई थी, फिर भी सन् १८११ में वह वाराणसी चला गया जहाँ उसकी मृत्यु हो गई। सच्चाई तो यह थी कि आनंदीबाई अपने शासन से किसी का हस्तक्षेप पसंद नहीं करती थी और स्वयं छत्तीसगढ़ की एकछत्र रानी बनना चाहती थी, महिला होते हुए भी वह अत्यन्त स्वस्थ, स्थिर बुद्धि, और तेजस्विनी थी। लेकिन सर रिचार्ड जेनकिन्स[1] जो रघुजी (द्वितीय) के राज्य में रेसीडेंट नियुक्त किये गये थे—के मतानुसार आनंदी बाई राज्य के सारे खुराफातों की जड़ थी यद्यपि ये खुराफ़ातें अत्यंत मामूली किस्म की रहा करती थीं। अंत में सन् १८०१ में आनंदीबाई की मृत्यु हो गई। आनंदीबाई[2] ने अपने जीते जी रतनपुर की राम पहाड़ी पर अपने पति बिम्बाजी द्वारा निर्माण कराये श्री रामचन्द्र जी के मंदिर के ठीक सामने एक दूसरा छोटा मंदिर बनवाया जिसमें दोनों हाथ जोड़े हुए काले पत्थर की बिम्बाजी की मूर्ति स्थापित की गई है। कुछ लोगों का खयाल है कि राम टेकरी पर श्री राम पंचायतन का मंदिर हैहयवंशी राजाओं द्वारा निर्माण कराया गया था जिसका जीर्णोद्धार मात्र बिम्बाजी ने कराया था। दोनों मंदिर आज भी अच्छी हालत में मौजूद हैं। पहाड़ी के पूर्व में उसने रानी तालाब भी खुदवाया। खारून[3] नदी के संगम पर निर्माण कराया हुआ संगमेश्वर शिव मंदिर, खूंटाघाट की नहर में अब डूब गया है। उपर्युक्त मंदिरों की साधारण सी रक्षा-व्यवस्था नागपुर के एक पुजारी परिवार के द्वारा स्थानीय कर्मचारियों के द्वारा कराई जाती है। आनंदीबाई ने रतनपुर

---

१. जेनकिन्स की रिपोर्ट पृष्ठ १३५।

२-३ शिवदत्त शास्त्री का 'इतिहास समुच्चय' (अमुद्रित)।

किले के भीतर श्री लक्ष्मीनारायण का एक छोटा-सा मंदिर भी निर्माण कराया था।

आनंदीबाई की मृत्यु के समय से लेकर, सन् १८१८ ई० में जब अप्पा साहब भोंसले नागपुर की गद्दी से उतार दिया गया, तब तक छ० ग० का शासन-सूत्र सूबों के हाथ में रहा। सूबा को शासन के प्रत्येक विभाग के समस्त अधिकार प्राप्त थे। सूबे का सदर मुकाम रतनपुर में ही रहा करता था। सूबा के मातहत कमाविसदार रहा करते थे। मराठा-शासन अंग्रेजों के हाथ में जाने के पूर्व तक ६ सूबों[1] ने शासन-सूत्र संभाले थे, जिनकी सूची इस प्रकार है—१. विट्ठल दिनकर, २. काऊ पंत, ३. केशवपंत, ४. भीखा भाऊ, ५. सखाराम बापू और ६. यादव दिवाकर, किन्तु सुरेन्द्र शर्मा के अनुसार विट्ठल दिनकर के पूर्व महीपत दिनकर, यशवंत कालू, रानाजी भोंसला, और मोहनसिंग का नाम भी उल्लिखित होना चाहिए तथा बिम्बाजी के समय में नीलकंठ पंडित और उपाध्येजोशी का नाम भी सूबों में आता है जब कि रायपुर में कृष्णराव फड़नीस तथा व्यंकट पांडुरंग भी उसी पद पर आसीन थे।[2]

कोई भी सूबा अपने पद पर उसी समय तक बना रह सकता था, जब तक नागपुर के भोंसला राजा की इच्छा उसे उस पदपर बनाये रखने की होती थी। अर्थात् किसी भी सूबा को अपने स्थायित्व का भरोसा नहीं रहता था। वह कभी भी उस पद से हटाया जा सकता था। इस अनिश्चितता की परिणति यह हुई कि जो सूबा छ० ग० के चार्ज में रहता वह कम से कम समय में, नैतिक-अनैतिक किसी भी ढंग से अधिक से अधिक धन बटोरने की फिक्र में रहता। लोककल्याण या शासन की स्वच्छता या राज्य की उन्नति का लक्ष्य उसका कभी नहीं रहा। छ० ग० की जनता से वह जितना धन वसूल कर सकता उसने किया। छ० ग० मानो उसके लिए धन पैदा करने का कारखाना था। लगान वसूली ये बड़ी सख्ती से करते थे और तदर्थ-वाजिब गैरवाजिब सभी तरीके अपनाते थे। नौबत यहाँ तक पहुँची कि अंतिम काल के एक सूबा सखाराम बापू को एक व्यक्ति ने गोली मार दी क्यों कि उसने उससे उच्चपद और बहुत-सी भूमि देने का वादा कर एक बड़ी राशि ऐंठ ली थी[3]। नागपुर के भवानी पंत, कालू और

१. रायपुर जिले का गजेटियर, चार्ल्स ग्रांट।
२. नवभारत दि० ३१ मार्च, १९६८।
३. विष्णु यज्ञ स्मारक ग्रंथ पृ० १०७।

मुधोजी के संबंध में भी कुछ इसी ढंग से धन प्राप्त करने की घटनाओं का वर्णन मिलता है। इसी प्रकार से लूटमार करके धन एकत्र करने का उल्लेख माट् नामक एक विदेशी ने किया है जो सन् १७६६ में हीरे की खान की खोज में घूमता फिरता संबलपुर गया था। वह लिखता है—"जिस समय भोंसले के सूबा को धन की जरूरत पड़ती थी, उस समय वह अपने अधीनस्थ जमीन्दारों से सैनिक बल पर अपना काम निकाल लेता था।" यही कारण था कि प्रायः सभी जमीन्दार, भोंसला राज्य के शत्रु बन गये थे। किसानों पर तो सूबा, कमाविसदार, जमींदार प्यादे, सिपाही सबकी हुकूमत चलती थी। किसी भी अत्याचार को देख कर लोग आज भी कहते हैं "क्या भोंसलाशाही चल रही है।"[१] अर्थात् भोंसला शाही शब्द अत्याचार तथा जुल्म का प्रतीक आज भी समझा जाता है और लोकोक्ति बन गया है।

मराठों के शासन काल में छ० ग० की अवस्था

छ० ग० राज्य के मराठा शासक सदैव यही इच्छा रखते थे कि नागपुर के भोंसलों की तरह वे भी यहां शासन के प्रत्येक अंग का मराठाकरण कर दें। इसीलिए मराठा सिपाहियों तक को जो लूटमार से थोड़ा भी धन एकत्र कर सूबा को दे देता था, मनमाना सनद देने लगे। इस सनद के आधार पर अनेक मराठा सिपाही गाँव-गाँव में फैल गये और पुराने गौटियाओं को, जो हैहयवंशियों द्वारा नियुक्त किये गये थे, खींच-खींच कर बाहर निकालने लगे और जमीन जायदाद पर कब्जा करने लगे। अकेले रायपुर जिले के धमतरी तहसील में २०० से ऊपर पुराने गौंटिया बेदखल किये गये और उनके गाँव या तो मराठे सिपाहियों या महराष्ट्रीय ब्राह्मणों को प्रदत्त कर दिये गये। राजिम इलाके में विम्बाजी ने अपने साले हनुमंतराव को ८५ गांवों की जमीन्दारी दे दी। बिलासपुर जिले में चिचिरदा, बेलमुंडी, धौरा-माटा आदि अनेक गांव इसी ढंग से मराठों को दिये गये। आगे चलकर कुछ ऐसे व्यक्तियों को भी ऐसे सनदपत्र दिये गये थे जो महाराष्ट्रीय नहीं थे पर केवल अपवाद स्वरूप। कुछ लोगों की धारणा है कि यह एक राजनीतिक चाल मात्र थी।[२]

विम्बाजी जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, आगे चलकर कुछ संयत हो गया था। उसके द्वारा संपन्न कुछ धर्म कार्य भी पाये जाते हैं। अमरकंटक में श्री नर्मदामाई का मन्दिर महारानी अहिल्याबाई का निर्माण

१. छ० ग० परिचय, पृष्ठ १२१, बल्देवप्रसाद मिश्र।

२. म० प्र० का इतिहास, पृष्ठ १०४, हीरालाल।

कराया पहले से मौजूद था। बिम्बाजी ने नर्मदा के स्रोत स्थल पर एक कुंड और मंदिर का निर्माण करा कर नियमित रूप से पूजा आर्चा सम्पन्न करने के हेतु उचित व्यवस्था करा दी और एक महाराष्ट्रीय ब्राह्मण को पुजारी नियुक्त कर दिया। राजिम के राजीवलोचन मंदिर के खर्च के लिए एक गांव चढ़ा दिया। रायपुर के दूधाधारी मठ को भी उसने सन् १७६६ में एक दानपत्र कुछ गाँवों के संबंध में लिख दिया, जिस पर उसके कामदार नारायणराव बिट्ठल के हस्ताक्षर हैं। ये दानपत्र प्रायः मोड़ी लिपि में लिखे जाते थे, जिनके पढ़ने वाले अब कदाचित ही यहाँ मिलें। रतनपुर में उसने दिघ्रसकर परिवार को धर्माधिकारी नियुक्त किया था और उसके किये धर्म संबंधी निर्णयों को (जैसे प्रायश्चित आदि) मान्यता दी जाती थी। इसी दिघ्रसकर परिवार को भादो मास में श्रीकृष्ण जन्म का उत्सवप्रतिवर्ष समारोह पूर्व मनाने के लिए कई गांव माफी में दिये गये थे। रमदई नामक गाँव केवल दतौन तथा पत्तरी के लिए माफी में दिया गया था। गनियारी, मुंडा, मरारी आदि कई गांव इस उत्सव के व्यय हेतु इस परिवार को प्राप्त थे।[1] प्रायः पाया गया है कि पुराने दानपत्र और सनदों की मान्यता वाजिब जाँच पड़ताल के पश्चात् अंग्रेजों ने कायम रखी।

छ० ग० की सबसे अधिक तात्कालिक हानि, मराठों की सेना द्वारा हुई। उसने कई बार इसकी धरती को रौंदा। खड़ी फसलें घुड़सवारों द्वारा चरा दी जाती थी। मराठों की एक बड़ी सेना स्थायी रूप से यहाँ रखी जाती थी, जिसका सारा व्यय छ० ग० को उठाना पड़ता था। मराठा शासन काल में ठग और पिंडारियों ने भी अनेक बार छ० ग० में अपना जाल फैलाया। सन् १८०० के आसपास और उसके बाद १०-१५ वर्षों तक मध्य प्रदेश में विशेषकर होशंगाबाद सिवनी, मंडला, नरसिंहपुर, भोपाल, जबलपुर आदि जिलों में इन ठग पिंडारियों का बड़ा जोर था। ये पिंडारे भारी लुटेरे थे। बिलासपुर जिले का पेंडरा ग्राम का नाम इन्हीं पेंडारों के ऊपर से पड़ा है, जहाँ ये प्रायः निवास करते थे। धीरे-धीरे इन्होंने अपनी शक्ति और संख्या इतनी बढ़ा ली थी कि इनके झुंड में कभी-कभी पचीस हजार लुटेरे तक शामिल रहते थे। इन लुटेरों का सरदार "लहुवरिया" कहलाता था। उस समय सारा प्रांत भोंसलों के अधिकार में था और मराठा शासक

---

१. निजी संग्रह से।

इन पिंडारियों से प्रजा की रक्षा करना छोड़ उल्टा उनकी सहायता करते थे और लूटमार में हिस्सा लेते थे । इन्होंने इनके शासनकाल में छ० म० में भी लूटमार की थी ।[1]

1. नागपुर रेसीडेंसी रेकार्ड, जिल्द २-३

मराठा राज्य शासन प्रणाली

बिम्बाजी के पश्चात् मराठों द्वारा सूबा-शासन, पेशवा-शासन-प्रणाली के अनुसार अपना लिया गया।[1] सूबा नागपुर के भोंसला - राजा के प्रतिनिधिस्वरूप राजधानी रतनपुर में रहकर शासन किया करता था। पुराने ३६ गढ़ परगनों में बदल दिये गये और प्रत्येक परगना एक कमाविसदार के चार्ज में रक्खा गया। इसका काम मुख्यत: लगान वसूल करना था। पुराने दीवान और दाऊ हटा दिये गये। शासन के प्रमुख विभागों और पदों में मराठे पदाधिकारी नियुक्त किये गये, जो इस प्रदेश के लिए विदेशियों की तरह थे। उनका व्यवहार भी प्रजा के प्रति विदेशियों की भाँति ही था। हैहयवंशियों के समय की अनेक शासकीय प्रथाएँ तोड़ दी गईं और जो नयी प्रथाएँ जनता पर लादी गई, अधिक कष्टप्रद सिद्ध हुईं। १२ गाँवों के समूह 'बरहों' का नाम तालुका रक्खा गया और उनमें कई बरहों मिला दिये गये। इन तालुकों का अधिकारी 'पटेल' कहलाता था।[2] गाँव के अधिकारी "गौंटिया" ज्यों के त्यों रहे और 'मालगुजार' भी कहलाने लगे। किसानों से लगान वसूली की पहली और दूसरी किश्त की रकम निश्चित कर दी जाती थी पर तीसरी किश्त की रकम अनिश्चित रहती थी जिससे कमाविसदारों को तीसरी किश्त में मनमानी राशि वसूल करने का सुभीता रहता था।[3] 'कमा-विसदार' की प्रथा जब असफल हुई तब 'ताहुतदारी' प्रथा कायम की गई। निकटवर्ती ग्रामों का एक "चक" बना दिया जाता था और ऐसे चक के समूहों पर एक ताहुतदार नियुक्त होता था। ऐसे ताहुतदार तरेंगा लवन, सिरपुर, खलारी—सिहावा, लोरमी, कंतली आदि केन्द्रों में नियुक्त किये गये पर जब ये भी सफल होते दिखाई नहीं दिये तो तालुका-

---

१. केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया जिल्द ६, पृ० ३८५

२. एलिफिन्स्टेन रिपोर्ट, पृ० २३७

३. जेनकिन्स रिपोर्ट सन् १८२७ पृ० ८४

पद्धति काम में लाई गई।[1] ये तालुका जिन क्षेत्रों में स्थित थ, यदि वे मराठा राज्य के अधिकार क्षेत्र के अंतर्गत आते थे तो वे 'खालसा' कहलाते थे अन्यथा 'जमिन्दारी' नाम से उल्लिखित होते थे। खालसा के तालुकों के नाम इस प्रकार हैं—

१. विजयपुर
२. तखतपुर
३. बलौदा
४. रतनपुर
५. करंजी
६. बरतोरी
७. मल्लार
८. ओखर
९. बिटकुली
१०. मुंगेली
११. नवागढ़
१२. मारो
१३. दर्री
१४. गूढ़ी
१५. पथरिया
१६. खरौद
१७. खोखरा
१८. बिर्रा
१९. उरईकेरा
२०. किकरदा
२१. नवागढ़ (पास शिवरीनारायण)
२२. अकलतरा
२३. मोटिया
२४. सरसींवां

हिवेट[2] की रिपोर्ट में निम्नलिखित परगना और पाये जाते हैं और

१. चीजम ने सरकार या सूबों के इन विभागों को 'तालुका' कहा है जो बाद में अंग्रेजी-शासन में परगना कहलाये। चीजम की रिपोर्ट, अ०—१, कंडिका—६
२. हिवेट की रिपोर्ट, कंडिका ५८

उनके सामने उनके द्वारा पटाई जाने वाली राशि भी अंकित है। तथा साथ में उन गाँवों की संख्या भी है जो हर एक परगना के अंतर्गत आते थे—

नाम	ग्राम संख्या	टकौली की राशि रु०
१ अमेरा	८४	४,८०१
२. रायपुर	६४०	८५,६०१
३. खलारी	८४	३,००१
४. लवन	२५२	५५,१६१
५. सिरपुर	८४	५,००१
६. टेंगनागढ़	८४	२२१
७. देवरबीजा	८५	१३,००१
८. दुर्ग	८४	१५,००१
९. सिरसा	८५	८०१
१०. सिमगा	८४	५,००१
११. सिगारगढ़	८४	२,३०१
१२. राजिम	८४	९,०३१
१३. पाटन	१५२	३,२३१
१४. अकलवारा	८४	२,८४५
१५. मोहदी	८४	३,१००
१६. सुवरमार	८४	३,१००

जमीन्दारों द्वारा अधिकृत परगनों के नाम

नाम	ग्राम संख्या	टकौली की राशि
१. कमथा	५६८	१५,२११
२. बालोद संबारी	७९५	७२,१५०
३. धमतरी	७५०	८१,११२
४. फिंगेश्वर	८४	७८

इन परगनों के अधिकारी कमाविसदार कहलाते थे जो सूबेदार के प्रति जिम्मेदार रहते थे।

रघुजी (तृतीय) के गद्दी पर बैठते ही भोंसला राज्य के सूबों का पुनर्गठन किया गया और वह पाँच सूबों में बाँट दिया गया।[1] उड़ीसा, अमरकंटक और बस्तर का एक सूबा बनाया गया। शेष, छ० ग० के दूसरे सूबा बने।

---

१. नवभारत दैनिक, ११ मार्च १९६८, सुरेन्द्र शर्मा

रघुजी (तृतीय) के समय में सामान्यत: सर्वथा शांति रही। सन् १८३० में उसे सिहावा क्षेत्र, बरतर के राजा भूपाल सिंह द्वारा नजराने के रूप में मिला। सन् १८३३ में एक गड़बड़ी अवश्य हुई कि रायगढ़ के राजा देवनाथ सिंह ने विद्रोहात्मक रवैया अपनाया जिसका परिणाम यह हुआ कि वह बरगढ़ का जमीन्दार बना दिया गया।

आर्थिक दृष्टि से छ० ग० की हालत बद से बदतर होती गई। लगातार अकाल पड़ते गये। सन् १८३४ में महानदी की बाढ़ से गाँव के गाँव नष्ट हो गये। कोई सुधार या राहत का कार्य नहीं खोला गया। रघुजी मद्य और मदिरा में मस्त रहता और गुलछर्रे उड़ाता। अंत में वही हुआ जो होना था। बीमार हुआ और चल बसा—दिसम्बर सन् १८५३ में। अंग्रेजों से उसका संबंध पहले ही से खराब था।

छत्तीसगढ़ में मराठा-शासन लगभग १०० वर्षों तक रहा। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियां उसके लिए बड़ी प्रतिकूल और संकटपूर्ण सिद्ध हुई। इन दो शताब्दियों में तीन शासनों का आधिपत्य और अधोगमन हुआ। इस युग को यथार्थ में दरिद्रता और शोषण का युग कहना चाहिए। छत्तीसगढ़ की जनता का मराठों के प्रति क्या भावना रही होगी, यह एक अनुमानगम्य तथ्य है। इस संबंध में और लिखना उचित नहीं होगा।

भोंसले और अंग्रेज—छ० ग० के संदर्भ में

भारत में अंग्रेजों के आगमन के पहले ही भोंसला राज्य की स्थापना हो चुकी थी। लेकिन मराठा-संघ (भोंसला-सिंधिया-होल्कर) के कारण ये पश्चिम और मध्यभारत में अपना अधिकार नहीं जमा सके थे। उड़ीसा-बंगाल और मद्रास तो अंग्रेजों के अधिकार में आ चुके थे। फलतः भोंसले अंग्रेजों से बड़े सशंकित रहते थे। अतः इन्होंने ऊपरी सतह पर अंग्रेजों से मैत्री कर ली, पर पड़ोसी-राज्यों की इन्होंने परवाह नहीं की बल्कि उनसे दुश्मनी मोल ले ली। अंग्रेजों से इनका युद्ध तभी हुआ जब भोंसलों के सामने कोई दूसरा विकल्प नहीं रहा। रघुजी द्वितीय के शासनकाल में भोंसले पर अंग्रेजों का दबाव बड़ा उग्र हो गया। अंत में भोंसलों ने सन् १८०३ में सिंधिया की मदद से अंग्रेजों के साथ युद्ध छेड़ ही दिया।[१] इस युद्ध में स्वयं रघुजी अपने छोटे भाई व्यंकोजी को साथ लेकर लड़ रहा था, पर विजय अंग्रेजों की हुई। सच्चाई तो यह थी कि भोंसलों के राजकर्मचारी ने अंग्रेजों से रिश्वत ले कर मराठा-दरबार की गोपनीय बातों की सूचना अंग्रेजों को दे देते थे और गृह-कलह को भड़काने में अग्नि में घी की आहुति का काम करते थे। परिणामस्वरूप भोंसले पराजित हुए। बरार के देवलगाँव नामक स्थान में दोनों पक्ष में जो संधि हुई, उसमें एक शर्त यह भी थी कि उड़ीसा और छ० ग० के जमीन्दारों से जो संधि अंग्रेजों ने इधर की है, उसे भोंसलों को मान्यता देनी होगी।[२] भोंसलों को इसे मानना पड़ा और बंगाल से बम्बई तक अंग्रेजों की प्रभुता स्थापित हो गई। उड़ीसा को अधिकार में लेने के बाद जब सन् १८०४ में अंग्रेजों की सेना छ० ग० पर अधिकार जमाने रवाना हुई, तब रघुजी के कान खड़े हुए। वह छ० ग० से होने वाली आय छोड़ने को तैयार नहीं था और नागपुर के प्रथम रेसीडेंट माउंट स्टुवर्ट एल्फिन्स्टन से संधि की उस धारा को रद्द करने लगा, जिसका संबंध छ० ग० से

---

१. छ० म० मं० ग्रंथ, इति० खंड, पृ० १६ प्रयागदत्त

२. लार्डवेलेस्ली के पत्र

था। लेकिन रेसीडेंट क्यों उसकी विनती सुनने चला? उसने ६ जून, १८०४ को छ० ग० के जमीन्दारों की एक सूची रघुजी के हाथों में थमा दी और उसे धमकी दी कि यदि २४ घंटों के अंदर रघुजी संदर्भीय शर्तों का पालन नहीं करेगा तब अंग्रेजों को विवश होकर उससे युद्ध करना पड़ेगा। ११ जून, १८०४ को रघुजी ने मन को मार कर सारे संदर्भीय कागजों पर हस्ताक्षर कर दिये। इस प्रकार उसके अधिकार से सरगुजा, सारंगढ़, खरियार आदि संस्थान निकल गये और वह साढ़े तीन लाख वार्षिक आय की हानि का रोना रोते रह गया।[1]

सन् १८०६ की नयी संधि के अनुसार अंग्रेजों ने छ० ग० की जमीन्दारियों को भोंसलों को वापस करने की शर्त स्वीकार कर ली थी किन्तु वह संधि कार्यान्वित नहीं होने पाई थी कि जमीन्दारों ने भोंसलों को लगान देना बंद कर दिया।[2] रघुजी इस हानि को बरदाश्त करने को तैयार नहीं था। वह अंग्रेजों से आग्रह करने लगा कि वे इन जमीन्दारों को मजबूर करें कि वे उसका पावना तत्काल अदा कर दें। राजनीति में पटु अंग्रेज उसकी माँग को मानने तैयार हो गये, पर अड़ंगा यह डाला कि रघुजी नागपुर में अंग्रेजों की सहायक सेना रखने के लिए राजी हो जाय। इधर उन्होंने उसके भाई व्यकोंजी को जो उनकी कैद में था, मुक्त कर दिया। व्यकोंजी छूटते ही अंग्रेजों से लड़ने के लिए सेना संगठित करने लगा पर रघुजी से उसे समर्थन नहीं मिला। अतः वह नाराज होकर काशीजी चला गया जहाँ सन् १८११ में उसकी मृत्यु हो गई। रघुजी ने तब व्यकोंजी के अल्प वयस्क पुत्र अप्पाजी को नागपुर में लाकर रक्खा और उसके नाम पर चाँदा और छ० ग० की सूबेदारी लिख दी। व्यकोंजी की मृत्यु से रघुजी अकेला पड़ गया।

इधर संबलपुर की रानी रतनकुँवर, रायगढ़ के राजा जुझारसिंह, सारंगढ़ के विश्वनाथसिंह, सक्ती राजा दीवानसिंह, बरगढ़ नरेश रणजीतसिंह और सोनपुर की रानी आदि अनेक राजा-रानियों ने गवर्नर जनरल को आवेदनपत्र दे दिया कि वे मराठों की अपेक्षा अंग्रेजों की आधीनता में रहना पसंद करते हैं।[3] इससे

---

१. रेसीडेन्सी के रेकार्ड

२. नेशनल आर्क १० मई १८०६ नं० ५३

३. " " १८११+३

रघुजी को बहुत दुख हुआ। पर वह निर्बलता के कारण कर ही क्या सकता था ! सैनिक निर्बलता, आर्थिक निर्बलता आदि सभी उसके आड़े आ रही थी।

सच पूछिये तो रघुजी (द्वितीय) महा कंजूस था। वह सिपाहियों से साहूकारी करता था और नाजायाज तौर पर ब्याज की राशि उनके वेतन से काट लेता था। कई बार तो महल के सामने सैनिक वेतन के लिए धरना देते थे और युद्ध में जाने के पूर्व वेतन का चुकारा कराते थे। इन्हीं कारणों से प्रजा उसे "बनिया राजा" कहा करती थी। देवगाँव के पराजय से वह बहुत मर्माहत् हो गया था। उसका स्वास्थ्य दिन प्रतिदिन गिरता गया और २२ मार्च, १८१६ के दिन उसका निधन हो गया। उसकी मृत्यु के बाद उसका पुत्र परसोजी, यद्यपि ३८ वर्ष का था पर अस्वस्थता तथा सनकी होने के कारण राजशासन चलाने में सर्वथा अयोग्य था। मराठा सरदारों में इस समय फूट पड़ गई थी और वे दो दल में विभाजित हो गये थे। एक दल परसोजी की अयोग्यता के बावजूद उसे भोंसलों की गद्दी पर बिठाना चाहता था और दूसरा दल व्यंकोजी के ३० वर्षीय पुत्र अप्पा साहब के पक्ष में था। यों अप्पा साहब स्वयं बड़ा चालाक और धूर्त था और उसे रेसीडेंट जेंकिन्स का समर्थन भी प्राप्त था। बाद में जब उसकी धूर्तता चरम सीमा पर पहुँच गई तब अंग्रेज भी उससे आजिज़ आ गये और वह गिरफ्तार कर लिया गया। लेकिन अप्पा साहब अंग्रेजों की कैद से निकल भागा और राजस्थान, पंजाब आदि प्रदेशों में छिपता हुआ सन् १८२६ में जोधपुर जा पहुँचा, जहाँ सन् १८२६ में उसकी मृत्यु हो गई।[1]

इधर बाजीराव (रघुजी तृतीय) को भोंसला राज्य की गद्दी पर बिठाया गया और इसी समय से नागपुर का राज्य अंग्रेजों के हाथ में चला गया। उन्होंने कर्नल एग्न्यू को छ० ग० के शासन के लिए सुप्रेन्टेंडेंट बना कर रक्खा। भोंसलों के द्वारा नियुक्त सूबों के सारे अधिकार छीन लिये गये। इस प्रकार सन् १८१८ में अंग्रेज पूरे छ० ग० के एक छत्र राजा हो गये। उन्होंने कई महत्वपूर्ण केन्द्रों में सेना रखने के लिए छावनियां स्थापित कर दी। छ० ग० में ऐसी छावनियाँ उस समय प्रमुख रूप से रायपुर और रत्नपुर में रक्खी गईं थीं।

सन् १८१८ से लेकर सन् १८३० तक अंग्रेजों ने छ० ग० के विभिन्न राजाओं के राजशासन में कोई हस्तक्षेप नहीं किया। इस बीच कर्नल एग्न्यू जो छ० ग० का सुप्रेन्टेडेंट बनाकर भेजा गया था, पुरानी शासनप्रणाली को संशोधित रूप देता रहा। वह इस पद पर सन् १८१८ से सन् १८२५ तक बना रहा। पहले तो

---

१. एडवंचर्स आफ् अप्पा साहब (भोंसले), पृष्ठ १३३

उसने रतनपुर से अपना सदर मुकाम हटा कर उसे रायपुर ले आया। क्योंकि रायपुर ऐसे स्थान पर स्थित है जहाँ से छ० ग० राज्य तथा देशी रियासतों पर सुविधापूर्वक निगरानी रक्खी जा सकती थी। उस समय से रायपुर नगर की उन्नति होने लगी और आज वह मध्यप्रदेश के महत्वपूर्ण नगरों में गिना जाता है। इस अवधि में छ० ग० के सूबे रायपुर में ही निवास करते थे और नागपुर के रेसीडेंट के आदेशानुसार शासन चलाते थे। इन सूबों को इतना अधिकार था कि वे देशी राजाओं के शासन में थोड़ा बहुत हस्तक्षेप कर सकते थे। यदि ये कोई गड़बड़ी या नाजायज काम करते तो ये सूबा उनकी शिकायत रेसीडेंट के पास पहुँचा देते।

कर्नल एग्न्यू ने परगना और कमाविसदारों को भी खत्म कर दिया। ये कमाविसदार मराठों के शासन काल में राज्य की आय बढ़ाने के लिए हर संभव प्रयत्न किया करते थे। सगाई, ब्याह, दहेज आदि अनेक रस्मों में हिस्सा बटाया जाता था। अधिक राशि देने वाले या उन अधिकारियों को ज्यादा से ज्यादा जमीन दी जाती थी जो अधिक संख्या में सिपाही भरती कराते थे। रैयतों की ओर से जो भेंट कमाविसदारों को प्राप्त होती थी वह "शुकराना" कहलाती थी। कृषि भूमि या आबादी जमीन की कोई नाप-जोख नहीं होती थी और रिश्वत के अनुसार एक तरफा न्याय किया जाता था। लगान वसूली के लिए सिपाहियों की टुकड़ियाँ गाँवों में पड़ी रहती थीं, जिनके लिए रसद, बेंठ-बेगार सभी रैयतों को मुफ्त देना पड़ता था। उनके घोड़ों का दानाचारा भी उन्हीं से लिया जाता था। एग्न्यू ने इन सब जबरदस्ती की वसूलियों को मिटा दिया यद्यपि रसद रसानी और बेंठ-बेगार देने की प्रथा वह बंद नहीं कर सका।

शासकीय सुविधा की दृष्टि से उसने छ० ग० को आठ विभागों में बाँट दिया। इनके अधिकारी तहसीलदार कहलाते और लगान की वसूली करते। इन्हें फौजदारी और दीवानी के सीमित अधिकार भी प्रदान किये गये। एग्न्यू ने मराठा अधिकारियों के कागजातों की भी जाँच कराई और उन हिसाबों को रद्द कर दिया जिन्हें उसने फर्जी समझा। उसने धमतरी, बालोद, राजिम, रायपुर, रतनपुर आदि स्थानों के जंगली भागों को साफ कराके उन्हें कृषि कार्य के योग्य बनवाया। नई-नई सड़कें भी बनवाई गईं और छ० ग० के बीच से जाने वाली पुरानी सड़क (प्रयाग-पुरी मार्ग) की भी मरम्मत उसने करवाई। मंदिरों को स्वीकृत दानपत्रों को उसने जाँच कराकर उचित मान्यता प्रदान की।[1]

---

१. ए रिपोर्ट आन दी सूबा आफ् छ० ग० सन् १८२० एग्न्यू द्वारा

सन् १८२६ में रघुजी (तृतीय) के वयस्क होने पर अंग्रेजों ने छ० ग० भोंसलों को वापस कर दिया। ५ अगस्त, १८२६ को रेसीडेंट जेनकिन्स ने रघुजी से जो संधि की उसके अंतर्गत अंग्रेजों ने छ० ग० की जमीन्दारियों पर अपना अधिकार कायम रक्खा और उसके बदले भोंसला राजा को एक निश्चित राशि देना स्वीकार किया। इसी संधि के अनुसार "सेना साहब सूबा" के अधिकार समाप्त कर दिये गये और यह पद केवल शोभा के लिए बनाये रक्खा गया। अंग्रेजों ने रघुजी से इस संधि में यह शर्त भी स्वीकार करा ली कि जहाँ कहीं अंग्रेज लड़ाई छेड़ें, रघुजी उन्हें धन द्वारा सहायता पहुँचावेंगे। इस सहायक धन की राशि निश्चित करने का अधिकार अंग्रेजों को होगा। इस संधि को गवर्नर जनरल विलियम वेंटिक ने संशोधन कर छत्तीसगढ़ के छीने हुए इलाके भोंसलों को वापस कर दिये। सारांश यह कि इस संधि से भोंसला राजा के हाथ में राज्य तो आ गया पर सत्ता जाती रही, साथ ही सैनिकों की संख्या घटवाकर बहुत कम कर दी गई अर्थात् नागपुर में २००० घुड़सवार और पैदल, रायपुर में ११००, चाँदा में ३५०, भंडारा में २५०, छिंदवाड़ा में २५० और नर्मदा क्षेत्र में २५०। फौजी छावनी भी केवल एक रायपुर में रक्खी गई। सन् १८५४ में नागपुर में भोंसला राज्य आमूल समाप्त हो गया और अंग्रेज उसके पूरे स्वामी बन गये। सन् १८५४ के बाद सन् १८५७ में कप्तान इलियट छ० ग० का प्रथम अधिकारी नियुक्त हुआ। इसके समय में बस्तर भी छ० ग० में शामिल कर दिया गया। शासन पद्धति वही कायम रही जो कर्नल एगन्यू ने चलाई थी।

छत्तीसगढ़ निवासियों की कर्त्तव्य-हीनता

बहुधा दोष लगाया जाता है कि भोंसलों ने जब जब छत्तीसगढ़ पर आक्रमण किये, किसी ने डट कर उसका सामना नहीं किया। किन्तु विचार करना चाहिए कि आक्रमणकारियों का सामना करता तो करता कौन? न छ० ग० में उस समय संगठित सेना थी और न कोई सैनिक संगठन। सत्ताविहीन और सैन्य-रहित हैहयवंशी क्षत्रिय जड़ता की उच्चतम सीमा पर पहुँच चुके थे। उस समय वर्ण व्यवस्था का बोलबाला था और उसके अनुसार प्रजा यह समझती थी कि यह तो राजा और क्षत्रियों का कर्तव्य है कि देश और प्रजा की रक्षा करें। सेठ महाजन तो कर चुका कर अपने कर्तव्यों की इतिश्री समझ लेते थे। मंत्री और दीवान केवल धन संग्रह करने और राजा की जी हुजूरी में लगे रहते थे। गढ़ाधिपतिगण जब केन्द्र में स्थित राजा को असावधान, आशंकारहित और

निर्बल पाते थे तो स्वयं मौज उड़ाना छोड़कर सिर दर्द क्यों मोल लेते? "जननी जन्म भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी" केवल पोथी पुराण की उक्ति रह गई थी। राष्ट्रीय भावना का सर्वथा अभाव था, जो अब तक देश की इस विकसित अवस्था में भी चली आ रही है। ऐसे माहौल में हम प्रशंसा करेंगे उन आदिवासियों की जिन्होंने ऐसे हमलों का अपनी शक्तिभर प्रतिकार किया यद्यपि वे वर्ण-व्यवस्था मानने वालों द्वारा जंगलों में भगा दिये गये थे और उन्हें पद दलित कर रक्खा गया था। अन्य प्रांत वाले जो छ० ग० में आये और बस गये थे, वे अभी तक अपने को परदेशी समझते थे और छ० ग० में कमाने खाने और जमीन जायदाद एकत्र करने में लगे हुए थे। आज भी वही हाल है। जो लोग पहले छ० ग० में आये थे वे सब छ० ग० में आगे चलकर आने वालों से तिरस्कृत किये जाते। इस प्रसंग में और ज्यादा लिखना अच्छा न होगा, विशेषकर जब देश में भावात्मक एकता का नारा बुलंद किया जा रहा है।

मराठा शासन के पतन के कारण

१. केन्द्र शासन (पेशवा) की निर्बलता, जिससे सरदारों में फूट और स्वार्थपरता फैल गई। प्रत्येक सर्दार अपनी इच्छानुसार युद्ध, संधि तथा अपने राज्य का विस्तार करने लगा।

२. पड़ौसी राजा तथा जमीन्दारों के साथ दुर्व्यवहार।

३. लूट-खसोट और भ्रष्टचार

४. विलासिता और अनुशासनहीनता। सैनिकों को वक्त पर वेतन नहीं मिलता था। उनसे साहूकारी की जाती थी।

५. लोक कल्याण, प्रजारंजन तथा राज्य संगठन पर सर्वथा दुर्लक्ष्य।

हिन्दी के प्रसिद्ध महाराष्ट्रीय लेखक श्री गोपाल दामोदर तामस्कर ने अपने "मराठों के इतिहास" नामक पुस्तक में मराठा शासन के पतन के नीचे लिखे दो मुख्य कारण बताये हैं—

१. मराठाशासन व्यक्ति प्रधान हो गया था, संस्था प्रधान नहीं। छत्रपति शिवाजी अपने सिपाहियों या अधिकारियों को सदा नकद वेतन देते थे, जागीर नहीं। बाद में यह प्रथा तोड़ी जाने लगी। फल यह हुआ कि व्यक्तिगत लाभ पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा।

२. आनुवंशिक नौकरी दी जाने लगी बिना योग्यता पर ख्याल किये।

वास्तव में शिवाजी थे उदार, न्यायप्रिय, अन्याय के विरुद्ध जूझने वाले,

---

१. एग्न्यू की रिपोर्ट, सन् १८२०

सब धर्मों का आदर करने वाले, कुशल सेनानी, असामान्य शासक और एक पत्नी-व्रत। बाद के मराठे शासक इन आदर्शों पर कायम नहीं रह सके।

मराठी सत्ता के समाप्त हो जाने के पश्चात् अंग्रेजों ने छत्तीसगढ़ को अत्यन्त गिरी अवस्था में पाया था।

कर्नल एग्नयू सन् १८१८ से सन् १८२५ तक छत्तीसगढ़ के चार्ज में रहे। वे अपनी एक रिपोर्ट में लिखते हैं—

छत्तीसगढ़ सूबा के निवासी अधिकतर आदिवासी हैं जो अर्ध-सभ्य जान पड़ते हैं और बर्बर अवस्था में रहते हैं। इनमें से गोंड़ बहुत सीमा तक हिन्दू रस्म रिवाज पर चलते हैं। ये बहुत ईमानदार और सदाचरणी पाये गये हैं। इनका जीवन निर्वाह वनोपज पर होता है। कृषि कार्य का इन्हें बहुत ज्ञान है।

छ० ग० में मुसलमानों का एक वर्ग (तुरकारी) चूड़ियाँ बनाता है और कपड़ा रँगाई करता है। यही उनका पेशा है। ये हिन्दू रस्म रिवाजों को इतनी अधिक सीमा तक अपनाये हुए हैं कि इनकी स्त्रियाँ प्रायः अपने मजहबी आचरणों को भूल बैठी हैं। ब्राह्मण वर्ग बड़ी सख्ती से शास्त्रीय विधानों का पालन करता है हालाँकि कुछ लोग मांस मछली भी भक्षण करते हैं।

"यदि आज खाने को है तो कल की चिन्ता क्यों करें" यह यहाँ के मजूरों का सिद्धांत है। लोगों की जरूरतें भी बहुत कम हैं, जिनकी पूर्ति सहज ही की जा सकती है।

कर्नल एग्नयू सन् १८२० में लिखते हैं—

यहाँ चालीस वर्षों से अकाल नहीं पड़ा है। भूमि उपजाऊ है, इससे धान की फसल अच्छी होती है। खाने-पीने की चीजों की अधिक चिन्ता नहीं रहती। फलतः लोग सहज स्वाभाव, दृढ़ और परिश्रमी हैं। अधिकांश लोग क्या शहर और क्या गाँव में झोपड़ियों में निवास करते हैं, जो न सुविधापूर्ण है और न देखने में अच्छे लगते हैं।

छ०ग० में उस वातावरण या उपकरण का अभावहै जिससे सैनिक वृत्ति उत्पन्न होती है। सिपाहियों में राजपूत और मुसलमानों की प्रमुखता है। ये सिपाही भिन्न भिन्न प्रदेशों के निवासी हैं। गौड़ों के पास हाथियार हैं पर उनमें सिपाहियाना गुणों की कमी है।

छत्तीसगढ़ी बोली में गोंड़ी और हिन्दी का मिश्रण है। हिन्दू, मुसलमान या आदिवासी सभी वर्ग जादू-टोना और भूत प्रेत में विश्वास रखते हैं। लोगों का नैतिक आचरण अन्य प्रदेश के निवासियों के मुकाबिले में उत्तम है। चोरियाँ बहुत कम होती हैं और डकैती शायद कभी पड़ती हो। सभ्यता की

बुराइयों से ये सर्वथा दूर हैं अपना अपराध स्वीकार करने में इन्हें कोई हिचकिचाहट नहीं होती।

शिक्षा का प्रचार किसी सीमा तक केवल ब्राह्मण, राजपूत, गोंसाई, कायस्थ, बनिया, सुनार, मराठा, तमेर और मुसलमानों में है। ब्राह्मण प्रायः शिक्षक का काम करते हैं। शिक्षण का कार्य प्रायः शिक्षक के निवासस्थान पर किया जाता है '।

केवल रतनपुर में पाठशालाएं अलग पायी गईं, जहां शिक्षक प्रायः दो चार आने मासिक पारिश्रमिक पाते हैं। इस प्रकार की पाठशालाएं रतनपुर में चार पांच और रायपुर में केवल दो पायी गईं। बड़े बड़े ग्रामों में भी एकाध शाला मिली। स्त्री शिक्षा सर्वथा शून्य है।

इतिहास-३

१०

प्राचीन छत्तीसगढ़ में हैहयवंशी राजाओं की चार राजधानियाँ[1]

तुम्माण, रतनपुर, खलारी और रायपुर

सघन वन-वल्लरियों से आच्छादित, मेकल, रामगढ़ तथा सिहावा की पर्वत-श्रेणियों से सुरक्षित एवं महानदी, शिवनाथ, माँढ़, खारून, जोंक, हसदो आदि अनेक बड़ी छोटी नदियों से सिंचित, छत्तीसगढ़ प्राचीन काल में दक्षिण कोसल कहलाता था। इन नदियों के तट और घाटियों में विभिन्न सभ्यताओं का उदय, विकास और अस्त, कालगति के अनुसार विभिन्न समयों में होता रहा, जिनके अवशेष अनेक स्थानों पर अभी भी बिखरे हुए, उनके प्राचीन महत्त्व और गौरव की महिमा का गुणगान करते नहीं अघाते। मध्यप्रदेश का यह वही भूभाग है जिसके संबंध में यह अनुमान किया जाता है कि सन् ईस्वी के पूर्ववर्ती काल में इसकी स्थिति नंद और मौर्यों के विस्तृत साम्राज्य के अंतर्गत अत्यंत सुदृढ़ थी। यहीं सरगुजा की रामगढ़ पहाड़ी की गुफाओं में अशोक कालीन दो भित्तिलेख तथा नाट्यशाला पाई गई हैं जो ई० सन् ३०० वर्ष के पूर्व की जान पड़ती हैं।

प्राचीन छ० ग० के ऐतिहासिक महत्त्व की दूसरी शृंखला आगे चलकर ई० सन् के ६० वर्ष पूर्व पहुँचती है जब मगध का आधिपत्य मौर्यों के उत्तराधिकारी शुंगों को प्राप्त हो गया, कलिंग में चेदि वंश का उदय हुआ, दक्षिणापथ में सातवाहन समृद्ध हुए और पश्चिमोत्तर प्रदेशों में यवनों के पैर जमने लगे। इस समय तक सातवाहनों का विस्तार त्रिपुरी तक हो गया था। दक्षिण कोसल में सातवाहनों के आधिपत्य का पता चीनी यात्री ह्युनसाँग के यात्रा

१. भिन्न २ ग्रंथों, गजेटियरों, लेखों, प्रशस्तियों तथा निजी संग्रह की सामग्री के आधार पर

और गत गरिमा का परिचय देते हैं एवं साथ ही इस संसार की अनित्यता का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं।

बंकेश्वर का सुप्रसिद्ध मंदिर ऋषि बंकु की स्मृति में निर्माण कराया गया था। यहीं इस ऋषि का आश्रम था। इस मंदिर के भग्नावशेष से उसके अनुपम शिल्प-कौशल्य का अवलोकन कर विस्मित होना पड़ता है। इसके एक स्थान पर शिवजी के तांडव नृत्य का एक दृश्य बड़े कलापूर्ण ढंग से उकेरा गया है। एक स्थान पर ब्रह्माजी की मूर्ति खचित है, समीप में उनका वाहन हंस मजे मे खड़ा है। द्वार की दाहिनी ओर वामन भगवान अपने वाहन गरुड़जी पर आरूढ़ हैं। द्वार के उपर कीर्तिमुख को स्थापित करते हुए गणों की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं जो हाथ में पुष्पहार लिये हुए हैं। दक्षिण कोसल में हैहयवंशियों के राजत्वकाल में जितने मंदिर निर्माण किये गये हैं उनमें द्वार पर नवग्रहों की मूर्तियाँ अवश्य प्रतिष्ठित रहती हैं। हिन्दू पूजा-विधान में मुख्य देव की पूजा आर्चा के पूर्व गणेशजी और नवग्रहों का आव्हान अवश्य किया जाता है और वही परम्परा मंदिरों के निर्माण विधान में भी अपनाई गई है। द्वार के चौखट पर विष्णुजी के दशावतार की मूर्तियाँ उकेरी गई हैं। द्वार के निम्न भाग पर हाथ में घड़ा लिये गंगाजी घड़ियाल पर और यमुना जी कच्छप पर विराजमान हैं। गंगा और यमुना के आजू बाजू द्वारपाल खड़े हुए हैं लेकिन इनके हाथ कालबली ने तोड़ दिये हैं। संभवतः ये द्वारपाल शिवजी के मुख्य गण बीरभद्र और शोणभद्र होंगे। इसी भाँति तुम्माण के अन्य मंदिरों मे भी शिल्प-नैपुण्य की अपूर्व सुषमा खचित है।

तुम्माण अब सर्वथा ग्राम के रूप में परिवर्तित हो गया है। इसके पश्चिम मे जटाशंकरी नदी बहती है। नदी के पश्चिम तट पर भग्नावशेष दृष्टिगोचर होते हैं, वे संभवतः राजमहल रहे होंगे। ग्रामवासी इसे सतखंडा महल के नाम से जानते हैं। तुम्माण आज भी सघन वन और अमराइयों से घिरा हुआ दर्शनीय स्थान है।

रत्नपुर

रत्नपुर में रत्नदेव के पौत्र आजल्लदेव कालीन सन् १११४ का एक शिला-लेख प्राप्त हुआ है। उसमें एक स्थान पर यह उल्लेख किया गया है--"रत्नपुर चहुँ ओर से यह कह रहा है कि रत्नराज (रत्नदेव) ने मुझे पृथ्वी पर स्थापित होने का आदेश दिया है। और श्रेष्ठी यश मेरा नगर-प्रमुख (यश नामक नगरसेठ) है, इसलिये मेरे निमित्त से इन लोगों का यश तीनों लोक मे विस्तृत हो।"

किले के द्वार पर प्राचीन मूर्तियां—रतनपुर

तुम्माण राजधानी में रत्नदेव का सिंहासनारोहण लगभग सन् १०४५ में हुआ था। अनुमान है कि उसने सन् १०५० में अपनी राजधानी तुम्माण से रत्नपुर हटा दी।

रत्नपुर जनश्रुति के अनुसार चारों युगों की प्राचीन राजधानी थी। महाभारत में इसका उल्लेख "रत्नावलीपुरी" के नाम से किया गया है। मोरध्वज ताम्रध्वज वाली बहुचर्चित कथा का घटित स्थान यही रत्नपुर है। कुछ लोग रायपुर जिले के आरंग को मोरध्वज की राजधानी बताते हैं क्योंकि आरंग शब्द में "आरा" शब्द प्रयोगित है जिसके द्वारा पिता मोरध्वज का शरीर पुत्र ताम्रध्वज और उसकी रानी के द्वारा चिरवाया गया था। उधर असम के समीप "मणिपुर" भी अपने को इस कथा में उल्लिखित स्थान होने का दावा सिद्ध करता है। अस्तु।

अनेक विद्वानों का मत है कि तुम्माण खोल से हटा कर अपनी राजधानी रत्नपुर ले आने का मुख्य हेतु यह मोरध्वज वाली कथा ही होगी जिसने रत्नदेव प्रथम को प्रभावित किया होगा, उसने सोचा होगा कि रतनपुर महाभारत प्रसिद्ध स्थान है अतएव इसे अपनी राजधानी बनाने से हैहयवंशियों के महत्त्व तथा गौरव में वृद्धि होगी किन्तु यों सोचिये तो सुरक्षा की दृष्टि से तुम्माण राजधानी के लिए अधिक उपयुक्त स्थान था। एक आख्यान के अनुसार वर्तमान रत्नपुर जिस स्थान पर बसा है वहाँ पहले मणिपुर नामक एक प्राचीन ग्राम था। बाबू रेवाराम तो अपने इतिहास (हस्तलिखित) में मणिपुर-रत्नपुर लिखते चले आये हैं। प्रसिद्ध जैन विद्वान मुनि कांति सागर ने एक स्थान पर लिखा है कि एक प्राचीन जैन ग्रंथ के अनुसार लगभग पाँच हजार वर्ष पहले नालंदा से भी प्राचीन विश्वविद्यालय रत्नपुर में था। जो हो, इसमें संदेह नहीं कि रत्नपुर एक प्राचीन ऐतिहासिक स्थान है।

रत्नदेव-प्रथम के राजत्वकाल में विद्या और कला को उदारतापूर्ण राजाश्रय मिला था। उसकी कीर्ति सुनकर दूर-दूर के विद्वान ब्राह्मण उसके दरबार में आते थे। उसने, स्वयं उसके मंत्री पुरुषोत्तम एवं वैश्य सामंत "यश" नामक नगरसेठ ने राज्य में अनेक मंदिर बनवाये, तालाब खुदवाये और अन्नसत्र स्थापित किये। रत्नदेव प्रथम के पौत्र जाजल्लदेव कालीन एक शिलालेख में रत्नपुर का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

एतद्धर्म्मविपुलं धनेश्वर महेशान्वितं
नानावर्णविचित्र रत्ननिचितं यतः।

नाना देवकुलैश्च भूपतिमिति स्वर्गामभ्तालक्ष्यते
श्रीमद्रत्नपुरं श्रुतयशो रत्नेश्वरी यद्वयघात् ।

अर्थात्—यह रत्नपुत्र (रत्नदेव) द्वारा बसाया गया है। इसकी कीर्ति सभी दिशाओं में फैली है यहाँ भगवान शंकर का (रत्नेश्वर के रूप में) वास होने और स्वयं इस पुर का विस्तार होने से यह कुबेर की अलकानगरी के समान प्रतीत होता है। रंग-बिरंगे विचित्र रत्नों से परिपूर्ण होने से यह रत्नाकर तुल्य है, और अनेक देवालय होने से यह स्वर्ग के समान शोभित है।

रत्नपुर करैहापारा (कलचुरिपारा) में रत्नेश्वर सरोवर और शिवमंदिर आज भी वर्तमान है।

रत्नपुर का क्षेत्रफल ११०६६ एकड़ है। क्षेत्रफल की दृष्टि से इससे दूसरा बड़ा कसबा सारे छत्तीसगढ़ में नहीं है। ऐतिहासिक एवं धार्मिक महत्त्वों से पूर्ण यह नगरी अब कसबा मात्र रह गया है। इसकी स्थिति बिलासपुर नगर से १६ मील दूर मनोरम पहाड़ियों के बीच में है। यह आज भी अपने अतीत गौरव-गरिमा के अनेक अवशेष चिन्ह लिये पर्यटकों के लिये आकर्षण केन्द्र बना हुआ है। प्राचीन छत्तीसगढ़ की इस राजधानी में प्राचीन स्थापत्य और शिल्प के नमूने सुरक्षितहैं। आज भी यहाँ की कलाकृतियों में दर्शकों को पुलकित करने वाली अद्‌भुत क्षमता है। यहाँ पहले १४०० सरसरोवर थे जो अब घट घट कर दो ढ़ाई सौ रह गये हैं। बैराग-सरोवर, जिसके तट पर एक प्राचीन शिवमंदिर है, के विषय में निम्नलिखित दोहा प्रसिद्ध है—

नर-नारी मज्जन करें उठें छतीसों राग
ऐसे रसिक तलाब को लोग कहें "बैराग"

किंबदंती है कि रत्नपुर नगरी का विस्तार पूर्व-दक्षिण में १२ मील दूर पाली तक था जहाँ एक अष्टकोण सुन्दर तालाब के तट पर शिवजी का एक मंदिर अपनी भव्यता और शिल्प कला में अभी भी उत्कृष्ट समझा जाता है। आश्चर्य तो यह है कि धरातल से लेकर चोटी तक इस मंदिर का एक एक इंच, अंग्रेजी शासन द्वारा मरम्मत कराये गये भाग को छोड़कर कलाकार की छेनी से अछूता नहीं रह गया है। मंदिर की दीवालों पर चहूँ ओर अनेक कलात्मक मूर्तियाँ इस चतुराई से अंकित हैं मानों वे बोल रही हों कि देखो हमने अब तक कला की साधना की है और तुम पूजा के फूल चढाओ। सच पूछिये तो छत्तीसगढ़ की प्राचीन संस्कृति का विकास इन्हीं मंदिरों में अंकित मूर्तियों के सहारे हुआ है। ये मूर्तियाँ अंग भंगिमा और सूक्ष्म साज-सज्जा की दृष्टि से सर्वथा बेजोड़ हैं। मंदिर के गर्भगृह की चौखट

पर अंकित लेख के आधार पर यह प्रतीत होता है कि इस दर्शनीय मंदिर को बाण-वंशी प्रथम विक्रमादित्यने सन् ८७०-६००के मध्य निर्माण कराया था और इसका जीर्णोद्धार जाजल्लदेव प्रथम ने लगभग २०० वर्ष के पश्चात् किया था जैसा कि उसके द्वारा प्रस्थापित दीवाल और स्तंभों पर खुदा है—

"श्री मज्जाल्वदेवस्य कीर्ति"

पाली के मंदिर के सभा मंडप में चौरासी योगिनियों की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हैं जो अत्यंत सुंदर और मनहरण हैं। मंदिर के भीतरी भाग की कला-कृतियों में जिस कोमल और मधुर भाव के दर्शन होते हैं—उसका बयान नहीं हो सकता। "गिरा अनयन नयन बिन बानी।" मूर्तियों के शिल्प में रेखाओं की निपुणता, लालित्यपूर्ण अंग-सौष्ठव एवं विस्मयकारी शिल्प-सृष्टि, कलाप्रेमियों में रस का संचार करती हैं।

रतनपुर में सती चौतरे भी असंख्य हैं। रतनपुर में प्रतिवर्ष माघ पूर्णिमा को मेला भरता है जो "आठाबीसा" का मेला कहाता है जहाँ २८ रानियाँ सती हुई थीं जिनका सती मंदिर अब खंडहर की अवस्था को भी पार कर गया है। यहाँ महामाया के मंदिर के पार्श्व में भी एक सुन्दर सती मंदिर है जहाँ "भवानी साव" दानी अग्रवाल की पत्नी सती हुई थी। बेदतालाब रानी वेदवती द्वारा खुदाया हुआ है जिसके तट पर "बीस दुबरिया" नामक सुन्दर मंदिर है जो अपनी कला की भव्यता और बनावट के लिये प्रसिद्ध है। रतनपुर के जूनाशहर में मूसेखाँ की दरगाह है जहाँ अब कुछ वर्षों से मुसलमान "उर्स" भराते हैं। इस संबंध में कप्तान जे० टी० ब्लंट ने, जिसने अपनी यात्रा के बीच सन् १७६५ में रतनपुर में पाँच दिनों का मुकाम किया था, अपनी रिपोर्ट में लिखा है—"दुलहरा तालाब से करीब एक मील पश्चिम की ओर एक मुसलमान पीर की समाधि है जिसका नाम मूसेखाँ था और जिसकी हत्या गोंड़ों ने कर दी थी।" पर इसका उल्लेख अन्यत्र कहीं अभी तक नहीं पाया गया है।

दक्षिण कोसल में शैवधर्म प्रमुख रूप से प्रचलित था। हैहयवंशी परम शैव थे। उनकी मान्यता थी कि तुम्माण के बंकेश्वर महादेव की कृपा से ही उन्हें दक्षिण कोसल का राज्य प्राप्त हुआ है। तुम्माण का बंकेश्वर शिवमंदिर तथा रत्नपुर का रत्नेश्वर इसके प्रमाण हैं। रत्नपुर के राजा पृथ्वी देव द्वारा स्थापित वृद्धेश्वर नाथ की अभी भी बड़ी महिमा है। मंदिर अच्छी हालत में है और रागभोग का प्रबंध भी ठीक है। निकट ही रामटेकड़ी में बिम्बाजी भोंसला राजा द्वारा निर्मित राम पंचायतन का विशाल मंदिर है। इसके सामने ही बिम्बाजी की करबद्ध मूर्ति उनकी पत्नी आनंदीबाई द्वारा बनवाया हुआ एक मंदिर में

स्थापित है। मुख्य मंदिर से लगा हुआ शिवजी का एक छोटा सा मंदिर जहाँ शिव पार्वती की प्रतिमा संगमरमर पत्थर से तराशी हुई स्थापित है, देखने योग्य है। प्रशस्तियों में रतनपुर के पश्चिम में पहाड़ी के ऊपर पार्वती तथा इकबीरा के मंदिर का उल्लेख है। इकबीरा के मंदिर को पुष्पक विमान के सदृश बताया गया है। आजकल यह लक्ष्मी देवी के मंदिर के नाम से जाना जाता है।

रतनपुर का भग्न किला अभी भी दर्शनीय है क्योंकि मराठों ने सन् १७४२ में रतनपुर पर चढ़ाई कर उस पर अधिकार कर लिया था और बाद में उसका जीर्णोद्धार भी कराया और कुछ नये द्वार भी बनवाये। एक आलमारीनुमा दीवाल पर धमधा के गोंड़ राजा विजाइक की मोटे पत्थर की बेडौल मूर्ति हाथ पैर कटी रक्खी है। यह हैहयवंशी राजा द्वारा युद्ध में मारा गया था ऐसा कहा जाता है। लोग इसे गोपल्ला वीर की मूर्ति कहते हैं जिसने राजा कल्याण साय को दिल्ली जाकर जहाँगीर बादशाह को अपनी पहलवानी से खुश कर वापस ले आया था, पर पं० शिवदत्त शास्त्री (रतनपुर निवासी) इसे अपने इतिहास में राजा विजाइक की मूर्ति बताते हैं जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है। किले की दीवालों में ध्वंसावशेष महलों या मंदिरों के जो पत्थर जीर्णोद्धार करते समय लगाये गये हैं उनमें से कुछ नक्काशीदार पत्थर निर्दोष खुदाव और शिल्प-नैपुण्य के कारण दर्शनीय हैं। पत्थर की एक चौखट पर जो गणेश द्वार के सम्मुख किले के द्वार पर लगा दी गई है, नक्काशी का उत्कृष्ट काम किया गया है। चौखट के दोनों ओर गंगा यमुना की मूर्तियाँ एवं उनके ऊपरी भाग में गंधर्वों का नृत्य-गायन का दृश्य मन को मोह लेता है। द्वार पर ब्रह्मा-विष्णु की मूर्तियाँ तथा शिवजी के ताडव नृत्य का दृश्य खचित है। तीनों देवताओं के नीचे जो रिक्त स्थान है वहाँ नवग्रहों की प्रतिमाएँ उकेरी गई हैं, जो बहुत सुन्दर हैं। प्रमुख देवताओं में स्वामिकार्तिक की मूर्ति सबसे अधिक आकर्षक है। एक और अनुपम दृश्य जो अन्य किसी मंदिर में नहीं पाया जाता—रावण की शिव उपासना का है जब वह अपना एक एक सिर काटकर शिवलिंग पर चढ़ा रहा है।

नगर के पूर्व में प्रवेश मार्ग से लगा हुआ भैरवजी का मंदिर है जहाँ उनकी ६ फुट ऊँची मूर्ति स्थापित है। यद्यपि मंदिर की बनावट में अत्यन्त सादगी है पर उसकी कसर निकटवर्ती विशाल कुंड निकाल देता है जिसका निर्मल जल आपको आचमन करने के लिए बरबस खींच लेता है जब आप सुंदर पत्थर की सीढ़ियाँ उतरकर अपनी प्यास बुझाते हैं। मंदिर. हाता, कुंड की सीढ़ियाँ

बाबा ज्ञानगिरि द्वारा निर्माण कराई गईं थीं जैसा कि शिवदत्त शास्त्री के इतिहास में वर्णित है ।

नगर के पश्चिम में महामाया देवी का प्रख्यात मंदिर है । मंदिर और स्थापित मूर्तियाँ पुरानी हैं पर सभागृह राजा बाहरसाय का बनवाया हुआ है। इस संबंध की प्रशस्ति में संवत् १५५२ (सन् १४९५) की तिथि पड़ी हुई है जिसे शिल्पी छितकू ने उत्कीर्ण किया है । मंदिर के सामने जल पूर्ण सीढ़ियों से सजा सुन्दर कुंड है और उसके उस पार कंठी देवल है जिसकी हालत बहुत खस्ता है यद्यपि वह शासन द्वारा सुरक्षित है क्योंकि उसका निर्माण-शिल्प दर्शनीय है । इसकी दीवाल पर खचित कुछ मूर्तियाँ रायपुर संग्रहालय में ले आई गई हैं जिनमें से एक दृश्य शिव-पार्वती के विवाह का है । इसका निर्माण काल दसवीं शताब्दी जान पड़ता है ।

रतनपुर में बौद्ध और जैन धर्म संबंधी मूर्तियाँ भी अल्प संख्या में पाई गई हैं । जैनियों के तीर्थंकर की एक खड़ी मूर्ति बड़े पुल में लगी हुई है जो पुल के निर्माण के अवसर पर ठेकेदार द्वारा खंडहरों से और मूर्तियों के साथ बटोर कर लगाई गई होगी । प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन ने ईस्वी सन् २०० वर्ष पूर्व कुछ काल तक यहाँ निवास किया था ।

सन् ईस्वी की सत्रहवीं और अठारहवीं सदी में कुछ योरोपियनों ने रतनपुर की यात्रा की थी । अंत में यह लिखे बिना नहीं रहा जाता कि छत्तीसगढ़ की गोद में अलसित, निस्तब्ध, आडम्बर रहित ऋषिराज की भाँति समाधि में लीन रत्नपुर आपको सब कुछ जो प्राचीन है दे सकता है—अनेक दर्शनीय स्थल, भाँति भाँतिके दृश्य, उपवन, कंदराएँ, खंडहर और शीतल आश्रय। पग पग पर यहाँ निर्मल जल के सरोवर यात्रियों का स्वागत करते हैं और कहते हैं—आओ, मेरे तट पर आम्रवृक्ष की छाँह में थोड़ा विश्राम कर लो, फिर मेरा जल ग्रहण कर मेरा आतिथ्य स्वीकार करो ।

खलारी

लगता है खलारी (खल्वाटिका) अल्प समय तक हैहयवंशियों की एक शाखा की राजधानी रही जैसा कि वहाँ के नारायण मंदिर के मंडप में लगे हुए एक उत्कीर्ण लेख से पता लगता है। इस मंदिर को देवपाल नामक एक मोची (संस्कृत में भी "मोची" शब्द का प्रयोग किया गया है) द्वारा निर्माण कराया गया था । इसमें खल्वाटिका को मुख्य राजधानी बताई गई है पर

यह नहीं कहा गया है कि यह रायपुर राज्य की राजधानी थी। इसकी पृष्ठ भूमि इस प्रकार है—

ई० सन् की पंद्रहवीं सदी में रतनपुर के हैहयवंशी राजा जगन्नाथ के दो पुत्र हुए—१. वीरसिंगदेव और २. देवनाथसिंगदेव। ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण वीरसिंग को रतनपुर की राजगद्दी मिली और उसके वंशज पीढ़ी दर पीढ़ी रतनपुर के राजा होते गये। रतनपुर के प्रसिद्ध इतिहासकार बाबू रेवाराम कायस्थ के अनुसार इसी समय राज्य का बँटवारा कर दिया गया और छोटे भाई देव- नाथसिंग को रायपुर राज्य (शिवनाथ नदी का दक्षिण भाग) दिया गया। इस संबंध में रेवाराम बाबू के लिखे वाक्य इस प्रकार हैं। भाषा १८वीं सदी की है पर उर्दू-फारसी मिश्रित है—

"राजा वीरसिंगदेव तख्त रतनपुर राज्य के मालिक, माँ बाप ऊपर लिखे मुताबिक, रानी कनकदेवी राजा चौहान पटना वाले बैजलदेव की बेटी, बेटा राजा कमलदेव, राज्य ३६ वर्ष किये। कलयुग ४५०८, सं० १४६४ तक। दरम्यान भाई देवनाथसिंग, सैन्यापति तख्त ब्रह्मदेव राजा के शहर रायपुर हिस्सा आपुस कर दिया गया। खिल्लत बदरियाफ्त वंश परम्परा बंदोबस्त बादशाही से कायदा २ अव्वल १ तख्त रतनपुर बड़ा भाई के कब्जे में, तख्त दोयम रायपुर छोटाभाई देवनाथसिंगदेव, रानी धोपादेवी, राजा गंगवंशी सोमदेव के बेटी, इनके पुत्र राजा केशवदेव के वंशावली राजा रायपुर हाजिर हाल सं० १५२० से जुदा है, परंतु संक्षेप में यहाँ लिखा गया है।"

किन्तु रायपुर में सं० १४५८ के और खलारी में १४७१ के जो शिलालेख प्राप्त हुए हैं उनमें राय और हरि ब्रह्मदेव को रायपुर का राजा बताया गया है। इन शिलालेखों तथा बाबू रेवाराम के इतिहास पर से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि रतनपुर के हैहयवंशी राजवंश में आपसी झगड़े शुरू हो गये थे और उस वंश का कोई भाई भतीजा या चाचा लक्ष्मीदेव रायपुर में आकर जम गया था। फिर लक्ष्मीदेव का पुत्र सिंघण हुआ जिसे सं० १४७१ के शिला- लेख में शत्रुओं से १८ गढ़ जीत लेने का यश प्रदान किया गया है। सिंघण का पुत्र रामचंद्र हुआ जिसे इसी शिलालेख में रामदेव कहा गया है। रामदेव का पुत्र ब्रह्मदेव हुआ। इसी ब्रह्मदेव को दोनों शिलालेखों में राजा बताया गया है जबकि रेवाराम बाबू इन्हें अपने इतिहास में "सैन्यापति तख्त ब्रह्मदेव राजा के सहर रायपुर कहते हैं।" सिवाय इसके संवत् १४५८ के शिलालेख में लेखक कहता है—"ब्रह्मदेव के पूर्वजों के क्या नाम थे, यह कौन बता सकता है और ब्रह्मदेव के वंश को तो बड़े-बड़े जानते हैं।" ये सब भ्रमपूर्ण और टरकाऊ बातें

है। सिवाय इसके लक्ष्मीदेव-पुत्र सिंघण पुत्र--रामचंद्र उर्फ रामदेव-पुत्र ब्रह्मदेव-पुत्र हाजिराज इन सबका पता न तो रतनपुर राजवंश में चलता है और न रायपुर राजवंश में। ऐसा लगता है कि ब्रह्मदेव इस राजकुल का तो होगा पर पीढ़ी दर पीढ़ी आने वाली वंश परम्परा में यह नहीं था। इसके समय में राज्य का पक्का बँटवारा हो गया होगा। और देवनाथसिंह-पुत्र केशवदेव को रायपुर की गद्दी, और विवाद मिटाने के लिए लक्ष्मीदेव के वंशज को खल्वाटिका (खलत्री) का क्षेत्र दे दिया गया होगा। अन्यथा शिलालेख में खल्वाटिका को "मुख्य राजधानी" बताने की क्या जरूरत थी। इसके बाद खलारी के राजधानी बने रहने का पता नहीं चलता। इधर रायपुर-राज्य में केशवदेव की पीढ़ी ही राजा होते चली गई। आश्चर्य नहीं कि खलारी वाली पीढ़ी राजा हाजिराज के बाद खतम हो गई हो और वह राज्य भी रायपुर राज्य में मिला लिया गया हो।

खलारी में देवपाल मोची द्वारा निर्माण कराये गये नारायण के मंदिर में शिल्प का सौन्दर्य शून्य है। पास में अनेक मंदिर हैं। एक ऊँचा टीला भी है और एक किले का ढूह मात्र है। यहाँ खलारी देवी का एक मंदिर भी है जिसके समीप प्रतिवर्ष चैत्र पूर्णिमा को मेला भरा करता है। यहाँ एक अजीब प्रथा है। मेले के दूसरे दिन खलारी माता का दर्शन करने के लिये सुबह से जो ताँता लगता है, वह तीन-चार बजे तक खत्म हो ही जाना चाहिये। आठ बजे रात में तो वहाँ घोर सन्नाटा छा जाता है। खलारी से दो मील दूर एक गुबजनुमा चट्टान है जिसमें खलारी माता की बहिन खोपड़ा माता विराजमान हैं। गाँव में नक्काशी किये कुछ स्तम्भ पाये जाते हैं और कुछ सती चौतरे भी हैं पर तालाब और पोखरों की संख्या पर्याप्त है।

रायपुर

रायपुर में हैहयवंशी राजाओं की लहुरी शाखा की राजधानी थी। रायपुर जिस स्थान पर पहले बसा था अब वह पुरानी बस्ती कहलाती है। राजधानी बनायी जाने के पहले यहाँ कोई बस्ती थी या नहीं कहना कठिन है। अभी तो यही समझा जाता है कि राय ब्रह्मदेव द्वारा बसाये जाने के कारण इसका नाम रायपुर पड़ा।

यहाँ सन् १४६० के लगभग निर्माण किये हुये किले के अवशेष यत्र तत्र पाये जाते हैं। किले के भीतर भूमिखंड में अनेक छोटे छोटे मंदिर पाये गये हैं। किले के दोनों बाजू एक एक बड़े तालाब हैं। यहाँ प्राचीनकाल में बने

प्रासाद या मंदिरों का सर्वथा अभाव है जैसा कि छत्तीसगढ़ की अन्य राजधानियों में पाये गये हैं। दूधाधारी मठ और मंदिर का निर्माण १७वी शताब्दी के मध्य हुआ था। उस समय यहाँ के राजा जैतसिंह थे। इन्होंने भोंसलों के राजगुरु स्वामी बलभद्रदास को निमंत्रित कर मठ और मंदिर के निर्माण हेतु भूमि और द्रव्य प्रदान किया था।

स्वामीजी केवल दूध का आहार करते थे, फलतः यह मठ और मंदिर दूधाधारी के नाम से प्रसिद्ध है। उनके द्वारा फेंके हुए नीम का दातौन आज भी वृक्ष के रूप में विराजमान है।

सन् १७९० में एक अंग्रेज जिसका नाम लेकी था, अपने प्रवास के बीच रायपुर आया था। रायपुर के संबंध में वह अपने प्रवास-वर्णन में लिखता है "रायपुर एक बड़ा शहर है, जहाँ बड़ी संख्या में व्यापारी और धनिकगण निवास करते हैं। यहाँ एक किला है। उसके नीचे का भाग पत्थर का है तथा ऊपर का निर्माण मिट्टी से किया गया है। उसमें पाँच द्वार तथा अनेक बुर्ज हैं। किले के पास एक सुंदर सरोवर है किन्तु उसका जल अच्छा नहीं है।"

कप्तान जे ब्लंट जिन्होंने सन् १७९५ में इस अंचल का दौरा किया था अपनी रिपोर्ट में लिखते हैं—"रायपुर दूसरा प्रमुख शहर है।" पहला शहर उन्होंने रतनपुर को बतलाया है। "किन्तु जनसंख्या और व्यापार की दृष्टि से यह सबसे बड़ा शहर है। गिनने पर यहाँ तीन हजार घर पाये गये हैं। नगर के उत्तर पूर्व में एक बड़ा पत्थर का किला है। अब उसकी दीवालें गिर गई हैं किन्तु खाईं गहरी और चौड़ी है।"

बेगलर नाम के एक दूसरे अंग्रेज ने सन् १८७३–७४ में यहाँ का दौरा किया था। इसने दूधाधारी के मंदिर में जो नक्काशी का काम किया गया है उसकी बड़ी प्रशंसा की है। बेगलर को दूधाधारी के पुजारियों ने मंदिर को इतनी दूर से देखने दिया था कि उसकी परछाईं या हवा तक मंदिर को स्पर्श न कर सके।

रायपुर इस समय सभी दृष्टिकोण से छत्तीसगढ़ का सबसे प्रमुख नगर है।
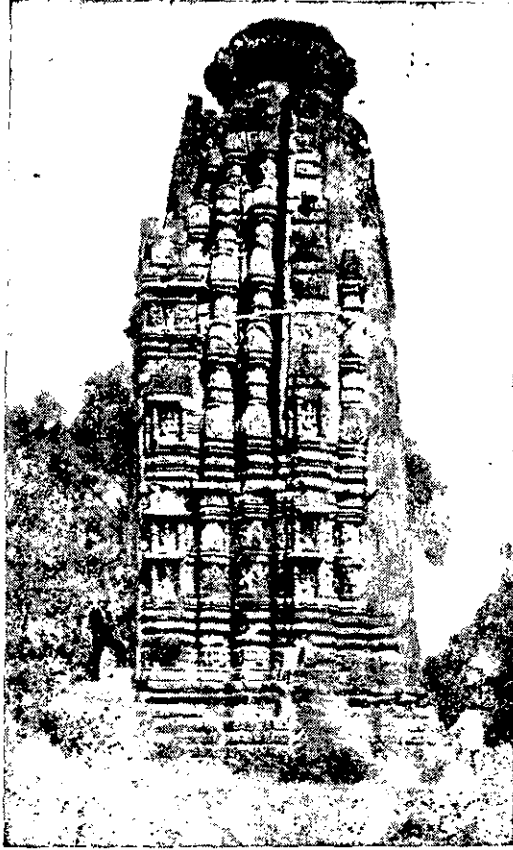
प्राचीन जैन मंदिर, आरंग (ब्लाक लेखक द्वारा प्रदत्त)

११

महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक तथा प्रमुख स्थान[1]

(१)

आरंग—प्राचीन समय में यह एक अच्छा और महत्त्वपूर्ण नगर रहा जैसा कि उसके तालाबों की संख्या, मंदिर के भग्नावशेष तथा जैन और वैष्णव मंदिरों से प्रमाणित होता है। यहाँ अभी तक पाँच उत्कीर्ण लेख मिले हैं—

१. अज्ञात वंश का त्रिकोणाकृति शिलालेख जिसकी लिपि ब्राह्मी है। अक्षरों के आकार प्रकार से ईसा की चौथी शताब्दी का लेख जान पड़ता है। भाषा प्राकृत या संस्कृत है। लेख में "शृंगार पर्व में चलयोग" लिखा जान पड़ता है।
२. राजर्षि तुल्य-कुल के महाराज (द्वितीय) भीमसेन का ताम्रलेख गुप्त संवत् १८२ या २८२ (लगभग १५०० वर्ष पूर्व का)
३. शरभपुरीय राजा जयराज का ताम्रलेख पत्र, राज्य-वर्ष ५
४. शरपुरीय राजा सुदेवराज का ताम्रपत्र; राज्य-वर्ष ८
५. कलचुरि (हैहयवंशी) राजा अमरसिंह देव का ताम्रपत्र संवत् १७९२ विक्रम।

यहाँ जैनियों का एक कलापूर्ण खुदाव से पूर्ण उत्कृष्ट मंदिर है। इसे लोग मांड़-देवल कहते हैं, इसमें तीन नग्न मूर्तियाँ हैं। यहाँ से लगभग आध मील दूर बाघेश्वर का मंदिर है। बस्ती की पश्चिम दिशा में एक तालाब पर महामाया का मंदिर है। यहाँ आसपास मूर्तियों के भग्नखंड बड़ी संख्या में पड़े हैं। यहीं तीन नग्न जैन मूर्तियाँ हैं जो अजीतनाथ, नेमिनाथ और श्रेयांश की

---

१. गजेटियर, छत्तीसगढ़ परिचय (बल्देव प्रसाद मिश्र), भौगोलिक नामार्थ परिचय (हीरालाल), जिलों के भूगोल तथा निजी संग्रह की सामग्री के आधार पर।

कही जाती है। महामाया तालाब के पश्चिम दिशा की ओर नारायणताल है। इसके पार पर विष्णुजी की मनुष्य की ऊंचाई की अनेक भग्न प्रतिमाएं बड़े बड़े शिलाखंडों के साथ रक्खी हैं, जिनसे यह अनुमान होता है कि यहाँ कोई विशाल मंदिर अवश्य रहा होगा। लगभग सन् १६०० में बहुमूल्य पत्थर से निर्मित एक जैन मूर्ति यहां प्राप्त हुई थी जो पाँच हजार रुपयों में बिकी थी।

छत्तीसगढ़ में लोरिक और चंदैनी गीत प्रसिद्ध है। कहते है, यह युगल प्रेमी आरंग के ही निवासी थे।

खलारी—यह ग्राम पहाड़ियों की घाटी में बसा हुआ है। इसका प्राचीन नाम खल्वाटिका था। यहाँ एक देवालय में जो शिलालेख प्राप्त हुआ है वह वि० सं० १४७१ (सन् १४१५ ई०) का है और उसमें उल्लिखित है कि यहाँ हैहयवंशी राजा हरि ब्रह्मदेव की राजधानी थी। इस मंदिर का निर्माण देवपाल नामक मोची द्वारा कराया गया था। इसमें नारायण की मूर्ति स्थापित है। यहाँ और अनेक भग्नप्राय मंदिर हैं। एक पहाड़ी पर एक मंदिर और है जिसमें खलारी माई की मूर्ति स्थापित है। इसके समीप चैत्र पूर्णिमा को प्रतिवर्ष मेला भरा करता है। खलारी से दो मील दूर एक गुम्बनुमा चट्टान है जहाँ, कहा जाता है कि खलारी माई की बहिन खोपड़ा निवास करती थी। यहाँ तालाब तथा पोखरों की संख्या पर्याप्त हैं। यहाँ एक किले का ढूह भी नजर आता है। गाँव में प्राचीन खुदावदार स्तम्भ तथा सती चौतरे भी पाये जाते हैं, जिनसे इस स्थान की प्राचीनता प्रमाणित होती है।

चम्पाझर—(चम्पारण्य) यह ग्राम राजिम से ६ मील पर है। यहीं प्रसिद्ध वैष्णव संत महाप्रभु वल्लभाचार्य ने वैशाख कृष्ण ११ सं० १५३५ वि० को जन्म लिया था। इनके पिता का नाम लक्ष्मीभट्ट तथा माता का नाम इलम्मागास था। ये तैलंग ब्राह्मण थे। यहाँ आरण्य के बीच चम्पकेश्वर महादेव का एक प्राचीन मंदिर है। लिंग के ऊपर दो रेखाएँ उत्कीर्ण हैं, जिससे यह तीन विभागों में विभाजित हो गया है। ऊपर के भाग में गणेशजी की छवि उत्कीर्ण है। मध्य भाग शिवजी का प्रतिनिधित्व करता है और निम्न भाग पार्वती जी का। यहाँ स्त्रियों को बाल खोले रखना पड़ता है। चम्पारण्य धीरे धीरे प्रसिद्ध तीर्थ स्थान हो रहा है, जहाँ दूर-दूर के वैष्णव गुजराती, परिवार सहित यात्रा के निमित्त आते हैं। यहाँ गर्भवती स्त्रियों के आने की मनाई है। कहते हैं कि वल्लभाचार्य का जन्म समय से पहले इसी आरण्य में हो गया था, जब उनके माता पिता तीर्थ यात्रा के निमित्त इस मार्ग से गमन कर रहे थे। कोई ७० वर्ष

जैन मूर्तियां, द्वारंभ

पहले इस स्थान पर वल्लभाचार्य का एक मंदिर भी बनवा दिया गया है। इस गांव में एवं निकटवर्ती ग्रामों में होली जलाने की प्रथा नहीं है।

तुरतुरिया—यह रायपुर से ५० मील और सिरपुर से लगभग १५ मील दूर है। इसकी गणना तीर्थ-स्थानों में की जाती है। यह बहरिया नामक ग्राम से लगा हुआ बलमदी नाला पर है। जनश्रुति है कि त्रेतायुग में यहीं महर्षि बाल्मीकि का आश्रम था और उन्होंने यहीं सीताजी को श्री रामचन्द्र जी द्वारा त्याग देने पर आश्रय दिया था। यहीं सीताजी के दोनों पुत्र लव और कुश ने जन्म लिया था।

इसका तुरतुरिया नाम पड़ने का कारण यह है कि चट्टानों के बीच से जब यह निर्झरिणी निकलती है तब बुलबुले उठते हैं और उससे "तुर तुर" आवाज होती है। इस निर्झरिणी का उद्गम एक लम्बी सकरी गुफा से होता है, जहाँ से वह बड़ी दूर तक भूमिगत होकर बही है। गुफा में उसका जल ईंटों से निर्मित एक कुंड में एकत्र होता है। कुंड में उतरने के लिए पत्थर की सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। समीप ही बौद्ध, वैष्णव और शैव धर्म संबंधी अनेक मूर्तियाँ पाई जाती हैं जिनमें शिवलिंगों की अधिकता है। विष्णु और गणेशजी की मूर्तियाँ भी इनमें हैं। ऐसा जान पड़ता है कि अधिकांश लिंगों का निर्माण बौद्ध बिहार के टूटे हुए स्तम्भों से किया गया है। कुंड के निकट ही दो शूरवीर की मूर्तियाँ हैं, जिनमें से एक शूरवीर तलवार उठाये हुए उस सिंह को मारने के लिए उद्यत है, जो उसकी दाहिनी भुजा को फाड़ रहा है। दूसरी मूर्ति, एक जानवर को उसकी पिछली टाँगों पर खड़ा होकर उसका गला मरोड़ रहा है। यहाँ पत्थर के कई स्तम्भ यत्र तत्र बिखरे हुए पड़े हैं जिन पर उत्कृष्ट खुदाव का काम किया गया है। कुछ भग्न मंदिरों में बुद्ध की मूर्ति उत्कीर्ण है जिनमें वे उपदेश देने की मुद्रा में दिखाये गये हैं साथ ही उनकी शिक्षाएँ भी यहाँ उत्कीर्ण हैं जिनकी लिपि आठवीं-नवीं शताब्दी की जान पड़ती है। इस स्थान की विशेषता यह है कि यहाँ स्त्री पुजारिनें ही नियुक्त हैं, जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यहाँ बौद्ध भिक्षुणियों का विहार था। भारत में केवल भिक्षुणियों के लिए बिहार का कहीं निर्माण किया गया था या नहीं, यह शोध का विषय है।

देवभोग :—यह रायपुर जिले के दक्षिणी छोर में रायपुर से लगभग १३६ मील पर बसा हुआ छोटा सा ग्राम है। यह स्थान सोमवंशी राज्य के एक जिला का मुख्यालय था। यहाँ महाभवगुप्त द्वितीय के द्वारा दान दिया गया ताम्रपत्र लेख पाया गया है।

देवकूट :—यह रायपुर जिले की धमतरी तहसील में सिहावा से पश्चिम ८ मील पर महानदी के तट पर बसा हुआ छोटा सा ग्राम है, जहाँ चार छोटे

छोटे प्राचीन मंदिर दृष्टिगत होते हैं। दो मंदिर और हैं, जहाँ उत्कृष्ट खुदाई का काम किया गया है। इनमें से एक मंदिर में कांकेर नरेश व्याघ्रराज का नाम उत्कीर्ण है जो वहाँ १२वीं शताब्दी में राज्य करता था।

धमतरी :—यह रायपुर से ४८ मील दक्षिण में है। यहाँ से पाँच मील दूर दक्षिण दिशा से पहाड़ी प्रदेश शुरू हो जाता है, जिनमें सिहावा और गट्टासिल्ली की श्रेणियाँ भी सम्मिलित हैं। पूर्व में पैरी नदी है, जो बिन्द्रांनवागढ़ से इसे अलग करती है। लगता है—धमतरी धर्मतराई का बिगड़ा हुआ रूप है। इसके चारों ओर ५ मील के भीतर तराई शब्द जुड़ा हुआ कई तराई है जैसे—श्यामतराई, परसतराई, बाघतराई, आदि। यहाँ प्राचीन समय का भग्न किला है जिसकी खाइयाँ जल विहीन हो गई हैं। जनश्रुति है कि धमतरी किसी समय गोंड़ राजा धुरवा की राजधानी थी ? उसकी केवल एक ही पुत्री थी जिसका ब्याह उसने कांकेर के राजा से कर दिया था, जिसका निवासस्थान सिहावा में था। धुरवा राजा निःसंतान था, फलतः धमतरी दामाद को मिल गया, जिसने सिहावा को त्यागकर इसे ही अपना वास्तव्य स्थान बना लिया। किन्तु यह राजा भी निष्पुत्र था। अतएव इसके भाई ने जो कांकेर में रहता था, आकर गद्दी संभाली पर उसे यहाँ का निवास सुविधाजनक प्रतीत नहीं हुआ और वह कांकेर से ही यहाँ का भी राजकाज देखने लगा।

धमतरी में कुछ प्राचीन मंदिर हैं जिनमें से श्री रामचंद्र का मंदिर प्रसिद्ध है। यहाँ खुदाव का जो कार्य किया गया वह दर्शनीय है। कहा जाता है कि इसकी कुछ मूर्तियाँ सिरपुर से लाई गई थीं। सिरपुर यहाँ से ६० मील दूर है। सबसे अधिक लोकप्रिय यहाँ बिलाई माता हैं, जो इस कसबे की रक्षिका समझी जाती हैं। इसकी मढ़िया कसबे के बाहर एक अनगढ़ पत्थर पर निर्मित है, जिस पर कुछ मूर्तियाँ खचित हैं। लोग कहते हैं कि यह स्वयंभू है अर्थात् पृथ्वी से आप ही आप निकली है। यह पत्थर जिसे लोग देवी माता के समान पूजते हैं, छोटे से बड़ा होता गया है, जैसे कोई बालक बढ़ता है। दशहरा पर्व पर मराठे लोग जुलूस बनाकर यहाँ आते हैं और माता की पूजा-आर्चा करते हैं। माघ पूर्णिमा को प्रतिवर्ष यहाँ मेला भरा करता है।

नारायणपुर :—यह रायपुर से ५३ मील दूर महानदी के तट पर छोटा सा ग्राम है। यहाँ खरौद में प्राप्त सन् ११८१ ई० के शिलालेख के अनुसार हैहयवंशी राजाओं ने एक बढ़िया उद्यान लगवाया था तथा धर्मशाला, सदाव्रत, भोजन वितरण आदि की भी व्यवस्था की थी। नारायणपुर के समीप रामपुर, लक्ष्मणपुर तथा सीतापुर नामक गाँव बसे हुए हैं। नारायणपुर में शिवजी का एक सुन्दर
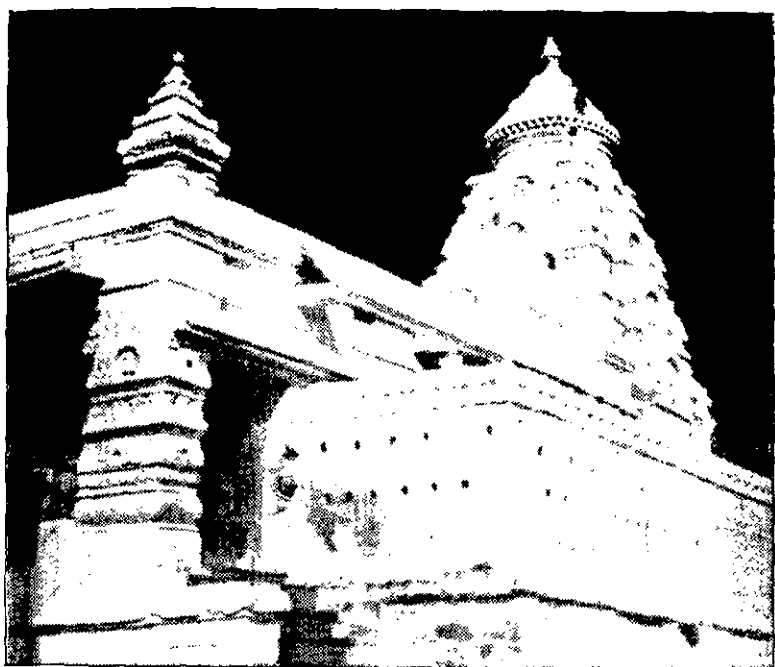
राजीव लोचन का मंदिर—राजिम
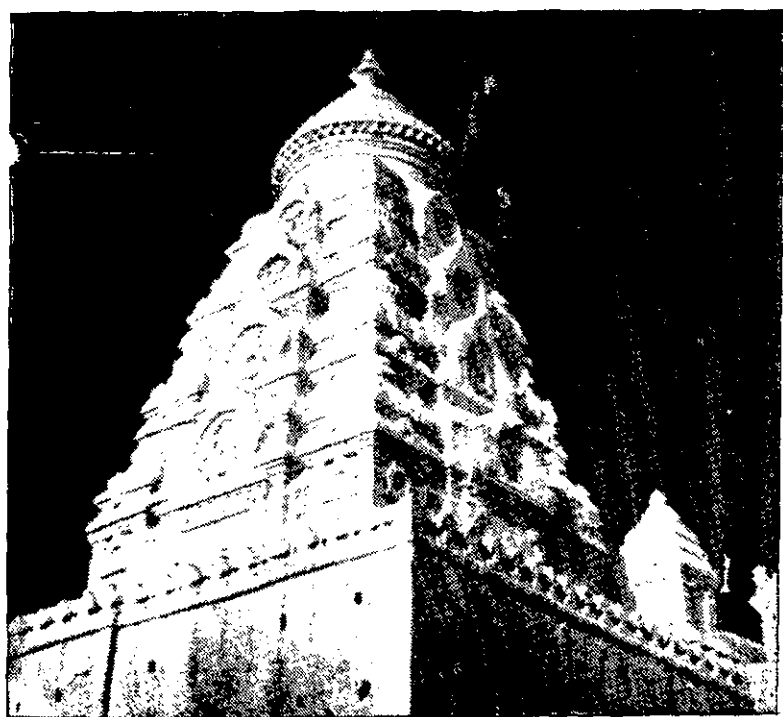
राजीव लोचन मंदिर का ऊपरी भाग—राजिम

मंदिर है, जहाँ शिल्प की श्रेष्ठ कृतियाँ दृष्टिगत होती हैं। समीप में और अनेक छोटे-छोटे मंदिर हैं। पूर्व काल में यह सुविधाजनक स्थान रहा होगा जहाँ यात्रीगण ठहरते रहे होंगे।

राजिम :—यह कसबा रायपुर से २६ मील दूर महानदी के दाहिने तट पर बसा हुआ है, जहाँ महानदी में पैरी और सोंढ़ल नदियाँ आकर मिलती हैं। यहाँ मंदिरों की संख्या पर्याप्त है, जिनमें राजीव लोचन का मंदिर प्रधान है। इस मंदिर को छत्तीसगढ़ के अब तक के ज्ञात सभी मंदिरों में प्राचीनतम माने जाने में कोई आपत्ति प्रतीत नहीं होती यद्यपि पश्चात्वर्ती काल में इस मंदिर का अनेक बार जीर्णोद्धार होने से, इसमें अनेक परिवर्तन और परिवर्द्धन हुए हैं और अब वह मूल रूप में नहीं है। एक बात स्मरण रखने योग्य है कि राजिम के इस मंदिर के निर्माणकाल से पूर्व समय में बना हुआ मल्लार के समीप बूढ़ीखार नामक ग्राम में एक विष्णु मंदिर था जिसमें स्थापित विष्णुजी की प्रतिमा उसी मग्रा में प्राप्त हुई है। इसके अतिरिक्त प्रसिद्ध चीनी यात्री हुएनसांग ने, जिसने इस देश की यात्रा सातवीं शताब्दी में की थी, अपने यात्रा विवरण में कोसल देश की राजधानी में सम्राट अशोक द्वारा निर्मित स्तूप तथा अन्य प्रासादों का निर्माण कराये जाने का वर्णन किया है।

राजीव लोचन मंदिर की कथा का संबंध राजीव या राजू नाम की तेलिन से जोड़ा जाता है। पर यह स्मरण रखने योग्य है कि कहीं-कहीं राजिम का प्राचीन नाम कमलक्षेत्र या पद्मपुर भी कहा गया है और राजिव शब्द का अर्थ भी कमल होता है। इस मंदिर के भीतर बायें हाथ की ओर दीवाल में दो शिलालेख हैं। इनमें से एक बहुत प्राचीन है और उसके अक्षर क्षतिग्रस्त हो गये हैं। दूसरा शिलालेख कम प्राचीन प्रतीत होता है।

पहला शिलालेख

यह शिलालेख ८वीं या ९वीं शताब्दी में उत्कीर्ण किया गया था। इसकी लिपि कुटिल है। क्षतिग्रस्त होने के कारण पढ़ा नहीं जाता। कुछ पढ़ा गया है उससे पता लगता है कि यह विष्णु मंदिर था। इसकी चौथी पंक्ति में "पांडव" छठीं पंक्ति में सम्राट नल (ख्यातो नृप नलः), सातवीं पंक्ति में "विरूपराज" शब्द पढ़े गये हैं। एक इतिहासकार ने इसे राजा बसंतराज से संबंधित बताया है और इसका निर्माण काल ८वीं या ९वीं शताब्दी हो सकता है।

दूसरा शिलालेख

यह शिलालेख माघ शुक्ल ८ कलचुरि संवत् ८९६ दिन बुधवार (३ जनवरी सन् ११४५) को उत्कीर्ण किया गया है। इस लेख में बताया गया है कि

जगपाल नामक रतनपुर के हैहयवंशी राजा जाजल्लदेव के सेनानी उसके पुत्र रत्नदेव के राज्यकाल में तालहरि मंडल को पराजित किया। जगपाल का जन्म राजमाल कुल में हुआ था। अनुमान किया जाता है कि इस जगपाल ने अपने पूर्वज के नाम पर "राजमाल" नामक नगर बसाया होगा, जो अब बोलचाल में संक्षिप्त राजम या राजिम हो गया।

इस शिलालेख में जगपाल के शौर्य का अच्छा वर्णन है। इसने हैहयवंशी राजाओं के राज्य विस्तार के अनेक काम किये थे। इसने न केवल सरहागढ़ (सारंगढ़) तथा भ्रमबद्र (बस्तर) पर विजय प्राप्त की थी प्रत्युत कातार, कुसुम-भोग, काँदाडोंगर (बिन्द्रानवागढ़ जमीन्दारी के ग्रामों के नाम) आदि परगनों को भी हैहयवंशी राजाओं के राज्य में मिला दिया था। उधर आरण्य (कांकेर) एवं मेचका सिहावा के परगनों को भी जगपाल ने जीत लिया था।

जगपाल ने जगपालपुर (दुर्ग) भी बसाया था। इसका कार्यकाल सन् १०६० से ११४५ तक आँका जाता है। जगपालपुर का नाम कालांतर में दुर्ग इसलिए हो गया कि वहाँ शिवदुर्ग नामक किला था और वही नाम प्रचलित हो गया।

राजीव लोचन के मंदिर को सर्वाधिक पवित्र मंदिर माना जाता है। इसके पुजारी राजपूत वंश के हैं, इनके पास पांडुवंश के महाशिव तिवरदेव के ताम्रपत्र हैं, जिन्हें उन्होंने दक्षिण कोसल की तत्कालीन राजधानी श्रीपुर (सिरपुर) से जारी किया था। इस ताम्रपत्र के द्वारा पिपरीपड़क (पिपरौद) ग्राम मंदिर को अर्पित किया गया था।

मंदिर का शिल्प

राजीव लोचन का मंदिर पंचायतन शैली का है। मुख्य मंदिर विस्तृत ऊँचे चौतरे पर बनाया गया है। उसके चारों ओर चार देवलिकाएं अर्थात् छोटे मंदिर बनाये गये हैं। मुख्य मंदिर के तीन भाग हैं। मंडप और दक्षिण-पश्चिम ओर के कोनों से सीढ़ियाँ बनाई गई हैं, जिनपर चढ़कर मंदिर में प्रवेश किया जाता है। मंडप के बीचों-बीच स्तम्भों की दो पंक्तियाँ हैं। प्रत्येक पंक्ति में छः स्तम्भ हैं उसी प्रकार मंडप की दोनों दीवालों में छः छोटे स्तम्भ की पंक्तियाँ हैं। स्तम्भों और स्तम्भिकाओं (छोटे स्तम्भ) की बनावट में भेद है, जिससे यह अनुमान किया जा सकता है कि इन दोनों का निर्माणकाल अलग-अलग है। बीच के स्तम्भ वर्गाकार हैं। इनके निचले भाग सादे हैं किन्तु ऊपर के भाग अलंकृत हैं जबकि बाजू की स्तम्भिकाओं पर ऊंची ऊंची प्रतिमाएं बनाई गई हैं। ये प्रतिमाएँ गंगा, यमुना, बराह, नृसिंह, सूर्य, दुर्गा आदि की हैं।

गर्भगृह में भगवान विष्णु की चतुर्भुज प्रतिमा है। वे अपने चारों भुजा में क्रमशः गदा, चक्र, शंख और पद्म धारण किये हुए हैं।

राजीव लोचन के आकर में स्थित त्रिविक्रम, वामन, गजलक्ष्मी आदि की प्रतिमाएं बहुत सुंदर हैं। इसी प्रकार राजिम के रामचन्द्र के मंदिर के स्तम्भों पर निर्मित अनेक स्वाभाविक सौन्दर्य से परिपूर्ण प्रतिमाओं ने कला के पारखियों को मुग्ध कर रखा है। छ० ग० के पूर्व मध्यकालीन शिल्प के अध्ययन के लिए राजिम तथा पाली एवं जाजंगीर के मंदिर निःसंदेह अत्यन्त महत्वपूर्ण केन्द्र हैं। हिन्दी के विद्वान तथा विचारक डा० विष्णुसिंह ठाकुर राजिम के मंदिरों के शिल्प के संबंध में लिखते हैं—"प्राचीन कलाकृतियाँ जहाँ एक ओर भौतिक जीवन के हर्ष-विषाद के क्षणों को, सुख दुख की अनुभूतियों को, शील-संयम आदि नैतिक गुणों तथा समृद्धि एवं ऐश्वर्य को प्रस्तुत करती हैं, वहाँ दूसरी ओर उनकी प्रति-कालकता में अध्यात्म का स्वर सद्यः मुखरित रहता था। यह दूसरा पक्ष ही भारतीय कला का प्राण-बिन्दु रहा है।"

कुलेश्वर मंदिर

शिवजी का यह मंदिर महानदी के गर्भ में संगम पर वर्षों से खड़ा हुआ है। इसका शिल्प अभूतपूर्व है। इसमें एक शिलालेख भी है, जिसका अधिकांश भाग पढ़ा नहीं जा सकता। केवल पाँचवीं पंक्ति में "श्रीसंगम" शब्द पढ़े गये हैं। लिपि से अनुमान होता है कि इसका निर्माण नवीं शताब्दी में हुआ होगा।

रायपुर

रायपुर हैहयवंशी राजाओं की लहुरी शाखा की राजधानी थी। पर यह कहना कठिन है कि क्या राजधानी पहले खलारी (खल्वाटिका) में स्थापित थी, जिसे बाद में राय राजा ब्रह्मदेव हटाकर रायपुर ले आया और फिर उसने उसका नाम अपने नाम के साथ जोड़कर "रायपुर" रख दिया। स्मरण रहे कि राजा ब्रह्मदेव का नाम पीढ़ी दर पीढ़ी राजवंश में नहीं आता और यह संभवतः विद्रोही राजकुमार होगा, जिसने सावधानी की दृष्टि से दो राजधानियाँ रक्खी होंगी।

रायपुर जिस स्थान पर बसा हुआ है, उसका नाम पहले क्या रहा होगा, पता नहीं, लेकिन कोई गाँव यहाँ अवश्य रहा होगा। यहाँ जिस प्रासाद का भग्नावशेष है, उसे सन् १४६० ई० में राजा भुवनेश्वर देव ने निर्माण कराया था। किले की बाहरी दीवाल लगभग एक मील लम्बी रही होगी। किले के पूर्व दिशा में स्थित "बूढ़ा तालाब" पहले काफी विस्तृत था। किले के दक्षिण में लगभग आधा वर्गमील में फैला हुआ "महाराज" तालाब है, जिसे सन् १७७५ में

भोंसला राजा बिम्बाजी ने खुदवाया था। नगर से एक मील पश्चिम में राजा बनवीर सिंह देव १८वीं सदी के प्रथम चरण में राज्य करते थे। नगर में १७वीं शताब्दि का बनवाया हुआ कंकाली तालाब मौजूद है जिसे महंत कृपालुगिरि ने खुदवाया था। मराठाकाल में स्थापित दूधाहारी का मंदिर देखने योग्य है। प्राचीन समय के कोई महत्त्वपूर्ण अवशेष रायपुर में अभी तक प्राप्त नहीं हुए हैं।

रुद्री

यह छोटा-सा ग्राम धमतरी से २ मील दूर महानदी के तट पर बसा हुआ है। लोग कहते हैं कि इसे कांकेर नरेश रुद्रदेव ने बसाया था और रुद्रेश्वर नामक शिव मंदिर का निर्माण भी कराया था। यहाँ प्रतिवर्ष माघ पूर्णिमा को मेला भरा करता है। यहाँ एक स्थानीय कबीरपंथी गुरु की समाधि भी है जिसके दर्शनार्थ अन्य कबीरपंथियों के सिवाय नागपुर के कोष्टी दल के दल यहाँ आते हैं। यहाँ कबीर साहब का एक चरण चिन्ह भी बना दिया गया है।

सिहावा

यह धमतरी से ४४ मील दूर वन और पहाड़ियों से घिरा हुआ एक ग्राम है जिसकी महत्ता इसलिए बढ़ गई है कि महानदी का यह उद्गम स्थान है। कहते हैं कि यहीं महामुनि शृंगीऋषि का आश्रम था। यहाँ से पाँच मील दूर रतावा नामक ग्राम है, जहाँ अंगरिस ऋषि का आश्रम था। संभव है यह अंगरिस का बिगड़ा हुआ नाम हो। यहाँ से बीस मील दूर मेचका नामक ग्राम है जो मुचकुन्द ऋषि का आश्रम था। पूर्वकाल में इस क्षेत्र को 'मेचका सिहावा' कहते थे जैसा कि राजिम के मंदिर में जगपाल के शिलालेख से विदित होता है।

सिरपुर (श्रीपुर)

रायपुर नगर से लगभग ५० मील दूर महानदी के पूर्वी तट पर बसा हुआ है। इस ग्राम में प्रसिद्ध लक्ष्मण मंदिर के अतिरिक्त अनेक मंदिर या मंदिरों के अवशेष विद्यमान हैं। रामचन्द्रजी का मंदिर तो लगभग धराशायी हो गया है।

सिरपुर किसी समय दक्षिण कोसल की राजधानी थी। ईसा की चौथी शताब्दी में गुप्तवंशीय राजाओं की राजधानी भांडक (जिला-चाँदा) में थी। इसी वंश की एक शाखा सिरपुर चली आई और वहाँ उसने अपनी राजधानी स्थापित की। इसके पश्चात् ७वीं शताब्दी में सिरपुर में पाण्डुवंशी राजाओं का राज्य था। इसका वर्णन इसी पुस्तक के इतिहास खंड में विस्तार से मिलेगा। इस वंश के महाशिवगुप्त बालार्जुन का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

लक्ष्मण मंदिर, सिरपुर

सिरपुर-बिहार में बुद्ध की मूर्ति, भूमि-स्पर्श मुद्रा में

लक्ष्मण मंदिर

इसी राजा की माता वासटा देवी, जो मगध राज सूर्यवर्मा की पुत्री थी—ने अपने पति की स्मृति में इस मंदिर का निर्माण कराया था। इसमें लगे शिला-लेख में कहा गया है—

> तथा निजः प्रेत्यपतिर्यथाविधं
> वसत्यसौ नित्यमुपासिताच्युतः।
> प्रकाशितुं तादृश-मेव कारितं
> विभोरिदं धाम हरेः सनातनम्।।

अर्थात्—"विष्णु की नित्य उपासना करने वाले उसके स्वर्गवासी पति जैसे रहते हैं, उसे बताने के लिए उसी प्रकार का विष्णु भगवान का यह सनातन धाम उसने बनवाया।" मंदिर का वर्तमान नाम "लक्ष्मण मंदिर" उस मंदिर में रखी हुई एक प्रतिमा के कारण पड़ गया है। वस्तुतः वहाँ मूल रूप में विष्णुजी की प्रतिमा थी, जिसका अब पता नहीं है। उसके स्थान पर लक्ष्मण जी की छोटी सी काले पत्थर की मूर्ति है जो शेषनाग की गोद में बैठी हुई दिखलाई गई है।

लक्ष्मणजी का यह समूचा मंदिर, चौतरा, गर्भगृह का द्वार और मंडप के स्तंभों को छोड़कर शेष भाग पकायी हुई ईंटों से निर्मित है। इन ईंटों की बनावट और उन पर कलात्मक खुदाई का सौन्दर्य परम मुग्धकारी है। इस प्रकार के खुदाव का काम तो पत्थर पर ही अधिक संभव है। ईंटों की जोड़ाई भी परम निपुणता का द्योतक है। मंदिर के ऊपर का भाग अब गिर गया है, फिर भी शेष मंदिर अभी भी सुरक्षित है। मंदिर के स्तम्भ, खुदाई किये गये द्वार और मूर्तियाँ सभी पत्थर के हैं। शेष शय्या पर निद्रित भगवान विष्णु और ब्रह्माजी का जन्म, ये दोनों मूर्तियाँ अप्रतिम हैं। द्वार पर विष्णुजी के दशावतार को अनुपम ढंग से अंकित किया गया है। इस मंदिर का निर्माण केदार नामक शिल्पशास्त्री की देखरेख में सम्पन्न हुआ था, जैसा कि शिलालेख में उत्कीर्ण है। इसी शिलालेख में इस मंदिर को भवसागर पार उतरने के लिए धर्मरूपी नौका कहा गया है।

गंधेश्वर मंदिर

महानदी के तट पर घाट के समीप गंधेश्वर महादेव का मंदिर है। यहाँ की मूर्तियाँ कलात्मक हैं, यद्यपि मंदिर की बनावट अति सामान्य है।

सिरपुर में प्राप्त मंदिर और मूर्तियों से यह प्रमाणित होता है कि वहाँ के तत्कालीन शासकों ने शैव तथा वैष्णव धर्म के अतिरिक्त बौद्धधर्म को भी राजाश्रय

किया था और प्रजा को पूर्ण धार्मिक स्वतंत्रता प्रदान की गई थी। तभी तो यहाँ बौद्धों धर्म की अनुरंजित कलात्मक मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। यहाँ बौद्धों के दो बिहारों के भी अवशेष प्राप्त हुए हैं, जिनकी रूपरेखा से ज्ञात होता है कि इनका निर्माण अत्यन्त सुनियोजित ढंग से हुआ था। यहीं बुद्ध की विशाल प्रतिमा भी मिली है जो चंद्रासन पर आसीन भूमि स्पर्श मुद्रा में है। बौद्धधर्म से संबंधित अन्य प्रतिमाएँ जैसे पद्मपाल, स्वर्णादित्य, मैत्रेय अवलोकितेश्वर तथा बोधिसत्व भी यहाँ प्राप्त हुई हैं। इस संबंध में डा० दीक्षित लिखते हैं—

"सिरपुर में प्राप्त कनकवेष्ठित पीतल की बौद्ध मूर्तियाँ अपने असाधारण कलात्मक शैली के कारण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। यह उल्लेखनीय है कि इन मूर्तियों की बनावट में तिब्बती प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है।"

अमरकंटक—नर्मदाजी का मंदिर कुंड सहित

२

अमरकंटक :—समुद्र सतह से इसकी ऊँचाई ३५०० फुट है। यहाँ पहुँचने के अनेक मार्ग हैं पर बिलासपुर जिले के पेंडरारोड स्टेशन से यह २१ मील दूर है, और पक्की सड़क बनी हुई है।

अमरकंटक का विभिन्न नाम कहीं आम्रकूट, कहीं अमराकट, कहीं अमरकंट कहा गया है पर बोलचाल की भाषा में वह अमरकंटक के नाम से प्रसिद्ध है और बिलासपुर जिला तथा मंडला जिला की सीमा पर स्थित है। मेकल की श्रेणी के सर्वोच्च शिखर पर स्थित अमरकंटक युगों से पौराणिक एवं ऐतिहासिक गरिमा का स्मारक रहा है। यहीं से नर्मदा नदी निकली है, इसीलिए वह मेकल-सुता भी कहलाती है। रेवा भी उसका अन्यतम नाम है। यह सोनभद्र (सोननदी) का भी उद्‌गम स्थान है।

प्राचीनकाल में स्थापत्य कला के अंतर्गत मंदिरों के निर्माण में तीन शैलियों का प्रचलन था—नगर, बेसर और द्रविड़। नगरशैली के अंतर्गत मंदिर के शिखर को ऊँचा तथा नुकीला बनाने के लिए उसे वर्तुलाकार देकर उठाया जाता था। द्रविण शैली में मंदिर को चतुष्कोण बनाकर उसके शिखर पर विमान अथवा रथ के आकार स्थापित किये जाते थे और बेसर शैली इन दोनों के मध्य की शैली थी।

अमरकंटक के मंदिरों में लोढ़ेश्वर, जटेश्वर तथा कर्णेश्वर, ये तीन मंदिर क्रमशः नगर और द्रविड़ शैली के अंतर्गत आते हैं। ये मंदिर त्रिपुरी के कलचुरि नरेश कर्णदेव (सन् १०४१–१०७३) द्वारा ११वीं शताब्दी में बनवाये गये थे।

मंदिरों के समूह :—अमरकंटक के मंदिरों का विभाजन वस्तुतः तीन समूहों में हो सकता है। प्रथम समूह, जिसमें उपर्युक्त मंदिर सम्मिलित हैं, अमरकंटक के दक्षिणी भाग में एक उच्च स्थान पर निर्मित हैं। द्वितीय समूह मध्य में है जहाँ कुल मिलाकर १५ मंदिर हैं। ये नर्मदा कुंड के मध्य एवं आसपास के एक वृहद प्राचीर के आवृत में स्थित हैं। तीसरा समूह उत्तर की ओर मुख्य मार्ग के किनारे का समूह है।

कर्णेश्वर के तीन मंदिर :—एक ऊंचे चबूतरे पर, समकोण त्रिभुज के तीन समबिन्दुओं पर अवस्थित हैं। एक मंदिर तो पूर्णतः ध्वस्त हो चुका है, शेष दो

मंदिर अभी अच्छी दशा में मौजूद हैं। ये मंदिर उत्कृष्ट शिल्पकला के जीवित प्रमाण हैं। मंदिर के बुर्जों एवं भित्तियों पर अंकित चित्रकारी को देखकर ऐसा बोध होता है कि मानो अभी तराशा गया है। वाह्य चतुष्कोणों की नीचे से ऊपर तक सीढ़ीनुमा बनावट, वर्गाकार प्रस्तरों पर उत्कीर्ण ज्यामिति की अर्द्ध गोला-कार रेखाएँ तथा तोरणों में अंकित बेलबूटों की स्वच्छ अलंकारिक चित्रकारी ढली हुई सी प्रतीत होती है। दूसरे मंदिर के चारों ओर मिथुन से संबंधित विभिन्न मुद्राओं में यक्ष, किन्नर, और गंधर्वों की मूर्तियाँ अंकित हैं। इनमें सर्वोच्च शिखर के अतिरिक्त चारों ओर चार शिखर और हैं तथा सोलह शिखर (दो शिखरों के बीच में चार चार) उनसे भी छोटे हैं, जिनमें चक्राकार विमान प्रतिष्ठित हैं। मंदिरों की ऊँचाई डेढ़ सौ फुट के लगभग है। गर्भगृह, तीस फुट लंबा और उतना ही चौड़ा है जिनमें शिवलिंग स्थापित हैं।

नर्मदा माई का मंदिर :—नर्मदा माई का यह मंदिर तीर्थ यात्रियों के लिए विशेष आकर्षण का केन्द्र बन गया है। इसमें नर्मदा की भव्य मूर्ति की स्थापना की गई है। कहा जाता है कि यह कर्णेश्वर के मंदिर से भी अधिक प्राचीन है। इसे राजा धुंधमार ने निर्माण कराया था। इसका असल नाम कवलाश्य था। उत्तंग ऋषि की आज्ञा से धुन्ध नामक राक्षस का वध करने के कारण इसका नाम धुंधमार पड़ गया। जहाँ से नर्मदा निकलती है वहाँ बुलबुले उठा करते हैं और इसी जल को कुंड बाँध कर भर दिया गया है। यहाँ लोग स्नान किया करते हैं। यहीं राजा कर्णदेव और अहिल्याबाई के निर्माण कराये दो मंदिर भी हैं। नर्मदा माई का एक अलग मंदिर अहिल्याबाई का निर्माण कराया हुआ है जिसमें संवत् १८२६ खुदा हुआ है।

पाँच पाण्डवों का मंदिर :—ये मंदिर पाण्डवों के दुःखद अज्ञातवास का स्मरण करा देते हैं। इनकी शिल्प कला यद्यपि अत्यन्त सामान्य है तथापि पौरा-णिक दृष्टि से इनका अपना महत्व है। इन मंदिरों के समीप ही स्थित लोढ़ेश्वर एवं जटेश्वर महादेव के मंदिरों का शिल्प सराहने योग्य है। खजुराहो के मंदिरों के मिलते-जुलते शिखरों को देखकर ऐसा लगता है कि उस समय भारत में शिल्प कला कितना समुन्नत था।

जुहली का मंदिर एवं उसकी प्रतिमा :—जुहली का मंदिर यद्यपि जराजीर्ण है तथापि उसमें प्रतिष्ठित उसकी सौम्य प्रतिमा कला के दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उसके अंगों में उत्कीर्ण आभूषणों की सजावट आज भी नर्मदा और शोण (सोननदी) के बीच घटित घटना को साकार करती है। निपुण शिल्पी

ने बड़ी तत्परता के साथ हृदय के समयोचित मूक भावों को पाषाण में उकेरा दिया है। जुहली की कथा इस प्रकार है—

जुहली जाति की नाइन थी। उसका वास्तविक नाम ज्वाला था। एक दंतकथा के अनुसार नर्मदा और शोण के बीच विवाह संबंध निश्चित हुआ। वैवाहिक कार्यक्रमों के बीच जुहली शोण के अनुपम रूप सौन्दर्य तथा विशालता पर मोहित हो गई और एक रात छलपूर्वक नर्मदा के आभूषणों को धारण कर प्रणय याचना के हेतु शोण के समीप जा पहुँची। शोण ने ज्योंही प्रणयदान के लिए जुहली का आलिंगन करना चाहा, नर्मदा आ पहुँची। उसे इस षड़यंत्र का पता अपनी सखी माला से लग चुका था। नर्मदा का क्रुद्ध सिंहनी के समान विकराल रूप को देखकर शोण और जुहली के पास भागने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं था। फलस्वरूप शोण पूर्व की ओर एक पहाड़ी की जड़ से कई फुट नीचे उसकी तलहटी में कूद पड़ा और एक नदी के रूप में उसी ओर प्रवाहित होने लगा। इधर ज्वाला (जुहली) दक्षिण की ओर भाग-कर नदी के रूप में परिवर्तित हो गई और ज्वालावती कहलाने लगी।

कपिलधारा :—नर्मदाकुंड से लघु धारा निकलकर पश्चिम दिशा को प्रवाहित होती है। लगभग ४ मील चल कर यह धारा लगभग १०० फुट नीचे गिरती है। यह बहुत सुन्दर प्रपात है और कपिलधारा के नाम से प्रसिद्ध है। कुछ दूर आगे चलने पर दूधधारा नामक छोटा सा प्रपात मिलता है। यहाँ प्रपात की तीव्र गति के कारण जल का रंग दूध सा दिखने लगता है, इसीलिए यह दूधधारा कहलाने लगा। यह स्थान बड़ा रमणीक है।

माई की बगिया :—नर्मदा कुंड से लगभग १ मील पूर्व की ओर माई की बगिया नामक सुरम्य स्थान मिलता है। घनी छाया के कारण यह स्थान आर्द्रता लिये शीतल रहता है। यहाँ पहाड़ी के किनारे किनारे आम्र वृक्ष की कतार अत्यन्त शोभायमान लगती है। जंगली गुलाब, ब्राह्मी तथा अन्य जड़ी बूटियाँ यहाँ बहुतायत से पायी जाती हैं। यहीं गुलबकावली के श्वेत और सुगंधित पुष्प भी पाये जाते हैं।

कलचुरि नरेश जब अंत समय में वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण करते थे, तब अमर-कंटक ही उनका निवास स्थान बन जाता था। यहीं वे राजकाज से विमुक्त होकर शेष जीवन भगवत् भजन में बिताते थे।

अकलतरा :—बिलासपुर-कलकत्ता रेल लाइन का यह तीसरा स्टेशन है। राय बहादुर हीरालाल के मतानुसार रत्नपुर के कलचुरि राजा द्वितीय पृथ्वीदेव के अनुज अकलदेव के ऊपर से इसका नाम अकलतरा रखा गया था। अकलदेव

का नाम किसी शिलालेख में मिला था। अकलतरा में ईंट चूना से बने कुछ मंदिर हैं पर इनकी हालत अच्छी नहीं है। यहाँ दो महत्वपूर्ण शिलालेख जो कदाचित निकटवर्ती कोटगढ़ से ले आये थे, यहाँ मिले हैं। इनमें से एक शिलालेख शिवजी के मंदिर में, जिसे यहाँ के मालगुजार ने निर्माण कराया है, लगवा दिया दिया गया है। इसमें रत्नपुर के कलचुरि राजाओं का उल्लेख करते हुए यह बताया गया है कि उसके आधीन एक सामंत वल्लभराज ने सन् ११४१ में हट्ट-केश्वरपुरी में एक शिव मंदिर बनवाया और महल तथा घुड़सालों के समीप एक तालाब खुदवाया। जान पड़ता है कि ये सब बातें कोटगढ़ की हैं जहाँ से यह शिला-लेख लाया गया है। इसमें यह भी उल्लिखित है कि द्वितीय रत्नदेव की माता लाच्छल्लादेवी वल्लभराज को (जो जन्मना वैश्य था) अपने पुत्र के सदृश मानती थी। दूसरा शिलालेख रायपुर के संग्रहालय में है। अकलतरा से लगभग आठ मील दूर दलहा पहाड़ है, जो अपनी ऊँचाई के लिए जिले में प्रसिद्ध है।

अड़भार—यहाँ देवी जी का एक पुराना मंदिर है, जिसके केवल दो द्वार रह गये हैं। इनमें से एक द्वार पर जो खुदाव का काम किया गया है उसका शिल्प अंजता के शिल्प-कौशल से मिलता जुलता है। दूसरा दरवाजा भी सुंदर है। यहाँ पं० लोचन प्रसाद जी पाण्डेय को एक बड़े से पत्थर के खंभे पर कुछ अक्षर उत्कीर्ण मिले हैं जिनकी लिपि किरारी में प्राप्त काष्ठ स्तम्भ के अक्षर से मिलते जुलते हैं। गाँव का पूर्ववर्ती नाम "अष्टद्वार" रहा हो, क्योंकि मंदिर में अष्टद्वार के चिन्ह दिखाई पड़ते हैं, जो अब बोलचाल में अड़भार हो गया हो। यहाँ एक जैनमूर्ति भी है। गाँव में बहुतेरे पुराने तालाब हैं। किले के निशान भी हैं, जिसके चहुँ ओर खाई है।

अरपानदी :—यह नदी पेंडरा के निकट एक खेत से निकली है और वक्र पहाड़ों में घूमती, बिलासपुर नगर को उत्तर दिशा से धक्का देती, मटियारी-बरतोरी के निकट शिवनाथ नदी में जा गिरी है। बिलासपुर नगर से लगा हुआ एक पुल इस पर सन् १६२६ में बन गया है। दुमहानी गाँव के पास इस पर रेलवे पुल भी है।

आगरनदी :—यह नदी पंडरिया की एक पहाड़ी से निकली है और कुकुसदा ग्राम के समीप मनियारी नदी में जा मिली है। इसके तट पर मुंगेली बसा हुआ है जहाँ इस पर पुल भी बंधा हुआ है। बिलासपुर से यह ३२ मील दूर है।

कटघोरा तहसील :—यह बिलासपुर जिले के उत्तरी भाग में है। विस्तार
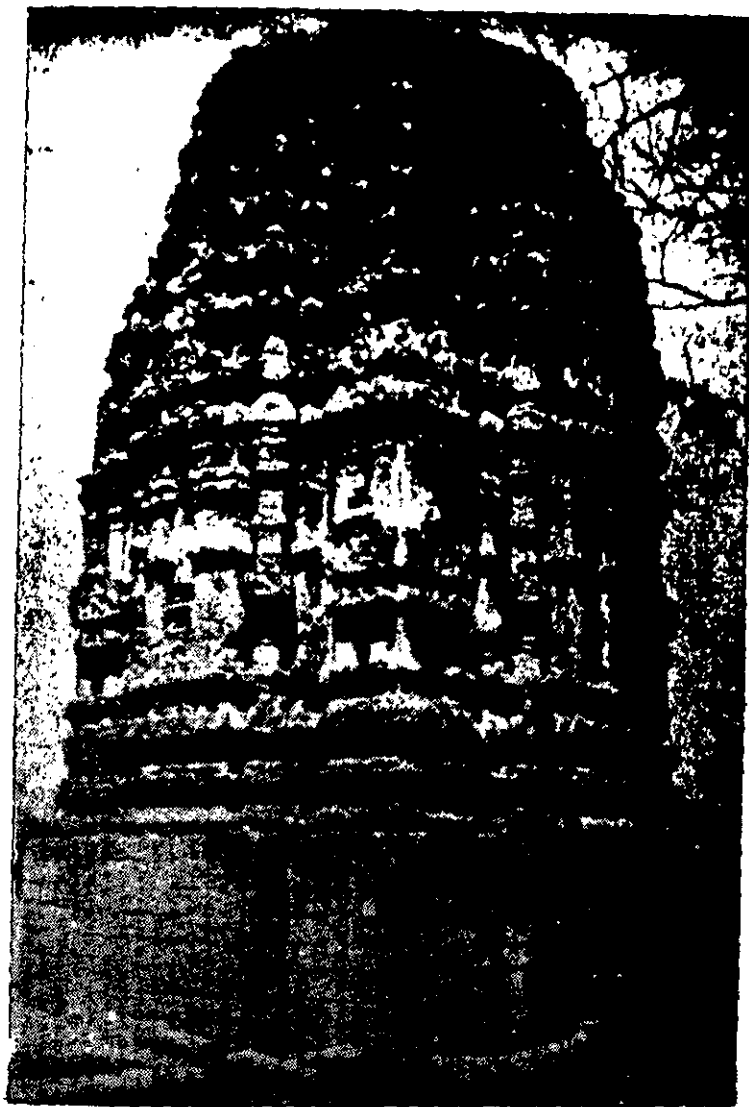
खरौद का मंदिर
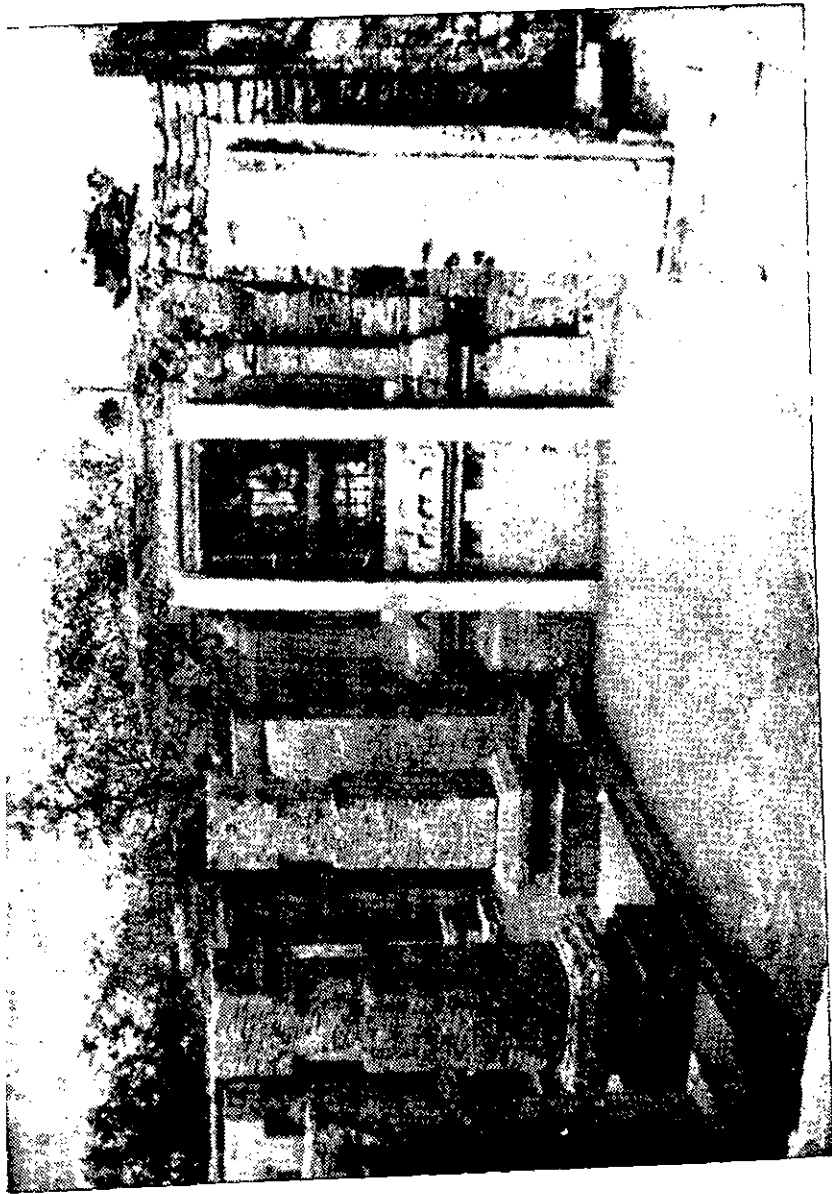
कुबेर की मूर्ति, सिरपुर बिहार में

लगवाये गये थे तथा सर सरोवर खुदवाये गये थे। बस्ती के दक्षिण में ईंटों का बना एक मंदिर है जो शबरी का कहा जाता है। संभव है यह शबर जाति के अनार्य राजा का हो। "शबरी के बेर सुदामा के तांदुल" नामक पद में प्रयुक्त "शबरी" का मंदिर यह हो ऐसा संभव नहीं है। "शौरि" नाम विष्णु का भी होता है। इसकी बनावट सिरपुर के लक्ष्मण जी के मंदिर की शैली पर है। उत्तर की ओर कुछ टूटे फूटे मंदिरों के अवशेष हैं, जिनके द्वार पर मनोहर मूर्तियाँ खुदी हुई हैं। शिवरात्रि के पर्व पर एक छोटा सा मेला यहाँ प्रति वर्ष लगा करता है।

चांपा :—यह बिलासपुर-हावड़ा लाइन पर हसदो नदी के तट पर बसा हुआ है तथा सन् १९४७ के पूर्व जमीन्दारी का मुख्य स्थान था।

छुरी :—बिलासपुर से यह लगभग ५० मील दूर है। गाँव से ६ मील दूर लगभग २००० फुट ऊंची एक टेकड़ी है, जिसे कोसगईं कहते हैं। टेकरी के शिखर पर पत्थर का बना हुआ एक छोटा सा किला है। कहते हैं कि यह प्रसिद्ध गोंड़ डाकू धाम बुरूवा का निवास स्थान था। उसे किले के एक पहरेदार ने मार डाला और छुरी की जमीन्दारी उसके पुरस्कार रूप में प्राप्त की। रतनपुर के हैहयवंशी बहारसाय की यह उपराजधानी थी, जहाँ वे अन्न, धन, युद्ध की सामग्री, पशुधन आदि कोष सुरक्षित रूप से रखते थे। १६वीं शताब्दी में पठानों के साथ इसका युद्ध हुआ था, जिसमें माधव नामक मंत्री ने अपूर्व शौर्य दिखलाया था और पठानों को पराजित कर बहुत सा स्वर्ण तथा अन्य धातुएँ ऊँटों पर लादकर यहाँ संग्रह करके रख दिया। सिवाय इनके हाथी, घोड़े, संख्यातीत गायें और भैंस भी वे हकाल लाये। राजा ने अपना विजय वृतांत पत्थर पर खुदवा दिया है जो अब रायपुर संग्रहालय में है। किले में पाँच सुंदर मूर्तियाँ हैं जो पांडवों की मूर्तियाँ कही जाती हैं। पहाड़ी पर कोसगई देवी का एक छोटा सा मंदिर है। दशहरा-पर्व में यहाँ एक छोटा सा मेला भरा करता है।

जांजगीर :—यह बिलासपुर-कलकत्ता लाइन के नैला स्टेशन से दो मील दूर है। यहाँ का जाजल्लदेव प्रथम का निर्माण कराया अपूर्ण मंदिर का शिल्प देखने योग्य है। इसकी दीवालों पर दशावतार की मूर्तियाँ खचित हैं और कोनों में किन्नरियों तथा स्त्रियों की मूर्तियाँ हैं। पश्चिमी दीवाल की पीठ पर सूर्यदेव विराजमान हैं और मंदिर के द्वार के ऊपर ब्रह्मा, विष्णु और महेश की मूर्तियाँ हैं। इनमें से विष्णुजी की मूर्ति नवग्रहों के मध्य में प्रतिष्ठित है। मंदिर भिम्मा नामक एक भारी तालाब के किनारे अपूर्ण और मूर्ति विहीन दशा में भी शान के साथ खड़ा है। जांजगीर नाम जाजल्लवनगरी का बिगड़ा हुआ रूप जान पड़ता है।
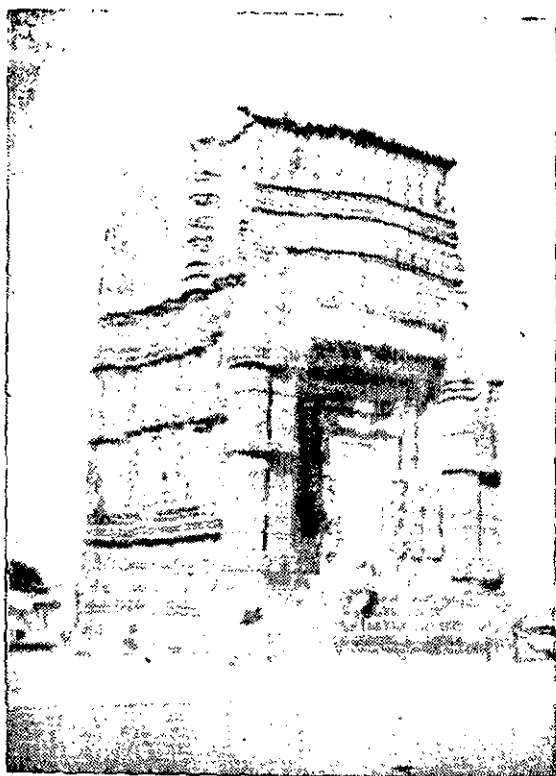
कलापूर्ण नक्काशी, बिना मूर्ति का मंदिर (दाहिना भाग) जांजगीर
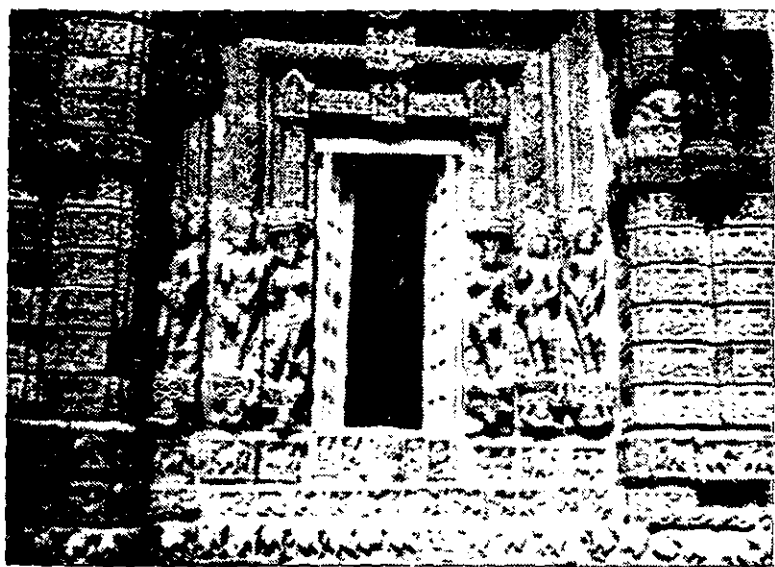
जांजगीर के मंदिर का नक्काशीदार द्वार

तखतपुर :—यह कसबा बिलासपुर नगर से १८ मील दूर मनियारी नदी के तट पर बसा हुआ है। रतनपुर के कलचुरि नरेश राजा तखतसिंह ने इसे बसाया था। इनका निर्माण कराया शिवजी का मंदिर मौजूद है। यहाँ का अमरूद (जाम या बिही) प्रसिद्ध है।

तुम्माण :—यह बिलासपुर से लगभग ६० मील और रतनपुर से ४५ मील दूर है। कलचुरि (हैहयवंशी) राजाओं ने सर्वप्रथम अपनी राजधानी यहीं स्थापित की थी। पहाड़ियों के बीच करीब १६ गाँव हैं, जो तुम्माणखोल के नाम से प्रसिद्ध है। इसका वर्णन इस पुस्तक में अलग किया गया है।

धनपुर :—यह पेंडरा रोड रेलवे स्टेशन से कोई १० मील दक्षिण में है। यहाँ करीब ४ वर्गमील तक पत्थरों के ढेर तथा मंदिर और प्रसादों के खंडहर बहुत मिलते हैं पर डेढ़ मील के भीतर तो उनकी संख्या और अधिक बढ़ गई है। यहाँ भवनतारा नामक एक बड़ा तालाब है। इसके समीप अंगहीन मूर्तियाँ प्रचुर संख्या में पड़ी हुई हैं।

तालाब से आध मील दूर उत्तर में प्रासादों के अवशेष हैं। इसी भाँति मंदिरों के भी अनेक खंडहर है। इनमें से चार मंदिर जैनधर्म के जान पड़ते हैं। यहाँ जैन तीर्थंकर की एक बड़ी नग्न मूर्ति भी है, जो चट्टान तराश कर बनाई गई है। यहाँ कई मंदिर तो पत्थर से निर्मित हैं और कुछ में ईंट तथा पत्थर दोनों का उपयोग किया गया है। इनमें जो ईंटे लगी हुई हैं वे वैसी ही बड़ी और प्राचीन ढंग की हैं जैसे सिरपुर के मंदिरों में पाई जाती हैं। यहाँ तालाबों की संख्या भी अधिक है। यहाँ एक तालाब "ब्राह्मनमारा" नामक है। इसके विषय में यह कथा प्रसिद्ध है कि एक बार कुछ ब्राह्मण-व्यवसायी बाँस की नली में ढाके की मलमल छिपा कर ले जाते थे। जब जमीन्दार को यह खबर लगी तो उसने अपने सिपाही उन्हें पकड़कर लाने को भेजा। इस पर ब्राह्मणों ने भय से उपर्युक्त तालाब में कूदकर आत्महत्या कर ली।

पाली :—यह ग्राम बिलासपुर नगर से लगभग ३८ मील दूर रतनपुर-कटघोरा सड़क पर है। गाँव के नैऋत्य कोण पर एक अष्टकोण सुन्दर सरोवर है। उसके किनारे एक अतीव प्राचीन शिव मंदिर है। यह मंदिर छत्तीसगढ़ के मंदिरों में अत्यन्त प्राचीन है। मंदिर का बाहिरी भाग, भीतर सभा मंडप और गर्भगृह के द्वार पर खुदाव का इतना सुन्दर और आकर्षक काम किया गया है, कि उन्हें देखकर आबू पर्वत के जैन मंदिरों में किये गये जालीदार खुदाव का बरबस स्मरण हो आता है। इस संबंध में बिलासपुर जिले के प्रथम सेटलमेंट आफिसर चीजम साहब ने अपने प्रतिवेदन में एक स्थल पर लिखा है—"इस

मंदिर का गर्भगृह का सभा-मंडप अष्टकोण गुम्बजदार है। सभामंडप में प्रवेश करते ही नीचे से लगाकर ऊपर तक खुदाव का जो बारीक काम किया गया है, उसे देखकर आश्चर्यान्वित होना पड़ता है। सभामंडप का गुम्बज जिन खंभों पर स्थित है, उन पर पुराणों और काव्यों में वर्णित प्रसिद्ध व्यक्तियों की आकृतियाँ खचित की गई हैं। गुम्बज के निचले भाग के वर्तुलाकार थर में अत्यन्त विचित्र आकृतियाँ रेखाओं में बनाई गयी हैं। सबसे श्रेष्ठ कला और शिल्प का काम गर्भगृह के द्वार पर किया गया है। यह खुदाव अत्यन्त बारीक है और इसे खचित करने में बड़ा परिश्रम किया गया है तथा निपुणता दिखाई गई है। शब्द-चित्र से मंदिर के सौन्दर्य का बोध ठीक ठीक नहीं हो सकता। अतः इसे स्वयं अवलोकन करने से ही आत्मतुष्टि हो सकेगी।

मंदिर का इतिहास इस प्रकार है—ईसा की सातवीं शताब्दी में दक्षिण कोसल में सोमवंशियों का राज्य था। सन् ९०० के लगभग त्रिपुरी नरेश कलचुरि वंशज मुग्धतुंग प्रसिद्धधवल ने कोसल नरेश से पाली क्षेत्र जीत लिया। प्राप्त स्फुट तथ्यों के आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि इस बीच वाणवंशीय राजा प्रथम विक्रमादित्य, जिसे जयमेरु भी कहते थे, ने कोसल देश पर अधिकार कर कुछ काल तक (सन् ८७० से ८९५) यहाँ राज्य किया था। इसी ने इसी अवधि में पाली के इस शिव मंदिर का भी निर्माण कराया।

वस्तुतः ये वाणवंशी राजागण मूलतः उत्तर अर्काट प्रान्त के निवासी थे। अनुमान किया जाता है कि ये उत्तर तेलगू प्रांत होते हुए अपने राज्य का विस्तार करते करते यहाँ तक आ पहुँचे हों।

मंदिर के कई स्थलों पर "श्री मञ्जाजल्लदेव कीर्तिरियम" खुदा पाया जाता है। इसका स्पष्ट कारण यह है कि कलचुरि नरेश जाजल्लदेव ने इस मंदिर का जीर्णोद्धार कराया था। प्रमाण यह है कि इस मंदिर का सभामंडप पहले चतुष्कोण था। लगभग २०० वर्षों के बाद इससे कुछ निर्बलता जरूर आ गई होगी। फलतः ऐसे सुन्दर मंदिर को नष्ट होने से बचाने के लिए ऊपर के गुम्बज को सहारा देने के लिए चार कोनों में चार आड़ी दीवालों का निर्माण कराया गया, जिससे अब यह अष्टकोण दृष्टिगत होने लगा। इनके अतिरिक्त गर्भगृह के सम्मुख दो नये स्तम्भ पाये जाते हैं, जिन पर नक्काशी का काम पूर्व निर्मित स्तम्भों पर की नक्काशी से सर्वथा भिन्न है। ये स्तम्भ ऊपर छत की टूटी हुई मयाल को सहारा देने के लिए बनाये गये थे, यह स्पष्ट विदित होता है। इसके सिवाय सभामंडप का एक द्वार भी पीछे बना हुआ
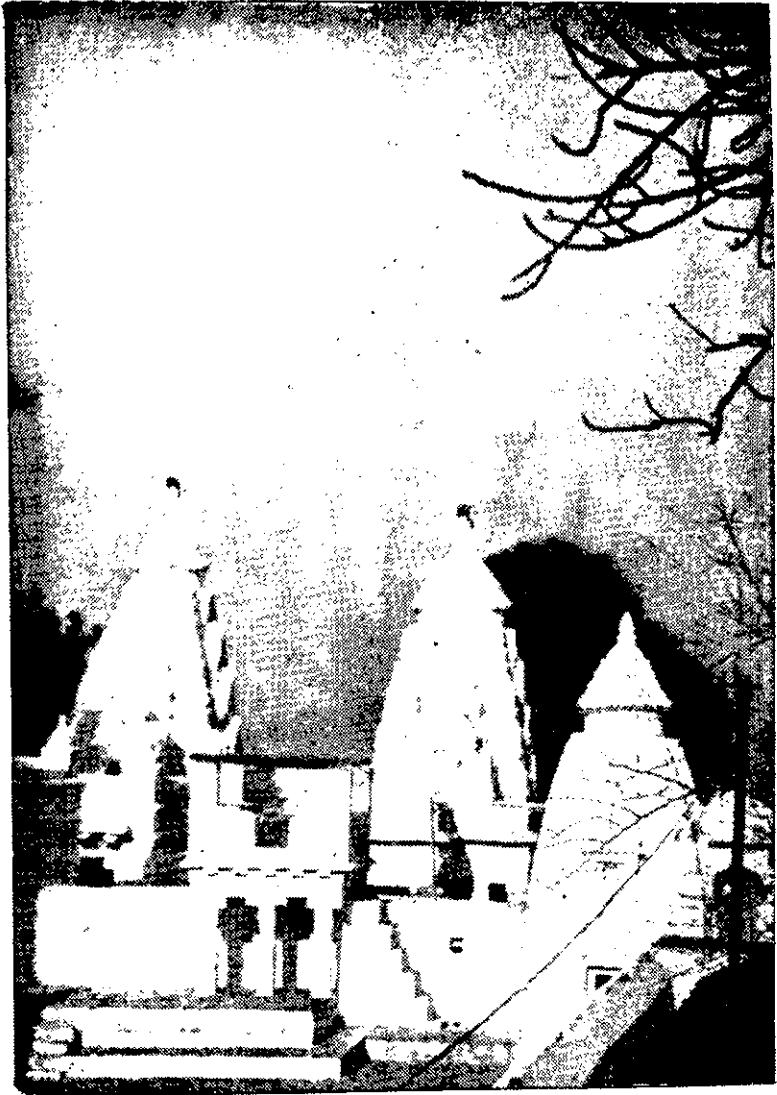
राजिम के अन्य मंदिर

जान पड़ता है। एक बात और ध्यान देने योग्य है कि जीर्णोद्धार करते समय जितने नये निर्माण हुए केवल उन्हीं पर जाजल्लदेव का नाम उत्कीर्ण है। इससे जीर्णोद्धारक की ईमानदारी भी प्रकट होती है।

मंदिर के ठीक सामने तालाब की सफाई होना अत्यन्त आवश्यक है। संभव है कि उसमें से कोई पुरातत्त्व या इतिहास की कड़ी जोड़ने वाली सामग्री निकल आवे।

पीथमपुर—यह बिलासपुर जिले में हसदो नदी के तट पर बसा हुआ है। यहाँ प्रतिवर्ष होली (फाल्गुन पूर्णिमा) से लगभग दो सप्ताह मेला भरता है। कहते हैं कि गाँव के एक तेली को स्वप्न हुआ कि अमुक स्थान पर शिवजी की मूर्ति गड़ी है, उसे तू उखाड़ और उसकी स्थापना कर। उसने वैसा ही किया। इससे उसके पेट की पीड़ा, जिससे वह बहुत दिनों से पीड़ित था, जाती रही। खरियार के जमीन्दार को भी यही शिकायत थी। उसने पीथमपुर की यात्रा की और शिवजी की मानता मानी, जिससे उसे भी लाभ हुआ। फलतः उसने वहीं शिवजी का पक्का मंदिर बनवा दिया। तब से पेट पीड़ा से पीड़ित लोग फागुन पूनो को आरोग्य लाभ के लिए यहाँ आने लगे और इस प्रकार यह मेला भरना प्रारंभ हो गया।

पाँड़ातराई—यह गाँव बिलासपुर तथा दुर्ग जिला की सीमा पर स्थित है। यहाँ खोदने पर तराशे हुए पत्थर, मकानों के खंडहर बहुत मिलते हैं। कुछ मंदिरों में खुदाव का बहुत अच्छा काम किया गया है। जान पड़ता है कि प्राचीन समय में यह कोई महत्त्वपूर्ण स्थान रहा होगा।

बिलासपुर नगर—इसे बिलासा नामक एक केवंटिन ने बसाया था। इस पतिव्रता नारी ने एक आततायी से त्राण पाने के हेतु जल कर प्राण त्याग कर दिया। उसी की स्मृति में यहाँ पहले एक गाँव बसा, जो अब बढ़ते बढ़ते नगर के रूप में परिवर्तित हो गया है। अनुमानतः सन् १७७० ई० में एक मराठा कमा-विसदार केशव पंत ने अरपानदी के तट पर एक किला निर्माण करना प्रारंभ किया था किन्तु वह पूरा नहीं हो पाया। रतनपुर राजधानी के सामने उस समय बिलासपुर को कोई नहीं पूछता था।

बिसेसरा—विश्व+ईश्वर—विश्वेशरा से बोलचाल में बिगड़कर बिसेसरा हो गया। यहाँ शिवजी के अनेक टूटे फूटे मंदिर हैं। ये सब मंदिर और मूर्तियाँ, बेगलर साहब के मतानुसार नवीं सदी की जान पड़ती हैं। गाँव पुराने स्थान को छोड़कर अब इस नये स्थान पर बसा हुआ है।

बेलपान—यह गाँव बिलासपुर नगर से अनुमान २२ मील दूर है। यहाँ एक कुंड है, जहाँ से नर्मदा (छोटी) निकलती है। यहाँ कुंड के समीप प्रति माघ पूर्णिमा को मेला भरा करता है।

मनियारी नदी—यह नदी लोरमी की पहाड़ियों से निकल कर बिलासपुर और मुंगेली तहसील की सीमा पर बहुत दूर तक शिवनाथ नदी में जा मिलती है। इसकी लंबाई अनुमानतः ७० मील है।

मल्लार—यह गाँव बिलासपुर नगर से नैऋत्य दिशा में लगभग १६ मील पर है। यह बहुत प्राचीन और महत्वपूर्ण ग्राम है। पूर्व समय में इसका नाम मल्लारिपत्तन था। यहाँ मंदिरों के अनेक अवशेष तथा जैन धर्म के तीर्थंकर की नग्न मूर्तियाँ हैं। यहाँ कई शिलालेख तथा ताम्रलेख भी प्राप्त हुए हैं। इनमें से एक शिलालेख ६०० ई० शताब्दी का जान पड़ता है जिसके द्वारा राजा प्रवरसेन ने शंख चक्रभोग में स्थित मित्रग्राम भारद्वाज गोत्रीय ऋग्वेदी शुभचंद्र स्वामी को दान में प्रदान किया है। शंख चक्रभोग वर्तमान में चकरबेड़ा और मित्रग्राम वर्तमान मटिया ग्राम (पटवारी सरकिल नं० १३८) हो सकता है।

दूसरे प्राप्त शिलालेख में जो सन् ११६७-६८ में उत्कीर्ण किया गया था सोमराज ब्राह्मण द्वारा मल्लार में केदारेश्वर महादेव के मंदिर के निर्माण से संबंध रखता है। उस समय छ० ग० में द्वितीय जाजल्लदेव का राज्य था। यहाँ मिट्टी का एक किला भी था जिसके चहुँ ओर खाइयाँ थीं।

महमदपुर—यह छोटा सा गाँव अकलतरा से दो मील उत्तर बलौदा की सड़क पर है। यहाँ एक बड़ा तालाब है, जिसमें पत्थर के घाट बँधे हुए हैं। टूटी फूटी मूर्तियाँ, जिनमें से कुछ पर खुदाव का बढ़िया काम किया गया है पायी गई हैं। यहाँ एक शिलालेख भी मिला है, जिसमें रतनपुर के कलचुरि राजे जाजल्लदेव, रत्नदेव, पृथ्वी देव और सामंत वल्लभराज के उल्लेख हैं। इस गाँव के महत्त्वपूर्ण स्थान होने में संदेह नहीं पर इसका नाम महमदपुर कैसे पड़ा शोध का विषय है।

महानदी—यह रायपुर जिले के सिहावा ग्राम के एक पोखर से निकल कर उत्तर ओर घूम जाती है और बहती बहती बिलासपुर जिले की सीमा में आ जाती है। आरंभ में कोई ५०,६० मील आगे तक इसका पाट १५००, १६०० फुट से अधिक नहीं है। शिवरीनारायण से जरा ऊपर इसमें शिवनाथ नदी आ मिलती है। यहाँ से इसका वेग पूर्व की ओर बढ़ता है। बीच में जोंक और हसदो नदियाँ इसमें आ मिलती हैं। फिर यह पदमपुर के दक्षिण से बहती उड़ीसा प्रांत में प्रवेश करती हुई कटक होते बंगाल की खाड़ी में जा गिरती है।
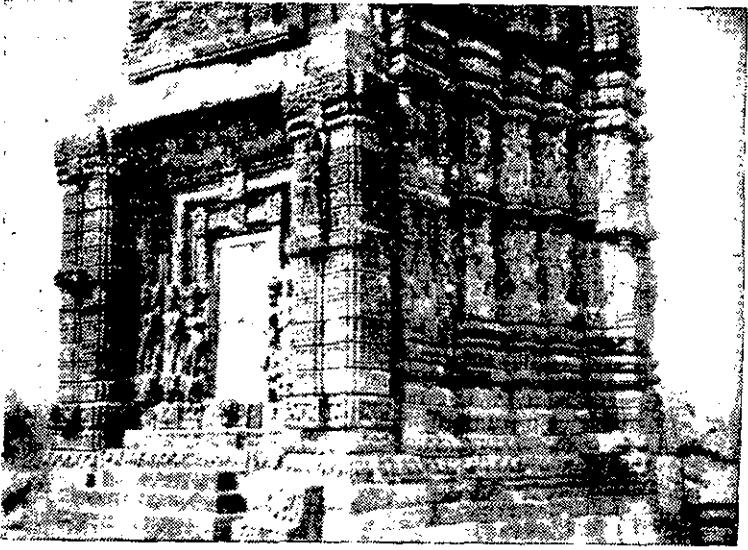
जांजगीर के मंदिर का बांया पार्श्व भाग

मेकल पहाड़ी—पहाड़ियों की यह श्रेणी मध्यप्रदेश और मध्यभारत में विन्ध्या और सप्तपुड़ा पहाड़ों के बीच फैली हुई है। यहाँ इसका आरंभ खैरा-गढ़ क्षेत्र से होता है। वहाँ से यह बिलासपुर जिले की नैऋत्य सीमा पर बढ़ती हुई ईशानकोण तक चली गई है। अमरकंटक जो नर्मदा नदी का उद्‌गम स्थान है वह मेकल श्रेणी में है। इसीलिए नर्मदा मेकलसुता भी कहलाती है। मेकल श्रेणियों की ऊँचाई २००० फुट से ऊँची कहीं नहीं है, केवल एक स्थान लाफी-पहाड़ी ३२४० फुट ऊँची है। पुराणों में लिखा है कि इस पहाड़ी पर मेकल ऋषि तपस्या करते थे।

रत्नपुर—क्षेत्रफल की दृष्टि से इससे बड़ा ग्राम प्रदेश में भी कदाचित कोई दूसरा हो। यह पहाड़ियों के बीच ११०६६ एकड़ों में फैला हुआ है। महाभारत में इसका नाम रत्नावलीपुरी मिलता है। महाभारत में उल्लिखित ताम्रध्वज मोरध्वज वाली घटना यहीं हुई थी। इस जिले में ही उपर्युक्त ग्रंथ में वर्णित ऋषभतीर्थ भी है। जैन मुनि कांतिसागर के अनुसार यहाँ नालंदा से भी प्राचीन विश्वविद्यालय था। ईसा की १० वीं शताब्दी में कलचुरि नरेश रत्नदेव ने जब यहाँ अपनी राजधानी तुम्माण से उठा कर लाई तब यह एक ग्राम मात्र रह गया था, कदाचित् इसका प्राचीन गौरव महाभारत में वर्णित देखकर—उसने ऐसा किया होगा और तब से इसकी लगातार उन्नति कलचुरि राजाओं ने पीढ़ी दर पीढ़ी राज्य करते हुए की। पहले यहाँ १४०० तालाब थे किन्तु अब घटते घटते और खेतों में परिवर्तित होते सो-सवा सौ रह गये होंगे। रामटेकड़ी पर राम पंचायतन का मंदिर, उसके नीचे बूढ़ेश्वरनाथ का मंदिर, दक्षिण प्रवेश द्वार पर भैरवजी का मंदिर और पश्चिम दिशा में महामाया का मंदिर अभी भी अच्छी अवस्था में अवस्थित हैं। यहाँ सती चौतरों की संख्या बहुत अधिक है। यहाँ प्रतिवर्ष माघ पूर्णिमा को दो दिन का मेला भरता है जिसे आठाबीसा का मेला कहते हैं।

लाफागढ़—यह पहाड़ी चितौड़गढ़ के नाम से भी प्रसिद्ध है। इसकी ऊँचाई ३२४० फुट है। मेकल की यह सबसे ऊँची श्रेणी है। इसकी चोटी पर एक पुराना किला है जिसके ३ फाटक हैं। ये फाटक खंभों और मूर्तियों से खूब सुसज्जित हैं। इन पर खुदाव का काम देखने योग्य है। सिंहद्वार के समीप महामाया का एक सादा सा मंदिर है। मेनका नामक द्वार के समीप एक गुफा है जिसमें शिवजी का लिंग स्थापित है। पहाड़ी के ऊपर ४ तालाब हैं। जटाशंकरी नदी यहाँ से निकली है। इसी नदी के तट पर आगे चलकर

तुम्माण खोल की स्थिति है। यह कलचुरि (हैहय) वंशी राजाओं की प्रथ राजधानी थी।

लीलागर नदी—यह नदी कोरवा जमीन्दारी से निकलती है और शिवनाथ नदी में जा मिरती है।

शिवनाथ नदी—राय बहादुर हीरालाल लिखते हैं कि इस नदी का पुल्लिंग नाम कुछ विचित्र सा लगता है क्योंकि नदियाँ बहुधा स्त्रीलिंग बोधक नामों से पुकारी जाती हैं। कदाचित् जल का भारी प्रवाह नदी में होते देखकर इसका नाम शिवनाथ रख दिया गया हो। इसकी एक सहायक नदी तांदुला, दुरुग जिला में है।

शिवरीनारायण—महानदी और जोंकनदी के संगम पर यह कसबा बसा हुआ है। यहाँ से अनुमान मील भर ऊपर महानदी और शिवनाथ नदी का संगम हुआ है। शिवरीनारायण के नामकरण के विषय में कथा प्रचलित है कि प्राचीन समय में एक शवर (सबराजाति) था। जिस स्थान पर शिवरीनारायण बसा हुआ है वहाँ उस समय जंगल था। वहाँ जगन्नाथजी की मूर्ति थी। वह शबर उस मूर्ति की नित्य नियमं से पूजा करता था। एक दिन एक ब्राह्मण ने उस मूर्ति को देख लिया और उसे वहाँ से हटाकर पुरी ले जाकर वहाँ उसकी स्थापना कर दी। जगन्नाथ जी ने उस शबर की भक्ति से प्रसन्न होकर पुरी से ही वर दिया कि जिस वन-प्रदेश में मैं रहता था वह तेरे और मेरे संयुक्त नाम से प्रसिद्ध होगा। इसीलिए उसका नाम शिवरीनारायण पड़ा। एक विद्वान् का अनुमान है कि विष्णुजी के अनेक नाम हैं उनमें से एक "शौरि" भी है। आश्चर्य नहीं कि यही "शौरि" बोलते चालते शिवरी बन गया हो।

सोन नदी का उद्गम स्थान—अमरकंटक पर्वत जहाँ से नर्मदा निकलती हैं, वहीं से यह नदी भी निकली है और निकलते ही दो ढाई सौ फुट नीचे गिरती है।

सोनसरी—यह गाँव जाँजगीर तहसील में है जहाँ सन् १९२१ में ६०० सोने के सिक्के नीचे लिखे अनुसार मिले थे—

		समय
पृथ्वीदेव	४०५ बड़े—५४ छोटे	ई० की १२ वीं सदी
जाजल्लदेव	२९ बड़े— ७ छोटे	"
रत्नदेव	६८ बड़े—२८ छोटे	"
गोविन्द चंद्र	२ बड़े	
पंचनिशानी	२ बड़े	
अज्ञात	५ बड़े	
योग	५११ —८९	

विष्णुजी की चतुर्भुजी मनोहर मूर्ति, मल्लार

हसदो नदी—यह नदी सरगुजा क्षेत्र से निकल कर प्राकृतिक छटा दिखाती, पत्थर चट्टानों से ठोकर खाती, मातिम और उपरोड़ा जमीन्दारियों में धूम मचाती, कोरबा और चांपा क्षेत्रों में रोब जमाती शिवरीनारायण से आठ मील पूर्व महानदी में जा मिली है। इसके तट पर कोरबा ग्राम इस समय उद्योग नगरी के रूप में प्रगति कर रहा है।

हांफ नदी—यह नदी पंडरिया की पहाड़ी से निकल कर कुछ दूर तक बिलासपुर जिले में बहती हुई दुर्ग जिले में प्रवेश कर जाती है और अंत में शिवनाथ नदी में जा मिलती है। इसकी लम्बाई अनुमान ८० मील है। सकरी इसकी सहायक नदी है।

(३)

दुरुग—यह दुरुग जिले का मुख्यालय है। इसका क्षेत्रफल १६६१ एकड़ है। इस नगर की नींव लगभग १०वीं शताब्दि में जगपाल ने डाली थी जो मिरजापुर जिले का निवासी था और रत्नपुर नरेश के राज्य में कोषाध्यक्ष का कार्य करता था। राजा रत्नदेव उसकी कार्यक्षमता से बड़े प्रसन्न और संतुष्ट थे। फलत: उन्होंने दुरुग इलाका जिसके अंतर्गत ७०० गाँव आते थे, उसे पुरस्कार में प्रदान कर दिया। दुरुग का असली नाम शिवदुर्ग था जैसा कि दुरुग में प्राप्त एक शिलालेख से विदित होता है। शिवदुर्ग का अर्थ होता है—शिवजी का दुर्ग या शिवनाथ नदी के तट पर स्थित किला। कहा जाता है कि राजिम में राजीवलोचन की मूर्ति इसी जगपाल ने स्थापित की थी, जिसके दर्शन के हेतु वह प्रतिदिन ३० मील दूरी से आता था। नगर में मिट्टी के किले के खंडहर जिसका निर्माण स्पष्टत: प्राचीन समय में हुआ था, अभी भी दृष्टिगत होते हैं। नागपुर के भोसलों की सेना जब एक बार छत्तीसगढ़ होते दुरुग से होकर गई तो उसके अधिकारियों ने इस किले का उपयोग किया था और इसकी मरम्मत कराके इसके चहुँ ओर खाई खुदवाई दी थी जिनके चिन्ह अभी भी मौजूद हैं और स्थान स्थान पर छोटे छोटे तालाब का रूप ले ली हैं। यहाँ बौद्धकालीन अनेक भग्नमूर्तियाँ तथा शिलाखंड पाये गये हैं। किले के भीतर हनुमान जी का एक मंदिर भी है।

देव बालोद—यह दुरुग नगर से लगभग १४ मील दूर है और भिलाई रेल्वे स्टेशन से २ मील। यहाँ शिवजी का एक भग्न मंदिर है। इस मंदिर में विविध प्रसंग की अनेक मूर्तियाँ हैं। एक स्थान पर रीछ का आखेट करते हुए दिखाया गया है जो बहुत ही आकर्षक है। दीवालों के कई स्थानों पर रीछ का रूप उत्कीर्ण किया गया है, जिन्हें मारने के लिए शिकारी हाथों में बरछा लिये हुए हैं। कहते हैं कि इस क्षेत्र में, पूर्व काल में रीछ बहुतायत से थे। मंदिर के भीतर चार स्तम्भों पर उत्कीर्ण मूर्तियों तथा प्रवेश द्वार के चौखट पर शिल्प का श्रेष्ठ काम किया गया है—और उन पर की गई पालिश भी उत्कृष्ट है। इसके प्रवेश द्वार के ऊपर गणेशजी की मूर्ति स्थापित है और उसके
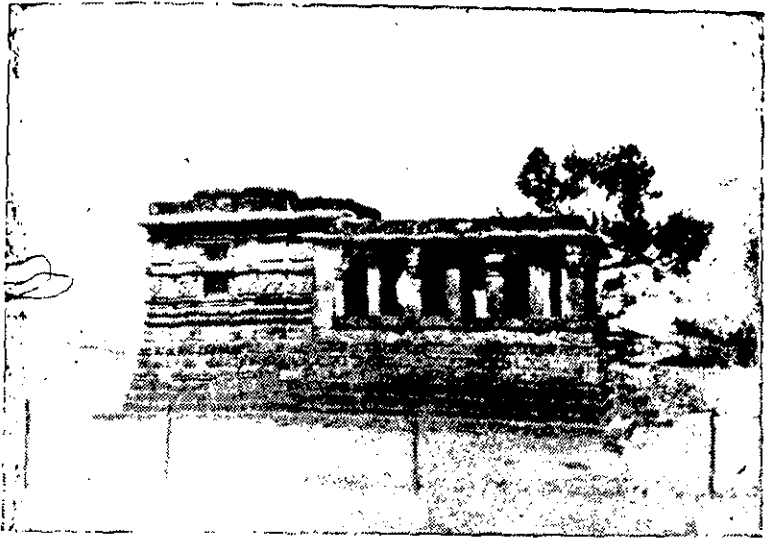
देव बालौद का मंदिर, दाहिनी ओर से--१
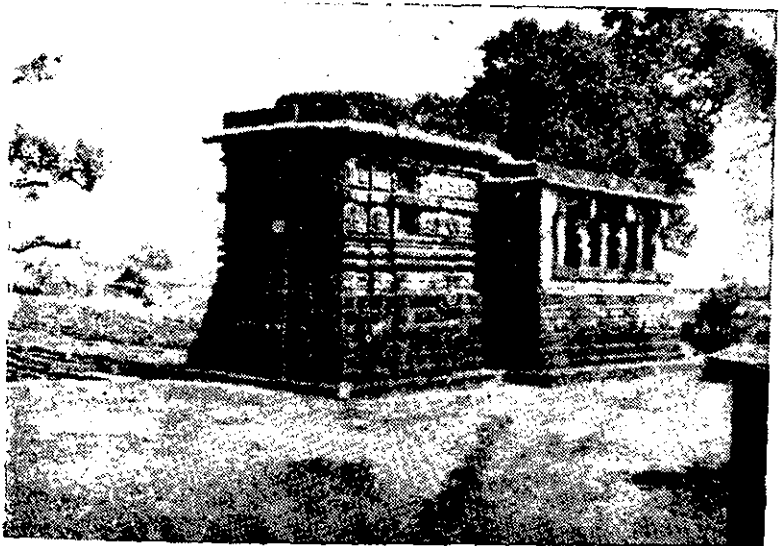
देव बालौद का मंदिर, पार्श्व दृश्य—२

ऊपर सरस्वती जी की। समीप ही पत्थरों से बांधा गया एक कुंआ और तालाब है। दीवालों पर अनेक अश्लील मूर्तियाँ दर्शाई गई हैं।

धमदा—इस गाँव की स्थिति दुरुग से २१ मील दूर बेमेतरा मार्ग पर है। कहते हैं कि इसे किन्हीं गोंड़ बन्धुओं ने बसाया था। इन गोंड़ बंधुओं को रतनपुर नरेश ने एक पागल हाथी को पकड़ सकने में शूरता दिखाने के उपलक्ष में सारधा परगना पुरस्कार के रूप में प्रदान किया था। इन गोंड़ बंधुओं को इसी परगना में जंगल के बीच एक विशाल गृह जिसके समीप दो तालाब और दो मंदिर थे एकाएक मिल गये। इन्हें देखकर उन्हें बड़ा हर्ष हुआ और यहीं वे बस गये जो वर्तमान धमदा है। यहाँ पुराने किले के खंडहर भी मौजूद हैं जो गोंड़ शासकों के हो सकते हैं चाहे ये भले ही उपर्युक्त गोंड़ बंधुओं द्वारा न निर्माण कराये गये हों। ये पाँच भाई थे जो पंचभैया कहलाते थे। किले में उसके दो सुन्दर फाटक अभी भी मौजूद हैं और भीतर अनेक मंदिरों के अवशेष पाये जाते हैं। विस्तृत बूढ़ा तालाब किले से लगा हुआ है और अन्य प्राचीन नगरों के समान यहाँ भी तालाबों तथा सुन्दर अमराइयों की संख्या अधिक है।

नवागढ़—इसकी स्थिति दुरुग से ६३ मील बेमेतरा तहसील में है। पूर्वकाल में यह गोंड़ राजाओं की राजधानी थी जहाँ से वे लगे हुए अपने विस्तृत राज्य का शासन करते थे। उन्होंने दो तालाब खुदवाये थे और उनके द्वारा निर्माण किये गये किले के चहुँ ओर खुदाई गई खाइयों के चिन्ह अभी भी मौजूद हैं। नवागढ़ उन छत्तीसगढ़ों में से एक है जिनकी भूमिका पर हैहयवंशियों के राजत्वकाल में यह प्रदेश छत्तीसगढ़ कहलाने लगा। मराठों तथा अंग्रेजों के राजत्वकाल में भी कुछ वर्षों तक यहाँ तहसील का मुख्यालय रहा। यहाँ एक प्राचीन मंदिर 'खेड़ापति' का है। जिसमें संवत् ७०४ वि० (सन् ६४७) उत्कीर्ण है।

पाटन—इसकी स्थिति दुरुग से २० मील पर है। यह प्राचीन छत्तीसगढ़ों में से एक गढ़ है। इसका पुराना नाम 'भाँगपुर-पाटन' था। अर्थात् लोग यहाँ के भंगेड़ी थे और बिना राजाज्ञा की चिन्ता किये व्यवहार किया करते थे, जहाँ शाक तरकारी भी दो पैसे सेर बिकती थी और मिष्ठान भी। गाँव में २२ तालाब हैं जिनमें से एक का नाम "आग तालाब" है जो "बुद्धिनाशा" भी कहलाता है और जिसका पानी सेवन करने से बुद्धि का नाश हो जाता है या आदमी पागल हो जाता है। ऐसी लोकोक्ति है।

बालोद—यह दुर्ग से ३५ मील दूर तन्दुला नदी के तट पर बसा हुआ है और यही संजारी तहसील का मुख्यालय है। यहाँ अनेक प्राचीन मंदिरों के भग्नावशेष हैं। यहाँ एक छोटा सा चौकोर तालाब "कपिलेश्वर" नामक है जिसके पार पर सात मंदिर बने हुए हैं। यहाँ दो शिलालेख भी प्राप्त हुए थे जो यहाँ से हटा दिये गये हैं। यहाँ सती चौतरों की संख्या बहुत अधिक है। इनमें से एक चौतरा जो सड़क पर बस्ती के पूर्व की ओर लगभग आध मील दूर है बड़ा आकर्षक है। इस चौतरे पर भिन्न भिन्न तीन सतियों के संबंध में लेख उत्कीर्ण है लेकिन इनमें से दो लेखों की तिथियाँ कुछ घिस गई हैं। इनमें से एक चौतरा पर सं० १००५ उत्कीर्ण है। यदि यह विक्रम संवत् है तब फिर यह १००० वर्ष से भी अधिक प्राचीन है। तीसरे उत्कीर्ण लेख की तिथि दूसरी शताब्दी अनुमानित की जाती है। यदि यह ठीक हो तो फिर इसे लगभग १७०० वर्ष प्राचीन समझना होगा। अन्य प्राचीन नगरों के सदृश यहाँ भी तालाबों की संख्या अधिक है। बूढ़ा तालाब की स्थिति ऊँचे धरातल पर है और इससे चार गाँवों के खेतों की सिंचाई हो सकती है। इस तालाब के पार पर ईंटों से बना एक भग्न किला है जिसका एक फाटक बहुत ही सुन्दर अभी भी मौजूद है।

मालीघोरी—बालोद से यह ५ मील दूर है। इस गाँव के संबंध में एक दंत कथा प्रसिद्ध है कि किसी समय यहाँ एक बंजारा रहता था। उसने अपना एक कुत्ता बंधक रखकर एक साहूकार से ऋण लिया। थोड़े दिनों के पश्चात् उस साहूकार के घर चोरी हो गई। चोरों ने बहुत सी चुराई हुई संपत्ति एक गढ़े में फेंक दी। ऊपर उल्लिखित कुत्ता यह सब देख रहा था। चोरों के चले जाने के पश्चात् वह कुत्ता साहूकार का कपड़ा दाँत से खींचते हुए उसे उस गढ़े के पास ले आया जहाँ चोरों ने उसकी संपत्ति फेंक दी थी। साहूकार को इससे लाभ हुआ। फलतः उसने प्रसन्न होकर कुत्ते के गले में ऋण की भरपाई की चिट्ठी बाँध कर उसे बंजारा के पास वापस भेज दिया। बंजारा ने यह समझ कर कि कुत्ता भाग आया है, बिना गले की चिट्ठी देखे, उसकी हत्या कर दी। लेकिन इसके बाद जब गले की चिट्ठी पर उसकी दृष्टि पड़ी तब उसे बड़ा पछतावा हुआ। इस घटना की स्मृति में उसने एक मंदिर का निर्माण उस स्थान पर करा दिया और उस कुत्ते की मूर्ति स्थापित कर दी जिसे "कूकुर मरही" मंदिर लोग कहते हैं।

सोरड़—यह गाँव बालोद से ६ मील दूर पूर्व दिशा में है। यहाँ जो मंदिरों तथा अन्य गृह या भवनों के ध्वंसावशेष पाये जाते हैं, उनसे स्पष्ट ज्ञान

पड़ता है कि प्राचीनकाल में यह एक महत्वपूर्ण स्थान रहा होगा। विशेष आकर्षण उन प्रस्तर स्तम्भों को देख कर होता है जो एक ही पंक्ति में पत्थरों के वृत्त के भीतर खड़े हैं। स्व० श्री हीरालाल उन्हें प्राचीनकालीन समाधि स्थल मानते हैं और प्रमाण स्वरूप उन समाधि स्थलों का उल्लेख करते हैं जो महाराष्ट्र प्रांत में पाये गये हैं। उनमें और इनमें केवल एक अंतर है कि केन्द्र स्थल में वहाँ एक के बदले दो स्तम्भ खड़े हैं। छत्तीसगढ़ में ऐसे समाधिस्थल केवल यहीं पाये गये हैं।

सोरढ़ किसी राजा की राजधानी थी ऐसा लोगों का अनुमान है। इस सम्बन्ध में एक किंबदंती प्रचलित है जो इस प्रकार है—

प्राचीनकाल में इस गाँव में एक कलार-सुंदरी रहती थी। उसके माता पिता मर चुके थे और वह अकेली थी। एक दिन दूर देश का एक राजपूत राजा अपने बाज-पक्षी के साथ इस अंचल में शिकार खेलने आया। बाज आगे उड़ते उड़ते राजा को इस गाँव में ले आया और कलार-सुन्दरी के घर में घुस गया। संध्या घिर आई थी, अंधेरा हो चला था। राजा अपने बाज के लिए कलार-सुंदरी के यहाँ पहुँचा तब उसने राजा का बड़ा आदर सत्कार किया। हाथ जोड़कर बिनती की कि आपकी राजधानी बहुत दूर है और रात बढ़ रही है, अतएव आप रात यहीं विश्राम करें। राजा केवल मान ही नहीं गया वरन् उस सुंदरी के साथ गंधर्व विवाह कर रात वहीं बिताई। कुछ समय पश्चात् उन्हें एक पुत्र रत्न का लाभ हुआ। उसका नाम रक्खा गया—"छेछान-छोरा" अर्थात् बाजपुत्र। युवावस्था प्राप्त होने पर लड़का बलवान योद्धा निकला और आसपास के सब राजा जमीन्दारों को पराजित कर चाहे उनकी पत्नी या पुत्री लूट लाता और उन्हें अपनी पत्नी बना लेता। इस प्रकार उसकी १६० स्त्रियाँ हो गईं। उनसे वह प्रायः मूसल और काँड़ी से धान कुटवाता। ये १६० पत्थर की काँड़ियाँ अभी तक मौजूद हैं। एक दिन न जाने उसकी क्या शामत आई जो वह अपनी माता से कह बैठा कि "उसकी १६० स्त्रियों में से कोई सुन्दरता में तुम्हारी बराबरी नहीं कर सकती।" माता अपने पुत्र के इसे बात को सुनकर भयभीत हो गई और उसके भोजन में ऐसा विष मिलवा दिया जिससे उसकी प्यास उत्तरोत्तर बढ़ती गई। नतीजा यह हुआ कि वह पास के कुएँ के पास बैठ गया जिसे उसने उसमें ढकेल कर मार डाला और खुद भी पेट में कटार भोंक कर मर गई। उसकी कटार ली हुई प्रस्तर प्रतिमा अभी भी देखी जा सकती है। लेकिन किम्वदंती चाहे सच हो या झूठ पर यह प्रस्तर प्रतिमा एक स्त्री के बजाय एक योद्धा की स्पष्ट जान पड़ती है।

"छेछान-छोरा" की भी मूर्ति वहाँ है जिसकी पूजा ग्रामवासी किया करते हैं।

डोंगरगढ़—यह प्राचीन ऐतिहासिक स्थान है। निकटवर्ती विमला माता अथवा बमलाई देवी का मंदिर अभी भी पहाड़ी के ऊपर स्थित डोंगरगढ़ स्टेशन से यात्रियों का ध्यान आकर्षित करता है। यहाँ के प्राचीन खंडहरों के अवशेष भी अब नष्ट हो रहे हैं परंतु काम कंदला तालाब और राजा कामसेन की कचहरी अभी भी इस नगरी के अतीत-गौरव की स्मृति दिला रहे हैं। संस्कृत और हिन्दी के कवियों ने अपनी काव्य प्रतिभा के योग से "माधवानल कामकंदला" नाटक लिखकर तत्संबंधी कहानी को सदैव के लिए सुरक्षित कर दी है।

कथा लगभग दो सहस्र वर्ष पुरानी है। पुष्पावती नगरी (अर्थात् वर्तमान बिलहरी, जिला जबलपुर) नामक नगरी में माधवानल नामक एक ब्राह्मण कुमार रहता था। इसके पिता का नाम शंकरदास था। माधव ने किशोरावस्था में ही व्याकरण, ज्योतिष, संगीत आदि विद्याओं में दक्षता प्राप्त कर ली थी। वह अपनी तीर्थयात्रा के बीच राजा कामसेन की राजधानी कामावतीपुरी वर्तमान डोंगरगढ़ पहुँचा।

रात्रि के समय राजा कामसेन की नृत्य सभा जब भरी हुई थी और कामकंदला अपने मधुर संगीत एवं नृत्यकला से राजा और सभासदों को विमोहित कर रही थी, ठीक उसी समय माधवानल भी, कौतुहलवश नृत्यशाला के द्वार पर पहुँचा। द्वारपाल ने उसे बिना आज्ञापत्र के भीतर नहीं जाने दिया। तब वह द्वार पर ही खड़े होकर भीतर चलते हुए नृत्य गान का रस लेने लगा। वह संगीत कला में निपुण था ही। उसने द्वारपाल से कहा कि भीतर जो नर्तकी नाच रही है उसके पैर में बँधे हुए घुँघरुओं में से अमुक स्थान का एक दाना निकल गया है और एक वादक अंगूठा विहीन है। द्वारपाल माधवानल की इस विस्मयकारिणी टीका से बड़ा प्रभावित हुआ और उसने भीतर जाकर प्रतिहारी के द्वारा राजा कामसेन की कानों में यह बात पहुँचाई। माधवानल तत्काल भीतर बुलवाया गया और उसके सामने उसके द्वारा की गई आलोचना के प्रकाश में जाँच की गई तो पाया गया कि कामकंदला के एक पैर की घुँघरुओं की लड़ी सचमुच एक दाना से रहित है और मृदंगवादक सचमुच अँगूठा विहीन है। राजा बहुत प्रसन्न हुए और माधवानल का बड़ा सम्मान कर उसे अपना सभासद बना लिया। कामकंदला तो उस ब्राह्मण कुमार के रूप और गुण से तत्काल मोहित हो गई थी। फलतः राजा ने कामकन्दला उसे सौंप दी।

नृत्य-गान, देवबालौद के मंदिर का एक दृश्य

आखेट का दृश्य, मंदिर देव बालौद

१२

प्राचीन छत्तीसगढ़ के मंदिर[1]

प्राचीनकाल में देवमंदिरों के लिए प्रासाद शब्द का प्रयोग किया जाता था। वास्तुशास्त्रीय ग्रंथों और प्राचीन अभिलेखों में इस शब्द का ही विशेष प्रयोग पाया जाता है। प्रासाद का अर्थ है जिससे मन प्रसन्न हो। शिल्परत्न में कहा गया है कि—

देवादीनां नराणं च येषु रम्यतया चिरम्।
मनांसि च प्रसीदन्ति प्रासादास्तेन कीर्तिताः

अर्थात् जिनकी रमणीयता से देवताओं और मनुष्यों के मन प्रसन्न होते हैं वे प्रासाद हैं। इसीलिए प्रासाद या देवमंदिरों के निर्माण के लिए सुरम्य स्थान का चुनाव किया जाता था। वाराहमिहिर ने लिखा है कि वन, नदी, पर्वत झरनों के निकट की भूमि और उद्यानयुक्त नगरों में देवता सदा निवास करते हैं। इससे भी यही तात्पर्य निलकता है कि प्राचीनकाल में देव मंदिरों का निर्माण उन्हीं स्थानों पर कराया जाता था जो स्वयमेव रम्य हैं। छत्तीसगढ़ के प्राचीन मंदिर भी अक्सर ऐसे ही विशिष्ट स्थानों में स्थित हैं।

छत्तीसगढ़ में सर्वप्रथम किसी देव मंदिर का कब निर्माण हुआ, यह बताना कठिन है। यहाँ के किसी भी देव मंदिर अथवा उसके अवशेष को किसी भी प्रकार ईस्वी सन् की पाँचवी शताब्दि के पूर्व का नहीं कहा जा सकता। राजिम के राजीवलोचन मंदिर को, छत्तीसगढ़ के अब तक ज्ञात सभी देव मंदिरों में, प्राचीनतम माने जाने में कोई आपत्ति प्रतीत नहीं होती यद्यपि पश्चात्वर्ती समय में उस मंदिर का अनेक बार जीर्णोद्धार होने से उसमें अनेक परिवर्तन, परिवर्धन हुये और अब वह अपने मूल रूप में नहीं है। राजिम के मंदिर के निर्माणकाल के पूर्व भी मल्लार (बिलासपुर जिला) के निकट बूढ़ीखार में कोई विष्णु मंदिर था जिसकी एक प्रतिमा उस ग्राम में प्राप्त

---

१. बालचंद्र जैन (संकलित)

हुई है। इसके अलावा चीनी यात्री ह्यूनसांग ने अपने यात्रा के विवरण में कोसल देश की राजधानी में सम्राट अशोक द्वारा निर्मित स्तूप तथा अन्य इमारतों का निर्माण कराये जाने का उल्लेख किया है।

काल विभाजन की दृष्टि से, छत्तीसगढ़ के प्राचीन मंदिरों को साधारण तौर पर दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। पहले भाग में देवमंदिर आते हैं जो गुप्तोत्तर युग अथवा पूर्व मध्यकाल में निर्मित हुये थे। दूसरे भाग में वे सभी मंदिर सम्मिलित किये जा सकते हैं जिनका उत्तर मध्यकाल में विशेषकर कलचुरि राजवंश की छत्रछाया में निर्माण हुआ था। पूर्व मध्यकाल के देवमंदिरों के प्रमुख केन्द्र सिरपुर और खरौद हैं। इन देवमंदिरों की विशेषता यह है कि इनके निर्माण में मुख्य रूप से ईंटों का उपयोग किया गया है। पाषाण का उपयोग केवल गर्भगृह के द्वार, मंडप के स्तम्भ और मंदिर की जगती (कुर्सी) के निर्माण के लिए हुआ है। कहना न होगा कि ईंट के मंदिरों का निर्माण पाषाण के मंदिरों के निर्माण की अपेक्षा कम व्ययसाध्य था।

राजीवलोचन मंदिर

राजिम के राजिव लोचन मंदिर की कथा का संबंध राजीवा या राजू नामक की तेलिन के साथ जोड़ा जाता है। कहीं कहीं राजिम का प्राचीन नाम कमलक्षेत्र या पद्मपुर भी कहा गया है। ध्यान देने की बात है कि राजीव और पद्म दोनों ही कमल के पर्यायवाची हैं। पद्मपुराण के उल्लेख के आधार पर कुछ विद्वान् राजिम को प्राचीन देवपुर कहते हैं। लेकिन ये सभी संभावनाएँ शंकास्पद ही हैं। राजिम के प्राचीन नाम के संबंध में सर्वोपयुक्त सूचना राजीवलोचन मंदिर के मंडप में जड़े एक शिलालेख में मिलती है। यह शिलालेख जनवरी ११४५ ईस्वी में लिखा गया था। उस लेख में बताया गया है कि जगपाल नामक सेनानी के प्रपितामह का जन्म राजमाल के कुल में हुआ था। ऐसा जान पड़ता है कि जगपाल के इस पूर्वज के नाम पर राजमालपुर नामक नगर बसाया गया होगा वही नाम अब संक्षिप्त होकर राजिम मात्र रह गया है। राजीव लोचन मंदिर को पूरे छत्तीसगढ़ में सर्वाधिक पवित्र मंदिर माना जाता है। दूर-दूर से लाखों व्यक्ति प्रतिवर्ष भगवानराजीव लोचन के दर्शन करने आते हैं। वैसे राजपूतों के मंदिर का पुजारी होने की परम्परा पर भी ध्यान जाता है। राजीवलोचन मंदिर पंचायतन शैली का मंदिर है। मुख्य मंदिर विस्तृत आकार के बांध में ऊंची कुर्सी पर खड़ा है और उसके चारों ओर चार देवलिकाएँ अर्थात् छोटे मंदिर बनाये गये हैं। यह मंदिर

राजीव लोचन मंदिर के दक्षिण प्रवेश द्वार के अधोभाग पर उत्कीर्ण हरिहंस—राजिम

छत्तीसगढ़ के वास्तु और शिल्प के विकास के अध्ययन के लिये बहुत महत्वपूर्ण है । मुख्य मंदिर के तीन भाग हैं—मंडप, और दक्षिण-पश्चिम ओर के कोनों से सीढ़ियाँ बनायी गयी हैं जिनमें से मंदिर में पहुँचते हैं। मण्डप के बीचोंबीच स्तम्भों की दो पंक्तियाँ हैं और प्रत्येक पंक्ति में छः स्तम्भ हैं। उसी प्रकार मंडप की दोनों दीवालों में छः स्तम्भिकाओं की पंक्तियाँ हैं। स्तम्भों और स्तम्भिकाओं की बनावट में भेद है जिससे अनुमान किया जाता है कि दोनों एक ही काल के नहीं हैं । बीच के स्तंभ वर्गाकार हैं । उनके निचले आधे भाग सादे हैं किन्तु उपर के भाग अलंकृत हैं जबकि बाजू की स्तम्भिकाओं पर ऊँची ऊँची प्रतिमाएँ बनायी गयी हैं। उन प्रतिमाओं में गंगा, यमुना, वाराह, नृसिंह, सूर्य और दुर्गा आदि की प्रतिमाएं हैं। गर्भ-गृह में भगवान विष्णु की चतुर्भुज प्रतिमा है । उनके हाथों में गदा, चक्र शंख और पद्म , ये चार आयुध हैं । प्रतिमा राजीवलोचन के नाम से ख्यात है । कुछ लोग भ्रमवश उसे राम की प्रतिमा कह देते हैं ।

राजिम के राजीवलोचन मंदिर के निर्माण-काल के संबध में निश्चित सूचनाएँ उपलब्ध नहीं हैं। किन्तु जैसा कि ऊपर बताया गया, उसके पाँचवीं सदी ईस्वी के अंतिम काल में निर्मित किये जाने की संभावना अधिक प्रबल जान पड़ती है । उस समय रायपुर जिले के क्षेत्र में अमरार्य कुल के राजवंश का राज्य था । उस कुल का राजा नरेन्द्र परम भागवत था । नरेन्द्र के राज्य का विस्तार राजिम के निकटवर्ती भूभाग पर था । इसकी पुष्टि लिखित प्रमाणों से हो चुकी है । इसलिये या तो स्वयं महाराज नरेन्द्र ने अथवा उनके उत्तराधिकारी ने राजीवलोचन मंदिर का निर्माण कराया होगा। ऐसा लगता है कि मंदिर का मण्डप मूलरूप से तीन ओर से खुला हुआ था और उसमें बीच की दो पंक्तियों के समान बाहर की ओर भी दोनों ओर स्तंभों की पंक्तियाँ रही होंगी। दूसरे शब्दों में इसे इस प्रकार कहा जा सकता है कि मंडप का छत स्तभों की चार पंक्तियों पर स्थित था। वर्तमान समय में बीच की दो पंक्तियाँ तो स्तंभों की है और बाजू वाली दोनों पंक्तियां स्तभिकाओं की हैं। यह परिवर्तन पाण्डुवंशी राजाओं के राज्यकाल का जान पड़ता है । उस समय तीन ओर से खुले हुए मंडप को दायें और बायें ओर से बंद कर देने की योजना बनायी गयी रही होगी। तदनुसार वहाँ के स्तंभों को हटाकर उनके स्थान पर स्तभिकाएँ खड़ी की गयीं और दीवालें बना दी गईं। स्तंभों और स्तम्भिकाओं की बनावट के भेद की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। स्तभिकाओं पर जो ऊंची-ऊंची प्रतिमाएं हैं उनकी शैली सिरपुर में प्राप्त बड़ी-बड़ी प्रतिमाओं से मिलती है।

इसलिये यह अनुमान किया जाता है कि वह परिवर्तन श्रीपुर के पाण्डुवंशी राजा
के समय में किया गया था। मंडप में पहुँचने वाली सीढ़ियों पर जो अलंकृत
द्वार बने हैं वे भी पाण्डुवंशियों के राज्यकाल के जान पड़ते हैं। उसी काल
में गर्भगृह के द्वार का भी जीर्णोद्धार हुआ और उसमें नये अलंकरणों की
योजना हुयी। मंदिर के सामने स्थित भव्य गोपुर उसी काल का है। नलवंश
के राजा बिलासतुंग के समय में भी राजीवलोचन मंदिर का जीर्णोद्धार कराया
गया था किन्तु उस समय कौन-कौन से मुख्य परिवर्तन हुये, यह जानना कठिन
है। ईस्वी सन की बारहवीं शताब्दी के मध्य भाग में कलचुरि राजा पृथ्वीदेव
(द्वितीय) के राज्यकाल में भी मंदिर के स्वरूप में कई परिवर्तन और परि-
वर्धन कार्य किये गये। जगती के छोर से दीवाल उठाकर प्रदक्षिणा मार्ग ब
दिये जाने का कार्य कलचुरि काल का ही जान पड़ता है। इसके अलावा उ
समय मंडप की दीवालों में अतिरिक्त द्वार बनाकर कमरों का निर्माण हुआ
अब रसोई और भण्डार कहलाते हैं। कलचुरि काल में शिखर के मूलरूप में
अनेक परिवर्तन किये गये। उसके बाद भी अनेक बार इस पवित्र मंदिर
जीर्णोद्धार होता रहा, फलतः छोटे-मोटे परिवर्तन होते रहे। कुछ मूर्तियों
खण्डित भागों को सीमेंट और चूने से जोड़ा-मरोड़ा गया जिससे मूर्तियों
नैसर्गिक भव्यता और सौंदर्य की हानि हुई।

राजीवलोचन मंदिर के आकार में स्थित त्रिविक्रम, वामन, गजलक्ष्मी
आदि की प्रतिमाएँ बहुत प्रसिद्ध हैं। उसी प्रकार राजिम के रामचन्द्र मंदिर
स्तंभों पर बनी अनेक स्वाभाविक सौंदर्ययुक्त प्रतिमाओं ने कला के पारखि
को अपनी ओर आकर्षित किया है। छत्तीसगढ़ के पूर्व मध्यकालीन शिल्प
अध्ययन के लिए राजिम अत्यन्त महत्वपूर्ण केन्द्र सिद्ध हो चुका है।

लक्ष्मण मंदिर

सिरपुर का लक्ष्मण मंदिर छत्तीसगढ़ का सबसे अधिक प्रसिद्ध मंदिर है
पाण्डुवंश के राज्यकाल की वास्तु-कला का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। जम
गर्भगृह का द्वार और मंडप के स्तंभों के अतिरिक्त समूचा मदिर पकायी हुई
ईंटों से निर्मित है। सौभाग्य से इस मंदिर के निर्माता के बारे में लिखित अभि-
लेख उपलब्ध है। तदनुसार राजा शिवगुप्त बालार्जुन के राज्यकाल में राजमाता
वासटा के द्वारा इस मंदिर का निर्माण अपने स्वर्गीय पति की स्मृति को चि
स्थायी रखने के लिये कराया गया था। शिलालेख में कहा गया है कि—

तया निजः प्रत्यपतिर्यथाविधं
वसत्यसौ नित्यमुपासिताच्युतः

राजीव लोचन मंदिर का द्वार--प्रकोष्ठ का शिरोभाग--राजिम

रामचन्द्र जी के मंदिर के बायें पार्श्व की भित्ति राजिम

प्रकाशितं तादृश-मेव कारितं
विभोरिदं धाम हरेः सनातनम्।।

वासटा देवी मगध के मोरिख वंश के राजा सूर्यवर्मा की पुत्री थी। यद्यपि उनके पुत्र बालार्जुन के जैन होने का प्रमाण मिलते हैं पर वासटा देवी अपने स्वर्गीय पति के समान वैष्णव धर्म का पालन करती थी। मंदिर का वर्तमान नाम लक्ष्मण मंदिर उसमें रखी हुई एक प्रतिमा के कारण पड़ गया है यद्यपि इस मंदिर की मूल विष्णु प्रतिमा अब वहाँ नहीं है। लक्ष्मण मंदिर का निर्माण केदार नामक शिल्पशास्त्री की देखरेख में सम्पन्न हुआ था इसकी सूचना शिलालेख में मिलती है। उसी शिलालेख में इस मंदिर को भव समुद्र को पार करने के लिये उसे उसके तट पर ही रखा हुआ महान जहाज कहा गया है।

राजिम के राजीवलोचन मंदिर के समान सिरपुर का लक्ष्मण मंदिर भी ऊंची जगती पर स्थित है। जगती पर पहुँचने के लिये दोनों ओर से सीढ़ियाँ हैं जो मंदिर की संपूर्ण अवस्था में संभवतः राजिम मंदिर के समान ही मंडप में पहुँचाती होंगी और उनके ऊपरी छोर पर अलंकृत द्वार बने रहे होंगे। लक्ष्मण मंदिर का मंडप अब नष्ट हो चुका है। उसके स्तंभों के अवशेष मात्र अब बच रहे हैं। मण्डप के बाद अन्तराल है और उसके बाद गर्भगृह का प्रवेश द्वार पाषाण का बना है। उसमें कालियदमन, केशीवध, कंसवध, दशावतार तथा मिथुन-संबंधी दृश्य हैं। ललाटबिम्ब पर शेषशायी विष्णु की प्रतिमा है। गर्भगृह के ऊपर बना हुआ शिखर पूर्ण रूप से ईंटों का बना है और गुप्तोत्तर काल की शिखर-शैली का एक अच्छा उदाहरण है।

लक्ष्मण मंदिर के अलावा सिरपुर में अन्य अनेक मंदिर या मंदिरों के अवशेष विद्यमान हैं। रामचन्द्र का मंदिर लगभग धराशायी हो गया है। गंधेश्वर नामक मंदिर में इतने अधिक परिवर्तन और परिवर्धन हो चुके हैं कि उसका मूलरूप लगभग समाप्त हो चुका है। गंधेश्वर मंदिर को प्राचीनकाल में गंधर्वेश्वर कहा जाता था। इस मंदिर में अनेक प्राचीन प्रतिमाओं का संग्रह किया गया है जिनमें से कुछ कलचुरि-राजवंश के काल की भी हैं। भगवान बुद्ध की कई विशाल प्रतिमाएँ, जैन तीर्थंकरों की सर्वतोभद्रिका प्रतिमा और तांडवनृत्य करते हुए शिवजी की प्रतिमाएँ उत्कृष्ट कोटि की हैं। सिरपुर ग्राम से हटकर बौद्ध केन्द्र है। यहाँ बौद्ध मंदिरों और बिहारों के अवशेष प्राप्त हुए हैं। भगवान् बुद्ध की विशाल प्रतिमाएँ देखकर बिहारों की विशालता का अनुमान लगाया जा सकता है। विशेष बात यह है कि बुद्ध की विशाल प्रतिमाएं खण्ड-खण्ड में निर्मित कर बाद

में उन खण्डों को जोड़ा गया है। सिरपुर के समान बिलासपुर जिले के खरौद नामक स्थान में भी ईंटों के बने मंदिर प्राप्त हुये हैं जो लगभग उसी काल के हैं। छत्तीसगढ़ के अन्य स्थानों में भी ईंटों के मंदिरों की प्राप्ति से यह सिद्ध होता है कि गुप्तोत्तर युग में इस क्षेत्र में अक्सर ईंटों के ही मंदिरों के निर्माण का रिवाज था जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है। ईंटों के मंदिर पाषाण के मंदिरों की अपेक्षा कम खर्च में निर्मित हो जाते थे।

कलचुरि कालीन देव मंदिर

शिवगुप्त बालार्जुन के राज्यकाल के उत्तरार्ध में छत्तीसगढ़ पर दक्षिण के चालुक्यवंशी नरेश पुलकेशी द्वितीय के आक्रमण होने से छत्तीसगढ़ की प्रशासनिक और आर्थिक व्यवस्था शिथिल हो गयी थी। शिवगुप्त के उत्तराधिकारियों में भी संभवत: ऐसा कोई प्रतापी नरेश नहीं हुआ जो बिगड़ी हुयी दशा को सुधार सके। इसका प्रभाव छत्तीसगढ़ के तत्कालीन निर्माण-कार्यों पर भी पड़ा। यही कारण है कि कलचुरि राज्य के विस्तार से पूर्व के देवमंदिरों का छत्तीसगढ़ में अभाव जैसा है। नलवंशी राजा विलासतुंग द्वारा राजिम में और बाणवंशी राजा विक्रमादित्य द्वारा पाली में मंदिर बनवाने के अतिरिक्त अन्य किन्हीं देवमंदिरों के निर्माण के उल्लेख प्राप्त नहीं होते।

कलचुरि राजाओं ने, उनके सामन्तों ने और उनके ही समकालीन अन्य राजवंशों के राजाओं ने छत्तीसगढ़ के विभिन्न क्षेत्रों में अनेक देव मंदिरों का निर्माण कराया था। कलचुरियों के समय में उनके प्रतिद्वन्द्वी तीन राजवंश छत्तीसगढ़ के कुछ प्रदेशों पर अपना अधिकार फैलाये हुये थे। बस्तर के चित्रकूट के आसपास छिन्दक वंश के नाग लोग राज्य करते थे और कांकेर में सोमवंशी नरेश शासन कर रहे थे। कंवर्धा और भोरमदेव के निकट एक अन्य नागवंश का राज्य था। इन तीनों राजवंश ने अपने अपने अधिकृत प्रदेशों में कई देव मदिरों का निर्माण कराया था जिनका उल्लेख शिलालेखों में मिलता है। भोरमदेव का भव्य और आकर्षक मंदिर घने जंगल में होने पर भी हजारों यात्रियों को आकर्षित करता है। देव बलोद का शिवमंदिर भी पश्चात्कालीन वास्तुकला का उदाहरण है। गंडई-पंडरिया का मंदिर छोटा होने पर भी शिल्प कला का अच्छा प्रतिनिधित्व करता है। वैसा ही देवरबीजा के मंदिर के बारे में भी कहा जा सकता है।

स्वयं कलचुरि राजाओं और उनके सामन्तों ने तुम्मान, रतनपुर, अड़भार, जांजगीर, मल्लार, शिवरीनारायण, खरौद, नारायणपुर, आरंग, पुजारी पाली, धनपुर आदि अनेक स्थानो में देवालयों का निर्माण कराया या पूर्व काल में निर्मित

बुद्ध मूर्ति, मल्लार
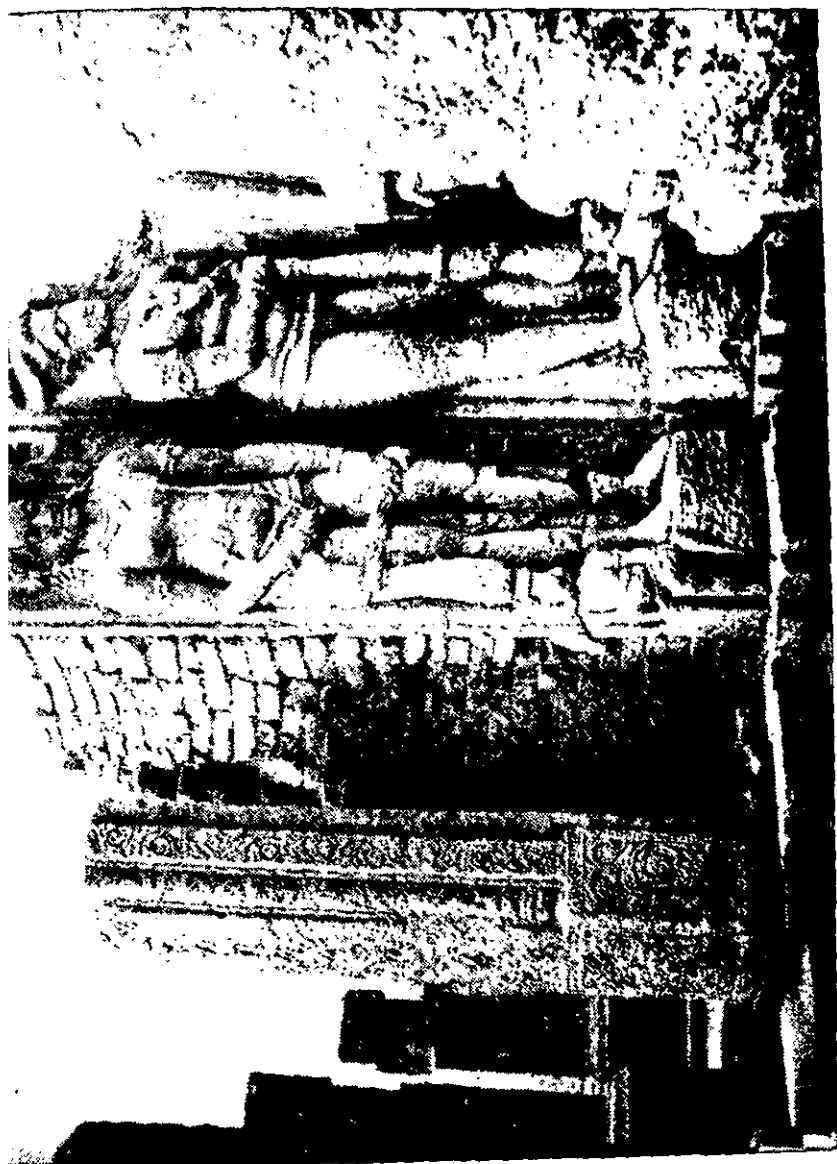
सिरपुर-बिहार की कलापूर्ण मूर्तियां

मंदिरों का जीर्णोद्धार कराया। जाजल्लदेव नामक नरेश द्वारा पाली के शिव मंदिर का जीर्णोद्धार करने और उसमें परिवर्धन करने के प्रमाण मिलते हैं। राजिम मंदिर के जीर्णोद्धार के संबंध में ऊपर कहा जा चुका है। खरौद के लखनेश्वर मंदिर में पाण्डुवंश के राजा के शिलालेख के साथ कलचुरि राजा रत्नदेव के समय का शिलालेख मिला है। रायपुर जिले आरंग में स्थित जिन-मंदिर का केवल गर्भगृह और उसके ऊपर का शिखर मात्र बच रहा है। उस मंदिर का मंडप अब नहीं है। आरंग के मंदिर का निर्माण किसने कराया था, इस संबंध में कोई सूचना भी उपलब्ध नहीं है। मंदिर की बाहरी दीवालों और शिखर मात्र पर सजायी गई अनेक प्रतिमाएँ शिल्प कला की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण हैं। आरंग में में स्फटिक की बनी जैन प्रतिमाएँ भी प्राप्त हुयी थीं जो अब रायपुर के एक जैन मंदिर में विराजमान हैं।

छत्तीसगढ़ की कलचुरिकालीन शिल्पकला का सर्वोत्कृष्ट निदर्शन जाँजगीर के अधूरे विष्णुमंदिर में है। जाँजगीर का प्राचीन नाम जाजल्लपुर था और उस नगर का निर्माण कलचुरि नरेश जाजल्लदेव (प्रथम) ने कराया था। शिवरी-नारायण का विष्णु मंदिर और खरौद का लखनेश्वर मंदिर दोनों बिलासपुर जिले के पवित्र मंदिरों में गिने जाते हैं। शिवरीनारायण का प्राचीन नाम शौरि नारायण होना चाहिये। शौरि विष्णु का एक नाम है और शौरि का मण्डप (मंदिर) उस स्थान में निर्मित कराये जाने का उल्लेख एक तत्कालीन शिलालेख में उप-लब्ध है। इसलिये शिवरीनारायण का शबर नाम की अनार्य जाति अथवा शबरी नाम की किसी स्त्री से जोड़ा जाना प्रमाणिक नहीं जान पड़ता। एक दूसरे कल-चुरि शिलालेख में शौरिपुर का उल्लेख मिलता है। संभव है कि वह शिवरी नारायण का वर्तमान स्थान हो। मल्लार का कलचुरिकालीन विशाल मंदिर अब खंडहर के रूप में दृष्टिगोचर होता है किन्तु उन खण्डहरों से उपलब्ध प्रतिमाएँ तत्कालीन शिल्पकला की उत्कृष्टता को जाहिर करती हैं।

कलचुरिकाल के शिलालेखों और ताम्रपत्रलेखों में ऐसे अनेक मंदिरों के निर्माण किये जाने के उल्लेख मिलते हैं जिन मंदिरों के अब अवशेष तक प्राप्त नहीं हैं। वे देवालय समय के साथ और देखरेख के अभाव में नष्ट हो गये और उनके अवशेष यहाँ वहाँ बिखर गये। स्वयं रतनपुर में अब कोई कलचुरिकालीन मंदिर अपने रूप में नहीं मिलता किन्तु वहाँ खण्डित प्रतिमाएँ तथा अन्य अवशेष बहुत मिलते हैं।

इतिहास-४

१३ प्रा० छ० ग० राज्य की शासन प्रणाली
१४ ,, समाज व्यवस्था
१५ ,, धार्मिक प्रवृत्तियाँ
१६ ,, में बौद्ध तथा जैन धर्म
१७ ,, में मुसलिम सभ्यता या सत्ता का प्रभाव
१८ ,, में ग्राम व्यवस्था और पंचायतें

१३

प्राचीन छत्तीसगढ़ राज्य की शासन-प्रणाली

कलचुरिकाल

जैसा कि पिछले पृष्ठों से ज्ञात होगा कि छत्तीसगढ़ में विभिन्न काल में विभिन्न राजवंशों का राज्य था, अतएव उनकी शासन प्रणाली में भी कुछ विभिन्नता पाई जा सकती है पर सबका मूलाधार एक ही था कि शासन सुचारु रूप से चले। सिवाय इसके यह बात भी देखी जाती थी कि यथासंभव परंपरागत प्रणालियाँ यथाविधि बनी रहें, और संशोधन वहीं हो जहाँ समय को देखते हुए उसकी जरूरत जान पड़े।

प्राचीन काल में सर्वत्र राजतंत्र ही प्रचलित था।[1] ईसा के पश्चात् चौथी शताब्दी में उत्तर भारत में यौधेय, मालव, आर्जुनायन, वैशाली इत्यादि गणराज्य अस्तित्व में थे, लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्तकाल में उनका सर्वथा लोप हो गया। इसके बाद भारतवर्ष में गणराज्यों का उल्लेख कहीं नहीं पाया जाता।

राजतंत्र पर सविधानिक नियंत्रण नहीं था। गुप्तकाल से राजा को ईश्वर का अवतार मानने की प्रथा ऐसी चली कि विदेशी राजा-बादशाह तक ईश्वर के अवतार माने जाने लगे। अंग्रेजी राज्य में ऐसे व्यक्तियों की कमी नहीं थी जो स्वाधीनता संघर्ष युद्ध में इंग्लैंड-नरेशों को जो भारत में राज्य करते थे, ईश्वर का अवतार मानते थे। मनुस्मृति में "महती देवताह्येषा नर रूपेण विष्ठति" लिखकर राजा का वर्णन देवता के रूप में किया गया है। इस बात में भी कोई संदेह नहीं कि ये राजागण स्वयं अपने को देव तुल्य समझा करते थे जैसा कि उनकी विरुदावलि से ज्ञात होता है। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि ये बिलकुल अनियंत्रित और अत्याचारी थे। इन पर धर्मशास्त्र का अंकुश रहता

१. अर्ली हिस्ट्री आफ इंडिया, व्ही० ए० स्मिथ

था। धर्मशास्त्रों, स्मृतियों, शुक्रनीति आदि नीतिपरक ग्रंथों में राज शासन के तथा वास्तु कला के नियमों का ऐसा विशद विवरण किया गया है जो आधुनिक नियमों तथा प्रणालियों से किसी भाँति कम नहीं है। परम्परागत रूढ़ियाँ, लोकाचार, राजा के कर्तव्य और अधिकार, न्याय प्रणाली आदि कोई विषय छूटने नहीं पाया है। शासन, न्याय, कला इत्यादि जीवन के सभी अंगों पर विधि-विधान बने पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त राजा को परामर्श देने वाले राज-गुरु एवं मंत्रीगण भी राजा को कुपथगामी होने से रोक देने का सामर्थ रखते थे। जनमत का भी आदर किया जाता था। नरकगामी होने का डर सदा बना रहता था। रानी-पटरानियों का भी प्रभाव राजकाज में पड़ता रहता था और उत्तम विचारों वाली रानी अपने पति-राजा के लिए कवच सिद्ध होती थी।

दक्षिण कौसल (प्राचीन छ० ग०) में नल, शरभ पुरीय और पाण्डुवंश के लेखों[1] से विदित होता है कि उनके शासनकाल में राज्य के कई विभाग होते थे जिन्हें 'राष्ट्र' कहा जाता था। इन विभागों को यदि वर्तमान समय का संभाग या कमिश्नरी कहा जाय तो उपयुक्त होगा। प्रत्येक 'राष्ट्र' कई विषयों में विभाजित रहता था। 'विषय' को आजकल का जिला समझा जाय। महाशिव-गुप्त बालार्जुन के बारदुला ताम्रपत्र में 'कोशीर नंदपुर' विषय का और राजा भरतबल के बम्हनी वाले ताम्रपत्र में 'पन्चगर्त' विषय का उल्लेख मिलता है। 'विषय' से छोटे 'आहार', 'भोग', और भुक्ति होते थे किंतु इनका आपस में सम्बन्ध किस सीमा तक रहता था, इसका उल्लेख कहीं नहीं पाया जाता। शरभ-पुरीय राजा नरेन्द्र के कुरुद से प्राप्त दान पत्र में "चुल्लाउसीमा भोग" का, सुदेव-राज के खरियार में मिले ताम्रपत्र में 'क्षितिमण्ड' नामक 'आहार' का, और आरंग में मिले ताम्रपत्र में 'तोसड्ड भुक्ति' का उल्लेख पाया जाता है। 'विषय' से छोटा किंतु भुक्ति से बड़ा 'मार्ग' होता था। तीवरदेव के बलौदा वाले ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि उसने 'सुंदरिका मार्ग' में स्थित ग्रामों का दान किया था। 'भोग'[2] और 'भुक्ति' में नगर-उपनगर तथा बहुत से ग्राम हुआ करते थे किंतु यह पता नहीं चलता कि उनकी ठीक संख्या क्या होती थी। 'विषय' के अधिकारी को 'विषयपति' और कभी-कभी 'राजा' भी कहा जाता था। महाशिवगुप्त बाला-र्जुन के समय के सेनाकपाट के शिलालेख में बताया गया है कि ब्राह्मण शिव-रक्षित, 'नव्यासी' नामक विषय का राजा था और वह वरदा नदी (वर्धा) तक

---

१. विभिन्न शिलालेख

२. इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, पृष्ठ १३१

राज्य करता था। भोग के अधिकारी को 'भोगपति' कहते थे जैसा कि शरभपुरीय महाराज नरेन्द्र के पिपरदुला ताम्रलेख में उल्लिखित है कि राहुदेव नामक 'भोगपति' ने 'नन्दपुर' भोग में स्थित 'शर्करापद्र' नामक ग्राम का दान किया था और उसकी प्रार्थना पर महाराज नरेन्द्र ने उस दान का अनुमोदन भी किया था।

कलचुरि (हैहयवंशी) काल

कलचुरियों के राज्यकाल में देश या जनपद को कई मण्डलों में बाँट दिया जाता था। एक उत्कीर्ण लेख में कहा गया है कि त्रिपुरी के कलचुरि राजा कोकल्ल के १८ पुत्रों में से ज्येष्ठ पुत्र तो सिंहासनारूढ़ हुआ और उसने अपने भाइयों को निकटवर्ती मण्डलों का मण्डलपति बनाया। इसी भाँति छत्तीसगढ़ के उत्कीर्ण लेखों में भी कोमोमण्डल, मध्यमंडल, तलहारि मंडल आदि का उल्लेख मिलता है। मण्डल का अधिपति माण्डलिक अथवा मंडलेश्वर कहलाता था। मंडल के अन्तर्गत ग्रामों की संख्या अनिश्चित रहती थी। माण्डलिक से बड़ा महामंडलेश्वर होता था। ये सामन्त राजा होते थे। प्रथम पृथ्वीदेव के अमोदा में प्राप्त ताम्रलेख से विदित होता है कि उसकी स्थिति महामण्डलेश्वर की थी। इसका अर्थ यह हुआ कि वह त्रिपुरी नरेश के सामन्त के रूप में दक्षिण कोसल या छ० ग० में राज्य करता था। समग्र दक्षिण कोसल में गाँवों की संख्या कितनी थी यह निश्चय-पूर्वक कहा नहीं जा सकता किंतु बस्तर के नागवंशी नरेश सोमेश्वर के एक शिलालेख में उल्लिखित है कि उसने दक्षिण कोसल के छः लाख छयानबे गाँव जीते थे। स्पष्टत: इसमें अतिशयोक्ति है किंतु यह सत्य है कि कलचुरियों का दक्षिण कोसल स्थित राज्य भारत के तत्कालीन प्रमुख राज्यों में गिना जाता था।

राज्य के अधिकारी

राजा को शास्त्र और स्मृति सम्मत राज्य चलाना पड़ता था। यदि कोई राजा दुर्गुणी पाया जाता या अन्य प्रकार से अयोग्य समझा जाता तो उसे राज-सिंहासन से उतार कर उसी वंश के अन्य योग्य व्यक्ति को राजा बनाया जाता था। राजा सम्यक् रीति से शासन चलाने के लिए मंत्री तथा अन्य अधिकारियों की नियुक्ति करता था, आवश्यकता पड़ने पर उनका स्थानान्तर भी करता और कर्तव्य विमुख होने या अन्य अपराध का अपराधी साबित होने पर उन्हें दंड भी देता।

सातवाहन[1] कालीन किरारी (जिला बिलासपुर) के काष्ठ स्तम्भ पर नगर-रक्षक, सेनापति, प्रतिहार (द्वारपाल या निजी सचिव), गणक (खजांची); गृहपति (राजमहल का प्रबंधक), भाण्डागारिक (भंडार गृह का अधिकारी), हस्त्यारोह (हाथी गृह का अधिकारी) अश्वारोह (घोड़ों के गृह का अधिकारी), पाद मूलिक (मंदिरों का रक्षक), रथिक (सारथी), महानासिक (भोजनालय प्रबंधक), हस्तिपक (हाथी पकड़ने का अधिकारी), धावक (डाँकिया), सौगंधक (इत्र आदि की परीक्षा करने वाला अधिकारी), गोमाण्डलिक (गौशालाओं का अधिकारी), यानशालायुधागारिक (रथों और अस्त्रों का रक्षक अधिकारी), पलवीथिदपालक (मांस बाजार का अधिकारी), लेखहारिक (पत्रवाहक), कुल-पुत्रक (अभियंत्री-इंजीनियर), महासेनानी (महासेनापति) आदि पद उत्कीर्ण हैं। शरभपुरीय एवं पाण्डुवंशीय राजाओं के उत्कीर्ण लेखों में भी अनेक उच्चाधिकारियों का उल्लेख मिलता है। पदों के ये नाम संगठित, समुन्नत और विशाल राजशासन तथा आदर्श मंत्रिमण्डल के प्रमाण हैं।

और कुछ जानकारी लीजिए—सुदेवराज के एक ताम्रपत्र से पता लगता है कि महासामंत इंद्र बलराज ने उनके एक दान के समय दूतक का कार्य किया था।[2] महाशिव गुप्त बालार्जुन के मल्लार ताम्रपत्र में समाहर्ता, सन्निधाता और सकरण (करणिक) पदाधारियों को आदेश दिया गया पाया जाता है।[3] पाण्डु-वंशी राजा भरतबल के लेख में ग्रामकूट, दोणाग्रनायक, देववारिक या दौवारिक (प्रतिहार), गण्डक, रज्जुक, और राहसिक पद वाले राजकर्मचारियों का उल्लेख है।[4] प्रायः सभी ताम्रपत्रों मे चाट, भट, पिशुन, वेत्रिक आदि स्थानीय तथा बाहर से दौरे पर आने वाले राजकर्मचारियों का जिक्र है। यह भी पता लगता है कि सैनिकों के अध्यक्ष को सेनापति और आरक्षी विभाग के मुख्य अधिकारी को दंड-नायक या दंडपाशिक कहते थे। इनके नीचे क्रमशः भट और चाट पदधारी कर्म-चारियों का दल रहता था। पुलिस विभाग के भट सैनिक होते थे और चाट आरक्षी विभाग के निम्नवर्गीय कर्मचारी।

राज्य में व्यवस्था करने के हेतु जब भट और चाट किसी ग्राम मे जाते थे तब उस गाँव को इनके खर्च का भार उठाना पड़ता था। इसलिए राजा जब

१. विष्णु यज्ञ स्मारक ग्रंथ रतनपुर, पृष्ठ ८०, लो० प्र० पाण्डेय
२. एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द ३१, पृष्ठ ११४
३. महाशिव गुप्त का मल्लार में प्राप्त शिलालेख, संग्रहालय, रायपुर
४. ए० ग्रा० इं० जिल्द २७ पृ० १३२

किसी गाँव का दान करता था तब वहाँ भाट और चाट का प्रवेश निषिद्ध कर देता था। ग्राम-दान करने का अधिकार केवल राजा को होता था किंतु उसके सामन्त, पट्टरानी, युवराज तथा विशिष्ट पदाधिकारी केवल राजा की अनुज्ञा से ऐसा दान कर सकते थे। जिस ग्राम का दान किया जाता था उस ग्राम का निर्दिष्ट आय का लाभ दानग्रहण करने वाले को होता था। जब कोई ग्राम अनेक व्यक्तियों को दान में दिया जाता था तो उसका कितना भाग किसे मिलेगा, इस बात का उल्लेख दानपत्र में कर दिया जाता था। ग्रामदान पाने वाला ब्राह्मण कोई वार्षिक कर या उपरि कर (अतिरिक्त कर) देगा या नहीं इसका उल्लेख भी दानपत्र में रहता था। दानपत्रों में प्रायःसभी पहलुओं पर विचार कर उसमें दान-कर्ता का निर्णय उत्कीर्ण कर दिया जाता था, जैसे संदर्भीय ग्राम में जलाशय, स्थल, खोह और ऊसर भूमि, आम, महुआ, बट आदि फलदार वृक्षों तथा वनोपज से होने वाली आय पर दान प्राप्त करने वाले का अधिकार रहेगा, यह स्पष्ट उल्लिखित रहता था। इसी प्रकार वहाँ की सभी निधियों और उपनिधियों में भी स्वामित्व का अधिकार दान प्राप्त करने वालों को प्रायः दिये जाते थे। कई उत्कीर्ण लेखों में यह भी उल्लेख किया गया है कि ग्रामदान प्राप्त करने वाले व्यक्ति को उस ग्राम में किये गये दस अपराधों तक पर किया गया आर्थिक दण्ड की राशि पाने का अधिकार रहेगा। इससे अधिक आय राज-कोष में जाती थी। दान प्राप्तकर्ता की मुख्य आय धान्य और हिरण्य (स्वर्ण) के रूप में होती थी। अन्न की समूची उपज में से जो भाग कर में दिया जाना था उसे धान्य कहते थे। कुछ अन्नों पर नकद कर भी देना पड़ता था जो हिरण्य कहाता था।

दक्षिण कोसल[1] के कलचुरि नरेश धर्मपरायण थे और लोक कल्याणकारी कार्यों में मुक्त हस्त से व्यय करते थे। वे राजकाज में उत्तमता बनाये रखने के लिए सुयोग्य और सद्गुणी कर्मचारियों की नियुक्ति किया करते थे। राजिम के शिला लेख में मंत्री देवराज का और खरौद के शिलालेख में मंत्री गंगाधर की बड़ी बड़ाई की गई है। राजागण इस बात पर ध्यान रखते थे कि राष्ट्र अन्न, जल, वन, पशु, द्रव्य, मनुष्य और रक्षा के साधनों से संपन्न रहे। शासन व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए राज्य को विभिन्न मण्डलों में बाँट दिया गया था जिनमें से कोमों मंडल, जयपुर मंडल, मध्यमंडल तलहारि मंडल, एवडिमंडल, सागत्तमंडल आदि कुछ मंडलों के नाम लेखों में पाये गये हैं। इनके अतिरिक्त कलचुरियों के करद सामान्तों की भी संख्या जैसे-जैसे बढ़ती जाती थी वैसे-वैसे उनकी आय में भी वृद्धि होती जाती थी। 'राष्ट्र' के बाद 'पुर' को राज्य का

---

१. शिलालेखों द्वारा प्राप्त सूचनाएँ

महत्त्वपूर्ण अंग माना जाता था। 'पुर' किलों से सुरक्षित रक्खे जाते थे। कलचुरियों के समय में दक्षिण कोसल में तुम्माण, रत्नपुर, जाजल्वपुर, विकर्षपुर, मल्लालपत्तन (मल्लार) तेजल्लपुर आदि अनेक नगरों में किलों का निर्माण किया गया था। बाद के गढ़ों में मिट्टी के किले भी निर्माणित किये पाये जाते हैं जो खाइयों से घिरे रहते थे। रत्नपुर के राजा बहारेन्द्र (बाहरसाय) के शिलालेख से विदित होता है कि उसने कोसंगा (छुरी के पास कोसगई) में एक उपराजधानी स्थापित कर वहाँ अपना धन धान्य का बड़ा संग्रह रक्खा था।[1] शत्रुओं को पराजित करने के बाद पराजित राजा से या लूट से भी राज्य की आय पर्याप्त मात्रा में हुआ करती थी। कोष और सेना राज्य की सुरक्षा के मुख्य अंग हैं और कलचुरि इसे अच्छी तरह जानते थे।

चीजम साहब ने जो सन् १८६८ में सेटलमेंट[2] कमिश्नर (बंदोबस्त अधिकारी) थे राजा कल्याण साय (सन् १५८१ के लगभग) के राज्यकाल की जमाबंदी की एक पुस्तक प्राप्त की थी। इस पुस्तक में छत्तीसगढ़ से संबंधित अनेक तथ्यों का उल्लेख था। चीजम साहब ने इस पुस्तक के आधार पर लिखा है कि रतनपुर और रायपुर दोनों राज्यों में कुल मिलाकर ४८ गढ़ या चौरासी थे जिनसे ६॥ लाख रुपयों की वार्षिक आय होती थी। और यदि इसमें 'सीर' की आय जोड़ दी जाय तो टोटल आय नौ लाख रुपयों की हो जाती थी जो समय को देखते हुए कम नहीं थी। उस समय राजा कल्याण साय के राज्य की सीमा समस्त छत्तीसगढ़ तक विस्तृत थी। इसके करदराज्यों के नाम थे—रामगढ़, प्रतापगढ़ (पंडरिया), लाजी, अम्बागढ़—चौकी, बस्तर, खरियार, फुलझर, सारंगढ़, करौद (कालाहडी), संबल्पुर, पटना, सिंहभूम, चन्द्रपुर, रायगढ़, सोनपुर, सक्ती, कौड़िया और सरगुजा। इस सूची में कंवर्धा, खैरागढ़ तथा अन्य राज्य या जमीन्दारियों के नाम नही थे जो पश्चिमी पहाड़ियों की सीमा पर आबाद थे। संभवतः ये मण्डला के गोंड़ राजाओं के आधीनस्थ रहे होंगे।

राजा कल्याण साय के पास जो सेना थी, उसका ब्यौरा इस प्रकार है—

खड़गधारी	२,०००
कटारधारी	५,०००
बंदूकधारी	३६००
धनुर्धारी	२६००
घुड़सवार	१,०००
योग	१४,२००

१. कोसगंई में प्राप्त शिलालेख

२. चीजम की सेटलमेंट रिपोर्ट सन् १८६८-६९

इनके सिवाय ११६ हाथी भी थे। वस्तुतः इतनी सेना राज्य की आंतरिक व्यवस्था को ठीक रखने के लिए पर्याप्त थी। आसपास के राजे इतनी सेना नहीं रख सकते थे। इन तथ्यों से सहज ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि छ० ग० राज्य उस समय अत्यन्त समृद्धशाली था और उसकी शासन पद्धति भी श्रेष्ठ थी।

राज्य प्रबंध की पद्धति में स्पष्टतः पहले से अब काफी अन्तर हो चुका था। विषय, भोग, भुक्ति, मण्डल आदि नामों से जो शासन की सुविधा के हेतु राज्य का विभाजन कर दिया जाता था वह अब गायब हो चुका था और उसके स्थान पर राजा को केन्द्रस्थल (राजधानी) में सिरमौर बनाकर क्रम से पद ऐसे नीचे उतारे जाते थे कि उसकी समाप्ति गाँव के गौंटिया में जाकर होती थी।

जरा और स्पष्टीकरण लीजिए[1]—राज्य के समस्त गाँव चौरासी में बाँट दिये जाते थे अर्थात् प्रत्येक चौरासी में ८४ गाँव, अधिकारी का पद प्रधान या दीवान। प्रत्येक चौरासी में ७ बरहों, और प्रत्येक बरहों में १२ गाँव, पद दाऊ, ७×१२=८४ इस प्रकार १ चौरासी बन गया। प्रत्येक गाँव में एक गौंटिया। कर वसूली या अन्य शासकीय कार्य-विधि के लिए चौरासी का अधिकारी हर राजा के प्रति जिम्मेदार रहता था। चौरासी का अधिकारी प्रायः गढ़ में निवास करता था। एक बात और ध्यान में रखने योग्य है कि कभी-कभी किसी चौरासी में, या बरहों में गाँवों की संख्या, सुविधानुसार कम ज्यादा हुआ करती थी।

जमाबंदी की पुस्तक में ४८ गढ़ों के नाम दिये गये हैं। इनमें से १८ गढ़ों की सूची, इस पुस्तक में अन्यत्र दी गई है।

---

१. चीजम की पूर्वोक्त सेटिलमेंट रिपोर्ट, १८६८-६९

१४

समाज व्यवस्था

कलचुरिकाल में वर्णाश्रम व्यवस्था प्रचलित तो थी पर उतनी कट्टरता नहीं थी। उस समय हिन्दू समाज का स्वरूप इतना संकुचित नहीं था, तभी तो शक, कुषाण, यौधेय, गुर्जर, चित्पावन आदि विदेशी जातियों का हिन्दू-समाज में समावेश हो गया और वे रचपच गये। राज पद प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक नहीं था कि उसे क्षत्रिय वंश का ही होना चाहिए। लेखों से पता चलता है कि ब्राह्मण और वैश्य जाति के लोग भी महाराजा या राजा पद पर सुशोभित थे। कलचुरियों का एक सामन्त वैश्य था, नाम था उसका वल्लभ-राज। 'यश' नाम वैश्य का उल्लेख रत्नपुर के पुर-प्रधान के रूप में, लेखों में अनेक बार आया है। शरभपुरीय राजाओं के समकालीन विदर्भ का वाकाटक राजवंश ब्राह्मण था और उसने गुप्त वंश से वैवाहिक संबंध स्थापित किया था। त्रिपुरी के राजा कर्ण की रानी आवल्लदेवी हूण वंश की थी और उसे महारानी का पद प्राप्त था।[1] वैवाहिक संबंध प्रायः स्वजाति में ही होते थे पर अनुलोम विवाह को त्याज्य नहीं समझते थे।

तत्कालीन समाज में भी ब्राह्मण वर्ग को अत्यन्त सम्माननीय दर्जा प्राप्त था। ब्राह्मणों को ग्राम दान देते समय, उस गांव को जब इसकी सूचना दी जाती थी और ताम्रपत्र लिखे जाते थे तब राजा ब्राह्मणों को प्रणाम कर अपनी घोषणा सुनाता था। ब्राह्मण को इतना सम्मान पाना, एक तो उनका परम्परागत अधिकार समझा जाता था, दूसरे दान देने में इस बात की सावधानी रक्खी जाती थी कि दान प्राप्त करने वाला ब्राह्मण "सुविशुद्ध कुलश्रुत" हो। महारानी वासटा के लेख में उत्कीर्ण है कि उसके द्वारा ब्राह्मण को दिया गया दान उन ब्राह्मणों के पुत्र पौत्रादिकों को केवल उसी स्थिति में प्राप्त होता था जब वे अष्टांग युक्त तथा अग्निहोत्र हों। इसके विपरीत उनके आचार रहित होने पर उस दान पर उनका अधिकार नहीं रहता।

---

१. कार्पस इन्स्क्रिप्शनं इंडिकेरं

उत्कीर्ण लेखों से यह भी ज्ञात होता है कि प्राचीनकाल में वेदपाठी उच्चतम समझे जाते थे और उनका वर्गीकरण उसी के आधार पर होता था। महारानी वासटा के शिलालेख में ऋग्वेदी, यजुर्वेदी और सामवेदी ब्राह्मणों का उल्लेख है। वर्तमानकाल में भी यज्ञादि सम्पन्न करने में भिन्न भिन्न वेदों के पाठ करने वालों का उच्चतर स्थान रहता है। वेदों के बाद शाखा और गोत्र के अनुसार ब्राह्मणों में भेद किया जाता था। शरभपुरीय प्रवरराज का मल्लार में प्राप्त ताम्रलेख में ऋग्वेदी ब्राह्मण शुभचंद्र स्वामी को "ऋग्वेदी" कहकर उल्लिखित किया गया है और उसके द्वारा उसे "शंखचक्रा भोग" में स्थित मित्रगाम, अपने मात-पिता और निज के पुण्य की अभिवृद्धि के हेतु दान में दिया गया है। शंखचक्रा भोग संभवत: आजकल का चकरबेड़ा हो और मित्र-गाम—मटिया (पटवारी वृत क्रमांक १३८) हो।

कलचुरियों के दरबार में राजाश्रय पाने के हेतु दूर दूर के प्रदेशों से ब्राह्मण आया करते थे। शिलालेखों में उल्लेख पाया गया है कि रत्नपुर के कलचुरि राजा के यहाँ आश्रय प्राप्ति के लिए उत्तर प्रदेश के शोणभद्र और मध्यभारत के कुम्भटी नामक ग्रामों से ब्राह्मण आये हुए थे। कुछ नामों के साथ उनके मूल स्थान को प्रदर्शित करने वाले "माथुर", "नागर", जैसे विशेषण जुड़े थे। लगता है—इसी भाँति बाद में ब्राह्मणों की उपजातियों का प्रादुर्भाव हुआ। आद्य कलचुरियों के लेखों में ब्राह्मणों के नाम के पूर्व ब्राह्मण, भट्ट अथवा भट्टिक तथा अंत में स्वामी शब्दों का प्राय: प्रयोग किया गया है।[1] कहना न होगा कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के लिए क्रमशः शर्मा, वर्मा, गुप्त और दास उपपद प्रयोग में आते थे जो किसी सीमा तक अभी भी प्रचलित हैं पर मनमाने ढंग पर।

अनेक ब्राह्मण वेद और शास्त्र के अध्ययन में ही अपना सारा समय व्यतीत करते थे। वे प्राय: अमात्य या अन्य उच्च पदों पर भी नियुक्त किये जाते थे। क्षत्रियों को भी समाज में आदर का स्थान प्राप्त था। राजवंशों के अधिकतर क्षत्रिय होने के कारण, क्षत्रिय को सेना तथा प्रशासन के उच्च पदों पर नियुक्त किया जाता था। वैश्य वर्ग के लोग व्यापार करते हुए भी प्रशासन पर प्रभाव रखते थे। इसके पूर्व कहीं लिखा जा चुका है कि वल्लभराज कलचुरियों का सामन्त था और रत्नपुर के नगराध्यक्ष या नगरसेठ के पद पर श्रेष्ठी (सेठ) "यश" प्रतिष्ठित था। वैश्यों के बाद कायस्थ जाति प्रभावशील

---

१. शिलालेखों से संग्रहीत।

थी। कायस्थ लोग विद्वान, अनेक शास्त्रों के ज्ञाता और कलम के धनी होते थे।[1] उनके वंश का उपनाम वास्तव्य (श्रीवास्तव) आज भी प्रचलित है। राजाओं के मंत्री मण्डल में एक न एक कायस्थ प्रायः रहा करता था। छ० ग० के कलचुरियों की अनेक प्रशस्तियों के लेखक कायस्थ विद्वान थे। इन सब के अतिरिक्त सूत्रधार नामक जाति का उल्लेख पाया जाता है जो शिल्प तथा वास्तुकला में प्रवीण होती थी। इनकी छीनी से उत्कीर्ण लेखों की संख्या प्रचुर है। खलारी का नारायण मंदिर देवपाल मोची के द्रव्य से निर्माण किया गया था, ऐसा उल्लेख शिलालेख में है।[2]

---

१. शिलालेखों से संग्रहीत

२. ब्रह्मदेव का खलारी में प्राप्त शिलालेख सन् १४१५ ई०

१५

धार्मिक प्रवृत्तियाँ

दक्षिण कोसल में प्राप्त उत्कीर्ण लेखों से तत्कालीन धार्मिक स्थिति तथा प्रवृत्तियों के संबंध में भी पर्याप्त जानकारी मिलती है। भवदेव रणकेसरी के शिलालेख से विदित होता है कि भांदक में पाण्डुवंशियों के आगमन के पूर्व सूर्य-घोष नामक एक राजा रहता था जिसने अपने पुत्र की स्मृति में शाक्यमुनि बुद्ध के एक मंदिर का निर्माण कराया था।[1] उस मंदिर का जीर्णोद्धार भवदेव केसरी ने कराया था।

सकती (जिला बिलासपुर) में गुंजी ऋषभतीर्थ[2] में चट्टान पर जो शिला-लेख है कि (सातवाहन) राजा कुमारवरदत्त के अमात्य दण्डनायक और बलाधि-कृत बोधदत्त ने ब्राह्मणों को एक हजार गायें दान दी थीं। छटे संवत् में फिर दुबारा एक हजार गायें दान में दी गई। पश्चात् अमात्य और दण्डनायक इंद्रदेव ने ब्राह्मणों को एक हजार गायें दान में दीं। महाशिवगुप्त[3] बालार्जुन के मल्लार में प्राप्त ताम्रपत्र से बौद्धसंघ को कैलासपुर (केसला) नामक गाँव देने का उल्लेख है। इसी राजा के समय में उसकी राजधानी श्रीपुर (सिरपुर) में अनेक बौद्ध बिहारों का निर्माण हुआ था जिनके भग्नावशेष अभी भी विद्य-मान हैं। बौद्ध मंदिरों, बिहारों तथा बौद्ध भिक्षुओं का उल्लेख करने वाले शिला-लेख भी सिरपुर में प्राप्त हुए हैं। मल्लार में पाण्डु (दक्षिण कोसल के) कालीन मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं। मल्लार के निकट ही जैतपुर नामक एक ग्राम है (जो संभवतः पहले चैत्यपुर था) वहाँ बौद्धकालीन अनेक अवशेष मिले हैं।[4]

---

१. जनरल आफ रा० ए० सोसाइटी, सन् १९०५ पृष्ठ ६१७ किलहार्न

२. कोसल प्रशस्ति रत्नावली, पृष्ठ ३, लो० प्र० पाण्डेय

३. उत्कीर्ण लेख, पृष्ठ ४४, बालचंद्र जैन

४. प्रत्यक्ष निरीक्षण

शरभपुरीय नरेश परम वैष्णव थे। उनकी राजमुद्रा पर गजलक्ष्मी की छवि मिलती है। पाण्डुवंश के तीवरदेव, पुत्र नन्न तथा शिवगुप्त का पिता हरिदेव सभी वैष्णव थे। तीवरदेव की राजमुद्रा पर गरुड़ की छवि अंकित है। हर्ष गुप्त की रानी और बालार्जुन की माता वासटा ने अपनी राजधानी श्रीपुर में विष्णु मंदिर का निर्माण कराया था जो आज भी विद्यमान है। इस मंदिर की रक्षा, व्यय, राजभोग और सत्र के लिए उन्होंने पाँच गाँव चढ़ा दिये थे।[१]

एक स्मरणीय बात यह हुई कि महाशिव गुप्त बालार्जुन ने परम्परागत वैष्णव धर्म को छोड़कर शैव मत ग्रहण कर लिया। संभवतः नाम में शिव शब्द का समावेश तथा राजमुद्रा में नंदी की छबि का अंकन भी इसी पंथ-परिवर्तन का परिणाम हो। लेकिन एक बात है कि स्वयं शैव होते हुए भी वह बौद्ध तथा वैष्णव धर्मों का समादर करता था और उनके अनुयाइयों को आश्रय देता था। बालार्जुन के राज्यकाल में उत्कीर्ण सेनकपाट के शिलालेख में शिव मंदिर के निर्माण का उल्लेख है।[२]

कलचुरिकालीन दक्षिण कोसल में भी धर्म के विषय में परंपरा का निर्वाह होता रहा। बात यह है कि समग्र भारतवर्ष आरंभ से ही धर्मप्राण रहा है। रतनपुर के कलचुरि (हैहयवंशी) नरेश परम शैव थे। उनके द्वारा तुम्माण में राजधानी निर्माण करने के साथ ही साथ बंकेश्वर महादेव के मंदिर का निर्माण कराना, इसका प्रमाण है।उनकी धारणा थी कि बंकेश्वर महादेव की कृपा से ही उन्हें दक्षिण कोसल का राज्य प्राप्त हुआ है।[३] रतनपुर के रत्नेश्वर महादेव तथा पृथ्वीदेव के निर्माण कराये अनेक शिवमंदिर, कोई सामान्यतः अच्छी दशा में और अधिकांश टूटी फूटी अवस्था में आज भी विद्यमान हैं। वृद्धेश्वरनाथ महादेव की आज भी बड़ी महिमा है और उनका मंदिर भी अच्छी हालत में है तथा राजभोग का प्रबंध भी यथाविधि चला आ रहा है। पाया गया कि द० को० के विभिन्न स्थानों में शिवजी की स्थापना भिन्न भिन्न नामों से की गई है, जैसे त्रिपुरारि, चंद्रशेखर, नागेश्वर, बिल्वपाणि, पार्वतीपति, नीलकंठ, शंभु, जटाशंकर आदि। प्रशस्तियों के आदि में भी उन्ही का स्मरण किया गया है जैसे "ॐ नमः शिवाय"। कई मंदिरों में शिवलिंग के अतिरिक्त शिव-पार्वती की सुन्दर मूर्तियां भी स्थापित हैं। रतनपुर की रामटेकड़ी में रामपंचायतन

१. शिलालेखों से (उत्कीर्ण लेख बा० चं० जैन)
२. सी० पी० इन्स्क्रिपशनस, २७२, हीरालाल
३. प्रत्यक्ष निरीक्षण
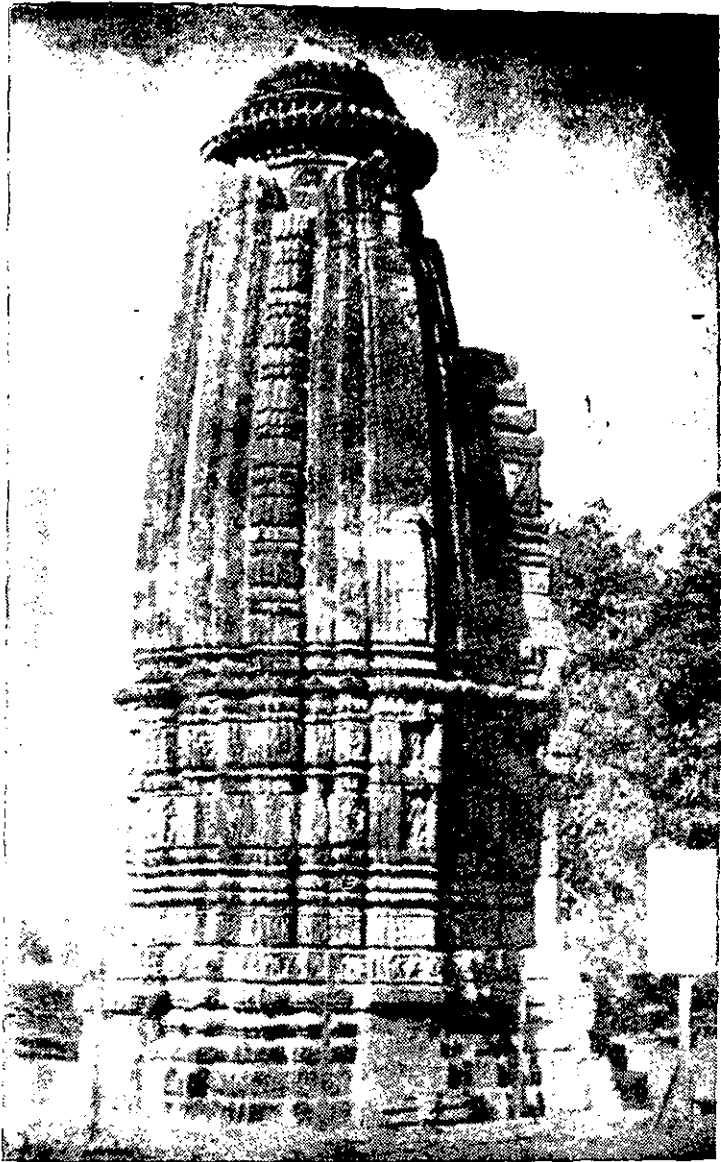
देवकर का मंदिर

के विशाल मंदिर से लगा हुआ शिवजी का एक छोटा सा ,मंदिर है जहाँ शिव-पार्वती की संगमर्मर की सुन्दर प्रतिमाएं प्रतिष्ठित हैं ।

बिलासपुर जिले के मल्लार ग्राम (पुराना नाम मल्हारि पत्तन) में शिवजी के एक विशाल मंदिर का टीला मात्र रह गया है और उसकी अवशेष मूर्तियाँ मंदिर के अनुपम निर्माण शिल्प कला का प्रमाण प्रस्तुत कर रही हैं ।[1]

हैहयवंशियों के शैव होने के बावजूद दक्षिण कोसल में वैष्णव धर्म का न अभाव पाया जाता और न प्रभाव ही । राजिम (जिला रायपुर) की प्रशस्ति[2] के आरंभ में नारायण का स्मरण किया गया है । रायपुर जिले के ही खल्वाटिका (वर्तमान खलारी) नामक ग्राम में देवपाल मोची द्वारा नारायण का मंदिर निर्माण कराया गया था । जांजगीर का कलचुरि कालीन वैष्णव मंदिर अपूर्ण रहते हुए भी तत्कालीन स्थापत्य कला का पूर्ण प्रतिनिधित्व करता है । छ० ग० में श्री रामचंद्र, श्री राधाकृष्ण, श्री हनुमानजी आदि देवताओं के मंदिर स्थान स्थान पर पाये जाते हैं फिर भी शिवमंदिरों की तुलना में उनकी संख्या न्यून है। पाली के मंदिर की छत में चौंसठ जोगनियों की मूर्तियाँ, भेड़ाघाट के मंदिर की चौंसठ जोगनियों की मूर्तियों की स्मरण दिलाती हैं। कई स्थानों में विष्णुजी के दशावतार की मूर्तियाँ मंदिर की दीवालों या चौखटों पर उत्कीर्ण पायी जाती हैं । रतनपुर में प्राप्त लक्ष्मीनारायण की चतुर्भुजी मूर्ति रायपुर संग्रहालय की शोभा बढ़ा रही है । रतनपुर के हाथी किले की दीवालों पर, टूटे फूटे मंदिरों या महलों के खंडहरों में प्राप्त मूर्तियाँ लगी पायी जाती हैं । इसी किले की दीवाल पर एक स्थान में किसी खंडहर-मंदिर में प्राप्त शिला-निर्मित चौखट लगा हुआ है जिस पर खुदाव का इतना उत्कृष्ट कार्य किया गया है कि देखते ही बनता है । इसीके समीप दीवाल पर एक शिलाखंड और लगा हुआ है जिसमें लंकाधिपति दशानन रावण के यज्ञ करने का दृश्य उत्कीर्ण है। इस यज्ञ में रावण अपना एक एक सिर काट कर आहुति दे रहा है । इसी किले के द्वार पर सप्त-मात्रिका की मूर्तियाँ खचित हैं । पास ही किले का प्रसिद्ध गणेश द्वार है जहाँ ऊपर में श्रीगणेशजी की सुन्दर मर्ति प्रतिष्ठित है।

दक्षिण कोसल में शक्ति पूजा का भी अच्छा प्रचार था । कस्बों और नगरों में महामाया, दुर्गा, महिषासुरमर्दिनी, काली आदि शक्तियों के मंदिर अवश्य पाये जाते है । पहले इन मंदिरों में महिष अर्थात भैंसों की बलि दी जाती थी जो अब बंद है । मूल्य बढ़ जाने से बकरों की बलि में भी पर्याप्त रूप से कमी हो गई है । रत्नपुर के महामाया जी की बड़ी महिमा है जिनकी मूर्ति

१-२. प्रत्यक्ष निरीक्षण

के पीछे महाकाली एवं महालक्ष्मी के शीश मात्र दृष्टिगत होते हैं। पाली के मंदिर के द्वार पर चामुंडा की मूर्ति उत्कीर्ण है।[1] बस्तर की दंतेश्वरी मंदिर और देवी तथा उनका महात्म्य प्रसिद्ध है।

कलचुरि नरेश बड़े धार्मिक प्रवृत्ति के थे। इनके अनेक दानपत्र ऐसे प्राप्त हुए हैं जिन पर चंद्र ग्रहण या सूर्य ग्रहण के पर्वों पर या यों ही किसी सुअवसर पर ब्राह्मणों को गौ, भूमि या ग्रामदान देने का उल्लेख है। उन दिनों तालाबों का निर्माण भी बड़ा पुण्य-कार्य समझा जाता था, आज भी सर्वसाधारण में यह धारणा जागृत है। प्रत्येक प्राचीन ग्राम में पुराने समय के खुदाये हुए तालाब पाये जाते हैं। रतनपुर राजधानी में किसी समय १४०० तालाब थे। अब तो स्थान की कमी या अन्य कारणों से पुराने तालाब पाट कर खेत बनाये जा रहे हैं या बस्ती बसाये जा रहे हैं। तालाबों के अतिरिक्त मंदिर या धर्मशाला का निर्माण, अमराई लगाना या अन्य छायेदार वृक्षों का रोपण भी अत्यन्त शुभ और पुण्य कार्य समझा जाता था।

रतनपुर[2] में सती चौतरे असंख्य हैं। इनसे लगता है उस समय सती प्रथा का बड़ा जोर था। रतनपुर के राजा लक्ष्मण साय जिनका राजत्वकाल सन् १५८३ ई० है, की मृत्यु हो जाने पर उनकी अट्ठाइस रानियाँ सती हो गई थीं। इन सब का सती मंदिर अब खंडहर की अवस्था को भी पार कर गया है। इस मंदिर का निर्माण जिस तालाब के तट पर हुआ था, वह आठाबीसा तालाब कहलाता है और इन्हीं सतियों की स्मृति में खुदवाया गया था। इस मंदिर के चहुं ओर प्रतिवर्ष माघ पूर्णिमा को मेला लगता है जो तीन दिनों तक रहता है। रतनपुर में ही महामाया के मंदिर के पार्श्व में एक सुंदर सती मंदिर अग्रवाल वंश का है।

दक्षिण कोसल के गाँव गाँव में तालाबों के पार पर शिवजी के छोटे छोटे मंदिर या चौतरे तथा आदिवासियों के ठाकुर देव या अन्य देवी-देवताओं के चौतरे पर्याप्त संख्या में मौजूद हैं किंतु अब उनकी संख्या धीरे धीरे कम हो रही हैं।

प्राचीन समय में वैदिक कर्म कांड अर्थात् यज्ञादि का अच्छा प्रचार था जिसका उल्लेख कई प्रशस्तियों में पाया जाता है। रतनपुर में प्राप्त सन ११६४ के एक शिलालेख में वर्णित है कि तल्हारि मंडल की यज्ञशालाओं में यज्ञों का धुंआ गगन मंडल में इतना घना छा जाता था कि मोरगण उसे घनघोर घटा समझ कर मुदित हो उठते थे और नृत्य करने लगते थे। स्थान स्थान पर यज्ञ

१-२. प्रत्यक्ष निरीक्षण

के हवन कुंडों का उल्लेख प्रशस्तियों में उपलब्ध है जो वैदिक धर्म के प्रचलन के प्रमाण हैं। इन्हीं परम्पराओं का स्मरण करके पिछले तीस वर्षों में छ० ग० के अनेक स्थानों में भिन्न भिन्न देवताओं के नाम से अनेक यज्ञ सम्पन्न किये गये हैं जिनमें रतनपुर का संवत् २००० वि० का विष्णु महायज्ञ प्रसिद्ध है जहाँ छ० ग० के अनेक जमीन्दारों और सामन्तों ने उपस्थित होकर यज्ञ में योगदान दिया था।

अनेक पर्वों और अवसरों पर श्रीमद्भागवत का पारायण, सत्यनारायण की कथा का श्रवण, यज्ञ-हवन, कीर्तन और अंत में ब्राह्मण भोजन होते ही रहते थे। पूर्व काल में और निकट भूत में, आवागमन का मार्ग कठिन होने से जब कोई गृहस्थ तीर्थ यात्रा सम्पन्न कर घर लौटता था तब बड़े धूमधाम के साथ उसकी अगवानी की जाती थी, उन्हें नारियल, कपड़े या रुपये भेंट में दिये जाते थे पर वे दिन अब लद गये। अब तीन दिन या सप्ताह, दो सप्ताह में रेल द्वारा तीर्थ यात्रा करने वाले व्यक्तियों को कौन भेंट देता है? रतनपुर के प्रसिद्ध विद्वान बाबू रेवाराम कायस्थ अपने इतिहास में लिखते हैं कि रतनपुर के राजे वृद्ध हो जाने पर अमरकण्टक में अपना शेष जीवन व्यतीत कर वहीं पंच तत्व में मिल जाते थे।

१६

बौद्ध तथा जैन धर्म

दक्षिण कोसल में कलचुरियों का राज्य स्थापित होने के पहले ही बौद्ध धर्म का पर्याप्त प्रचार हो चुका था जिसका उल्लेख इस विषय के आरंभ में किया जा चुका है। सिरपुर, आरंग, रत्नपुर, मल्लार आदि स्थानों में बौद्ध बिहार, मूर्तियाँ, और मठों के अवशेष प्राप्त हुए है। मल्लार में शिवजी के कई विशाल मंदिर तथा उनसे लगे हुए स्थल पर बौद्ध बिहार का अस्तित्व इस बात का प्रमाण है कि उस जमाने में धार्मिक सहिष्णुता अपनी चरम सीमा पर थी और राज्य की ओर से किसी के लिए अपना अपना धर्मपालन करने में कोई रुकावट नही थी। आगे चल कर अन्य प्रदेशों के सदृश दक्षिण कोसल में भी बौद्ध धर्म की अवनति होती गई। फिर भी कई उत्कीर्ण लेखों से यह विदित होता है कि सनातन धर्मी विद्वानों द्वारा भी बौद्ध धर्म शास्त्र तथा दर्शन ग्रंथों का अध्ययन हुआ करता था। रत्नपुर में प्राप्त एक शिलालेख में उत्कीर्ण है कि प्रथम जाजल्लदेव के राजगुरु रुद्रशिव ने दिगर नागादि बौद्ध दर्शन का अध्ययन किया था।[१] कोनी के शिलालेख में उल्लिखित है कि उसके कर्ता कोशल को बुद्ध, धर्म, और संघ इस रत्नत्रय की जानकारी थी तथा उसने बुद्ध के आगम ग्रंथों का अध्ययन किया था। राजदरबार में जब धार्मिक शास्त्रार्थ हुआ करते थे तब अपना पक्ष समर्थन अथवा विपक्षियों की मान्यता का खंडन करने के लिए सनातनधर्मी विद्वानों को सभी धर्म के ग्रंथों का अध्ययन करना पड़ता था।

जैन धर्म का प्रचार दक्षिण कोसल में अवश्य था जिसका प्रमाण आरंग, सिरपुर, मल्लार, धनपुर, रत्नपुर, पद्मपुर आदि स्थानों में जैन तीर्थंकरों की अनेक मध्यकालीन मूर्तियों मे मिलता है पर उसका जोर अधिक नहीं था।

---

१. उत्कीर्ण लेख. पृष्ठ ७२, बालचंद्र जैन

जैन तीर्थ की एक खड़ी हुई मूर्ति रतनपुर के बड़े पुल पर लगी पाई जाती है। यह मूर्ति निःसंदेह किसी जैन मंदिर के खंडहर से लाई गई होगी।

इस प्रदेश में कहीं कहीं मुसलमान पीर और फकीरों की दरगाहें भी पाई जाती हैं। जैसे रतनपुर के जूना शहर में मूसेखाँ की दरगाह। इस दरगाह के संबंध में कप्तान जे० टी० ब्लंट ने, जिसने अपनी यात्रा के बीच सन् १७९५ में रतनपुर में पाँच दिनों तक मुकाम किया था, अपनी रिपोर्ट में लिखा है "दुलहरा तालाब से करीब एक मील पश्चिम की ओर एक मुसलमान पीर की समाधि है जिसका नाम मूसेखाँ था और जिसकी हत्या गोंड़ों ने कर दी थी।" पर इसका समर्थन किसी अन्य रेकार्ड में पाया नहीं जाता।

आर्य और द्रविड़ों का पारस्परिक संबंध

पूर्व उल्लिखित तथ्यों से यह पूर्णरूपेण सिद्ध होता है कि प्राचीनकाल में, यद्यपि दक्षिण कोसल की सीमा द्रविड़ प्रदेश से लगी हुई थी तथापि आर्य और द्रविड़ों में धर्म के नाम पर कोई भेदभाव नहीं बरता जाता था और न लड़ाई झगड़े होते थे और भावात्मक तथा धार्मिक एकता का प्रमाण तो रामायण काल से ही मिल रहा है जब श्री रामचंद्रजी ने द्रविड़ों के आराध्यदेव श्री शिवजी की स्थापना करके उसका नाम रामेश्वर रक्खा था और यह तब लंका से केवल सीता को रावण के बंधन से छुड़ाने के हेतु किया था न कि राज्य-विस्तार के उद्देश्य से। यह तो अंग्रेजों की फूट पैदा करने की नीति का फल था जो आर्यों के लिए द्रविड़ों के हृदय में असम्मान और तिरस्कार के भावों को जन्म मिला। आर्यों ने देवताओं की मूर्ति पूजा और मंदिर निर्माण की प्रथा और कला द्रविड़ों ही से सीखी। नारियल, पुंगीफल (सुपाड़ी), लौंग, इलायची, अगरु आदि पूजन सामग्री द्रविड़ों की ही देन है अन्यथा उत्तर में तो इन चीजों की उपज ही नहीं होती है और न इनका प्रचार था। शिवजी आज आर्यों के पुराणों में तथा त्रिदेवों में स्थान प्राप्त करके आशुतोष (तत्काल प्रसन्न होने वाले देवता) भगवान माने जाते हैं और वाराणसी जैसी पुण्य भूमि में स्थान पाकर एक छोटे से ग्राम तक में अत्यन्त भक्ति भाव से पूजे जाते हैं।

भारत एक अध्यात्म-प्रधान देश है। इसकी सारी धर्म भावनाएँ "वसुधैव कुटुम्बकम्" पर आधारित हैं। दक्षिण कोसल में प्राप्त प्रशस्तियों में मानव जीवन की अनित्यता का अनेक स्थानों पर उल्लेख है। इसी से वह किसी भी धर्म से वैरभाव की कल्पना तक नहीं करता।

१७

प्राचीन छत्तीसगढ़ - राज्य में मुसलिम सभ्यता या सत्ता का प्रभाव

छत्तीसगढ़ मुसलमानी शासन के प्रभाव से बहुत समय तक प्रायः अछूता ही रहा। सन् १३४६ के लगभग खलीफा नामक मुसलमान सेनापति द्वारा छत्तीसगढ़ान्तर्गत तत्कालीन सरगुजा-राज्य पदाक्रांत हुआ था और उसने उस पर विजय प्राप्त करने के उपलक्ष में, वहाँ के निवासियों में, ताम्र मुद्राएँ वितरित की थी। किन्तु उसके पीठ फेरते ही तत्कालीन सरगुजा-नरेश ने सब मुद्रायें एकत्र करा ली और उनका प्रचार राज्य में बंद करा दिया।[1]

लेकिन इसी समय मध्यप्रदेश बहमनी और मालवा के हाकिमों के आधीन चला गया। फिर भी सतपुड़ा की घाटियों में आरण्यवासी आरण्यों में अपने राजा के आधीन स्वतंत्रतापूर्वक विचर रहे थे तथा प्रदेश के पूर्वी दक्षिण कोसल में रतनपुर के हैहयवंशियों का राज्य निर्विघ्नतापूर्वक चला जा रहा था।[2]

किन्तु इसी समय धीरे धीरे छ० ग० के मुख्य भाग में भी स्थितियाँ परिवर्तित होने लगी और मुसलमानों का प्रवेश होने लगा। इस संबंध में रतनपुर के प्रसिद्ध इतिहासकार विद्वान बाबू रेवाराम कायस्थ अपने हस्तलिखित "रतनपुर राज्य का इतिहास" में लिखते हैं—शब्द और वाक्य उन्हीं के हैं—"इसी समय सं० १३९० वि० (अर्थात् सन् १३३३ के लगभग) हिन्दू राज्य समाप्त होकर यवनवंश बादशाह हुए", इसका मतलब यही हुआ कि अब मुसलमानों के आक्रमण इस भाग में भी होने लगे।

इसके बाद स० १५७० वि० (सन् १५१३) के कोसगई (जिला बिलासपुर पास छुरी) के एक शिलालेख से पता चलता है कि इस समय छ० ग० के

---

१. झारखंड-झनकार, पृष्ठ २५, रघुवीर प्रसाद।

२. शुक्ल अभिनंदन ग्रंथ, इतिहास खंड, पृष्ठ ७०, प्रयागदत्त शुक्ल।

कुछ और हिस्सों में भी पठानों के हमले शुरू हो गये थे। इस शिलालेख मे उल्लेख है कि "राजा बाहार साय (बाहरेन्द्र) का एक मंत्रीमाधव नामक है जिसने शत्रुओं की राज्य-लक्ष्मी छीन कर उसे यहाँ ला दी है। वाहारसाय राजा का आदेश पाकर कठोर अंतःकरण वाले (किन्तु) उदार मंत्री माधव ने पठानों से भूमि छीन ली और उन्हें पराजित कर वह स्वर्ण तथा अन्य धातुएँ ऊँटों पर लदवा कर ले आया।" इस शिलालेख मे यह पता नहीं चलता कि ये पठान कौन थे।[१]

तत्पश्चात् ई० की १७वीं सदी में दिल्ली के मुगल बादशाह जहाँगीर के पुत्र परवेज का रतनपुर-राज्य पर हमला करना पाया जाता है, जो जहाँगीर-नामा में उल्लिखित है। इस संबंध में इस ग्रंथ के पिछले पृष्ठों (इतिहास खंड) में यथास्थान विस्तृत चर्चा की गई है तथापि इस घटना को लेकर छत्तीसगढ़ में जो गीत देवारों[२] द्वारा गाये जाते हैं, उनसे एक उदाहरण नीचे दिया जाता है।

जब जहाँगीर के पुत्र परवेज ने रतनपुर पर हमला करने के लिये अपने एक सेनापति को भेजा तब तत्कालीन राजा कल्याणसाय ने उसकी आधीनता स्वीकार कर ली। फलतः परवेज ने राजा को एक लाख रुपया, ८० हाथी तथा स्वर्ण मुहरें नजर लेकर दिल्ली चलने के लिए विवश किया।[3] इसकी सूचना जब राजा कल्याणसाय की माता भवानामती को मिली, तब वह बहुत घबरा गई। उसने सोचा कि मेरा पुत्र दिल्ली में इस्लाम मजहब स्वीकार करने के लिए अवश्य मजबूर किया जायगा। देवार-गीत में इसका उल्लेख इस प्रकार है :—

"रानी कहै भवानामती, सुन बेटा मोर बात,
मूड़ रुड़ाय पठान बना है अउ पढ़ाहै नेवाज
कानचीर मुंदरी पहिराहै कर मुगलानी भेख
तैं पाइके राजा मन डिल्ली नइ आवें जी॥

---

१. उत्कीर्ण लेख, पृष्ठ १३८, बालचंद्र जैन।

२. देवार चारण किस्म की एक आदिवासी जाति है जो एकतारा (जिसे वे ढूंगरू कहते हैं) बजाकर छ० ग० में यहाँ के हैहयवंशी राजाओं, हस्तिनापुर के पाण्डव तथा अन्य कथाओं का वर्णनात्मक गीत गान किया करते हैं।

३. Memoirs of Jahangir by Rodgers and Beveridge.

माता को समझा बुझाकर राजा कल्याणसाय दिल्ली गया । उसके भिन्न भिन्न करद राज्य के २२ आश्रित राजा और १८ राजकुमार थे ।[1] समय गोपाल मल्ल (जाति बिझवार) भी राजा के साथ चला गया सात वर्षों तक दिल्ली में रहकर बादशाह को अपनी पहलवानी और से खुश करके राजा कल्याणसाय को न केवल दिल्ली से छुट्टी दिलवाई खिल्लत आदि भी बादशाह की ओर से दिलवाये जैसा कि उस समय थी । मुसलमानों का आवागमन छ० ग० में अब बढ़ने लगा ।

१८वीं शताब्दी में छ० ग० के हैहयवंशी राजा राजसिंह के राजत्वक गोपाल मिश्र नामक एक महान राज-कवि हो गये हैं । उन्होंने कई काव्य की रचना की है, जिनका उल्लेख इस ग्रंथ में यथास्थान किया गया है । खूब तमाशा', नामक नीतिपरक ग्रंथ पर्याप्त रूप से प्रसिद्ध है । इसकी उन्होंने राजधानी रतनपुर में संवत् १७४६ वि० में की थी । उन्होंने इस ग्रंथ में दिल्ली के तत्कालीन मुगल बादशाह औरंगजेब के विषय पद लिखे हैं, जिनसे छ० ग० में मुगल-शासन के संबंध में कैसी भाव इसका पता सहज ही लगता है । उनमें से एक पद नीचे दिया जाता

पातसाह नौरंगजेबसों औरे अदल चलाया
कुल आलम को जेरजस्त कर जोर जीजिया लाया
दिल्ली ऐसे तखत छांड़ि कै दक्खिन सर की आशा
सब लौं बड़े तेज तिनहू के देखा खूब तमाशा ।४४

गोपाल कवि परम धार्मिक और भारत भक्त थे । वे औरंगजेब द्वार जाने वाले जुल्मों का हाल सुनकर तिलमिला उठे और क्रोध मे आकर शतक" नामक जोशीली कविताओं की एक छोटी सी पुस्तक लिख डाली पढ़ कर राजा राजसिंह ने धीरज खो दिया एवं उत्तेजित होकर वे औ से लड़ने के लिए तैयारी करने लगे । आखिर मंत्रियों ने औरंगजेब के मु में अपनी निर्बलता का ब्यौरा देकर उन्हें समझाया और शांत किया । स शठ-शतक पुस्तक गायब कर दी गई । इससे गोपाल कवि ने क्षुब्ध होकर छोड दिया और खैरागढ़ राज्य या कांकेर राज्य चले गये ।

मुस्लिम[3] राजघराने छ० ग० मे रहे ही नहीं, ऐसी बात नहीं है । का गोंड़ राजघराना तो मुसल्मान हो ही गया था ।

---

१. सतपुड़ा की सभ्यता, पृष्ठ १३२, प्रयागदत्त शुक्ल ।
२. खूबतमाशा, नीतिशतक पृष्ठ ७, प्रकाशक खेमराज श्रीकृष्णदास बम्ब
३. छत्तीसगढ़ परिचय, पृष्ठ ११८, बल्देवप्रसाद मिश्र ।

इतना ही नहीं उन्होंने गोंड़ सरदारों तथा अन्य मुसलमान वीरों को भी प्रश्रय दिया। खुज्जी नाम की जमींदारी मुसलमान-घराने की ही थी। कहते हैं कि आज से लगभग १७५ वर्ष पहले किसी शेरखाँ बहादुर नामक व्यक्ति ने गोंड़ नरेश को भोंसलों के आक्रमण से बचाया था। इसलिये उसे ३३ गाँवों की जमीन्दारी इनाम में दे दी गई। इसी इलाके से लगे नाँदगाँव इलाके में भी गोंड़ों का आधिपत्य था। इसी नाँद गाँव में भी उन्हीं दिनों दक्षिण के गुल्बर्ग से एक मुसलमान वली अटलशाह आये। इनकी फकीरी करतब से प्रभावित होकर राजनाँद गाँव के तत्कालीन गोंड़ राजा जीतराय ने इन्हें अपना राज्य सौंप दिया। लेकिन यह किंवदंती मात्र है। कई लोग इसका खंडन करते हैं।

मुसलमानों का छ० ग० में अधिक संख्या में प्रवेश मराठों के राज्य-काल में हुआ। भोंसलों की घुड़सवार तथा पैदल सेना में हिन्दू मुसलमान का भेदभाव नहीं रहता था। योग्यता, शारीरिक-सगठन और शूरवीरी देखकर घुड़सवार-सेना में जगह दी जाती थी। भोंसलों ने जब रतनपुर राज्य पर चढ़ाई की तब घुड़सवारों में मुसलमानों की संख्या पर्याप्त थी। पैदल सेना में भी मुसलमान भरती होकर या मजूरी करते हुए छ० ग० में आये और खाने-पीने की अधिक सुविधा तथा प्रजा का भोलापन देखकर यहाँ बस गये। भोंसला राजाओं ने कई मुसलमान घुड़सवारों को उनकी सेवाओं से प्रसन्न होकर गाँव, जमींदारी, या जमीन मुफ्त में या नाम मात्र लगान पर दे दी। बिलासपुर जिले के सरगाँव इलाके में भोंसलों की दी गई मालगुजारी पीढ़ी दर पीढ़ी हाल तक चलती रही।

इसी प्रकार का हाल चाँपा जमीन्दारी (बिलासपुर) का था। मराठों के राजत्वकाल में इस जमीन्दारी का विस्तार कम हो गया। कैसे कम हो गया इसकी कहानी इस ग्रंथ में यथा स्थान दी गई है। लेकिन इसका सारांश यह है कि रतनपुर के भोंसला राजा बिम्बाजी ने अपने खासगी सरदार मुहम्मदखाँ तारान को उसकी सेवाओं से प्रसन्न हो, चाँपा जमीन्दारी के पाँच परगने पुरस्कार स्वरूप दे दिये। इस पर चाँपा-मदनपुर के जमीन्दार ने बिम्बाजी से इस दंड का भागी बनाये जाने के लिए अपना अपराध पूछा तो उसने उसे मुहम्मद खाँ के पास ही भेज दिया। आखिर मुहम्मद खाँ ने हसदो नदी के २६ रद्दी गाँव चाँपा जमीन्दार को दे दिये। यह सन् १७८० की घटना है।[१]

भोंसला-राजे संभवत: नागपुर के दबाव के कारण मुसलमानों को बड़ी

---

१. बिलासपुर गजेटियर से।

रियायत बख्शा करते थे क्योंकि वे इस्लाम मजहब में दीक्षित गोंड़-राजपरिवार को मिलाकर रखना चाहते थे। रघुजी ने तो मीर बहादुर की विधवा रानी (बेगम) रतनकुँवर को खूब मिला लिया था और उससे १० लाख रुपये लेकर उसके संरक्षक के बहाने नागपुर में रहना निश्चय किया तथा अपने राज्य का विस्तार करने लगा। भोसला राजा बिम्बाजी ने मुसलमानों के लिए राज्य की ओर से रतनपुर में मस्जिद बनवा दी थी और मदारबाड़ा नामक बाड़े का निर्माण करा दिया था जहाँ प्रतिवर्ष मुहर्रम में ताजिया बनाये जाते। उन्हें एक गाँव भी 'झलमला' नामक खर्च के लिए मुफ्त में दे दिया। साथ ही मुहर्रम में ताजिया उठाने के लिए बेगार देने की व्यवस्था कर दी तथा जुलूस के लिए मशाल और मशालों के लिए तेल भी राज्य की ओर से मुफ्त में दिये जाने लगे।

रतनपुर के भोसला–राजाओं ने रतनपुर के करैहापारा (मूल शब्द—कलचुरिपारा) में अनेक तुरकारी मुसलमान-परिवार को आबाद किया। इन्हें कृषि भूमि दी गई। ये तुरकारी सूखे दिनों में चूड़ियाँ बनाते और बेचते। इनके बहुतेरे परिवार पाँच छः माह के लिए उड़ीसा प्रान्त के सबलपुर जिले में चले जाते जहाँ स्त्रियों में प्रति सप्ताह चूड़ियाँ बदलने की प्रथा थी। अब नये फैशन की चूड़ियों ने यह धंधा खत्म कर दिया है।

जनता में भी इस्लाम का प्रभाव पड़ा। निम्न श्रेणी के बहुतेरे लोग, मजहब से प्रभावित होकर नहीं अपितु आर्थिक तथा अन्य कारणों से मुसलमान हो गये। हिन्दू जनता भी इन्हें सदैव सहानुभूति दृष्टि से देखती और इनके धार्मिक समारोहों में, खानपान, रोटी बेटी, तथा हिन्दू-मुसलमान के धार्मिक बंधनों को मानते हुए इनका साथ देती। हिन्दू जनता का एक अच्छा भाग मुहर्रम में फकीर बनता, नाडा पहनकर मदारबाड़ा जाता, ताजिया के सामने लोभान जलाता, ताजिया के नीचे पानी डालता तथा निःसंतान स्त्रियाँ संतान के लिए अर्ज करती। कुछ अच्छे गलेबाज मरसिया पढ़ने में किसी हद तक ताजियादारों का साथ देते। दुलदुल घोड़ा, नाल की सवारी तथा शेर का स्वाँग लेकर जुलूस निकालने आदि कार्यों में हिन्दुओं का अच्छा योगदान रहता जो अभी तक जारी है।

छ० ग० में मुहर्रम के जुलूसों में "या हुसैन, या हुसैन" के नारे लगाने तथा बाजा बजाने में हिन्दू बजनियों की ही प्रधानता अभी तक बनी हुई है। यह तो अंगरेजी राज्य का अभिशाप है जो हिन्दू-मुसलिम दंगे शुरू हुए और आपस का फर्क बढ़ा पर छ०ग० में नहीं।

१८

ग्राम व्यवस्था और पंचायतें

हमारे भारतवर्ष में आज ही के समान प्राचीनकाल में भी अधिकांश जनता गाँवों में निवास करती थी। छत्तीसगढ़ का भी यही हाल था। यहाँ कई ग्रामों के समूह बनाये जाते थे[1] और उसके मुख्य ग्राम को "ज्येष्ठिका ग्राम" कहते थे। प्रत्येक गाँव की सीमा निश्चित रहती थी। उसके समीप ही गायों के चरने के लिए "गोचर" अथवा गो प्रचार" रहा करते थे। गाँव के पशुओं के लिए चरागाह अनेक बार दान में दिये जाते थे। चरागाहों की भी सीमा निश्चित रहती थी, और निशान के लिए खम्भे गाड़ दिये जाते थे जिन पर प्रायः दुर्गा देवी की मूर्ति अंकित रहती थी। गाँव के चरागाह, जंगल, तालाब, मंदिर आदि का सार्वजनिक उपयोग होता था। गाँव के आम तथा महुवा के वृक्षों, खदानों, निधियों तथा निक्षेपों (त्यागे हुए स्थान) या सामग्री आदि पर राज्य का अधिकार होता था। लेकिन एक अपवाद था। यदि कोई ग्राम किसी ब्राह्मण को दान में दिया जाता तो उपर्युक्त स्थान और सम्पत्ति पर उसी का अधिकार होता। इनके अतिरिक्त "दित्य, विष्टि, प्रतिमेदिका" इत्यादि राजा का प्राप्य कर भी वही ब्राह्मण पाता था। दित्य कदाचित विशेष अवसर पर राजा को दिया जाने वाला "नजराना" का नाम था। "विष्टि" का अर्थ संभवतः बेगार से था। "प्रतिमेदिका" में अन्य करों का समावेश रहता था। इनके सिवाय राज्य अधिकारी तथा सिपाही आदि जब कभी किसी राजकाज के लिए गाँव में आते तो गाँव वालों को उनके खानपान, निवास तथा अगले स्थान में पहुँचाने का प्रबंध करना पड़ता या बदले में कुछ द्रव्य देना पड़ता। इसे "सवतिदण्ड" या "प्रयाणदण्ड" कहा जाता था। दान में दिये ग्राम इन करों से मुक्त थे। ऐसे गाँवों में सैनिक या आरक्षी (पुलिस) अधिकारी चोरों या राजविद्रोहियों को पकड़ने हेतु ही जा सकते थे अन्यथा नहीं।

---

१. कलचुरि नरेश और उनका काल, पृष्ठ ६८, मिराशी।

ग्राम पंचायतें

ग्रामों में उपर्युक्त व्यवस्था[1] कायम रखने तथा अन्य झगड़ों पर न्यायपूर्वक निर्णय देने के हेतु पंचायतें नियुक्त होती थीं। फौजदारी मामलों में पंचायत द्वारा यदि जुर्माना किया जाता तो जुर्माने की रकम राजा के पास या दान दिये गये ग्रामों में दान प्राप्त ब्राह्मण के पास जमा की जाती थी। जुर्माना को उस समय "दशापराधदण्ड" कहते थे। पंचायत के निर्णय के विरुद्ध राजा के पास अपील की जा सकती थी पर दान दिये हुए ग्रामों में पंचायत का फैसला अंतिम समझा जाता था। इस अधिकार को दर्शाने हेतु राज्य द्वारा दान-पत्रों में सहाम्यात्तरासिद्धि शब्द का प्रयोग किया जाता था। हैहयवंशी राजाओं के समय में जिनका राजत्वकाल छ० ग० में लगभग ६०० वर्षों तक रहा पंचायत संबंधी परम्पराओं का पालन बड़ी सख्ती के साथ किया जाता था। पंचायत उस समय "पंचजल" कहे जाते थे और इनमें वैश्य वर्ग का प्राबल्य रहता था।

बिलासपुर जिले के अंतर्गत मल्लार नामक सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक ग्राम में प्राप्त एक शिलालेख में उत्कीर्ण है कि हैहयवंशियों (कलचुरियों) के राज्य सदैव न्यायपूर्वक चला करते थे और वहाँ की प्रजा सामान्यत: दैवी और मानवीय आपत्तियों से मुक्त रह कर सुखी जीवन व्यतीत करती थी।

मराठा शासन काल में पंचायतें

ब्रिटिश रेसीडेंट एलिफिन्स्टन ने[2] अपनी रिपोर्ट में लिखा है कि नागपुर के भोंसला राजाओं ने अपने राज्य में, पेशवा राज्य में प्रचलित ग्राम पंचायतों के संगठनों का अनुकरण किया था। परंतु यथार्थ में छ० ग० में मराठों ने हैहय-वंशी राजाओं के समय में प्रचलित पंचायत प्रणाली का विशेष रूप से अनुसरण किया था।

पूर्व काल में जैसा कि पंचायत शब्द से बोध होता है, पंचायत में पंचों की संख्या पाँच रहा करती थी परंतु आगे चलकर इस संख्या में मामले की गुरुता या अन्य कारणों से भी घट-बढ़ की जाने लगी थी। कभी कभी तो केवल दो पंच झगड़े का निबटारा कर देते थे, और कभी उनकी संख्या दस तक बढ़ा दी जाती थी। धीरे धीरे आवेदक और अनावेदकों द्वारा पंचों का चुनाव

---

१ कलचुरि नरेश और उनका काल, पृष्ठ ६८, मिराशी

२ भारत का इतिहास सन् १८७४

बंद करने की रीति अपनाई गई और उनका यह अधिकार स्थानीय अधिकारियों ने अपने हाथों में ले लिया। फिर भी जिस मामले में कमाविसदार या अन्य उच्च अधिकारी द्वारा पंचायत का गठन होता था, दोनों पक्ष से पहले इकरारनामा ले लिया जाता था कि वे उनके द्वारा गठित पंचायत के दिये जाने वाले निर्णय से बाधित होंगे और उसे मान्यता देंगे। परंतु ऐसा इकरारनामा उस समय नहीं लिया जाता था जब पंचायत का गठन गाँव के गौटियों द्वारा किया जाता था। तिस पर भी ऐसी पंचायतों के निर्णयों को मान्यता देने में प्रायः आनाकानी नहीं की जाती थी।

मेजर एग्न्यू जो छ० ग० के सर्वप्रथम सुप्रेन्टेन्डेंट नियुक्त हुए थे, ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है कि नगरों में, न्याय देने के हेतु कहीं भी न्यायालय की स्थापना नहीं की गई थी। लेकिन यदि किसी कारणवश स्थानीय पंचायत गठित न की जा सकी और मामला अन्य ग्राम के पंचायत में पेश किया गया तो उस गाँव के गौटियों की बन आती थी जो स्वार्थ की भावना रखकर या रिश्वत लेकर निर्णय देते या दिलवाते थे। एग्न्यू की रिपोर्ट में यह कहीं नहीं लिखा है कि कौन कौन अधिकारी दीवानी या नागरिक झगड़ों में निर्णय देने के लिये अधिकृत थे।[1] फलतः कभी गौटिया, कभी पटेल या तालुकेदार, कभी पंचायत, कभी कमाविसदार, कभी सूबेदार और कभी राजा स्वयं कई मामलों का फैसला किया करते थे।

पंचों का चुनाव

पूर्व काल में दक्षिण कोसल (छ० ग०) में जितने राजा या राज्य हो गये हैं, उन सब के समय में पंचों द्वारा विवाद निबटाने की प्रथा का उल्लेख पाया जाता है। ग्राम पंचायत या पंचों को संदर्भीय विवाद में निर्णय देने के अतिरिक्त भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्य-कलापों के सम्पन्न करने की भी जिम्मेदारी सौंपी जाती थी। कभी तो वे जमींदार के सलाहकार नियुक्त किये जाते थे, कभी दीवानी मामलों में समझौता कराने में सहायक बनते थे और कभी वे जमींदार की अनुमति से उनका प्रतिनिधित्व करते थे। लेकिन मराठों के शासन काल में यह बात नहीं रही। नागपुर के भोंसले राजाओं ने प्रत्येक विवाद में निर्णय देने का अधिकार अपने हाथों में रक्खा जिसका प्रयोग वे अपने कमाविसदार, सूबेदार या अन्य अधिकारी के माध्यम से किया करते थे।

---

१ एगन्यू की रिपोर्ट, पृ०–४०–४१

मराठा शासन के पहले छ० ग० में पंचों के कर्तव्यों का क्षेत्र बहुत विस्तीर्ण था जिसका पुनरुद्धार अब हमारे वर्तमान स्वराज्य शासन ने करना आरंभ किया है।

आगे चलकर कर्नल एग्न्यू लिखते हैं कि उन दिनों पंचायत के प्रति जनता की बड़ी आस्था थी।[1] वे पंचों को "पंच-परमेश्वर" कहा करते थे। और उनके निर्णयों को मान्यता देना अपना कर्तव्य समझते थे। वास्तविकता तो यह थी कि छ० ग० में पंचायत द्वारा विवादों को हल कराने की परम्परा पूर्व काल से चली आई थी। वे अन्य माध्यमों से प्राप्त निर्णयों के मुकाबिले में पंचायत के निर्णयों को अधिक युक्तिसंगत, निष्पक्ष और न्यायपूर्ण मानते थे। वे शासकीय न्याय से पंचायती न्याय को सदैव प्राथमिकता देते थे। गांव के विवादग्रस्त जमादार या निकटवर्ती गांव के निवासियों से संबंधित झगड़ों में गौटियों द्वारा नियुक्त पंचायत के निर्णयों को, लोग ऐसा समझते थे कि इन पंचों ने, मामले की पूर्व और पूर्ण जानकारी होने के कारण, इस पर समदृष्टि से विचार कर निष्पक्ष निर्णय दिया है। भोंसलाकालीन रेकार्डों मे उनके न्याय पद्धति की जानकारी यथेष्ट रूप में नहीं मिलती पर, एक बात अवश्य उल्लेखनीय है कि पंचायत पद्धति से प्राप्त न्याय से लोग संतुष्ट रहते थे और उन्हें शिकायत करने का बहुत कम अवसर मिलता था। पंचायत द्वारा समस्त ग्राम-कल्याण के विभिन्न कार्यों मे भी उनकी जरूरतें पूरी होती थीं और वे सुखी रहते थे।[2]

लेकिन इससे ऐसा नहीं समझना चाहिए कि पंचायत के सभी पंच दूध के धोये और रिश्वतखोरी से महरूम रहते थे। पहले तो इन्हें अपने निजी काम से अवकाश बहुत कम मिलता था और दूसरे ये पंच बनना मुफ्त की बेगार समझते थे। इसीलिये ये पंचायत की बैठकों में नियमित रूप से उपस्थित नहीं होते थे। सिवाय इसके काम अंजाम देने में कई परेशानियां थीं। इन्हें कोई अधिकार तो रहता नहीं था कि वे आवेदक या अनावेदकों तथा साक्षियों को ठीक समय पर पंचायत के सामने प्रस्तुत होने के लिए मजबूर कर सकें। न वे संदर्भीय कागजात या दस्तावेज पेश करने के लिए अधिकारपूर्वक निर्देश दे सकते थे। एक और समस्या तब उनके सामने आती, जब कोई पंच, जिस पक्ष द्वारा चुना जाता, निर्णय देते वक्त, उसकी वकालत करने लगता। ऐसा करना वह अपना कर्तव्य समझता था। इधर पंचायत के निर्णयों को कार्यान्वित

---

१ एग्न्यू की रिपोर्ट, पृष्ठ ४२ सन् १६२०

२ जेन्किन्स पोलिटिकल एजेंट की रिपोर्ट

करने में भी कठिनाइयाँ होती। कभी-कभी पंचायत के किये हुए फैसलों को शासकीय अधिकारी अपील करने पर या अपने मन से उलट देता था चाहे किसी का दबाव पड़े या न पड़े।

फौजदारी मामलों को निबटाने के लिए छ० ग० में न कोई न्यायालय स्थापित था और न कोई नियमित पद्धति थी। पोलिटिकल एजेंट जेंकिन्स ने इस संबंध में जो रिपोर्ट लिखी थी उसका एक अंश इस प्रकार है "फौजदारी मामलों का फैसला खुद राजा या उसका कमाविसदार करता था। गाँव के छोटे-छोटे मामले पटेल के द्वारा निबटाये जाते थे जिनमें प्रायः जुर्माना ही किया जाता था पर बड़े या गहन मामले वह उच्च शासकीय अधिकारियों के पास अग्रेषित कर देता था।" वह आगे चलकर फिर लिखता है "न्याय प्रदान करने में किसी निश्चित पद्धति के अभाव में घटनाओं को जोड़कर उसे साकार किया जाता था और उसे अपराध का रूप देकर परम्परा के अनुसार दण्ड दिया जाता था।"

मृत्यु दण्ड देने का अधिकार केवल सूबेदार[१] को रहता था। डाका या विद्रोह के मामलों मे सूबेदार प्रायः बिना किसी दूसरे अधिकारी को सूचना दिये मृत्युदण्ड दे देता था। गर्हित फौजदारी मामले यदि सूबेदार के मुख्यालय से दूर घटित होते थे तो कमाविसदार अपराधी को हथकड़ी बेड़ी से जकड़ कर अपनी रिपोर्ट के साथ सूबेदार के समीप भेज देता था और सूबेदार सरसरी तौर पर जाँच पड़ताल कर अपराधी को दंडित कर देता था। लेकिन ऐसे मामलों में कमाविसदार की रिपोर्ट पर ही अधिक विश्वास किया जाता था। फिर भी यह ख्याल रहे कि सूबेदार का निर्णय सदैव गलत नहीं रहा करता था।

लेकिन दण्ड प्रदान करने में जातिभेद की परम्परा अवश्य काम करती थी। उदाहरण के लिए यदि किसी ब्राह्मण के द्वारा किसी निम्नजाति के व्यक्ति की हत्या कर दी गई हो तो उसका ज्यादा से ज्यादा जुर्माना कर दिया जाता था। इस प्रकार के दण्ड प्राप्त करने में बैरागी और गुसाई ब्राह्मण की श्रेणी में आते थे। परंतु यदि किसी निम्न जाति के व्यक्ति ने ब्राह्मण या ब्राह्मण वर्ग के व्यक्ति की हत्या कर दी हो तो उसे प्राणदण्ड अवश्य मिलता था। ब्राह्मण और ब्राह्मण वर्ग के व्यक्ति प्राणदण्ड से मुक्त रहते थे। यदि मामला बहुत ही गर्हित और गंभीर हो तो उनकी जायदाद जब्त कर ली जाती थी और

---

१ जेंकिन्स की रिपोर्ट

उन्हें देश निकाला दे दिया जाता था। गोहत्या महान पाप समझा जाता था और इसके लिए भारी से भारी दण्ड दिया जाता था। यदि हत्यारा ब्राह्मण वर्ग का हुआ तो उसे जातिच्युत कर दिया जाता था मगर अन्य जाति वालों को जातिच्युति की सजा तो मिलती ही थी पर साथ ही उसे तीर्थ यात्रा करने, श्रीमद्भागवत-सप्ताह कराने और सुनने तथा ब्राह्मण एवं बिरादरी-भोज का भी दण्ड सहना पड़ता था। स्त्रियों को दण्ड देने में सख्ती नहीं बरती जाती थी और न उन्हें प्राणदण्ड दिया जाता था। ऐसी हत्याएँ जो माता बहिन या पत्नी के साथ व्यभिचार करने के लिए बदला लेने की नियत से की जाती थी गंभीरता के साथ नहीं ली जाती थी और अपराधी को नाम मात्र का दण्ड दिया जाता था।[1]

वर्तमान शासन ने ग्राम पंचायतों को विशेष रूप से संगठित करने का कानून बना दिया है तथा उनकी जिम्मेदारियों, अधिकार और कर्तव्यों को भी विस्तृत कर दिया है। आशा है कि इससे ग्रामीणक्षेत्र को उचित समय पर न्याय मिला करेगा और उसकी प्रगति भी होगी।

१ भोंसला आफ नागपुर, दी लास्ट फेज, पृष्ठ १००, आर. एम. सिंह

रियासतें और जमीन्दारियाँ

१९. रियासतें और जमीन्दारियाँ

१९

प्राचीन छ० ग० के रजवाड़े

छ० ग० के देवार (एक किस्म के आदिवासी चारण) गीतों के अनुसार जब रतनपुर नरेश कल्याणसाय सन् ई० की १७वीं सदी में मुगल बादशाह जहाँगीर के चलाये गये नियमों के अनुसार दिल्ली गये[1] तब उनके साथ २२ आश्रित राजा, तथा १८ राजकुमार भी थे। इससे यह प्रमाणित होता है कि कलचुरि नरेशों के समय में करद राज्य मौजूद थे। राजधानी रतनपुर में तत्कालीन राजा प्रथम जाजल्लदेव का एक शिलालेख कलचुरि सं० ८६६ (सन् १११४) का प्राप्त हुआ है। उसमें रतनपुर के कतिपय करद-राज्यों के नाम पाये जाते हैं। शिलालेख का संदर्भीय श्लोक इस प्रकार है—

(लाढ़ा दक्षिण) कोशलांध्रखिमिडिवैरागरं लंजिका भाणारस्तलहारिदंडकपुरं नंदावली कुक्कटः। यस्येषां हि महीप मंडलभृतो मैत्रेण केचिन्मुदे केचि नकान्यब्द (क्लृ) प्तं ददुः।[2]

अर्थात्—दक्षिण कोसल, आंध्र, खिमड़ी, बैरागढ़, लंजिका भाणार, तलहारि, दंडकपुर, नंदावली और कुक्कुट इन मण्डलों के शासक उसे प्रति वर्ष निश्चित (कर) देते थे, कुछ तो मित्रतावश और कुछ प्रसन्न करने के हेतु।

लाढा रायपुर जनपद के अन्तर्गत था। दक्षिण कोसल अर्थात् दक्षिणी इलाका होगा। तीसरा मंडल आंध्र खिमड़ी का था। यह स्थान गोदावरी के उस पार गंजाम जिले में है। यहाँ के राजे अपना संबंध उड़ीसा राजवंश से बतलाते थे। चतुर्थ मंडल चाँदा जिले का वेरागर (बैरागढ़) था, जिसका पुरातन नाम वज्राकर था। नागवंशी सोमेश्वर के लेख में उसका वर्णन है। जाजल्लदेव ने इसी सोमेश्वर को हराया था। लजिका बालाघाट जिले का लांजी है। भाणार वर्तमान् भंडारा है। मल्लार जिला बिलासपुर के आसपास का क्षेत्र तलहारिमंडल के नाम से जाना जाता था।

१– इस ग्रंथ में राजा कल्याणसाय के दिल्लीगमन की चर्चा अन्यत्र की गई है।

२– उत्कीर्ण लेख, पृष्ठ ७५, बालचन्द्र जैन।

दंडकपुर संभवतः मेदनपुर जिले में था। जाजल्लपुर वर्तमान जांजगीर है। नंदावली और कुक्कुट मंडली का पता नहीं चलता। राजिम के शिलालेख से पता चलता है कि रतनपुर राज्य के सेनापति जगपाल देव ने रायगढ़ जिले के यठ, तेरम और तमनार के जनपदों को जीत लिया था। इसी प्रकार मयूरों एवं सांवरा जाति भी उससे पराजित हुए थे। दुर्ग, सीहोर, मचका को अधिकार में लेकर उसने भ्रमरकूट (बस्तर) काकरय (कांकेर), कान्तार, कुसुमभोग एवं कांदाडोगर को आधीनस्थ किया था। ये सभी इलाके रतनपुर-राज्य के आधीन थे और इनका राजा "सकल कोसल" का अधिपति कहलाता था।

कलचुरियों (हैहयवंशियों) का राज्य समाप्त होने पर जब मराठे अधिकार में आ गये तब रियासत सिमटने-सिमटने कम हो चली। अंग्रेजी राज्य कायम होने पर इनमें से ५ रियासतें प्रधानतः उड़िया भाषा भाषी होने के कारण, संबलपुर जिले के साथ उड़ीसा प्रांत में मिला दी गई।

इन रियासतों के नाम हैं—१—कालाहांडी, २—पटना, ३—रेराखोल, ४—बामड़ा और ५—सोनपुर। शेष जो रियासतें बनी रहीं और अंग्रेजी राज्य में आ गई वे हैं—१—बस्तर, २—कांकेर, ३—राजनादगांव, ४—खैरागढ़, ५—छुईखदान, ६—कंवर्धा, ७—सक्ती, ८—रायगढ़, ९—सारंगढ़, १०—सरगुजा, ११—उदयपुर (धर्मजयगढ़), १२—चांगभखार, १३—कोरिया और १४—जशपुर।

इसी प्रकार वे जमीन्दारियां भी यहाँ छोड़ दी गई हैं जो उड़ीसा-राज्य के अंतर्गत ला दी गई थीं।

इन्हीं रियासतों तथा जमीन्दारियों के इतिहास और पुरातत्व पर इस अध्याय में विहंगम दृष्टि डाली गई है।

१ बस्तर

बस्तर[1] का क्षेत्रफल १३,०६२ वर्गमील था । इसकी सीमा इस प्रकार थी—उत्तर में कांकेर रियासत और रायपुर जिला, पूर्व में जयपुर (आंध्र), दक्षिण में भद्राचलम तालुक और पश्चिम में चाँदा जिला तथा निजाम हैदराबाद ।

इसका नाम बस्तर कैसे पड़ा, इस संबंध में अनेक किंवदंतियाँ हैं । एक किंवदंती है कि इस राज्य की नींव डालने वालों को प्रायः बाँस के तले निवास करना पड़ता था इसी से यह क्षेत्र बाँस तर (नीचे) बस्तर कहलाने लगा । दूसरी किंवदंती यह है कि इस जनपद की अधिष्ठात्री देवी दन्तेश्वरी को जब यह ज्ञात हुआ कि काकतीयवंश का शासक उसकी शरण आया है, तब वे उसे लेकर उत्तर की ओर चलीं और एक नये राज्य की स्थापना के हेतु उन्होंने एक लंबे क्षेत्र पर अपना वस्त्र फैला दिया । जितने भाग को दंतेश्वरी देवी के वस्त्रों ने ढांक लिया वह बस्तर के नाम से विख्यात हुआ । दंतेवाड़ा में स्थापित दंतेश्वरी देवी, विन्ध्य क्षेत्र की विन्ध्यवासिनी और डोंगरगढ़ (जिला दुर्ग) की बिमलाई देवी इन तीनों की मूर्तियों में समानता पाईजाती है । कुछ लोगों का ख्याल है कि बस्तर ही त्रेतायुग का दण्डकारण्य है जहां श्री रामचंद्र जी ने वनवास काल में निवास किया था ।

बस्तर में वनप्रदेश की अधिकता के कारण वहाँ के मूलनिवासी वनवासी कहाते है । इन्द्रावती यहाँ की मुख्य नदी है और बैलाडीला मुख्य पहाड़ । इस पहाड़ का शिरोभाग बैल की डील (कोहान) के समान होने के कारण यह "बैला-डीला" कहाने लगा । आज कल यहाँ से कच्चा लोहा निकाला जाता है जिससे यह बहुत प्रसिद्ध हो रहा है ।

वस्तुतः बस्तर राज्य के प्रारंभिक इतिहास पर कोई प्रकाश अभी तक नही पड़ सका है । प्राप्त शिलालेखों, स्वर्णमुद्राओं तथा ताम्रमुद्राओं से कुछ तथ्य प्रकाश में आये हैं । सबसे प्रथम नलवंशी शासकों का पता लगता है पर इन शासकों ने दक्षिणापथ के इतिहास में जो भूमिकाएँ निभाई हों उनकी

१—बस्तर-इतिहास के संकलन तथा लेखन में गजेटियर, केदार विनोद (पुस्तक) और श्री लाला जगदलपुरी के लेखों से सहायता ली गई है ।

सत्यता अभी संदिग्ध ही है। नलवंशी नरेश कब आये, उन्होंने कब तक बस्तर का शासन किया, किस सीमा तक अपने राज्य का विस्तार किया और कब तक सिंहासनारूढ़ रहे इन सब बातों पर अभी तक ठीक-ठीक प्रकाश नहीं पड़ा है।

डा० फिल्ट ने नल-वाड़ी विजय (पश्चिमी चालुक्य नरेश विक्रमादित्य प्रथम जिसका समय लगभग ६५७ ई० निर्धारित किया गया है) के कार्नूल दान का अधार लेकर यह मत व्यक्त किया है कि नल-नरेशों का शासन-क्षेत्र तुंगभद्रा के किनारे बेल्लरी और कर्नूल की ओर ही रहा होगा। पुलकेशिन द्वितीय के शिलालेख में भी नल-नरेशों का उल्लेख किया गया है कि वे पूर्वी क्षेत्र में चालुक्यों के शत्रु थे। उसमें यह भी बताया गया है कि वे छठी शताब्दी के मध्य में तुंगभद्रा के तटवर्ती क्षेत्रों में शासन करते रहे होंगे, परन्तु वे वहां आये कब, इस संबंध में कुछ पता नहीं चलता, किंतु ऐसा ज्ञात होता है कि वे सातवीं शताब्दी (ईस्वी) के पूर्वार्द्ध में पहुंचे होंगे।

बस्तर में नलवंशी राजाओं के शासन का संदिग्ध प्रमाण ई० सन् ४००-५०० के बीच मिलता है। नलवंश के पतन के पश्चात् लगभग पांच सौ वर्षो तक शासन की दृष्टि से यहां का इतिहास अंधकार में पड़ा रहा। इस अवधि में यहाँ राष्ट्र कूट, चालुक्य और उड़ीसा के गंग आदि राजवंशों ने अपना पाँव जमाने का प्रयत्न किया। कभी कभार छोटे-मोटे निर्बल राजवंश भी थोड़े समय तक अभेद्य अंधकार में जुगनू की तरह चमकते बुझते रहे। इन सब का संक्षिप्त वर्णन नीचे दिया जाता है :—

राष्ट्रकूटों के अधीन वेमुलवाड़ा (करीमनगर) के सरदार बस्तर के कुछ हिस्से पर थोड़े समय तक सत्ताधारी बने रहे। इसी वंश के राजा बड़ेग्गा के राज्यकाल में वेंगी (आँध्र) के चालुक्य और कांची के चोलों ने बस्तर पर अनेक बार आक्रमण किये। उत्तर-पश्चिम से राष्ट्रकूट, कलिंग ओड़् के राजे आदि कई विस्तारवादी नरेश इस पर घात लगाये रहते थे। बड़ेग्गा का पौत्र अरिकेशरी द्वितीय एक प्रसिद्ध राजा था। उसके दरबार में कन्नड़ का प्रख्यात कवि पंपा रहता था। इसने अपने काव्य ग्रंथ "विक्रमार्जुन विजयम्" में बस्तर का अनेक स्थलों में उल्लेख किया है। दक्षिण के प्रतिष्ठित कवि बिल्हण ने भी, जो वेंगी के राजा विक्रमादित्य चतुर्थ का सम्मान्य दरबारी-कवि था, अपने काव्य ग्रंथ 'विक्रमांक देव चरितम्' में बस्तर का कई बार जिक्र किया है। एक स्थान पर वह लिखता है—"विक्रमादित्य ने चक्रकोट (बस्तर) के दुर्ग पर चढ़ाई की और उसे अपने अधिकार में कर लिया, केवल उन हाथियों को छोड़कर जो राजमहल की दीवालों पर चित्रित थे।" नलवंश और नागवंश

के बीच का काल ऐसा प्रतीत होता है कि केवल संघर्षों में गुजर गया, चढ़ाइयां होती रही और निर्माण की अपेक्षा विनाश ही अधिक हुआ।

तत्पश्चात् इतिहास प्रसिद्ध नागवंशी राजाओं ने बस्तर पर अधिकार किया। उनके समय में बस्तर को चक्रकोट (चित्रकूट), भ्रमरकोट अथवा भ्रमरभद्र के नाम से संबोधित किया जाता था।

छत्तीसगढ़ में अपना राज्य विस्तार करने के लिए रत्नपुर के कलचुरि (हैहयवंशी) नरेशों को नागवंश के दो कुलों से कड़ी टक्कर लेनी पड़ी थी। उनमें से एक कुल कवर्धा के निकटवर्ती प्रदेश पर राज्य करता था और दूसरा बस्तर के मध्यवर्ती क्षेत्र पर जिसे चक्रकोट कहा जाता था और जिसकी राजधानी बारसूर में थी।

चक्रकोट के नागों का अब तक ज्ञात सर्व प्राचीन शिलालेख शक संवत ९४५ (सन् १०२३) का प्राप्त हुआ है और उनका अंतिम प्राप्त अभिलेख सन् १३२४ का है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इस राजवंश ने लगभग ३०० वर्षों तक यहाँ का राज्य किया। इस बीच यह भी पता चलता है कि रत्नपुर के कलचुरियों के सिवाय गोदावरीपार के राजाओं से भी चक्रकोट के छिंदक नागवंशियों का युद्ध होता रहा। अनेक लेखों में चक्रकोट पर आक्रमण किया जाने तथा उसे जला डालने के उल्लेख मिलते हैं। उपर्युक्त प्रथम शिलालेख से यह भी सिद्ध होता है कि चोल-नृपति राजेन्द्र प्रथम की सेना के साथ छिंदक परिवार पहले पहल बस्तर में प्रविष्ट हुआ होगा।

नृपतिभूषण छिंदक नागों का प्रथम राजा था। उसके पश्चात् धारावर्ष (जगदेक भूषण) का नाम मिलता है। पर यह ज्ञात नहीं हो सका कि नृपति भूषण से उसका क्या संबंध था। जगदेक भूषण के राज्यकाल के सन् १०६० के शिलालेख बारसूर और पोटिनार में मिले हैं और इनकी भाषा तेलगू है। बारसूर वाले लेख में बताया गया कि धारावर्ष के महामण्डलेश्वर महराजा चन्द्रादित्य चोलवंशी, अम्म नामक ग्राम का शासक था। उसने बारसूर में शिवमंदिर और एक सरोवर का निर्माण कराया था। उस समय उसने राजा धारावर्ष से मंदिर की व्यवस्था-व्यय के लिए गोवर्धनाण्ड नामक ग्राम खरीदा था। पोटनार वाले शिलालेख में भी इसी प्रकार के दानपुण्य का उल्लेख है। राजा धारावर्ष का देहात सन् १०६० में हो गया पर उसके पुत्र सोमेश्वर देव को गद्दी नहीं मिल पाई। राजपुर के ताम्रपत्रों के अनुसार छिंदक कुल का ही एक राजा मधुरान्तकदेव ने सन् १०६५ के पूर्व इसका राज्य

हथिया लिया। किंतु सोमेश्वर देव प्रथम ने कुछ समय के बाद ही मधुरातंक को मारकर सिंहासन से वंचित कर दिया।

सोमेश्वर देव के राज्यकाल के कई शिलालेख प्राप्त हुए हैं। इसका राज्य-काल लगभग तीस वर्षों तक रहा। इस बीच इसने दान-पुण्य के अनेक कार्य किये। कुरुसपाल के लेख में उल्लिखित है कि इसने कोसल देश के छः लाख छयानबे ग्राम प्राप्त किये थे। यह सर्वथा अतिशयोक्ति है। इतने ग्राम तो सारे भारतवर्ष में रहे होंगे। लेकिन यह संभव है कि उसने कोसल पर चढ़ाई की होगी और उसका कुछ भूभाग जीत लिया होगा। इस राजा के सोने के सिक्के बिलासपुर जिले में प्राप्त हुए है। इसने अपने बाहुबल से नागों के प्रभुत्व का खूब विस्तार किया इसमें संदेह नहीं। उड़ीसा बालाघाट जिले के लाँजी और लेमना नरेशों के साथ भी इसने युद्ध किया था।

सन् ११११ के पूर्व दक्षिण कोसल के तत्कालीन नरेश जाजल्लदेव ने बदले की भावना से प्रेरित होकर सोमेश्वर के राज्य पर आक्रमण किया और युद्ध में सोमेश्वर को उसकी रानियों और मंत्रियों सहित कैद कर लिया किंतु अपनी माता के अनुरोध करने पर उन्हे मुक्त कर दिया। सोमेश्वर की माता गण्यमहादेवी के नारायणपाल में प्राप्त एक शिलालेख से विदित होता है कि ई० सन् ११११ में प्रथम सोमेश्वर का पुत्र कन्हर राज्य कर रहा था। कन्हरदेव के पश्चात् द्वितीय सोमेश्वर को गद्दी मिली। इसकी उपाधि राज-भूषण थी। इसकी बहिन मासकदेवी का नाम दन्तेवाड़ा के शिलालेख में मिलता है।

राजभूषण सोमेश्वर द्वितीय के पश्चात् कन्हरदेव द्वितीय सिंहसनारूढ़ हुआ। इस राजा का उल्लेख बारसूर के एक देवनागरी अक्षरों में उत्कीर्ण शिलालेख में आता है। यह सन् १२१८ के कुछ समय पूर्व तक राज्य करता रहा। तत्पश्चात् नरसिंह देव को गद्दी मिली जिसने जगदेक भूषण की उपाधि धारण की थी। जतनपाल और दन्तेवाड़ा नामक स्थानों में उसके लेख प्राप्त हुए है। जतनपाल (सन् १२२४) के शिलालेख से यह विदित होता है कि उपर्युक्त छिंदक नागवंशी नरेश नरसिंहजगदेक भूषण की इष्टदेवी माणिकेश्वरी थी। भैरमगढ़ के एक उत्कीर्ण लेख के अनुसार दन्तेवाडा की वर्तमान दन्तेश्वरी ही उस समय माणिकेश्वरी देवी के नाम से विख्यात थी। सोनारपाल के एक तिथिविहीन शिलालेख में नागवंश के जयसिंह का उल्लेख है पर इसका जगदेक भूषण नरसिंह से क्या संबंध था, इसकी जानकारी उसमे नहीं मिलती। तेमारा उत्कीर्ण लेख (सन् १३२४) में हरिश्चन्द्रदेव का उल्लेख है जो चक्रकूट प्रदेश

पर राज्य करता था पर इसमें उसके वंश का जिक्र नहीं किया गया है। अनुमान है कि संभवतः यह नागवंशी ही रहा हो।

नागवंश नरेश स्वतंत्र सत्ताभिलाषी, पराक्रमी और प्रजापालक थे। निम्न-लिखित विरुद छिंदक नागवंशी नरेशों की महिमा पर प्रकाश डालने के लिए पर्याप्त है—

"सहस्त्र फणामणि निकरावभासुर नागवंशो द्भव भोगवती पुरवरेश्वर सवत्स व्याघ्र लाँछन काश्यप गोत्र प्रकटीकृत विजय घोषणलब्ध विश्व-विश्वंभर परमेश्वर परम भट्टारक महेश्वर कंज किंजल्क पुंज पुंजरित भ्रमरायमाण सत्य हरिश्चन्द्र शरणागत बज्रपंजर प्रतिगण्ड भैरव श्रीमद्राय भूषण महाराज सोमेश्वर देवः विक्रमाकान्त सकलरिपुन्यपाति किरीट कोटि प्रभामयूखचौतितामल चरण कमल चक्रकूटाधीश्वर"।

दन्तेवाड़ा के उत्कीर्ण लेख से ज्ञात होता है कि बस्तर के छिन्दक नागकुल में सोमेश्वर एक प्रतापी नरेश हो गये हैं जिनकी बहिन का नाम था मासकदेवी जो एक विदुषी नारी थी। वह प्रजा के हितों और उन्हें सुख-संतोष पहुँचाने के लिए सतत प्रयत्नशील रहती थी। उन्होंने पाँच महासभाओं तथा कृषक जनता के प्रतिनिधियों के साथ मिल कर यह घोषणा जारी की थी कि "राज्या-भिषेक के अवसर पर उन निवासियों से ही द्रव्य वसूल किया जाय जो गाँव में अधिक समय से रहते हों अन्यथा वे चक्रकोट के शासक और मासकदेवी के विद्रोही समझे जायेंगे।" राजशासन में राजा की बहिन को उसका एक अंश मानना एक अभूतपूर्व घटना है जो कदाचित ही अन्यत्र दृष्टिगत हो।

काकतीय राजवंश

बस्तर में नागवंशी राजाओं के पश्चात् काकतीयवंशी राजाओं का राज्य करना पाया जाता है। इनके आदिपुरुष प्रतापरुद्र, काकतीय नाम की देवी के पूजक थे। काकातीय और दुर्गा पर्यायवाची नाम है। आँध्र प्रदेश की एकशिला नामक नगरी मे काकतीदेवी का प्रसिद्ध मंदिर था। वास्तव में आँध्र प्रदेश का पुराना नाम त्रिलंग था, कारण यहाँ शिवजी के तीन पीठ थे १. श्री शैल, २. श्री कालेश्वर और ३. द्राक्षाराम। इसीलिए यह प्रदेश त्रिलंग कहलाता था जो तेलंगाना हो गया है। यहाँ के योद्धा बड़े लड़ाकू होते थे जो तिलंगा कहलाते थे। ये प्रायः घुड़सवारी करते थे।

एकशिला नगरी के समीप दो नदियाँ बहती थीं—१. गौतमी और २. हनु-मांचल। ये त्रिशक्ति के नाम से भी विख्यात थीं। काकतीय राजवंश, जैसा

कि ऊपर कहा गया है, दुर्गाशक्ति का पूजक था। एकशिला को ही तिलंगी भाषा में 'उरुकुल' कहा गया है जो बिगड़ते-बिगड़ते 'वारंगल' हो गया।

काकतीय वंश के आदि पुरुष प्रताप रुद्रदेव को उसके पिता ने युवराज का पद प्रदान कर विजययात्रा को भेजा। इसकी विजययात्रा का सविस्तार वर्णन एक प्राचीन नाटक "प्रतापादित्य-विजय" मे किया गया है। इसने अनेक राज्यों पर विजय प्राप्त की थी। पर सन् १३२३ में मुसलमानों ने कई पूर्व प्रयत्नों के विफल होने के बाद वारंगल पर चढ़ाई करके प्रतापरुद्र को वहाँ से भागने के लिए विवश कर दिया। वह सेना की एक छोटी सी टुकड़ी के साथ, भटकते, ठोकरें खाते बस्तर पहुँचा। बस्तर में उन दिनों अनेक छोटे-छोटे राजा राज्य करते थे। उन छोटे-छोटे राजाओं और जमीन्दारों को परास्त करके एक अज्ञात समय तक बस्तर में राज्य करने के पश्चात् प्रताप-रुद्रदेव फिर बस्तर से वारंगल चला गया जहाँ उसकी मृत्यु हो गई।

भाई की मृत्यु के पश्चात् अन्नमदेव वारंगल छोड़कर बस्तर पहुँचा और चौदहवीं शताब्दी के अंतिम चरण में वहाँ का शासन-भार सँभाल लिया।

इसकी अल्पकालीन राजधानी मधोता नामक स्थान पर थी। अन्नमदेव सहित बस्तर में राज्य करने वाले काकतीय वंश के राजाओं के नाम इस प्रकार हैं :—

	आयु	गद्दी में कब बैठा
१. अन्नमदेव	३० वर्ष	सन् १३१३
२. हमीर देव	३३ वर्ष	सन् १३५८
३. भयराज देव	१८ वर्ष	सन् १३७९
४. पुरुषोत्तम देव	२५ वर्ष	सन् १४०८
५. जयसिंह देव	२४ वर्ष	सन् १४३९
६. नरसिंह देव	२३ वर्ष	सन् १४५७
७. जगदीशराय देव	३९ वर्ष	सन् १५०४
८. वीर नारायण देव		सन् १५४८
९. वीर सिंह देव		पता नहीं
१०. दृग्पाल सिंह देव	१९ वर्ष	पता नहीं
११. राजपाल देव		सन् १७६० के बाद
१२. दलपत देव		पता नहीं
१३. दरयाव देव	३८ वर्ष	सन् १७७५
१४. महिपाल देव	९ वर्ष	सन् १८००
१५. भोपाल देव	३६ वर्ष	सन् १८४२
१६. भैरमदेव	१३ वर्ष	सन् १८५२

चित्रकूट प्रपात, बस्तर

क्रमांक १२ दलपत देव के राज्य-काल में भोंसलों के सेनापति नील पंडित ने बस्तर पर चढ़ाई की थी और फिर वह राज्य से वार्षिक टकोली लेने लगा था। (छ० ग० की रियासतें पृष्ठ ३६-३८, ले० ब्रेट)

पुरातत्व

पुरातत्व संबंधी सामग्री तथा खंडहरों के विषय में बस्तर पर्याप्त रूप से धनी है। प्राचीन ध्वंसावशेष तथा शिलालेख बारसूरगढ़, दंतेश्वर, भैरमगढ़, नारायणपाल, कुरुसपाल और धनोरा में पाये गये है। बारसूर में बारह स्तंभों पर स्थित शिवजी का विशाल मंदिर है। श्री गणेशजी के ध्वंसावशेष मंदिर में आठ फुट ऊँची और सत्तरह फुट की परिधि में फैली उनकी मूर्ति देखने योग्य है। मामा-भांजा का मंदिर जो पचास फूट ऊँचा है तथा शिवजी का एक दूसरा मंदिर जो बत्तीस खंभों पर स्थित है अभी भी अच्छी हालत में है। राज्य भर में जितने मंदिर बारसुर में पाये गये हैं राज्य भर में अन्यत्र कहीं नहीं। यहाँ के मंदिरों में खुदाव का काम बड़ी उत्तमता के साथ किया गया है। उनके शिल्प–नैपुण्य की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। बारसुरगढ़ के आसपास लगभग छह मील तक मंदिर और तालाब पाये जाते हैं। यहीं सन् ११०८ ई० का एक शिलालेख प्राप्त हुआ है जो तेलगू भाषा में है और जिसमें सोमेश्वर देव और उसकी रानी गंगामहादेवी का उल्लेख है। यहाँ तीन शिलालेख और हैं जिनमें से दो तेलगू में हैं और एक देवनागरी लिपि में।

दंतेवाड़ा में नागवंशी नरेशों की इष्टदेवी माणिकेश्वरी देवी का मंदिर है। यहाँ अनेक मंदिरों के ध्वंसावशेष पाये जाते हैं। यहाँ भी तेलगू भाषा में तीन शिलालेख है जिनमें से एक सन् १०६२ ई० का है और दूसरा नरसिंह देव का सन् १२१८ ई० का है। भैरमगढ़ में एक प्राचीन किले का द्वार तथा अनेक तालाब और प्राचीन मंदिरों के खंडहर पाये जाते हैं। यहाँ भी दो शिलालेख है। एक तेलगू शिलालेख में महाराजा जगदेवभूषण को माणिक्य देवी का भक्त बताया गया है। नारायणपाल में विष्णु जी का मंदिर है और मूर्ति टूट गई है। कहा जाता है कि यहाँ अपार द्रव्य गड़ा हुआ है। यहाँ एक शिला पर उत्कीर्ण लेख है जिसमें इस ग्राम को नारायण के मंदिर में चढ़ा देने का उल्लेख है। इस मंदिर का निर्माण राजा धारवर्षदेव की विधवा रानी और सोमेश्वर देव की माता रानी गुण्ड महादेवी द्वारा कराया गया था जब उसके पुत्र का निधन हुआ था और पौत्र कन्हारदेव को राजगद्दी मिली थी।

जतनपाल के निकट में भी एक उत्कीर्ण लेख सन् १२१८ ई० का जिसमें नरसिंह देव के राज्यकाल में भूमि दान का उल्लेख है। कुरुसपा में तो अनेक उत्कीर्ण लेख हैं जिनमें से एक सन् १०९७ ई० का है। ए लेख में रतनपुर का उल्लेख है और उससे यह जानकारी भी मिलती है चक्रकोट नरेश ने पूर्वीय चालुक्यों की राजधानी वेंगी को भस्मीभूत क दिया था। एक सती चौतरे पर सन् १३२४ का लेख उत्कीर्ण है जिस राजा हरिश्चंद्र का नाम मिलता है। संभवतः यह राजा नागवंशी था। बनौ गाँव में लगभग २० तालाब और २५ ढूहे (टीले) है जो मंदिरों के स्थ मालूम होते हैं। एक स्थान पर लगभग ६ फुट लंबा और इसी परिधि शिवलिंग पाया गया है। सारांश, बस्तर के अनेक स्थानों पर तालाब, मंदि महल किलों आदि के चिन्ह या अवशेष पाये जाते हैं जिनमें कई तो बनों आच्छादित हैं। सबसे प्रख्यात मंदिर दंतेश्वरी का जगदलपुर में है जहाँ दंतेश्व देवी तथा सिंह की प्रतिमा सफेद संगमर्मर की निर्माण की हुई स्थापित है मंदिर के ऊपर स्वर्ण कलश है। मंदिर की बनावट और शिल्प देखने योग्य है

२ कांकेर

कांकेर[1] राज्य का क्षेत्रफल १४२९ वर्गमील था तथा उसकी सीमा इस प्रकार थी—उत्तर दुरुग और रायपुर जिले, पूर्व रायपुर जिला, दक्षिण बस्तर और पश्चिम चांदा जिला। कांकेर रियासत अधिकांश रूप में वन और पहाड़ों से आच्छादित है। महानदी अपने उद्‌गम स्थान सिहावा से थोड़ी दूर चल कर कांकेर रियासत में प्रवेश करती है।

कांकेर राजवंश सोमवंशी क्षत्रिय था। किंवदंती है कि राज्य के प्रथम अधीश्वर बीर कान्हरदेव जगन्नाथपुरी के राजा थे पर कुष्ट रोग से ग्रसित हो जाने के कारण उन्हें अपना राज्य परित्याग करना पड़ा। स्वास्थ्य-लाभ की तलाश में प्रवास करते हुए वे सिहावा आ पहुँचे जहाँ शृंगी ऋषि का आश्रम प्राचीन समय में था। एक निकटवर्ती पोखर में प्रति दिन स्नान करते रहने से उनका कुष्ट रोग जाता रहा और वे सिहावा की जनता के अनुरोध से वहाँ राज्य करने लगे जो १८ पीढ़ी तक इस वंश में चलता रहा पर सिहावा में प्राप्त एक शिलालेख से जो शक संवत ११११४ (सन् ११९२) में उत्कीर्ण किया गया था, यह प्रमाणित होता है कि वहाँ इस वंश का राज्य कुछ समय तक अवश्य रहा। कहते हैं कि इस घराने के तीसरे राजा ने काँकेर परगना को अपने राज्य में सम्मिलित कर सिहावा से कांकेर राजधानी उठा लाया जो प्राचीन काल में कंकण कहलाता था।

रत्नपुर के कलचुरि राजा द्वितीय पृथ्वीदेव के समय के राजिम में प्राप्त सन् ११४४ के एक शिलालेख से ज्ञात होता है कि पृथ्वी देव के सेनापति जगपाल ने कांकेर प्रदेश को जीतकर उसे अपना करद राज्य बना लिया था और तब से इस राज्य के लेखों मे कलचुरि संवत् का प्रयोग होने लगा। कांकेर के सोमवंशी राजा पंपराज के दो ताम्रपुत्र कलचुरि संवत ९६५ तथा ९६६ (सन् १२१३-१२१४) के प्राप्त हुए हैं जिनमें पंपराज को महामाण्डलिक

१– गजेटियर, म० प्र० का इतिहास, हीरालाल, तथा उत्कीर्ण लेख पृष्ट इकतीस के आधार पर।

उल्लिखित किया गया है। इनमें से एक ताम्रलेख में पंपराज को बोपदेव का पौत्र और सोमराज का पुत्र बताया गया है।

इसी वंश के राजा भानुदेव के राज्यकाल में सन् १३२० में उत्कीर्ण एक शिलालेख कांकेर में मिला था। इसमें भानुदेव से पूर्व ६ पीढ़ियों के नाम हैं— १ सिंहराज, २ व्याघ्र, ३ बोपदेव, ४ कृष्ण, ५ जैतराज, ६ सोमचंद्र जो भानुदेव का पिता था। स्मरण रहे कि इसके पूर्व उल्लिखित ताम्रपत्र में बोपदेव के पुत्र का नाम सोमराज था और उसका पुत्र पंपराज। परंतु इस शिलालेख में बोपदेव के पुत्र का नाम कृष्ण बताया गया है। और पंपराज की पीढ़ी का आगे कोई उल्लेख नहीं। संभव है पंपराज निष्पुत्र स्वर्गवास कर गया हो, फलतः उसी वंश से एक नई शाखा फूट निकली हो जिसका प्रतिनिधित्व कृष्ण ने किया हो और फलतः उसे राजगद्दी मिल गई हो।

प्राचीन प्रशस्तियों से पता लगता है कि कांकेर नरेशों में से रुद्रप्रताप नामक राजा ने धमतरी में महानदी के किनारे एक शिवमंदिर निर्माण कराया था जिसका नामकरण उन्होंने रुद्रेश्वर किया। इसके समीप ही इन्होंने रुद्री नामक एक गाँव भी बसाया था। इनका बनवाया हुआ धमतरी के किले की बाहरी खाई के निशान अभी तक पाये जाते हैं। इनकी चौथी पीढ़ी में हरपालदेव नामक राजा ने अपनी कन्या का विवाह बस्तर नरेश के साथ किया था और उसे सिहावा क्षेत्र दहेज में दे दिया था।

हरपालदेव की चौथी पीढ़ी में भूपदेव नामक राजा हुए। इनके राज्य काल में मराठों ने बस्तर पर चढ़ाई की। रिश्तेदारी के नाते भूपदेव को भी बस्तर की सहायता के लिए जाना पड़ा। पहले तो इन्हें सफलता प्राप्त हुई पर अंत में राज्य छोड़कर भागना पड़ा। समझौता होने पर इन्हें मराठों की यह शर्त भी माननी पड़ी कि आवश्यकता पड़ने पर ये उन्हें ५०० सैनिकों से सहायता पहुँचाया करेंगे।[1]

लेकिन भूपदेव, पराजित होकर रानी के साथ धमतरी तहसील में झेरिया नामक ग्राम में चले गये। वहाँ इन्हें पुत्र रत्न का लाभ हुआ जिसका नाम रक्खा गया पद्म सिंह। सन १८१८ में नागपुर के रेसीडेंट ने पाँच सौ रुपये वार्षिक कर बांध कर इन्हें इनका कांकेर राज्य लौटा दिया। पद्मसिंह के पश्चात् सन् १८५३ में नरहरिदेव गद्दी पर बैठे। इन्होंने सन् १८५३ से १९०३ तक

१— जेन्किन्स की रिपोर्ट, पृष्ठ १३५

अर्थात पचास वर्ष राज्य किया। सन् १८५४ में संपूर्ण छ० ग० में अंग्रेजी राज्य कायम हो गया।

पुरातत्त्व

कांकेर बस्ती के दक्षिण में पुरातत्व के चिन्ह पहाड़ी के ऊपर पाये जाते है जो आरंभमें राजाओं का निवास स्थल था। ऊपर जाने के लिए एक पगडंडी है जो एक पाषाण-द्वार तक जाकर समाप्त हो जाती है। इस द्वार के दोनों ओर पहरेदारों के बैठने के निमित्त स्थान बने हुए हैं। यहाँ से थोड़ी दूर चल कर एक मैदान मिलता है जहाँ प्राचीन महल के ईंट पत्थर बिखरे हुए पड़े है। इनसे थोड़ी दूर शिवजी का एक मंदिर और दो तालाब हैं। तालाब के समीप ही दो गुफाएँ हैं जहाँ अनुमानतः पाँच सौ व्यक्ति मजे से बैठ सकते हैं। पहाड़ी की पूर्व दिशा की ओर एक दूसरा तालाब है तथा एक गुफा भी है जिसे लोग जोगी गुफा कहते हैं।

यहाँ एक तालाब दीवान तालाब नामक है। इस तालाब के समीप एक मंदिर है। उसमें एक शिलालेख है। इसमें काकैर्य (कांकेर) के राजा भानुदेव के नायक वासुदेव प्रधान मंत्री की प्रशंसा उत्कीर्ण है। शायद यह तालाब इन्हीं का खुदाया रहा होगा, तो इसे दीवान तालाब कहते हैं। शिलालेख में तीन मंदिर, द्वार (प्रतोलि) सहित एक भवन (पुरतोभद्र) और दो तालाबों के बनवाये जाने का उल्लेख है। इस लेख में उपर्युक्त मंत्री के चार पीढ़ियों के नाम खचित हैं और मंत्री के स्वामी राजा के सात पीढ़ियों के नाम उल्लिखित हैं: जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है। इसके सिवाय यहाँ एक और शिलालेख है जो बराबर पढ़ा नहीं जाता।

टंकापारा नामक ग्राम में सन् १२१३ और १२१४ के दो शिलालेख हैं। मुड़पारा ग्राम में भी कुछ मंदिरों और चौतरों के अवशेष पाये गये हैं।

३ राजनांदगांव

राजनाँदगाँव[1] रियासत का क्षेत्रफल ८७१ वर्ग मील था। उसकी स्थिति चाँदा और दुर्ग जिले के मध्य में थी। उसके तीन भाग पाँड़ादह, पत्ता और मोह-गाँव उसमे अलग उत्तर की ओर थे और बीच मे छुईखदान और दुर्ग जिले का कुछ हिस्सा आ जाता था।

इस प्रकार राजनांदगाँव रियासत का सगठन चार परगनो को मिला कर हुआ था जो पहले भोंसलों की अधीनस्थ जमीन्दारियाँ थीं। इस रियासत के गठन की कहानी इस प्रकार है। अठारहवीं शताब्दी (ईस्वी) के अंतिम चरण में पंजाब से प्रहलाददास नामक एक बैरागी जो शाल दुशालों का व्यापारी था, रतनपुर में जा बसा। धीरे-धीरे उसने अच्छी कमाई की और बहुत धनाढच हो गया। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका शिष्य महंत हरिदास जो संभवतः जगन्नाथपुरी का ब्राह्मण कुमार था, जब रतनपुर पहुँचा तब बिम्बाजी भोंसलों की रानियो ने उसे गुरु बनाया और गुरु टीका के रूप मे दो रुपिया वार्षिक प्रति गाँव वसूल करने का अधिकार प्रदान किया। उसने अब साहूकारी आरंभ कर दी। उसने पांडादह के जमीन्दार को, उसकी जमीदरी बंधक मे रख ऋण दिया जिसकी अदाई जमीन्दार से नहीं हो सकी। फलतः जमीन्दारी महंत हरिदास के अधिकार में आ गई। महंत हरिदास ने अपने प्रधान शिष्य रामदास को इस जमीन्दारी का प्रबंधक नियुक्त किया। पांडादह के बाद लहनगहन वाले नियम के अनुसार नांदगाँव की जमीदारी भी उनके अधिकार में आ गई क्योंकि तत्कालीन मुसल्मान जमीन्दार उनका ऋण अदा नही कर सका था।

संभवतः राजनादगाँव नगर का उस समय कोई अस्तित्व नहीं था। जब ग्रैट ईस्टर्न रोड का निर्माण भोंसलों तथा अंग्रेजों ने अपने सुभीते के लिए किया और आवागमन के लिए नागपुर को बंगाल से पक्की तरह जोड़ा और आगे चल कर रेल भी इधर से निकाली, तब कामठी के व्यापारी इधर बसने लगे। पांडादह के बैरागी महंत भी तब पांडादह से अपनी गद्दी उठाकर इस सड़क के किनारे

१– गजेटियर, अष्टराज अंभोज तथा छ० ग० परिचय के आधार पर।

ले आये। संभवतः महंत घासीदास के समय में यह स्थान परिवर्तन हुआ और पूरा नगर राजनांदगाँव कहलाने लगा।

राजनांदगाँव जमीन्दारी पर अधिकार करने के बाद ही महंत रामदास का निधन हो गया। फलतः उनके शिष्य रघुबर दास जमींदार को गद्दी मिली। फिर ये भी काल के गाल में समा गये। तब इनके शिष्य हिमांचलदास को महंती और जमीन्दारी मिली। ये जरा खर्चीले स्वाभाव के थे। फल यह हुआ कि नागपुर के भोंसला राजा को ये टकौली अदा नहीं कर सके। तब इन्हें नागपुर ले जाया गया और ये नजरकैद कर लिये गये। आगे चल कर भोंसला राजा और उसकी रानियाँ इनकी गायन कला से इतने मुग्ध हुए कि ये मुक्त कर दिये गये, सारी बकाया टकौली माफ कर दी गई और ऊपर से मोहगाँव (साजा) परगना भी पुरस्कार में दे दिया गया (यह घटना सन् १८३० की है)।

हिमांचलदास की मृत्यु के पश्चात् महंत मौजीराम दास ने भारतीय सेना विद्रोह के कुछ दिनों पूर्व अपनी वीरता का परिचय देते हुए खैरागढ़ राज्य के सहयोग से खोभा में डोंगरगढ़ के बागी जमीन्दार को हराने का कार्य किया था। इसके पुरस्कार स्वरूप डोंगरगढ़ का परगना इन्हें पुरस्कार स्वरूप मिल गया। इस प्रकार राजनांदगाँव रियासत चार परगनों को लेकर गठित हो गई।

पुरातत्त्व

राजनांदगाँव में पुरातत्त्व संबंधी कोई विशेष सामग्री या चिन्ह प्राप्त नहीं है। यहाँ के पुराने राजभवन के, जिसे किला भी कहते हैं, प्रधान द्वार पर कुछ मोटे मोटे ठेंगे रक्खे हुए हैं जिन्हें यहाँ के गोंड़ नरेश जीतराय के ठेंगे कहते हैं। इन ठेंगहा राजा जीतराय का कोई इतिहास उपलब्ध नहीं है। इसी प्रकार किले के अंदर एक दरगाह है जिसे अटलशाहबली का दरगाह कहा जाता है। संभव है कि सूफी सम्प्रदाय में, कोई गोंड़ राजघराने के व्यक्ति ही दीक्षित होकर अटलशाह बन गये हों, क्योंकि अटल तो भारती नाम है और शाह की उपाधि गोंड़ राजवंश धारण करते ही रहे हैं।

पत्ता परगना में एक गुफा है, जिसकी चट्टानों से खैरागढ़ की नदी पिपरिया नदी निकलती है। इस गुफा में पत्थर की एक बड़ी लंबी तलवार है। यह भी वहाँ के गोंड़ राजा की बतायी जाती है। पांडादह में महंत राजाओं की समाधियाँ है जिन पर शंख, चक्र, तुंबी, सूर्य और चाँद उत्कीर्ण हैं जो बैरागियों के चिन्ह हैं।

४ खैरागढ़

खैरागढ़ रियासत का क्षेत्र फल ९३१ वर्गमील था। वह तीन क्षेत्रों में विभक्त था जो एक दूसरे से अलग थे। इनमें खैरागढ़ और डोंगरगढ़ का संयुक्त क्षेत्र सबसे बड़ा था और इसके मध्य में राजनांदगाँव राज्य के पाडादह की स्थिति थी। इस क्षेत्र के उत्तर में छुईखदान रियासत और परपोड़ी जमीन्दारी थी, पूर्व में दुर्ग जिला और नांदगाँव रियासत की स्थिति थी, दक्षिण में नांदगाँव का कुछ भाग और भंडारा जिला था जबकि पश्चिम में भंडारा और बालाघाट जिले थे। रियासत का दूसरा क्षेत्र खमरिया था जिसकी सीमाओं में छुईखदान और कवर्धा रियासतें, सिल्हटी जमीन्दारी, मोहगाँव परगना और दुर्ग जिला की स्थिति थी। तीसरा क्षेत्र था खोल्वा जो सब से छोटा क्षेत्र था। इसकी सीमाओं में थे—लोहारा, गंडई और सिल्हेटी जमीन्दारियाँ, दुर्ग और बालाघाट जिले तथा छुई खदान रियासत। खैरागढ़ का नाम करण खैर (कत्था) वृक्ष के जंगलों के कारण पड़ा जहाँ अब खैरागढ़ बस्ती बस गई है।

खैरागढ़ का राजवंश छोटा[1] नागपुर के राजवंशी राजपूत राजा सभासिंह के वंशज है। सभासिंह के दो पुत्र थे। इनमें से छोटा पुत्र लक्ष्मीनिधि जमीन्दारी खोल्वा में आया और जम गया। उस समय (सन् १३४०) खोल्वा का जमीन्दार था—श्यामधन जो सभासिंह का ही वंशज था। इसने लांजी के जमीन्दार को मंडला के राजा महराज सिंह के विरुद्ध लड़ने में सहायता दी पर परिणाम उल्टा हुआ। अर्थात् महराज सिंह ने उसे पराजित कर लांजी अपने अधिकार में ले लिया। किन्तु श्यामधन को उसने अपना आधीनस्थ जमीन्दार मान लिया और अपना राज्य विस्तार करने की अनुमति दे दी। श्यामधन की मृत्यु के बाद उसके पुत्र दरियावसिंह ने गद्दी संभाली पर वह अधिक समय तक राज्य नहीं करने पाया और काल कवलित हो गया। तब उसके पुत्र अनूपसिंह को गद्दी मिली। उस समय खैरागढ़ राज्य में १३२ गाँव थे जिनकी स्थिति तीन विभागों के अंतर्गत थी १ खोजवा, २ खैरागढ़ और ३ लछना। मंडला नरेश महाराजसिंह

१– जेन्किन्स की रिपोर्ट पृष्ठ १२५ और हेविट की रिपोर्ट कंडिका ८६

की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र शिवराजसिंह ने अनूपसिंह को आधीनस्थ राजा का दर्जा दिया। अनूपसिंह की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र माधोसिंह ने और तत्पश्चात् उसके पुत्र खरगराय ने गद्दी संभाली।

अब पासा पल्टा। इसी समय लांजी जमीन्दार को नागपुर के भोंसलों की सहायता मिल गई। उसने खोलवा पर हमला कर दिया और खरगराय को नीचा देखना पड़ा। तब खरगराय ने भोंसलों की शरण ली, फल यह हुआ कि उसे खिल्लत प्रदान की गई, राज्याधिकार दिये गये और ५००) वार्षिक टकौली बांध दी गई। इस समय खरगराय की राजधानी खोलवा में थी जहाँ उसका महल और घाट अभी भी मौजूद है पर खस्ता हालत में क्योंकि उसने अपनी राजधानी वहाँ से हटा ली थी और खैरागढ़ को राजधानी का दरजा दे दिया था। नागपुर के तत्कालीन भोंसला राजा का जब निधन हो गया तब वार्षिक टकौली की राशि बढ़ाकर १५००) कर दी गई। सन् १७५६ में खरगराय की मृत्यु हो गई और उसका पुत्र टिकैतराय राजगद्दी पर बैठा। मराठों ने परिवार में इस परिवर्तन का लाभ उठाया और टकौली की राशि १५००) से बढाकर ५०००) वार्षिक कर दी। दस वर्ष के बाद भास्करराव सूबेदार ने इसमें और बढोत्री की और टकौली ८०००) वार्षिक कर दी गई। सन् १७८४ में और नाना प्रकार के कर लगाये गये जिससे ८०००) की राशि बढ़कर ११०००) हो गई।

इसी बीच कंवर्धा के राजा उजियार सिंह और सरदारसिंह में खमरिया परगना पर अधिकार के सबंध में झगड़ा हो गया। टिकैतराय ने सरदार सिंह का पक्ष लिया और सेना तथा द्रव्य से भी उसकी मदद की। परिणाम यह हुआ कि सरदार सिंह जीत तो गया पर संदर्भीय परगना, कर्ज की अदाई में टिकैत-राय को मिल गया। इसका पुष्टीकरण नागपुर के भोंसला राजा ने भी कर दिया। अब भोंसला नरेश को टकौली बढ़ाने का अवसर फिर मिल गया और सन् १८१४ में टकौली ११०००) से ३५०००) वार्षिक कर दी गई।[1] "ज्यों ज्यों सुरसा बदन बढ़ावा, तासु दुगुन कपि रूप दिखावा।"

सन् १८१६ डोंगरगढ़ का जमीन्दार भोंसलो के विरुद्ध हो गया। टिकैतराय को निर्देश मिला कि उसे सर किया जाय। आज्ञा का पालन किया गया। इस मुहिम में राजनांदगाँव के राजा की भी सहायता लेनी पड़ी। शुरू में डोंगरगढ़ की पूरी जमीन्दारी, टिकैतराय को इस विजय के पुरस्कार स्वरूप प्रदान कर दी

१–रियासतों पर सर रिचार्ड टेम्पल की रिपोर्ट, सन् १८६३, पृष्ठ. ४२

गई पर साथ ही वार्षिक टकौली की राशि भी ३५०००) से बढ़ाकर ४४०००) कर दी गई। इतने में टिकैतराय ७५ वर्ष की आयु में परलोक वासी हो गया और उसका अल्पवयस्क पुत्र दृग्पालसिंह को गद्दी मिली। मौका अच्छा समझकर राजनांदगाँव के राजा ने दावा किया कि डोंगरगढ़ के जमींदार को सर करने में उसने भी योगदान दिया था, अतः उसे भी डोंगरगढ़ का हिस्सा मिलना चाहिए। निदान नागपुर के भोंसलों ने डोंगरगढ़ जमीन्दारी को दो हिस्सों में बाँट दिया। खैरागढ़ नरेश को डोंगरगढ़, पथरी और सिगारपुर का आधा हिस्सा मिला और शेष आधा भाग राजनांदगाँव के राजा को मिला और पृथक में डोंगरगाँव और छुरिया ग्राम भी मिले। इस बँटवारे के फलस्वरूप खैरागढ़ की टकौली की राशि में ६०००) की कमी कर दी गई।[1]

सन् १८३३ में दृग्पाल सिंह का देहांत हो गया। तब उसके भाई महिपाल सिंह ने गद्दी सँभाली पर कुछ ही महीनों तक। पश्चात् वह भी चल बसा तब उसके पुत्र लाल फतहसिंह को गद्दी मिली। सन् १८५४ में मराठी सत्ता समाप्त हो गई।

पुरातत्व

खैरागढ़ में पुरातत्त्व की कोई विशेष सामग्री नहीं है सिवाय इसके कि वहाँ दो प्राचीन मंदिर हैं, १ खैरागढ़ में और २ डोंगरगढ़ में। खैरागढ़ का मंदिर संत रुखसड़ स्वामी को समर्पित है जिनके आशीर्वाद से खैरागढ़ के तत्कालीन राजा टिकैतराय को दो पुत्र रत्न की प्राप्ति हुई थी और आगे चल कर शत्रुओं से राज्य की रक्षा हुई थी।

डोंगरगढ़ का पहाड़ी स्थित मंदिर बमलाई देवी के नाम से प्रसिद्ध है। किम्बदंती है कि उसका निर्माण डोंगरगढ़ के राजा कामसेन द्वारा उस समय किया गया था जब राजा विक्रमादित्य उज्जैन में राज्य करते थे। राजा कामसेन की एक उपस्त्री थी जिसका नाम था कामकंदला। वह अपूर्व सुंदरी और अनुपम गायिका थी। वहाँ का तालाब इसी कामकंदला का खुदवाया हुआ है। बमलाई पहाड़ी पर एक बड़ा शिलाखंड है जिसे 'मोटियारी' कहते है। इस मोटियारी की भी एक कहानी है :—

छत्तीसगढ़ी में युवा स्त्री को मोटियारी कहते हैं। किंवदती है कि एक बार सात आगर सात कोरी याने १४७ मोटियारी नर्तकियाँ अपनी कला का नैपुण्य दिखाने के हेतु नांदगाँव राज्य से राजा के समीप डोंगरगढ़ आई। राजमाता को

१— सर टेम्पल की रिपोर्ट सन् १८६३

जब यह समाचार विदित हुआ, वह बड़ी चिन्तित हो गई। उसे ऐसा लगने लगा कि उसका पुत्र उनमें से किसी सुन्दर नर्तकी पर मोहित तो न हो जाय जिसका परिणाम स्पष्टतः अच्छा न होगा। फलतः उसने हल्दी का एक घोल तैयार किया और उसे मंत्रित कर अपने पुत्र को निर्देश दिया कि इसे उस नर्तकी पर पहले छिड़के जिसका वह नृत्यगान देखे और सुने। उसने चुन कर एक परम सुंदरी नर्तकी पर पहले उस घोल को छिड़का जिसका कला कौशल वह पहले देखना चाहता था किन्तु परिणाम यह हुआ कि घोल पड़ते ही वह नर्तकी शिलाखंड में परिवर्तित हो गई। बमलाई पहाड़ी पर जो शिला खंड है वह यही शिला खंड है। डोंगरगढ़ में एक १० फुट ऊँचा शिलास्तम्भ मोतीबीर तालाब पर पाया गया था, जिस पर फारसी में कोई लेख उत्कीर्ण था। इसे अब रायपुर संग्रहालय में रख दिया गया है। बमलाई पहाड़ी पर भी इसी प्रकार का एक दूसरा स्तम्भ है जिस पर उत्कीर्ण लेख पढ़ा नहीं जा सका है।

५ छुई खदान

छुई खदान[1] रियासत का क्षेत्रफल १५४ वर्ग मील था। छुई (छूही) खदान का अर्थ छूही नाम की सफेद मिट्टी की खदान जो मिट्टी दीवाल पोतने के काम मे आती है। छत्तीसगढ़ में जब चूना का अधिक प्रचार नही था इसी मिट्टी से घरों की सफेदी की जाती थी। अभी भी गांवो मे इसी मिट्टी का प्रचार अधिक है क्योंकि यह सस्ती और जगह जगह पाई जाती है। इस मिट्टी की घोल से एक किस्म की मंद पर सुहावनी बास आती है।

छुई खदान एक छोटी सी रियासत थी जो चार अलग अलग भागों में बंटी हुई थी, जिनके नाम थे छुई खदान, बोरतरा, बिदोरा और सिमई। इन सबकी स्थिति रायपुर जिले के पश्चिम दिशा मे है।

रियासत का प्रारंभिक इतिहास अंधकारपूर्ण है। कहा जाता है कि रियासत पहले कोंडका इलाका कही जाती थी जिसे महंत रूपदास ने अठारहवीं शताब्दी के मध्य में परपोंड़ी के जमीन्दार से कर्ज की अदाई में प्राप्त की थी। पर इससे आपस में तनाव बढ़ गया और परिणाम अच्छा नहीं हुआ। बात यहां तक बढ़ गई कि रूपदास के उत्तराधिकारी ब्रह्मदास ने जमीन्दार की हत्या कर दी। उसका बदला जमीन्दार पुत्र ने ब्रह्मदास की हत्या करके चुकाया। तत्पश्चात् तुलसीदास ने ब्रह्मदास की खाली गद्दी संभाली और साथ ही नागपुर के भोंसला राजा से संरक्षण की याचना की जो उसे तत्काल प्राप्त हो गई और वह तत्काल (सन् १८७० मे) कोंडका का जमींदार घोषित कर दिया गया। कोंडका परपोंड़ी के बिलकुल समीप था, इसलिए तुलसीदास ने स्थान परिवर्तन करके अपना निवास स्थान छुईखदान को बना लिया पर जमीन्दारी का नाम कोंडका ही चलता रहा। तुलसीदास की मृत्यु के पश्चात् महंत लछमनदास जी गद्दी के अधिकारी हुए और जमींदारी का दर्जा बढ़ा कर उसे रियासत मे परिवर्तित कर दिया गया।

छुईखदान के राजवंश के संबंध मे एक और कहानी विदित हुई है जिसका पता रियासत के एक पुराने दीवान के हिंदी मे लिखे गये एक टीप से चलता

१—गजेटियर तथा अष्टराज अंभोज के आधार पर

है। उसमे लिखा है कि रूपदास महाराज उदयपुर का एक निकटवर्ती रिश्तेदार था जिसने पारिवारिक झगड़ों से तंग आकर वैराग्य धारण कर लिया और गृह त्याग करके पानीपत में जा बसा। यहाँ इसने कई चेले मूंड़े और फिर वह घोड़ों की खरीद-बिक्री का रोजगार करने लगा। इसी सिलसिले से वह नागपुर आया और भोंसला राजा से आमदरफ्त बढ़ाई। राजा ने घोड़े तो खरीदे ही पर साथ ही उसे अपने घुड़सवारों का नायक भी बना दिया। इसी बीच भोंसला राजा को खबर मिली कि कोंडका का जमीन्दार रैयतों पर जुल्म ढा रहा है और भोंसलों के विरुद्ध विद्रोह करने की तैयारी में है। भोंसला राजा को रूपदास की बीरता की परीक्षा करने का अच्छा अवसर मिला। उसने इसे कोंडका के जमीन्दार को सर करने के लिए रवाना कर दिया। परिणाम यह हुआ कि जमीन्दार मारा गया और कोंडका की जमीन्दारी रूपदास को पुरस्कार में मिल गई। यह घटना सन् १७५० की है।

ऊपर उल्लिखित टीप के अनुसार घटनाएँ आगे इस प्रकार घटती हैं—रूपदास की मृत्यु के बाद उनके भतीजे ब्रह्मदास जागीर का काम देखने लगे। परपोंड़ी के पूर्व जमीन्दारों से इनकी शत्रुता पहले से चली आती थी। फलतः जमीदार दुर्जनसाय तथा उसके भाई डोमनसाय दोनों ने मिल कर महंत ब्रह्मदास को मार डाला। तब महंत तुलसीदास ने भी इन दोनों भाईयों की हत्या कर ब्रह्मदास की मृत्यु का बदला चुकाया। छुईखदान के खजुरी नामक गाँव में दुर्जनसाय की समाधि बनी है तथा बोरतार नामक गाँव में एक चबूतरा है जिसे डोमनचौरा कहते है। दोनों समाधियों में दोनों भाईयों के सिर अलग अलग गाड़े गये थे। सन् १७८० में महंत तुलसीदास को नागपुर के भोंसला राजा द्वितीय रघुजी ने कोंड़का जमीदारी की सनद प्रदान कर उसे वहाँ का जमींदार बना दिया। तुलसीदास ने तत्पश्चात् परंपरा तोड़ कर अपना विवाह कर लिया जिनसे बाल मुकुन्द दास पैदा हुए और जो पिता की मृत्यु हो जाने पर गद्दी के अधिकारी हुए। महंत बाल मुकुंददास के चार पुत्र थे, जिनमें से ज्येष्ठ पुत्र लक्ष्मणदास को पिता की मृत्यु हो जाने पर सन् १८४५ मे गद्दी मिली। पश्चात् मराठी सत्ता समाप्त हो गई।

पुरातत्त्व

रियासत मे पुरातत्त्व संबंधी ऐसी कोई सामग्री, अवशेप या चिन्ह नहीं पाये जाते जो उल्लेखनीय हो।

६ कंवर्धा

कंवर्धा रियासत का क्षेत्रफल ७९८ वर्ग मील था। पहले इसका यथार्थ नाम कबीर धाम था जो बोलचाल में कंवर्धा हो गया। इस रियासत का पश्चिमी भाग बन और पहाड़ियों से अच्छादित था तथा रायपुर और बिलासपुर जिलों को स्पर्श करता था जबकि मैदानी भाग पूर्व की ओर बालाघाट जिले को छूता था। इसका पहाड़ी भाग सतपुड़ा की श्रेणियों की शृंखला में आता है और उत्तर में मैकल की श्रेणियाँ जिला मंडला तक चली गई हैं। इसके दक्षिण में खैरागढ़ रियासत का कुछ भाग आ जाता था। पहले कवर्धा चौरागढ़-तालुका कहलाता था।[1]

कंवर्धा राजवंश का संबंध मंडला के गोंड़ राजपरिवार से था। उन्हीं के वंशज पंडरिया जमीदारी के भी शासक थे। प्रथा चली आई थी कि यदि कवर्धा या पंडरिया के शासक घराने में कोई उत्तराधिकारी जन्म न ले तो एक दूसरे के परिवार से बालक गोद ले लेते थे और उसे उत्तराधिकारी बना देते थे। कंवर्धा रियासत पहले भोंदा जमींदार कि अधिकार में थी जो मंडला के गोंड़ राजा के आधीन इस जमींदारी का उपभोग करता था। एक बार मंडला नरेश और सागर नरेश की आपस में अनबन हो गई। उस समय पृथीसिंह पंडरिया का जमींदार था। इसने अपने भाई महाबली सिंह को मडला नरेश की मदद के लिए भेजा। इधर भोंदा के जमींदार ने भी मंडला नरेश को सहायता पहुंचाई।

किंतु जब मण्डला राजा की विजय हो गई और दी हुई सहायता के लिए पुरस्कार वितरण का वक्त आया तब महाबली सिंह ने भोंदा जमींदार को किसी तरह समझा बुझाकर मंडला जाने से रोक दिया और स्वयं मण्डला जाकर घोषित कर दिया कि भोंदा का जमींदार तो भाग गया है। फल यह हुआ कि पुरस्कार में महाबलीसिंह को कंवर्धा रियासत मिल गई और भोंदा के जमींदार टापते रह गये। इस संबंध की दूसरी कहानी यह है कि कंवर्धा रियासत, महा-बलीसिंह को नागपुर के भोंसला राजा रघुजी द्वारा, उसकी सैनिक सहायता के

१– टेम्पल की रिपोर्ट पृष्ठ ४५
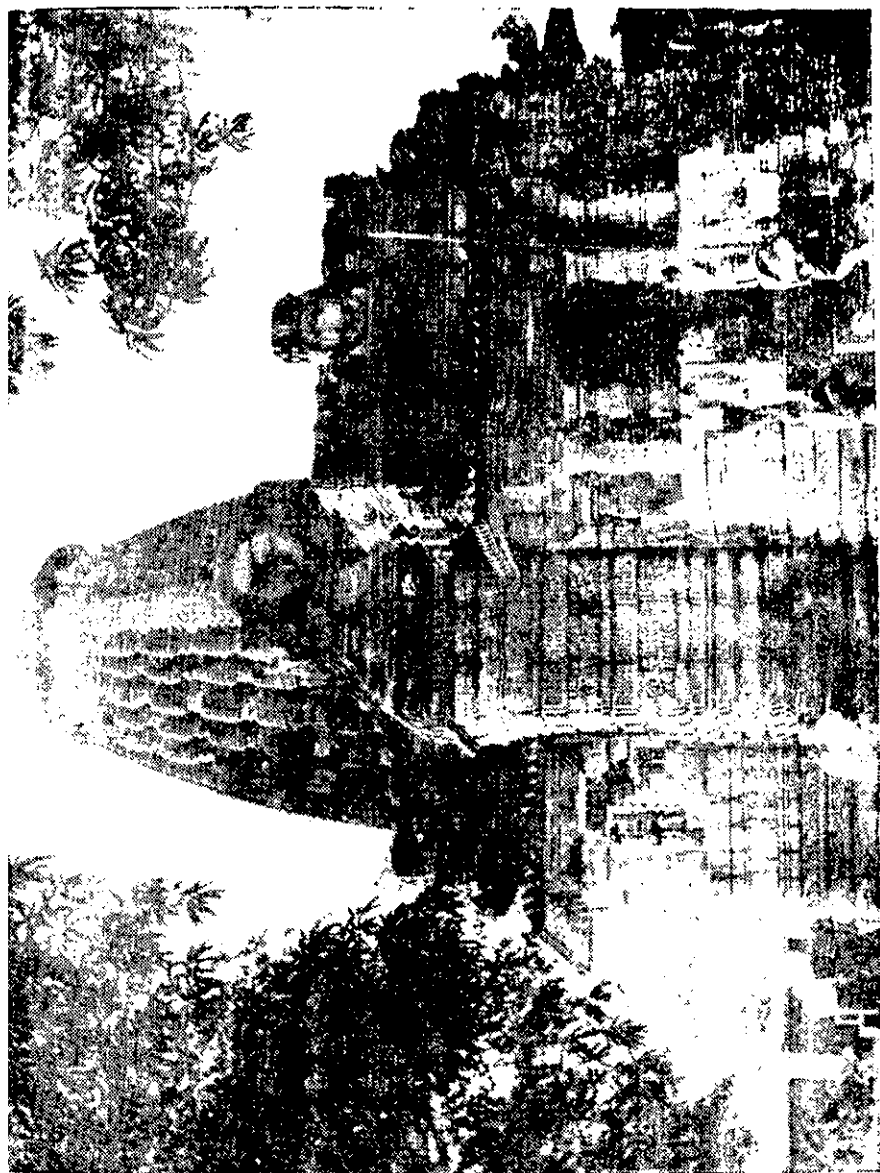
भोरमदेव मंदिर का मुख्य द्वार (फोटो बसंत दीवान)

उपलक्ष में दी गई थी। महाबलीसिंह ने कंवर्धा का राजशासन लगभग ५० वर्षों तक किया। पश्चात् उसके पुत्र उजियार सिंह ने ४७ वर्षों तक राज्य किया। व्यंकोजी भोंसला के राज्य काल में राज्य से ८६३५) टकौली ली जाती थी।[१] उजियार सिंह की मृत्यु के बाद टोकसिंह राजा हुआ पर अल्प काल ही में वह निष्पुत्र चल बसा। तब उसकी माता और तत्पश्चात् उसकी विधवा रानी ने राजकाज चलाया। कबीर पंथियों का केंद्र होने के कारण इसका नाम "कबीर-धाम" था जो बाद में कंवर्धा हो गया।

पुरातत्त्व

इस रियासत में पुरातत्त्व संबंधी कई अवशेष हैं। मुख्यतः छपरी गाँव का मडवा महल तथा भोरमदेव का मंदिर जो एक दूसरे से थोड़े अंतर पर स्थित है अधिक प्रसिद्ध हैं। भोरमदेव के मंदिर में, जो कंवर्धा से लगभग १६ किलोमीटर दूर जंगल में है, खुदाव का अद्भुत काम किया गया है। वहाँ कई उत्कीर्ण लेख है। लक्ष्मीनारायणजी की मूर्ति की आधार शिला पर मकरध्वज जोगी का नाम उत्कीर्ण है। बोरिया गाँव के समीप कंकाली का एक प्राचीन मंदिर है, वहाँ भी उत्कीर्ण लेख है। वहाँ भी मकरध्वज जोगी का आगमन हुआ था।

उत्कीर्ण लेखों से पता चलता है कि कंवर्धा में पहले नागवंशियों का राज्य था। ये रत्नपुर के कलचुरि (हैहयवंशी) राजाओं का प्रभुत्व मानते थे जैसा कि शिलालेख में दिये हुए कलचुरि संवतों से प्रमाणित होता है। कंवर्धा के फणि (नाग) वंश का विवरण मंदिर के समीप पड़े हुए एक विशाल शिलालेख में मिलता है। यह शिलालेख सन् १३४९ में उत्कीर्ण किया गया था। इसमें तत्कालीन राजा रामचंद्र द्वारा शिवमंदिर के निर्माण कराने का और उसके व्यय के हेतु गाँव लगा देने का उल्लेख है। राजा रामचंद्र का विवाह हैहयवंश की राजकुमारी अंबिकादेवी से हुआ था जिससे उसे दो पुत्र प्राप्त हुए थे और जिनका नाम अर्जुन और हरपाल था।

मड़वामहल के शिलालेख में नागवंश की उत्पत्ति के संबंध में उल्लेख है। लिखा है कि अहिराज नागों का आदि राजा था। तत्पश्चात् क्रमशः राजल्ल, धरणीधर, महिमदेव, सर्ववदन (शक्तिचंद्र) गोपालदेव, नलदेव और भुवनपाल ने राज्य किया। भुवनपाल के पश्चात् उसका पुत्र कीर्तिपाल राजा हुआ। यह निष्पुत्र था। फलतः भाई जयत्रपाल राजा हुआ। जयत्रपाल के बाद क्रमशः महीपाल, विषमपाल, जन्हु, जनपाल, यशोराज, कन्हड़देव और लक्ष्मीवर्मा ने

१– टेम्पल की रिपोर्ट, पृष्ठ ४६

राज्य किया। लक्ष्मीवर्मा के दो पुत्र थे जिनमें से ज्येष्ठपुत्र खड़गदेव राज सिंहासन पर आरूढ़ हुआ तथा उसी वंश में क्रमशः भुवनैकमल्ल, अर्जुन, भीम और भोज नामक नरेश हुए। किंतु भोज के पश्चात् लक्ष्मीवर्मा के पुत्र चंदन का प्रपौत्र लक्ष्मण राजा हुआ। इसी का पुत्र रामचद्र इस प्रशस्ति का नायक था। यह सन् १३४९ ई० में राज्य करता था।

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है भोरमदेव मंदिर की शिल्पकला परमोत्कृष्ट है। मंदिर के बाहिरी भाग मे चहुँ ओर जो विभिन्न मूर्तियाँ, वास्तु कला की रक्षा करते हुए अंकित की गई है उनमें आंगिक विकारों की जिस ढंग से अभिव्यक्ति की गई हैं उन्हें देखकर चित्त केवल थकित नही हो जाता प्रत्युत विस्मित भी हो जाता है। इनके अतिरिक्त सरस्वती, राधा, काली और बुद्ध की मूर्तियाँ परम दर्शनीय हैं। मंदिर की दाहिनी ओर दीवाल से लगी हुई मूर्तियों मे शिवलिंग की पूजा करती हुयी दो देवियाँ प्रणाम करती हुई मन को मोह लेती हैं। मंदिर के प्रमुख द्वार के सामने के मैदान मे नंदी और शिवलिंग की संगमरमरी प्रतिमाएँ यह प्रमाणित करती है कि नाग के साथ ही नागवंशी राजे शिवजी के भी उपासक थे जो स्वाभाविक है।

मुख्य मंदिर से लगभग दो किलोमीटर की दूरी पर एक प्राचीन ध्वस्त किले के चिन्ह मात्र दिखाई पड़ते है, इसके चारो ओर सुरक्षा की दृष्टि से तत्कालीन पद्धति के अनुसार खाइयाँ खोदी गई थी। लगता है, किला प्रधानतः दो भागों में विभाजित हुआ था। किले का क्षेत्रफल लगभग दो वर्ग मील रहा होगा। किले का मुख्य प्रवेश द्वार पूर्व दिशा की ओर था।

यहाँ प्रतिवर्ष चैत्रकृष्ण १३ को मेला भरा करता है।

भोरमदेव मंदिर के बाहर प्रांगण में (फोटो बसंत दीवान)

७ सक्ती

सक्ती[1] बहुत छोटी रियासत थी जिसका क्षेत्रफल १३८ वर्गमील था। सक्ती के नामकरण के संबंध में एक कहानी कही जाती है कि सक्ती के अंतिम राजा के पूर्वपुरुष एक बार जंगल में शिकार खेलने गया तो उसने देखा कि वहाँ का एक हिरण उसी के एक शिकारी कुत्ते का पीछा कर रहा है। इस पर से वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि यह भूमि शक्ति से ओतप्रोत है। फलतः उसने अपनी रियासत का नामकरण शक्ति कर दिया जो बिगड़कर "सक्ती" कहा जाने लगा। वह तीन ओर बिलासपुर जिले में घिरा हुआ था जबकि रायगढ़ रियासत उसे पूर्व की ओर से घेरे हुए थी।

यहाँ का राजा राज-गोंड़ है। उसके राजवंश की जन्म कथा इस प्रकार है—हरी और गुजर नामक दो यमज भाई थे जो सबल्पुर नरेश राजा कल्याण शाह के यहाँ सैनिक थे पर उनकी तलवारें काठ की थीं। जब राजा को इस तथ्य की जानकारी मिली, वह क्रोधित हो उठा और उसने निश्चय किया कि उन्हें ऐसे अनुपयोगी हथियार रखने के अपराध में दण्ड दिया जाय। फलतः उन्हें आज्ञा दी गई कि वे आगामी दशहरा के पर्व पर जो देवी के सामने भैंसों का बलिदान किया जाता है, उसे अपनी तलवार से करें। उन्होंने राजाज्ञा का पालन किया और अपने सामने खड़े भैंसा की गर्दन उसी काठ की तलवार के केवल एक वार से धड़ से उड़ा दिया। राजा इससे बहुत प्रसन्न हुआ और मुँहमाँगा पुरस्कार उन्हें देने के लिए तैयार हो गया। इन्होंने यह पुरस्कार माँगा कि हम दोनों एक दिन में जितनी भूमि पर चल पावें बस उतनी ही भूमि हमें पुरस्कार स्वरूप दी जाय। राजा समझता था कि इस माँग से तो वे एक छोटा सा भूमि खंड पावेंगे पर मिल गया उतना भूमिखंड जिस पर उन दिनों सक्ती रियासत की स्थिति थी अर्थात् १३८ वर्गमील। तबसे यह रियासत उन्हीं के राजवंश के अधिकार में चली आयी थी। दशहरा के पर्व पर अभी भी उस काठ की तलवार की पूजा की जाती है।

१– गजेटियर तथा निजी संग्रह से संकलित

छोटे भाई गूजर ने व्याह ही नहीं किया।

हरी की सातवीं पीढ़ी के राजा शिवसिंह निःसंतान मृत्यु को प्राप्त हो गया। फलतः उसकी विधवा रानी तेज कुँवरी ने शिवसिंह के चचेरे भाई कलन्दर सिंह को गोद में ले लिया। सन् १८५४ में मराठी सत्ता समाप्त हो जाने से यह अंग्रेजी राज्य में आ गया।

पुरातत्त्व

सक्ती राज्य में पुरातात्त्विक महत्व का केवल एक ही स्थान है और वह है गुंजी नामक गाँव का शिलालेख। यह स्थान सकती स्टेशन से लगभग १४ मील दूर है। गाँव के निकट ही "दामदहरा" नामक नाला है जिसमें सदैव पानी भरा रहता है। इसी के एक चट्टान पर एक लेख पाली भाषा में खुदा हुआ है। यह संभवतः सन् ईस्वी की प्रथम शताब्दी का है। महाभारत में इसे ऋषभ तीर्थ के नाम से उल्लेख किया गया है और पं० लोचन प्रसाद पाण्डेय द्वारा प्रयत्न करने पर अंग्रेजी शासन ने इसे इसी नाम से मान्यता भी दे दी है। इस लेख में चार पंक्तियाँ हैं। जिनका हिंदी अनुवाद नीचे दिया जाता है :—

"सिद्धम। भगवान को नमस्कार। राजा कुमारवरदत्त के पाँचवे संवत में हेमंत के चौथे पक्ष के पंद्रहवें दिन भगवान के ऋषभ तीर्थ में, पृथ्वी पर धर्म (के समान) अमात्य गोडछ के नाती, अमात्य मातृजन पालित और वासिष्ठी के पुत्र अमात्य दण्डनायक और बलाधिकृत बोधदत्त ने हजार वर्ष तक आयु बढ़ाने के लिए ब्राह्मणों को एक हजार गाये दान में दी। छठे संवत में ग्रीष्म छठे पक्ष के दसवें दिन दुबारा एक हजार गाये दान दी। यह देख कर दिनिक के नाती—अमात्य (और) दण्डनायक इन्द्रदेव ने ब्राह्मणों को एक हजार गायें दान में दी।"

इस लेख से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि दक्षिण के इस अंचल में कृषि और गौरक्षा की अच्छी व्यवस्था थी और इस दृष्टि से यह बड़ा समृद्धिशाली था।

प स्वे च उ ठ दि व से प च द से १०+५ भ ग व तो उ सु भ ति थे

. . . गो सहस्रं वसं

चट्टान पर लेख, ऋषभ तीर्थ (ब्लाक लेखक द्वारा प्रदत्त)

८ रायगढ़

रायगढ़ का रियासती क्षेत्रफल १४८६ वर्गमील था। इसके दक्षिण में महानदी को पार कर सारंगढ़ रियासत, उत्तर में उदयपुर, जशपुर और गांगपुर रियासतें, पूर्व में केवल गांगपुर रियासत थी। पश्चिम में यह बिलासपुर जिले को स्पर्श करते रहा।

रायगढ़ का प्रारंभिक इतिहास अंधकारपूर्ण है। परंपरागत सूचनाओं के अनुसार रायगढ़ का राजवंश चाँदा के प्राचीन गोंड राजवंश से संबंध रखता है। रायगढ़ रियासत को संगठित करने वाला मदनसिंह चाँदा जिले के एक गांव बैरागढ़ से आया था। घरद्वार छोड़कर पहले वह फुलझर आया[1] जहाँ उसका मामा निवास करता था। वहाँ से फिर वह बंगा चला आया जो रायगढ़ रियासत मे एक गाँव है। कारणवश उसने बंगा भी त्याग दिया और रायगढ़ चला आया और फिर लौटकर उसकी सीमा तक में पैर नहीं रक्खा जिसे वह त्याग कर रायगढ चला आया था। इस पुरानी प्रथा का अभी तक इस वंश में पालन होता है। मदनसिंह ने रायगढ़ में आकर क्या किया और किस प्रकार वहाँ का राजा हो गया, अभी तक इसका पता नही लगा है। मदनसिंह की मृत्यु के पश्चात् तखतसिंह ने गद्दी सँभाली और उसके बाद उसके पुत्र बेठसिंह ने। बेठसिंह के बाद दिरीपसिंह राजा हुआ। तत्पश्चात् उसके ज्येष्ठ पुत्र जुहारसिंह सत्तारूढ़ हुआ। इसने सन् १८०० ई० के लगभग ईस्ट इंडिया कंपनी से एक समझौता किया जिसके फलस्वरूप उसे संबलपुर के मराठों की आधीनता छोड़नी पड़ी और पद्मपुर इलाका से भी हाथ धोना पड़ा जिसे संबलपुर की रानी ने उसे प्रदान किया था।

जुहारसिंह की मृत्यु के पश्चात् उसका ज्येष्ठ पुत्र देवनाथ सिंह सिंहासनारूढ़ हुआ। इसने सन् १८३३ में अंग्रेजों के विरुद्ध बरगढ़ के राजा अजीतसिंह के विद्रोह को पूर्ण रूप से दबा दिया। इसके पुरस्कार स्वरूप उसे सन् १८३३ में बरगढ़ की जमीन्दारी अंग्रेजों ने प्रदान कर दी। पश्चात् यह १८५४ में अंग्रेजी राज्य के अंतर्गत आ गया।

१– इंपीरियल गजेटियर, पृष्ठ ४६५

पुरातत्व

भूपदेवपुर (रे० स्टेशन) के निकट सिंहनपुर के शैल चित्र प्रागैतिहासिक काल के समझे जाते हैं। "काबरा" नामक पहाड़ी पर भी ऐसे ही शिलाचित्र अंकित हैं। इसी तरह के कुछ चित्र खैरपुर तथा कर्मागढ़ में भी पाये जाते है। बुनगा नामक गाँव में राजकुल की देवी एक मिट्टी के बने हुए मंदिर में स्थित हैं। उनकी पूजा निरंतर होती है परंतु राजा को मंदिर में आने की बात तो दूर इस गाँव की सीमा तक में प्रवेश करने की मनाई है। पीलूपाट नामक गाँव में राजा के कुलदेवों में से एक मुर्गापाट स्थापित है।

रायगढ़ नगर के दक्षिण में 'कलमी' ग्राम में गुप्तेश्वर महादेव का मंदिर एक विशाल तालाब के मध्यभाग में स्थित है। इस ग्राम के समीपवर्ती ग्रामों में उपलब्ध कुछ ऐतिहासिक अवशेषों के अवलोकन करने से ऐसा लगता है कि किसी समय यह स्थान बौद्ध भिक्षुओं का आवास स्थान रहा होगा। पंचधार नामक ग्राम में ११वीं शताब्दी के कई मंदिरो के अवशेष पाये जाते हैं। पुजारी पाली में भी ११वीं शताब्दी के मंदिरों के खँडहर हैं जो शशिदेव या जुझारसिंह द्वारा निर्माण कराये गये कहे जाते हैं। टेरम नामक ग्राम में जो घरघोड़ा से चार मील है पुराने किले के खंडहर हैं और एक शिलाखंड पर १२वी शताब्दी उत्कीर्ण है। घरघोड़ा से १४ मील पूर्व तमनार ग्राम में भी एक पत्थर पर १२०० संवत् खुदा हुआ है। करमागढ़ गाँव में जो रायगढ़ से १४ मील ईशान में है पहाड़ी चट्टानों पर चित्र तथा लेख भी है पर लेख पढ़ा नहीं गया है।

मीलूपारा में जो घरघोड़ा से ईशान दिशा में १४ मील दूर है किले के अवशेष पाये जाते है। किले के द्वार पर बड़े नगाड़े पड़े हुए है। मैनापारा (खरसिया से ४ मील दूर) में भी किले के चिन्ह पाये जाते हैं। खरसिया से १० मील पूर्व बरगढ है जहाँ प्राचीन किला और बागीचों के चिन्ह हैं। इसे रायगढ़-राज्य ने १७वीं शताब्दी में जीतकर अपने राज्य में मिला लिया था।

आंगना—यह धर्मजयगढ़ से ४ मील दूर है। यहाँ पहाड़ी गुफाओं में लेख हैं। नारायणपुर—लगभग २०० वर्ष पूर्व बने हुए डोम राजा के महल और मंदिर के अवशेष यहाँ पाये जाते हैं। जोकरी में भदेसर पहाड़ की ऊँची चोटी पर एक प्राचीन मंदिर है। बसनाझार ग्राम में पहाड़ी चट्टानो पर चित्रांकन है। बालपुर में सन् १९२४–२५ में लोहे और पत्थर की बहुत सी पुरानी सामग्री मिली थी और मुद्राएं भी। हिंदी के प्रसिद्ध विद्वान स्व० पं० लोचन प्रसाद जी पाण्डेय का यह ग्राम-निवास है।

९ सारंगढ़

सारंगढ़[1] रियासत का क्षेत्रफल ५४० वर्गमील था। उसके उत्तर में महानदी और चंद्रपुर जमींदारी, दक्षिण में फुलझर जमींदारी, पूर्वमें सबलपुर जिला (उड़ीसा) का बरगढ़ तहसील और पश्चिम में रायपुर जिले की भटगाँव और बिलाईगढ़ जमींदारियाँ थी। सारंगढ़ नगर रायगढ़ स्टेशन से ३२ मील दूर है।

कहा जाता है कि सारंगढ़ नरेश के पूर्वपुरुष भंडारा जिले के लांजी नामक स्थान से आये थे। सत्रहवी-अठारहवीं सदी में मराठे उड़ीसा तथा बंगाल पर आक्रमण किया करते थे तब रास्ते के सभी स्थानो को वे अपने अधिकार में करते जाते थे। इसी आक्रमण के बीच जब एक बार मराठे कटक जा रहे थे, रास्ते में फुलझर वालों ने उन पर सिंगोरा घाटी के पास आक्रमण कर दिया, तब सारंगढ़ ने मराठों को मदद पहुँचाई थी। नागपुर के रघुजी भोंसले इससे बड़े प्रसन्न हो गये। और सारंगढ़ को अपने रतनपुर राज्य का आधीनस्थ राज्य बना दिया। इस समय कल्याण साय संबलपुर का राजा था। लेकिन इसके पश्चात् सारंगढ़ संबलपुर की आधीनतामें अठारह गढ़जात रियासतों में शामिल हो गया।

कल्याणसाय का सन् १७७७ में देहांत हो गया तब उसका पुत्र विश्वनाथसाय उसका उत्तराधिकारी हुआ। विश्वनाथसाय वास्तव में एक अत्यन्त दयालु और वीर शासक था। उसमें अनेक अच्छे गुण थे। सन् १७७८ में जब बंगाल के गवर्नर जनरल ने किसी महत्वपूर्ण कार्य की संपन्नता के हेतु एलेकजेंडर इलियट को नागपुर भेजा तब रास्ते में छत्तीसगढ़ क्षेत्र में उसका देहान्त हो गया।[2] वह ज्वर से पीड़ित था और उसकी आयु केवल २३ वर्ष की थी। उसे गाड़ने के लिए कोई भूमि ही नही देता था। तब विश्वनाथसाय ने कृपापूर्वक उसके शव को भूमिगत करने के लिए एक भूमिखंड प्रदान किया जो सेमरा ग्राम में है, जहाँ उसकी समाधि बनी हुई है। विश्वनाथसाय को इस उदारता के लिए

१– गजेटियर तथा निजी संग्रह से

२– कैलेंडर आफ परशियन करस्पांडेंस जिल्द ५, तथा निजी संग्रह से।

अंग्रेजों ने एक हाथी और राजसी पोशाक प्रदान की थी। पश्चात् सन् १७८१ मे उसे सरई परगना भी पुरस्कार स्वरूप प्रदान किया गया जिसके अंतर्गत ८४ ग्राम थे। यह पुरस्कार उस सैनिक सहायता के उपलक्ष्य में दिया गया था जो उसने संबलपुर के राजा जैतसिंह को प्रदान की थी। विश्वनाथसाय को नागपुर के नाना साहब ने भी उसके समय-समय पर सहायता देने के उपलक्ष्य मे १ हाथी, १ घोड़ा साजसज्जा सहित, एक नगाड़ा और एक बल्लम से पुरस्कृत किया था। सन् १८०८ में उसके निधन के पश्चात् उसका पुत्र राज्याधिकारी हुआ पर वह केवल सात वर्षो तक शासन कर सका। उसके दोनों पुत्र भीखम साय और टीकमसाय भी अल्पकाल में ही निष्पुत्र परलोक को सिधारे। ऐसी स्थिति में उनके काका गजराज सिंह को राजगद्दी मिली। गजराजसिंह के पश्चात् उसके पुत्र संग्रामसिंह ने सन् १८३० में राजगद्दी सँभाली और वह ४२ वर्षों तक शासन करता रहा। इसके समय में मराठी सत्ता समाप्त हो गई।

पुरातत्त्व

पुरातत्त्व संबंधी कोई अवशेष सारंगढ़ राज्य में प्राप्त नहीं हुए हैं सिवाय समलेश्वरी देवी के मंदिर के जिसका निर्माण सन् १६६२ ई० में हुआ था। यह मंदिर राजमहल से लगा हुआ है। पुजारी पाली में महाप्रभु का एक प्राचीन मंदिर है जिसमें एक उत्कीर्ण लेख है। इसका मुख्य उद्देश्य गोपालदेव नामक सामन्त के धर्म कार्यों का विवरण प्रस्तुत करना है। इसमें तिथि का उल्लेख नहीं है कि कब वह उत्कीर्ण किया गया पर अन्य प्रमाणों से अनमान किया गया है कि यह सन् ११६७–६८ के पूर्व लिखा गया होगा। सारंगढ़ नरेश के पास आठवी शताब्दी का एक ताम्रपत्र शरभपुर के राजाओं का है।

पुजारीपाली, जो सारंगढ़ से लगभग ३५ किलोमीटर दूर है, में कुछ मंदिर प्राचीन समय के हैं। यहाँ इनमें से एक "महाप्रभु" का मंदिर कहलाता है और दूसरा "केवटिन" मंदिर। "रानी झूला" नामक मदिर अत्यन्त भग्नावस्था में है। महाप्रभु के मंदिर के सामने एक शिलालेख प्राप्त हुआ था जो रायपुर संग्रहालय में सुरक्षित है। इसमे गोपाल वीर की प्रशंसा की गई है। लिखा है इसने प्रयाग, पुष्कर, केदार, जगन्नाथपुरी, भीमेश्वर, नर्मदा, वाराणसी, प्रयाग, गंगासागर, वैराग्यमठ, शौरीपुर, गोपालपुर और पेडरा ग्राम में निर्माण कार्य (संभवतः मंदिर या धर्मशाला) कराये थे। यह लेख ११वी शताब्दी (ईस्वी) का प्रतीत होता है।

१० सरगुजा

सरगुजा रियासत का क्षेत्रफल ६०८६ वर्गमील था। सन् १९०६ तक वह बंगाल प्रदेश में छोटा नागपुर की रियासतों में सम्मिलित थी। उसके उत्तर मे मिरजापुर जिला तथा रीवा रियासत, पूर्व में पलामू तथा राची जिला, दक्षिण में जशपुर और उदयपुर की रियासतें तथा बिलासपुर जिला और पश्चिम में कोरिया रियासत थी।

सरगुजा[1] का प्रारंभिक इतिहास अंधकारपूर्ण है। बीहड़ बन प्रान्तरों मे आच्छादित तथा पर्वतों एवं पहाड़ियों के कारण दुर्गम यह क्षेत्र विदेशी आक्रमणकारियों से सुरक्षित रहा है। सन् १८७०-७१में भरतपुर तहसील के हरचौका ग्राम में पुरातत्त्व विभाग द्वारा पहाड़ियों की खुदाई से जिन प्राचीन मंदिरों एवं आश्रमों के अस्तित्व का प्रकाश मिला है, उससे यह स्पष्ट होता है कि प्रारंभिक काल में यहाँ सभ्यजातियों का निवास तथा आधिपत्य था। लेकिन ये लोग कौन थे तथा कितनी अवधि तक यहाँ बने रहे, इस संबंध में निश्चित रूप से कुछ भी ज्ञात नहीं हो सका है।

सरगुजा राज्य की उत्पत्ति के जो ऐतिहासिक तथ्य सन् १९४ ई० से उपलब्ध हुए हैं उनसे प्रमाणित होता है कि उस समय यहाँ खैरवार, कंवर, गोंड़, कोरवा, कोड़ाकू, किरात तथा मुण्डा आदि द्रविड़ जातियों का आधिपत्य था जो प्रशासक जातियाँ थीं। इनमें प्रायः परस्पर लड़ाई झगड़े हुआ करते थे। सन् १९४ ई० में इन पर पलामू जिले के कुंडरी ग्राम के एक अर्कसेल राजपूत वंश ने आक्रमण कर इन्हें पराजित किया और वे इसके आधीनस्थ हो गये। इसी वंश के एक राजा विष्णु प्रतापसिंह ने जो भोजकूटपुर ग्राम का था इन पर चढ़ाई कर आसपास के समस्त इलाकों को वहाँ के तत्कालीन राजा सायनीसिंह के पुत्र से छीन कर अपने राज्य का विस्तार कर लिया तथा रामगढ़ पहाड़ पर किले का भी निर्माण कराया। इसने ३५ वर्षों तक राज्य किया। इसकी मृत्यु के पश्चात् इसका पुत्र देवराजसिंह सन् २३० में सिंहासनारुढ़ हुआ। तब से अर्थात् लगातार १७४० वर्षों तक सरगुजा राज्य इसी अर्क-

---

१– गजेटियर, झारखंड-झंकार नामक पुस्तक तथा डा० कुंतल गोयल, अंबिकापुर द्वारा अप्रेषित सामग्री से संकलित।

सैल वंशीय राजाओं के अधिकार में रहा। इस बीच इनकी ११४ पीढ़ियाँ हुईं–राजा विष्णुप्रतापसिंह से लेकर महाराजा रामानुजशरण सिंहजी देव तक। सन् १२८६ में मुंगेर, मुर्शिदाबाद, पटना और दिल्ली के मुसलमान शासकों की तथा सन् १८५८ में नागपुर के भोंसलों की भी इस पर चढ़ाइयाँ हुईं किंतु उन्हें कोई सफलता प्राप्त नहीं हो सकी और यह राज्य स्वाधीन ही बना रहा। सन् १९४७ में इसका विलीनीकरण भारत में हो गया। इस प्रकार १७५१ वर्ष तक सरगुजा केवल एक ही राजवंश के आधीन रहा।

हंटर ने अपनी पुस्तक "ए स्टेटिस्कल एकाँट आफ बंगाल" में लिखा है कि कई पीढ़ियों तक पूर्वी तथा पश्चिमी सरगुजा में गोंड़ एवं कोल राज्य वर्तमान शासनाधिकारी के अंतर्गत संगठित रहे जो अपने को राकसेल राजपूत कहते हैं। पलामू के एक ऐतिहासिक परंपरा के अनुसार इन राजपूतों ने देश के इस भाग पर सन् १६१३ ई० तक शासन किया तथा आकस्मिक रूप से वे विचित्र तर्कों द्वारा विदेशियों की भाँति चेरवाओं द्वारा खदेड़ दिये गये। सन् १६१२ ई० में चैनपुर से भागे हुए चेरवा जाति के प्रधान भगवंतराय ने पलामू के राकसेल राजा मानसिंह के अधीन अपने सेवकों सहित नौकरी कर ली। इसका प्रधान उद्देश्य पुनः सत्ता प्राप्त करना था। अगले वर्ष जब राजा मानसिंह सरगुजा प्रधान की पुत्री से अपने पुत्र के विवाह करने के विचार में सरगुजा गया तब उसकी अनुपस्थिति का लाभ उठा कर भगवंत राय ने अपने अनुयायियों एवं सहायकों की सहायता से अकस्मात आक्रमण कर दिया और मानसिंह के परिवार के परिवार को मौत के घाट उतार कर पलामू का प्रथम चेरा राजा बन गया। मानसिंह ने पुनः वहाँ अपनी सत्ता प्राप्त करने का कोई प्रयत्न नहीं किया और यहाँ सरगुजा के प्रधान को मारकर राज्य का सर्वेसर्वा बन बैठा। यह वर्तमान राकसेल राजवंश के अभ्युदय का काल था। किंतु इसके विपरीत छ० ग० फ्युडेटरी स्टेट्स गजेटियर (सन् १९०९) में लिखा है "ये छोटे छोटे शासक परस्पर युद्ध किया करते थे तथा अंतिम रूप से लगभग १७०० वर्ष पहले पलामू जिले के कुंडरी के एक राकसेल राजपूत द्वारा इन पर आक्रमण किया गया और इन्हें पराजित कर इनके राज्यों पर आधिपत्य स्थापित कर उन्हें अपने आधीन कर लिया।" इस विवरण से ऐसा लगता है कि सरगुजा में २०० ई० में ही राकसेल वंश की प्रभुता आरंभ हो गई थी। पर यह गलत प्रतीत होता है। वास्तव में सरगुजा पर अर्कसेल वंश ही सन् १९४७ तक राज्य करता रहा। प्रारंभिक काल में सरगुजा राज्य के शासक द्वारा जागीरदारी प्रथा का संचालन किया गया जो तत्कालीन सरगुजा राज्य की सीमाओं को

पार कर गया था। एक समय उदयपुर, जसपुर, कोरिया तथा चांगभखार सरगुजा राज्य के ही आधीन थे। वस्तुतः अर्कसेल वंश की विश्वस्त जानकारी सन् १७५८ से उपलब्ध है जब राजा बहादुरसिंह की मृत्यु के पश्चात् शिवसिंह गद्दी पर बैठा। इसी अवसर पर मराठों का प्रथम आक्रमण सरगुजा पर हुआ। परिणाम यह हुआ कि शिवसिंह ने पराजित हो मराठों की आधीनता स्वीकार कर ली और वार्षिक टकौली देने लगा। पश्चात् राजा अजीतसिंह गद्दीनशीन हुए। ये अत्यन्त धैर्यवान, साहसी और हिम्मती शासक थे। इस घराने के ये प्रथम शासक थे जिन्होंने सन् १७६२ ई० में अंग्रेजों के विरुद्ध पलामू जिले के बगावत करने वालों की मदद की और रांची जिले में स्थित बरवा परगना छीन लिया। अंग्रेजों ने बरार सरकार को जिसके अधीन उस वक्त सरगुजा राज्य था, राजा अजीतसिंह के कार्यों के विरुद्ध शिकायत की। बरार सरकार ने राजा के इन कार्यों में दखल डालने का प्रयत्न किया पर उसका कुछ असर नहीं हुआ। राजा ने बरवा परगना अंग्रेजों को वापिस नहीं किया। सन् १७६६ ई० में इनका देहांत हो गया।

राजा अजीतसिंह की मृत्यु के समय उनका लड़का बलभद्रसिंह नाबालिग था। इसलिये नाबालिग राजा की माँ ने शासन प्रबंध सम्हाला पर अजीतसिंह के तीसरे भाई लाल संग्रामसिंह अपनी राज्यलिप्सा को नहीं दबा सका और विधवा रानी का खून कर स्वयं राजा बन बैठा। उसके इस घृणित कार्य के कारण प्रजा क्षुब्ध हो उठी और कुछ लोगों ने अंग्रेजों से इस संबंध में मदद माँगी। कर्नल जान्स के नेतृत्व में अंग्रेजी फौज ने लाल संग्रामसिंह को हराया और भगा दिया।

तत्पश्चात् कर्नल जान्स ने नाबालिग राजा बलभद्रसिंह को गद्दी पर बैठाया और उसके चाचा जगन्नाथसिंह को उसका संरक्षक बनाकर राज्य सौंप दिया। पर ज्यों ही कर्नल जान्स शांति और सुरक्षा व्यवस्था व्यवस्थित कर चले गये वैसे ही लाल संग्रामसिंह पुनः राज्य में लौट आया। उसने आते ही जगन्नाथ सिंह को बाहर निकाल भगाया, नाबालिग बलभद्रसिंह को अपने अधिकार में कर लिया और सन् १८१३ ई० तक राज्य किया। जगन्नाथसिंह अपने पुत्र—जो कि बाद में महाराजा अमरसिंह हुये—को लेकर अंग्रेजों की शरण में गये। सन् १८१३ में मेजर रफस प्रथम पोलीटिकल एजेन्ट सरगुजा आये और यहाँ की परिस्थितियों को सुधारने का भरसक प्रयास किया। राजा बलभद्रसिंह के शासन कार्य की देखरेख के लिए रफस साहब ने दीवान नियुक्त किया और एक दस्ता फौज सुरक्षा के लिये छोड़कर स्वयं वापस चला गया। रफस

के जाने के बाद तुरंत ही राज्य में उपद्रव शुरू हो गये । इसमें भी लाल संग्राम-सिंह का हाथ था । लोगों ने दीवान की हत्या कर दी । राजा-रानी का जीवन भी संकटमय हो गया । ब्रिटिश फौज की रक्षा से शांति स्थापित हो सकी। सन् १८१८ ई० तक राज्य में उपद्रव-दंगा होता रहा । विवश हो मुधाजी भोंसले ने सन् १८१८ में सरगुजा राज्य अंग्रेजों को दे दिया ।

पुरातत्व

दसवीं शताब्दी में 'डाँडोर' और रामायण काल में 'झारखंड' कहा जाने वाला सरगुजा आज भी अपने ऐतिहासिक एवं कलापूर्ण अवशेषों को समेटा हुआ है । घने वन प्रदेश एवं दुर्गम पहाड़ियों के कारण सरगुजा का प्राचीन इतिहास अभी भी अंधकार में है किंतु वर्तमान समय में की गई खोजों से स्पष्ट है कि इस भूभाग पर किसी समय सभ्य जातियों का आधिपत्य था ।

प्राकृतिक वन सुषमा से सम्पन्न एवं दुर्गम पहाड़ियों से भरपूर सरगुजा की यह भूमि रामायण तथा महाभारत काल का स्मरण दिलाती है । अंबिकापुर से ३२ मील दूर अंबिकापुर-बिलासपुर मार्ग पर उदयपुर ग्राम के निकट स्थित रामगढ़ सरगुजा के ऐतिहासिक स्थलों में सबसे अधिक प्राचीन है । यह स्थान सुंदर, सुरम्य बनों और पहाड़ियों से घिरा हुआ है । समुद्रतल की सतह से इसकी ऊँचाई ३२०२ फुट तथा धरातल से २००० फुट है । रामगढ़ पहाड़ी पर स्थित प्राचीन मंदिर, गुफायें एवं भित्ति-चित्र ऐतिहासिक एवं पुरातत्त्व की दृष्टि से बड़े महत्वपूर्ण हैं । इनसे प्राचीन सभ्यता का पता चलता है तथा परंपरा से इनका संबंध राम के बनवास से संबद्ध किया जाता है । कहा जाता है कि श्रीराम ने सीता और लक्ष्मण के साथ अपने वनवास काल में कुछ समय यहीं निवास किया था तथा यहाँ के मूल निवासियों के सहयोग से उन्होंने दुष्टों का दमन किया था । श्रीराम के अपने वनवास काल में इस अंचल में निवास करने के कारण ही यह स्थान रामगढ़ या रामगिरि कहा जाता है यह स्पष्ट है । कुछ विद्वान् इतिहासकार तथा पुरातत्त्वज्ञों (जैसे राय बहादुर हीरालाल) के मतानुसार श्रीराम प्रयाग के बाद इसी पहाड़ी पर आकर जिसे चित्रकूट भी कहते हैं, ठहरे थे और तभी से यह रामगिरि कहलाने लगा । अनेक विद्वान् बाँदा जिले के चित्रकूट को न मान कर इसे ही वास्तविक चित्रकूट कहते हैं जहाँ श्रीराम का अल्पकालीन निवास था । वाल्मीकि रामायण में चित्रकूट का जो वर्णन है वह निश्चित ही इसी स्थान का है । क्योंकि सघन-बन; चित्र विचित्र सौन्दर्यशालिनी पहाड़ियों, हाथियों के झुंड और मदाकिनी-सरिता का सुलालित प्रवाह यहाँ की अपनी विशेषताएँ हैं । प्रसिद्ध विद्वान्

श्री वामनराव परांजपे ने भी इसी रामगढ़ को इस संबंध में मान्यता दी है। उनके अनुसार 'मेघदूत' में वर्णित 'रामगिरि' में ही ये विशेषताएँ हैं। यह पर्वत, उस पर प्रवाहित निर्झरिणी में सीतादेवी द्वारा स्नान करने से पवित्र माना गया है। यहाँ पर अनेक ऋषियों के आश्रम थे। इसके शिखर ऊंचे हैं। इसकी मेखला पर श्री राम के पद चिन्ह अंकित हैं। प्रतिवर्ष यहाँ पर घोर जल वृष्टि होती है। इस पर मानो शिखर को उड़ा देने वाली आँधी की हवा चलती थी। इसके समीप ही माल क्षेत्र है। माल क्षेत्र के पश्चिम में कुछ नीचे की ओर अनुमानतः आम्रकूट पर्वत है। इस पर दावाग्नि जलती है जो जलवृष्टि से शांत होती है तथा इस आम्रकूट के बाद स्फुटित प्रवाहा नर्मदाजी का दृश्य दृष्टिगत होता है।

रामगढ़ पहाड़ी पर स्थित अनेक मंदिरों के खंडहर, गुफायें तथा अनेक दर्शनीय मूर्तियाँ पाई गयी हैं। किंतु सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्थान, पहाड़ी के शिखर पर स्थित मौर्यकालीन सीता बोंगरा, जोगीमारा गुफा, लक्ष्मण बोंगरा एवं वशिष्ठ गुफा आदि हैं। इन गुफाओं तक पहुंचने के लिए १८० फुट लंबी एक पथरीली, विशाल प्राकृतिक सुरंग को पार करना पड़ता है। इस प्राकृतिक सुरंग का प्रवेश मार्ग ५५ फुट तथा अंतिम छोर ६० फुट चौड़ा है। इसके भीतर अविरल प्रवाहित एक बड़ी निर्झरिणी है जिसके बहाव के कारण सुरंग में छोटे बड़े अनेक सुन्दर जलकुंड भी बन गये हैं। इनमें प्रमुख "सीता-कुंड" के नाम से प्रसिद्ध है। संदर्भीय सुरंग का द्वार इतना ऊँचा है कि हाथी भी बड़ी सरलता के साथ इसमें प्रवेश कर सकता है। संभवतः इसी से इसे हाथी खोह या हाथी पोल कहते हैं। इसका विवरण रामायण में भी पाया जाता है। पहाड़ी पर मार्ग में ही हनुमान जी, गणेशजी तथा नृत्यरत बालाओं की सुंदर मूर्तियाँ हैं। सुरंग के ऊपर "सीताबोंगरा" और "जोगीमारा" की अद्वितीय कलात्मक गुफाएँ हैं। उत्तरी गुफा सीताबोंगरा और दक्षिणी गुफा जोगीमारा कहलाती है। कहा जाता है कि इसी बोंगरा से रावण ने सीता का हरण किया था। सीताबोंगरा के सम्मुख उत्कीर्ण रेखा लक्ष्मण रेखा कहलाती है। इसके बाहर रावण के बृहद पद चिन्ह आज भी सीता हरण की घटना का स्मरण दिलाते हैं। सरगुजा की इन गुफाओं को सर्वप्रथम प्रकाश में लाने का श्रेय दो विदेशी विद्वान कर्नल आउसले (सन् १८४८) तथा जर्मन डा० ब्लास (सन् १९०४) को है। सीता बोंगरा की गुफा पुरी जिले के खंडगिरि में स्थित बौद्ध गुफा से मिलती जुलती है।

सर्वाधिक प्राचीन नाट्यशाला : सीता बोंगरा

सर्वाधिक प्राचीन नाट्यशाला:—सीता बोंगरा की नाट्यशाला भारतवर्ष की सबसे प्राचीन नाट्यशाला है। इसका सबंध किसी धर्मविशेष से नहीं है बरन उस समय के साहित्यिक, कलात्मक और सामाजिक वातावरण का प्रतिबिम्ब इन गुफाओं के भित्तिलेखों में मिलता है। सीता बोंगरा सबसे बड़ी और कलात्मक गुफा है। यह नाट्यशाला के लिए प्रयुक्त की जाती थी जो पत्थरों से ही सीढ़ीनुमा (गैलरी) के ढंग पर बनाई गई है। सीताबोंगरा या सीतामढ़ी की बनावट नाट्यशाला के प्रणेता प्रसिद्ध भरत मुनि द्वारा वर्णित नाट्यमंडप जैसी है। यह ४४।। फुट लम्बी और १५ फुट चौड़ी है। दीवालें सीधी हैं तथा प्रवेश द्वार गोलाकार है जो ६ फुट ऊँचा है और भीतर इसकी ऊँचाई केवल ४ फुट रह जाती है। गुफा का आंतरिक भाग रंगमंच के लिए प्रयुक्त किया जाता था। मंचों का निर्माण तीन स्तर पर किया गया है। प्रत्येक मंच ७।। फुट चौड़ा है। तथा तीनों मंचों की सतह एक दूसरे से २। फुट ऊँची है। मुख्य द्वार के सामने शिलानिर्मित चन्द्राकार सोपान सदृस्य संयोजित पीठ है जो कि बाहर की ओर है। इन पर बैठ कर दर्शकगण नाटकीय दृश्यों, अभिनयों तथा अन्य कार्यक्रमों का आनंद लिया करते थे। इन पीठों पर लगभग ६० व्यक्तियों के बैठने की व्यवस्था थी। गुफा के सामने का भाग सादा है। उस पर अशोक कालीन अलंकरण की प्रवृत्ति का अभाव है जिसे दृष्टि में रख कर इनका निर्माण-काल मौर्य कालीन लोमश ऋषि की गुफा से पूर्व का निर्धारित किया जाता है। प्रवेश द्वार के समीप की भूमि, कोनों की पीठों की अपेक्षा कुछ निचाई पर है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह कि इसमें दो छेद हैं, जिन्हें प्रवेश द्वार के समीप, फर्श को काटकर बनाया गया है। इनका उपयोग खंभा गाड़ने के लिए किया जाता था। इनमें परदा लगाने की उचित व्यवस्था थी ताकि शीत एवं वर्षा ऋतु में दर्शकों को असुविधा न हो। ऐसे अवसर पर दर्शकगण अंदर, चौड़ी पीठों पर बैठ जाते रहे होंगे और परदे के बगल में खड़ा होकर नृतकदल अपना कार्यक्रम प्रस्तुत करता रहा होगा। इससे जान पड़ता है कि इस प्रकार परदा लगाने की प्रथा का प्रचलन सर्वप्रथम भारत में रहा हो।

विद्वदवर डा० कटारे के अभिमत से यह रंगशाला मुख्यतः नाटक और नृत्य समारोह के लिए उपयोग में लाई जाती रही होगी और इस दृष्टि से भारतीय संस्कृति के इतिहास में इसे अद्वितीय तथा अति प्राचीन समझना चाहिए। प्राचीन काल में भारतवर्ष में गुफाओं का उपयोग नृत्य शाला के

लिए होता था। ऐसी कुछ गुफाएँ और भी अन्यत्र मिली हैं जिनमें पीठों की व्यवस्था से कहा जा सकता है कि ये नाटक या नृत्य समारोह के लिए उपयोग में लाई जाती थीं। प्राचीन लोग शोभिका (गुहासुन्दरी) का संबंध उन गुहाओं से मानते हैं जो नाट्यअभिनय या नृत्यों के लिए प्रयुक्त होती थीं। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि सीतामढ़ी, जोगीमढ़ी, उड़ीसा की हाथी गुफा तथा नासिक के पास पुलमई नामक गुफा में जिन नाट्य मण्डपों का रूप मिलता है वे भारत के आदिवासियों द्वारा प्रयोग में लाये जाते थे। भरत ने अपने ग्रंथ में विकृष्ट नामक नाट्यमंडप के एक प्रकार का वर्णन किया है। यदि हम उसकी विशेषताओं के परिवेश में सीतामढ़ी या जोगीमढ़ी का अध्ययन करें तो यह पायेंगे कि इन गुफाओं के रंगमंच भारत के विकृष्ट श्रेणी के अंतर्गत आते हैं। नाट्य शास्त्रों में मण्डप के बहिरंग को अनेक प्रकार के अलंकरणों से सजाने का भी विवरण है तथा मंडप की भित्ति पर प्रायः मिट्टी, गोबर, पत्थर का चूरा आदि पदार्थों से बनाया लेप चढ़ाने का भी विधान है। सीता बोंगरा तथा जोगीमारा की गुफाओं में यह भित्तिलेप पाया जाता है।

नाट्यकला के विद्वानों की राय में महाकवि भवभूति का उत्तर रामचरित्र नाटक यहीं यशोवर्मन के काल में अभिनीत किया गया था। पाली भाषा में उत्कीर्ण लेखों के अनुसार काशी के कलाकार देवीदीन ने नाटक में भाग लिया था तथा उसके साथ सुतनुका नामक दासी ने भी अभिनय किया था। इस नाट्यशाला की प्राचीनता के विषय में पं० लोचनप्रसाद जी पाण्डेय के अनुसंधानों के फलस्वरूप ज्ञात होता है कि रामगिरि (सरगुजा) में प्रायः दो हजार वर्ष पूर्व नाट्य-मण्डप बना था जहाँ नाट्य अभिनय हुआ करते थे। सीतावोंगरा के प्रवेश द्वार के उत्तरी हिस्से पर गुफा की छत के ठीक नीचे मागधी भाषा (पाली) में दो पंक्तियाँ उत्कीर्ण हैं। प्रत्येक पंक्ति ३ फुट ८ इंच लंबी है। अक्षरों का आकार प्रकार २॥ इंच है किंतु वे अब अस्पष्ट हो गये हैं। उत्कीर्ण पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

आदिपयंति हृदयं। सभावगरू कवयो ये रातयं ------
दुले वसंतिया । हासावानुभूते । कुदस्पीतं एवं अलगेति ।

विद्वानों ने इन पंक्तियों का अर्थ इस तरह स्पष्ट किया है—

"हृदय को आलोकित करते हैं। स्वाभाव से महान ऐसे कविगण रात्रि में वासन्ती हवा दूर है। हास्य और संगीत से अनुभूत। चमेली के पुष्पों की मोटी माला को ही आलिंगन करता है।"

इससे स्पष्ट होता है कि यह गुफा सांसारिकता से पृथक साधुसंतों की तपस्थली नहीं थी वरन यह एक सांस्कृतिक एवं कलात्मक आयोजनों का स्थान था जहाँ कविता का सस्वर पाठ होता था, प्रेमगीत गाये जाते थे और नाटकों का अभिनय किया जाता था। इसका संबंध किसी भी धर्म या सम्प्रदाय मे न हो कर मानवीय गुणों एवं अनुभूतियों से था। गुफा की आंतरिक सुव्यवस्था को देख कर ही इसे एशिया की सबसे प्राचीन नाट्यशाला कहा जा सकता है। यह नाट्यशाला ग्रीक थियेटर के आकार की बनी हुई है। संभवतः इसी के आधार पर कतिपय विद्वान भारतीय नाट्य कला पर ग्रीक नाट्य कला का प्रभाव मानते हैं। जबकि कुछ विद्वान् ठीक इसके विपरीत समझते हैं।

नृत्यांगनाओं का विश्राम कक्ष : जोगीमारा गुफा

सीताबोंगरा के समीप ही जोगीमारा गुफा है। यह ३० फुट लंबी और १५ फुट चौड़ी है। गुफा का द्वार पूर्व की ओर है। 'भारत की चित्रकला' नामक पुस्तक में इसे 'वरुण का मंदिर' कहा गया है। यहाँ सुतनुका नामक देवदासी रहती थी जो वरुण देव को समर्पित थी। कहा जाता है कि सुतनुका ने सीता बोंगरा नृत्यशाला में नृत्य करने वाली नृत्यांगनाओं के विश्राम के लिए इसे बनवाया था। यह सुतनुका देवदासी किसी प्रेम कथा की नायिका कही गई है। गुफा की उत्तरी भित्ति पर इस संबंध में पाँच पंक्तियाँ उत्कीर्ण हैं जो अस्पष्ट और दुरूह हैं, वे ये हैं—

१ शुतनुक नाम
२ देवदाशिक्य
३ शुतनुक नम देवदाशिक्य
४ तंकमयिथ वलन शेये
५ देवदिने नमः लुपदखे

इन पंक्तियों का अर्थ इस प्रकार है—

१ सुतनुका नाम (की)
२ देवदासी (के विषय में)
३ सुतनुका नाम की देवदासी
४ उसे प्रेमासक्त किया वाराणसी निवासी
५ श्रेष्ठ देवदीन नाम के रूपदक्ष ने

इन पंक्तियों से इस प्रकार कथा उभरती है : एक देवदासी थी जिसका नाम सुतनुका था। वह नियमों के विरुद्ध देवदीन नामक कलाकार के प्रेम

मे दीवानी थी। देवीदीन का भी यही हाल था। तब उसने अपने प्रेम को, अपने ढग से स्थायित्व देने के लिए इस दीवाल पर उत्कीर्ण कर दिया। किंतु कुछ विद्वानों का मत है कि नाट्यशाला के अधिकारियों ने इन दोनों की प्रणयलीला का विरोध कर उसे उजागर करने के लिए इस घटना को गुफा की दीवाल पर अंकित करवा दिया ताकि भविष्य में लोग सावधान रहें। यदि देवदीन ने इसे स्वय उत्कीर्ण कराया होता तो अधिकारीगण उसे मिटवा देते।

जोगीमारा गुफा में भारतीय-भित्ति-चित्र के सबसे प्राचीन नमूने अंकित हैं। इन चित्रों के अधिकांश भाग मिट गये हैं, और सैकड़ों वर्ष की नमी ने भी इन्हें पर्याप्त रूप से प्रभावित किया है। कला की दृष्टि से यद्यपि ये श्रेष्ठ नहीं कहे जा सकते फिर भी इनकी प्राचीनता के विषय में कोई संदेह नहीं है। इन चित्रों की पृष्ठभूमि धार्मिक है। भारत में शिला-खंडों को काटकर चैत्य, विहार, मंदिर, मूर्तियाँ आदि बनाने की प्रथा थी। भित्तियों पर पलस्तर लगा कर चूना जैसे पदार्थों से चिकना कर जो चित्र बनाये जाते थे उन्हीं के अनुरूप ये चित्र हैं। कुछ विद्वानों ने इन चित्रकारियों का काल ईसापूर्व तीसरी शताब्दी माना है। गुफा की छत पर जो चित्र खचित किये गये हैं, उनमें तोरण, पुष्प, तीन घोड़े जोते हुए दो पहियों का रथ जिस पर छत्र लगा हुआ है, हाथी, सैनिक आदि चित्र सांची और भरहुत की तक्षण कला से मेल खाते हैं। इस पर मनुष्य, वन्यप्राणी तथा सुन्दर प्राकृतिक दृश्य कहीं गहरे लाल रंग से बनाये गये हैं कहीं काले रंग से। मानवीय शरीर गहरे लाल रंग से खचित हैं जिनकी बाह्य रेखाएं काले रंग से चित्रित हैं। आँखों में सफेद तथा बालों के लिए काले रंग का प्रयोग किया गया है। सिर की बाँयी ओर बालों को जूड़े की तरह बाँधा गया है। हाथी, घोड़े, पक्षी, वृक्ष आदि भी मानवीय आकारों की भांति लाल रंग से अंकित किये गये हैं। ये चित्र तत्कालीन सामाजिक जीवन पर यथेष्ट रूप से प्रकाश डालते हैं। अंकन-पद्धति एवं विषयों की विभिन्नता दर्शनीय हैं। एक स्थान पर वृक्ष तले बैठा हुआ पुरुष चित्रित है और बायीं ओर नृत्यरत कन्याओं एवं वादकों का दल है। इधर दायीं ओर से हाथियों का जुलूस जारहा है। एक अन्य दृश्य में एक पुरुष बैठा हुआ, उसके समीप वस्त्रावृत तीन पुरुष द्वारपाल की तरह खड़े हैं। इसी तरह द्वारपाल सहित दो और पुरुष चित्रित हैं। नीचे के भाग में चैत्याकार घर हैं जिसमें खिड़की स्पष्ट है। इनके सम्मुख एक हाथी एवं तीन वस्त्रावृत पुरुष खड़े हैं। इनके समीप ही तीन अश्व जुते हुए रथ दिखाया गया है जिस पर छत्र लगा हुआ है। भित्ति चित्र अनेक वृत्ताकारों में तथा लाल पीले

रंगों से ज्यामिति आकारों में भी बने हुए हैं। कहीं कहीं मछली तथा मकर कई बार चित्रित हैं। इन चित्र-समूह में एक बात ध्यान देने योग्य है कि पुराने चित्रों के ऊपर बाद में बनाये गये हुए चित्र भी मिलते है। डा० हीरालाल ने इन भित्ति-चित्रों को बौद्ध धर्म से संबधित बताया है जब कि राय कृष्ण दास की सम्मति में ये जैन धर्म से संबंधित हैं जिन्हें कलिंग नरेश खारवेल ने खिचवाया था।

जोगीमारा की यह गुफा कवि-कुल-गुरु कालिदास की रचनाओं से भी संबंधित कही जाती है। उनके मेघदूत का यक्ष इसी जोगीमारा की गुफा में निर्वासित था जहाँ से उसने अपनी प्रिया को मेघ को दूत बनाकर अपने प्रेम और विरह-यातना का सदेश भेजा था। यहीं के अप्रतिम प्राकृतिक बनसौन्दर्य एवं जलकुंड का वर्णन कालिदास ने अपने मेघदूत में किया है। 'पूर्व मेघ' में रामगिरि से अलकापुरी तक के उस मार्ग का वर्णन है जिस पर से मेघ को यात्रा करना है। मेघ जब दूत बन कर यक्ष के बताये मार्ग पर चलता है तब उसे आम्रकूट का यही स्थान मिलता है।

त्वामासार प्रशमित व नोपप्लवं साधु मूर्ध्ना।
वक्ष्यत्यध्वश्रम परिगतं सानुमानाम्रकूटः ॥

यह आम्रकूट आजकल अमरकंटक के नाम से प्रसिद्ध है जो रामगढ़ से ठीक पश्चिम-उत्तर उज्जैन के मार्ग पर है तथा विन्ध्याचल पर्वत के ईशान कोण पर स्थित है।

इस पहाड़ी पर और जो दर्शनीय स्थल हैं उनमें कबीर चौरा, वशिष्ठ गुफा, लक्ष्मण बोंगरा एवं कुछ भग्न मंदिरें मुख्य हैं।

पहाड़ पर चढ़ते चढ़ते एक प्राचीन किले का द्वार मिलता है जो दो बड़े शिलाखंडों का बना हुआ है तथा जिस पर चित्रकारी भी की गई है जो "पौरी डेवढ़ी" कहलाता है। अनेक सीढ़ियों से यहाँ से और ऊपर चढ़ने पर 'कबीर चौरा' मिलता है जो रामगढ़ के अंतिम जोगी धरमदास का कहा जाता है। यहाँ से आगे बढ़ने पर 'वशिष्ठ गुफा' मिलती है जहाँ वशिष्ठ मुनि तपस्या करते थे। यहाँ से 'सिंहद्वार' तक पहुंचने के लिए सीढ़ियाँ बनी हुई है। सिंहद्वार पर लगे विशाल शिलाखंडों को देखकर विस्मित होना पड़ता है। इस प्रवेश द्वार के अंदर भैरवजी की मूर्ति स्थापित है जिनका मुह बायी ओर है। इसके पश्चात् गणेश सीढ़ियाँ प्रारंभ हो जाती हैं जो 'रावण दरबार' तक पहुंचती हैं। रावण दरबार में रावण और उसके भाई कुंभकर्ण तथा नर्तकियों की मूर्तियाँ हैं। यहाँ से एक संकीर्ण मार्ग द्वारा ऊपर पहाड़ पर पहुंचा जाता

है जहां एक मंदिर है। मंदिर में श्रीराम, सीताजी तथा लक्ष्मण जी की मूर्तियाँ है जिन्हें उनका वनवासी रूप समझना चाहिए। मंदिर के बाहरी भाग में शिवजी और हनुमानजी की मूर्तियाँ हैं।

पहाड़ के ऊपरी भाग में तीन मंदिर भग्नावस्था में हैं। पहला मंदिर वरुण देव का कहा जाता है। वरुण देव का ध्यान करती हुई शृंगार-सज्जित एक देवांगना, गुरु की मूर्ति के सम्मुख विनीत भाव से करबद्ध बैठी है। दूसरा मंदिर प्रायः नष्ट हो चुका है। यहाँ महाकाली, गणेश, तथा अन्य कई देवियों की भग्न मूर्तियाँ है। तीसरे मंदिर का निर्माण किले के अंतिम भाग पर पत्थरों से किया गया है। मंदिर के अनेक पत्थरों पर तोरण, कलश, देवी-देवताओं की मूर्तियाँ, कमल आदि अनेक वस्तुएं उत्कीर्ण हैं। इस मंदिर में ऐसी अनेक मूर्तियाँ भी हैं जो अन्य मंदिरों से, संभवतः उनके नष्ट हो जाने पर यहाँ लाकर स्थापित कर दी गई है। एक मूर्ति ऐसी है जिसके सिर पर शेष नाग छाया कर रहे हैं तथा हाथ में गदा है। दूसरी मूर्ति विष्णुजी की है। इनके आसपास ध्यानमग्न अप्सराओं की मूर्तियाँ हैं। यहाँ भी श्रीराम सीता की मूर्तियाँ हैं और उनके चरणों के समीप श्री हनुमान हाथ जोड़े खड़े हैं। महा-महोपाध्याय मिराशी के अनुसार ये मूर्तियाँ रचना, अलंकार आदि की दृष्टि से मध्य युग की जान पड़ती हैं। इनमें शिल्पी ने रामगढ़-क्षेत्र के आदिवासियों के चेहरे मोहरे की नकल की है।

इसी पहाड़ी पर अन्य अनेक छोटी छोटी गुफाएं भी हैं जहां ऋषि मुनि तपस्या किया करते थे। इन्हीं गुफाओं में से एक बड़ी गुफा 'लक्ष्मण बोंगरा' के नाम से प्रसिद्ध है। यह पर्वत के दक्षिणी भाग में है। कहा जाता है कि रामवनवास की अवधि में लक्ष्मण जी यहाँ रह कर श्री राम सीता की रखवाली किया करते थे। गुफा के भीतर उनके विश्राम के लिए एक चट्टान कटी हुई है। इस स्थान के सम्मुख का दृश्य अत्यन्त मनोरम है।

यही है रामगढ़ की ऐतिहासिक भूमि जो धार्मिक विश्वासों को अपने में संजोई हुई है। प्रति वर्ष रामनवमी के शुभ अवसर पर यहाँ एक बड़ा मेला भरता है जहाँ भक्ति भावना से प्रेरित होकर हजारों नर-नारी एकत्र होते हैं तथा सीता कुंड के पवित्र जल का पान कर, मंदिरों के निकट पूजा-आर्चा कर अपने को धन्य मानते हैं।

मानपूरा ग्राम के उत्तर-पूर्व दिशा मे एक पहाड़ी पर 'जूबा' किले के भग्नावशेष हैं। यह गहरे और घोर वन प्रदेश से ढंका हुआ है। यहाँ भी अनेक मंदिरों के खंडहर हैं जिनमें खुदाव की कारीगरी पाई जाती है।

११ उदयपुर-धर्मजयगढ़

उदयपुर[1] रियासत पहले बंगाल की छोटा नागपुर वाली रियासतों में सम्मिलित थी। पश्चात् सन् १९०५ में वह मध्यप्रदेश में स्थानान्तरित कर दी गई। उसका क्षेत्र फल १०५२ वर्गमील था। उसकी सीमा इस प्रकार थी—उत्तर में सरगुजा, पूर्व में जसपुर और रायगढ़, दक्षिण में रायगढ़ और पश्चिम में बिलासपुर जिला।

सन् १९४ ई० में जब एक अर्कसेल राजपूत वंश ने आक्रमण कर सरगुजा को अपने आधीन कर लिया था तभी से उदयपुर रियासत सरगुजा राजवंश की एक आधीनस्थ जागीरदारी बन गयी थी। सरगुजा के शेष विभागों के साथ ही साथ वह सन् १८१८ में नागपुर के भोंसले राजा मुधोजी से की गई संधि के अंतर्गत अंग्रेज सरकार के अधिकार में आ गई थी। इस हस्तान्तरण के समय उदयपुर का तत्कालीन जागीरदार कल्याणसिंह सरगुजा के मार्फत अंग्रेज सरकार को टकौली देने लगा। सन् १८५२ में उदयपुर का जागीरदार अपने दो भाईयों सहित मनुष्य की हत्या के अपराध में दण्डित होकर जेल की सजा भोगने लगा और उदयपुर की जागीर अंग्रेजी सरकार के अधिकार में आ गई।

पुरातत्व : इस रियासत में पुरातत्व संबंधी महत्वपूर्ण अवशेष अभी तक प्राप्त नहीं हुए हैं।

१– गजेटियर तथा आरखंड-झंकार के आधार पर

१२ चांग भखार

चाँगभखार[1] रियासत का क्षेत्रफल ६०४ वर्गमील था। सन् १६०५ तक यह भी बंगाल में छोटा नागपुर की रियासतों में शामिल थी। उस समय इसकी सीमा इस प्रकार थी—उत्तर, पश्चिम और दक्षिण में यह रीवां रियासत से घिरी हुई थी जब कि पूर्व में कोरिया रियासत ने घेर रक्खा था जिसके आधीनस्थ होकर शुरू में यहां का राजा राजशासन करता रहा।

चांगभखार के शासक कोरिया-राजवंशी हैं। सन् १८१६ में जब कोरिया अंग्रेज सरकार के आधीनस्थ हुआ तब चांग भखार की उपयुक्त स्थिति स्वीकार कर ली गई पर सन् १८४८ में यह रियासत कोरिया से सर्वथा अलग कर दी गई। उसी समय से यहाँ के शासक जो 'भैया' कहलाते थे, इस प्रकार हुए १ मानसिंह, २ जनजीत सिंह, ३ बलभद्रसिंह और ४ महाबीर सिंह। महाबीर सिंह जी ने सन् १६०० में राजगद्दी प्राप्त की। सन् १६३२ में इनका देहांत हो गया पर इसके पहले युवराज के निधन हो जाने के कारण इन्होंने श्रीकृष्णप्रताप सिंह देव को गोद ले लिया था, और ये ही इनके बाद राजा हुए।

पुरातत्व—ग्राम गोगरा में एक गुफा है जिसकी स्थिति दौना नदी के तट पर है और जो सीतामढ़ी के नाम से प्रसिद्ध है। यहीं पत्थर के दो शिवलिंग हैं। इसी प्रकार की सीतामढ़ियां कंजिया और छितदौना के जंगलों में भी हैं। सन् १८७०-७१ में मवई नाले के तट पर हरचौका ग्राम में चट्टानों के खोदने से मंदिर और मठों के विस्तृत अवशेष पाये गये हैं। यहां कई स्तम्भों पर लेख उत्कीर्ण हैं जिनमें से दो लेख कलचुरि कालीन तथा एक लेख चौहान क्षत्रिय के जान पड़ते हैं। इनसे यह प्रमाणित होता है कि यह आरण्य प्रदेश किसी समय अपनी सभ्य-संस्कृति का जनपद रहा होगा।

१— गजेटियर तथा झारखंड झंकार नाम की पुस्तक एवं चांगभखार के राजा भैया बहादुर कृष्ण प्रताप सिंह देव द्वारा दी गई सूचनाओं के आधार पर।

१३ कोरिया

पहले कोरिया[1] रियासत भी अन्य रियासतों के सदृश छोटा नागपुर की अन्य रियासतों में सम्मिलित थी और उसे भी बंगाल प्रान्त के अंतर्गत रक्खा गया था। उसका क्षेत्रफल १६३१ वर्गमील था। उसकी सीमा इस प्रकार थी—उत्तर में रींवा रियासत, दक्षिण में बिलासपुर जिला, पूर्व में सरगजा रियासत और पश्चिम में चांगमखार और रींवा रियासत का भाग।

पूर्वकाल में कोरिया राज्य एक कोल प्रधान के आधीन था। उसकी राजधानी चिरमिरी (अब रेलवे स्टेशन) के पश्चिम ६ मील दूर कोरियागढ़ पहाड़ी पर स्थित थी। इस पहाड़ी पर अभी भी तालाब तथा जलविहीन कुएं मौजूद हैं तथा गढ़े हुए पत्थरों के ढेर यत्र तत्र बिखरे दिखाई देते हैं जिनसे यह प्रमाणित होता है कि पूर्वकाल में यह विस्तृत निवास स्थान रहा होगा। लगभग १८०० वर्ष पहले यहाँ एक कोलवंशीय राजा था। उसे राज्य-च्युत किया एक चौहान क्षत्री धारामल्लशाह ने जब वह अपने साथियों सहित जगन्नाथपुरी की यात्रा करके लौट रहा था। कोल राजा उसके आधीन हो गया। चौहान राजा ने कोरिया पहाड़ी पर अपनी राजधानी रखना उचित नहीं समझा। उसने इसके लिए नगर नामक गाँव को सुविधाजनक समझा और उसे ही अपनी राजधानी बना ली। तत्पश्चात् उसे वह स्थान भी नहीं भाया और फिर वह अपनी राजधानी सोनहट नामक गाँव में ले आया। लेकिन उसे वहाँ भी अच्छा नहीं लगा और अंत में बैकुंठपुर में उसने अपनी राजधानी स्थापित की। फिर यह मराठा राज्य के अंतर्गत आ गया। सन् १८१८ में अप्पासाहब भोंसले ने संधि की शर्तों के अनुसार इसे अंग्रेजों के अधिकार में दे दिया।

पुरातत्व : कोरिया[2] राज्य में पुरातत्व के कोई अवशेष प्राप्त नहीं हुए हैं पर कोरिया गढ़, पोंड़ी तथा कुछ अन्य स्थलों के पत्थरों के ढूह, तालाब तथा अन्य चिन्ह इस बात को प्रमाणित करते हैं कि यहां के प्राचीन निवासी सभ्य और सुसंस्कृत अवश्यमेव रहे होंगे।

१– इम्पीरियल गजेटियर, पृष्ठ ४१

२– एटकीसन का इतिहास, जिल्द ८, पृष्ठ ५२६

१४ जसपुर

जसपुर[1] रियासत का क्षेत्रफल १९४८ वर्गमील था । सन् १९०५ तक वह बंगाल प्रांत के अंतर्गत छोटानागपुर की रियासतों में सम्मिलित थी। उसकी सीमा इस प्रकार थी—उत्तर और पश्चिम में सरगुजा रियासत, पूर्व में रांची जिला और दक्षिण में गाँगपुर, उदयपुर और रायगढ़ की रियासतें ।

जसपुर का प्रारंभिक इतिहास अंधकारमय है । कहते हैं कि पहले यह डोमों के आधीन था । उसके अंतिम अधिकारी रायभान को जसपुर के अंतिम राजा के पूर्व पुरुष सुजानराय ने मार भगाया । सुजानराय सोनपुर के राजपूत राजा का ज्येष्ठ पुत्र था । ये राजपूताना के बांसवाड़ा नामक स्थान से आये थे और अपने को सूर्यवंशी घोषित करते थे । पिता की मृत्यु के समय सुजान-राय आखेट के लिए गया हुआ था । फलत: उसका छोटा भाई राजसिंहासन पर बिठा दिया गया । सुजानराय के वापस आने पर छोटे भाई ने अपने बड़े भाई के लिए राजसिंहासन छोड़ना चाहा पर सुजानराय इससे सहमत नहीं हुआ । उसने सन्यास ग्रहण कर लिया और भ्रमण के हेतु निकल पड़ा । इस भ्रमण के बीच जब वह खुरिया पहुंचा तब उसे ज्ञात हुआ कि वहाँ की प्रजा डोम राजा को गद्दी से उतारना चाहती है । तब सुजानराय ने इस अवसर का लाभ उठाना चाहा और असंतुष्ट प्रजा का नेता बन कर डोम राजा की हत्या कर दी और स्वयं वहाँ का राजा बन बैठा । पश्चात यह नागपुर के भोंसलाराजा का जागीरदार बन गया और इक्कीस पंड़वा (भैंस का बच्चा) उसकी वार्षिक टकोली निश्चित की गई ।

सन् १८१८ में यह जागीर भी सरगुजा रियासत के अन्य जागीरों के समान, मुधोजी भोंसला द्वारा की गई संधि के अंतर्गत अंग्रेज सरकार के आधीनस्थ हो गयी ।

पुरातत्व : रियासत में पुरातत्व के अवशेष स्वरूप एक मंदिर मात्र था जिसमें खुरिया रानी देवी की मूर्ति स्थापित थी । कोरवाँ अपने को इसी

१– रघुवीर प्रसाद कृत झारखंड झंकार के आधार पर

रानी के वंशज मानते हैं। मंदिर का निर्माण एक चट्टान पर हुआ है और मूर्ति बौद्ध की मूर्ति के सदृश दिखाई देती है तथा मंदिर का आकार प्रकार भी बौद्ध कालीन जान पड़ता है। यद्यपि मूर्ति को देवी कहते हैं पर उसका स्वरूप पुरुष मूर्ति के सदृश्य है। स्पष्टतः यह बुद्ध भगवान की मूर्ति है। यह मंदिर भी सन्ना के पास ऐसे स्थान में बना हुआ है जहाँ आवागमन का मार्ग बड़ा कठिन है।

जमीन्दारियां

१ उपरोड़ा—क्षेत्रफल ४४८ वर्गमील, ग्राम संख्या ८६, जमींदार का पद दीवान। पेंडरा जमींदार हिन्दूसिंह के दो पुत्र थे, १—पूरनमल, २—चूरामन-मल। चूरामन मल के पुत्र हिम्मतराय ने उपरोड़ा चौरासी पर आक्रमण कर उसके ब्राह्मण अधिकारी का सिर काट कर उस पर अपना अधिकार जमा लिया। कहा जाता है कि वह ब्राह्मण अधिकारी बड़ा अत्याचारी था। इस अपराध पर हिम्मतराय को रतनपुर नरेश द्वारा कारागृह भेज दिया गया। हिम्मतराय का एक नौकर मोहरिया गांड़ा था। वह बहुत बढ़िया मोहरी (शहनाई) बजाता था। वह अपने स्वामी को छुड़ाने का अवसर ढूंढता रहा। एक दिन उसने रतनपुर नरेश के महल के नीचे ऐसी मधुरता और मोहक ढंग से मोहरी बजाई कि राजा बड़ा प्रसन्न हो गया और उसकी प्रार्थना पर हिम्मतराय को मुक्त कर दिया तथा साथ ही उसे उपरोड़ा चौरासी का जमींदार भी नियुक्त कर दिया। यह घटना सं० १६४१ अर्थात् सन् १५८४ की कही जाती है। मराठा राज्य के अंतर्गत आने के समय जमींदारी अजमेर-सिंह और शिवसिंह के अधिकार में थी। पहले मराठों ने इसकी वार्षिक टकौली १२००) बांधी थी जो अर्ज मारूज करने पर घटा कर ४८०)कर दी गई।[1]

२ केंदा: क्षेत्रफल २९९ वर्गमील, ग्राम संख्या ९२, जमींदार का पद ठाकुर।

कहते हैं—एक बार रात्रि के समय रतनपुर नरेश की सेना रीवां के विरुद्ध कूच कर रही थी। रास्ते में मशालें बुझ गईं। घोर अंधकार, फिर घना जंगल और पहाड़ी प्रदेश। सैनिकों को एक पग भी चलना कठिन हो गया। तब प्रसिद्ध बीर जसकरन ने जो पेंडरा जमींदार हिन्दूसिंह का पुत्र था अपने हाथों से तिली को मसलकर तेल निकाला, तब कहीं मसालें जल पाईं। रतनपुर नरेश के कानों में जब यह बात पहुंची तब वह बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने उसे केंदा जमींदारी पुरस्कार में दे दी। इस संबंध में एक दूसरी बात और प्रसिद्ध है। वह यह कि पेंडरा जमींदार हिन्दू सिंह के घराने की तीसरी पीढ़ी

१– टेम्पल की रिपोर्ट, पृष्ठ ४६

में जो जमींदार हुआ उसके दो पुत्र थे। उनमें से छोटे पुत्र संवतसिंह को रतनपुर नरेश तखतसिंह ने सं० १६६१ वि० में केंदा जमीदारी दी थी। शायद यह पिछली बात ही ठीक हो। यह जमींदारी संबतसिंह के वशजों के अधिकार से कभी नहीं निकली। अरपानदी में जितनी घाटियाँ हैं इस जमीन्दारी के अंतर्गत हैं। केंदा गाँव बेलहना स्टेशन से आठ मील दूर कोमोघाट के नीचे सुंदर स्थान पर बसा हुआ है। मराठों द्वारा बाँधी गई वार्षिक टकौली ४२७)।

३ **कोरबा** :—क्षेत्रफल ८५६ वर्गमील, ग्राम संख्या ३४१ जमींदार का पद दीवान।

यह जमींदारी जिले की सबसे बड़ी जमींदारी थी। यह बहुत पीछे रतनपुर राज्य में मिलाई गई थी।[1] चीजम साहब ने इसके संबंध में लिखा है कि रतनपुर के राजा बाहारसाय ने इसे सन् १५२० के लगभग सरगुजा नरेश से छीन लिया था। उसी समय इसने कोसगई-छुरी में पठानों को हराया था। रतनपुर से दूर रहने के कारण इसके जमींदार कुछ स्वतंत्र से थे। मराठों को इन्होंने खूब तंग किया था। एक बार बिम्बाजी ने टकौली न पटने के कारण जमींदारी जब्त कर ली थी पर इनके कर्मचारी कोरबा से शीघ्र भगा दिये गये। पश्चात् २०००) की भेंट पाने पर बिम्बाजी मान गये और जमींदारी भरत सिंह को वापस कर दी। यहाँ लोहा और कोयला की खदानें हैं। जमींदारी में जंगल भी बहुत है। कुदुरमाल में माघपूर्णिमा को मेला प्रति वर्ष लगा करता है जहाँ कबीर पंथियों के गुरु रहते हैं। श्रीमती धनराजकुंवर यहां की अंतिम जमींदारिन हैं

४ **कंतेली** : क्षेत्रफल २५ वर्गमील, ग्राम संख्या ४४, जमीदार का पद ठाकुर।

इस जमींदारी की स्थिति मैदानी भाग में थी। इसके जमींदारों के पूर्वज पहले मुंगेली जमींदारी के जमीन्दार थे। सन् १७६८ के लगभग नागपुर के भोंसला राजा रघुजी प्रथम के भाई नानाजी जगन्नाथपुरी जाते हुए मुंगली आये। यहाँ उनके एक साथी ने जमींदार के भाई का घोड़ा छीन लेना चाहा। इस पर झगड़ा हो गया। बात बहुत बढ़ गई। फल यह हुआ कि जमीदार फतहसिंह को गिरफ्तार कर लिया गया और विचार के लिए राजधानी रतनपुर भेज दिया गया। इस पर सूबा केशवपंत ने उसे तोप से उड़वा दिया और सारी जमीदारी जब्त कर ली। किंतु बाद में उसके परिवार को गुजरबसर के लिए मदनपुर तालुका दे दिया

१– इलियट की रिपोर्ट सन् १८५५

गया। पश्चात् लोरमी तालुका भी परिवार को प्राप्त हो गया। इसके पश्चात् तत्कालीन जमीदार संतोषसिंह ने लोरमी से आकर मुंगेली को घेर लिया। उस समय अंग्रेजों का अधिकार हो चला था। इन्होंने जमींदार संतोषसिंह को बंदीगृह में डाल दिया जहाँ उसका स्वर्गवास हो गया। पीछे केवल मदनपुर (कंतेली) जमीदारी सतोषसिह के परिवार को दी गई। यह जमींदारी वास्तव में मुंगेली जमींदारी का एक भाग थी जो रतनपुर नरेश कल्याण साय द्वारा इसके अंतिम जमीदार पुखराजसिंह के एक पूर्वज तरवरसिंह को दिया गया था।[1]

५ चाँपाः—क्षेत्रफल १०५ वर्गमील, ग्राम संख्या ६४ जमीदार का पद दीवान।

यह जमीन्दारी बिलासपुर जिले के पूर्व भाग में हसदोनदी के दोनों तट पर फैली हुई थी। इसे इसके पूर्व पुरुष रामसिंह को रतनपुर-नरेश बाहारसाय ने प्रदान किया था।[2] कहते हैं—यह जमींदारी अंतिम जमींदार के अधिकार में १७ पीढ़ी से थी। इसका नाम पहले मदनपुर चौरासी था। इसके खंडहर हसदो नदी के तट पर अभी भी मौजूद हैं।

इस जमीन्दारी का विस्तार पहले अधिक था जो मराठों के राजत्वकाल में कम हो गया। कैसे कम हो गया—इसकी कहानी इस प्रकार है—रतनपुर के भोंसला राजा बिम्बाजी का मुहम्मद खां तारान नामक एक खासगी सरदार था। यह २०० घुड़सवार और ५०० पैदल सैनिकों का अधिकारी था। इसकी निष्ठा से प्रसन्न हो राजा ने इसे अकलतरा, लवन, किकरदा, खरौद और मदनपुर ये पाँच परगने इनाम में दे दिये। मुहम्मदखां इनाम में पाये हुए परगनों पर अधिकार जमाने के लिए अपने सिपाहियों सहित जाँजगीर जा पहुंचा। जाँजगीर मदनपुर परगना के अंतर्गत था। मदनपुर के जमींदार छत्रसाल को जब यह खबर लगी तो वह अपने दोनों पुत्र सहित मुहम्मदखां के पास दौड़े आया और पूछने लगा कि किन अपराधों के कारण मेरी जमीन्दारी छीनी गई। खां ने उत्तर दिया मुझे ये सब बातें नहीं मालूम, आप राजा साहब से पूछिये। छत्रसाल राजा बिम्बाजी के पास पहुंचा, उत्तर मिला परगने तो मुहम्मद खां को दे दिये गये हैं, इसलिए अब वही इसका फैसला करेगा। तब मुहम्मद खां ने सारे अच्छे अच्छे गाँव अपने लिए रख लिये और हसदो तट के २६ रद्दी गाँव छत्रसाल को

१— बिलासपुर गजेटियर से

२— इतिहास समुच्चय (प्राचीन अप्रकाशित ग्रन्थ) ले० शिवदत्त शास्त्री तथा चीजम की सेटलमेंट रिपोर्ट, कंडिका २८३

दे दिये। उसी समय मुहम्मदखां ने मदनपुर चौरासी के उमरेली और कोठारी नामक दो 'बरहों' भी कोरबा जमींदार को दे दिये। यह लगभग सन् १७८० की बात है।

इस कथा की सत्यता में बहुत कम संदेह है। मराठा राज्य को इस जमीन्दारी से २०००) वार्षिक टकौली मिलती थी।[1]

६ छुरी: रकबा ३३६ वर्गमील, ग्राम संख्या १४३, जमींदार का पद प्रधान।

यह जमींदारी 'कंवरान' के नाम से भी प्रसिद्ध थी क्योंकि यहां कंवरों की संख्या बहुत अधिक है। छुरी खास से ५ मील दूर कोसगंई नामक पहाड़ी है जहां धामधुरूवा नामक एक डाकू रहता था। उसे रत्नपुर के राजा के एक पहरेदार ने मार डाला और यह जमींदारी पुरस्कार रूप उसे मिल गई। तब से यह उसी वंश के अधिकार में थी। कोसगंई पहाड़ी पर जो किला है, कहते हैं उसे रत्नपुर नरेश बाहारसाय ने सोलहवीं ई० शताब्दी में बनवाया था पर कुछ लोग कहते हैं कि बाहारसाय से पूर्व काल का यह किला है जिसका जीर्णोद्धार बाहार साय ने किया था। यहाँ बाहारसाय के दो शिलालेख भी मिले हैं जिनमें से एक में कोई तिथि नहीं पड़ी है, दूसरे में आश्विन बदी १३ सं० १५७० विक्रम खुदा हुआ है। इस प्रशस्ति से पता लगता है कि राजा बाहारसाय ने कोसगई किले में अपना कोशागार सुरक्षित रक्खा था जहाँ धन धान्य का विशाल संग्रह था। प्रधान भुवनपालसिंह इसके अंतिम जमींदार थे। सन् १७४१ में तत्कालीन जमीन्दार राघोसिंह को, जब वह रतनपुर किले का बचाव कर रहा था, मराठों ने मार डाला था। मराठों को इस जमीन्दारी से ८००)वार्षिक टकौली मिला करती थी जो सन् १७६७ में १२००) कर दी गई।[2]

७ मातिन: क्षेत्रफल ५४४ वर्गमील, ग्राम संख्या १०६ जमींदार का पद दीवान।

यह दूसरी जमींदारी थी जिसका संबंध पेंडरा के जमींदार परिवार से था। इस जमींदारी के पुराने अधिकारी जाति के राज गोंड़ थे जिनके वंशज अभी भी सिरी नामक गाँव में हैं। इस राजगोंड़ परिवार का कथन था कि हम यहाँ २२ पीढ़ियों से निवास कर रहे हैं। जब उनकी चौरासी छिन गई थी तब भी उनके पास बारह गाँवों का एक "बरहो" था। संबत १६६६ वि० में उपरोड़ा जमींदार हिम्मतराय के छोटे पुत्र कल्याणसिंह ने मातिन जमींदारी पर जबरदस्ती अपना

१– टेम्पल की रिपोर्ट, पृष्ठ १४७

२– टेम्पल की रिपोर्ट, पृष्ठ ४६

अधिकार कर लिया, तब सिरी के तारफाना गोंड़ ने शीघ्र ही उसे मार कर बदला चुकाया। पर रत्नपुर के राजा राजसिंह ने कल्याणसिंह को ही वहाँ का अधिकारी करार दिया और तब से यह उसी वंश के अधिकार में है।[1] मराठों के अधिकार में आने पर इसकी वार्षिक टकौली ७००) बाँधी गई।

सन् १७९५ में कप्तान ब्लंट चुनारगढ़ से राजमहेंद्री की यात्रा करते समय इस जमींदारी के बीच होकर गया था। उसने अपनी डायरी में इसके विषय में यों लिखा है :—[2]

"पश्चिमी बाजू पर कुछ ऊंची पहाड़ियों की श्रेणियों को छोड़ते हुए आज हम पोंड़ी ग्राम पहुंचे। यहाँ का कंवर अधिपति मुझ से मिलने आया यों कहा जाय कि एक "गोरा" को कौतुहलवश देखने आया। संग में उसके पुत्र और पौत्र भी थे। बड़े हट्टे कट्टे और डीलडौल के थे। फिर भी इस संबंध में अन्य गोड़ों के साथ इनकी समता नहीं हो सकती। हम दोनों एक दूसरे को घूरते रहे। हम लोग एक दूसरे की भाषा से अनजान थे। इतने में एक "बैरागी फकीर" आया। यह सदा बन पहाड़ों में घूमा करता था। इसने दुभाषिये का काम किया। इस अधिपति के साथ वार्तालाप के बीच मालूम हुआ कि इन पहाड़ों में सात छोटे छोटे इलाके हैं, जिन्हें चौरासी कहते हैं। पर ये नाम मात्र के चौरासी हैं। वास्तव में इनमें पंद्रह से अधिक गाँव नहीं हैं। ये सब मातिन परगना के भीतर हैं और मराठों को कर देते हैं। कर के रूप में बहुत ज्यादा अन्न वसूल किया जाता है। यदि 'कर' बराबर नहीं अदा होता तो मराठे बड़ी लूटपाट मचाते हैं। मैंने पूछा-क्या यहाँ पर कंवर या किसी जाति का स्वतंत्र राज्य कभी नहीं था ? उत्तर मिला—यह भाग पहले बघेलखंड-रींवा राजा के आधीन था। पर अनुमान तीस वर्ष हुए मराठों ने उसे भगा दिया। इस झगड़े में यह क्षेत्र और अधिक गरीब तथा वीरान हो गया। वार्तालाप से मैं कुछ अधिक लाभ नहीं उठा सका क्योंकि दुभाषिये को कंवर भाषा का बहुत कम ज्ञान था। अंत में वृद्ध अधिपति ने जिसका ध्यान मेरे रामनगर—मोढ़े की ओर अधिक था, उसकी बनावट के विषय में पूछताछ की और चला गया। दोपहर से एक घंटा पहले हम लोग मातिन पहुंचे और तातो नदी के तट पर डेरा लगाया। वहाँ से एक मील उत्तर एक बहुत ही मनोहर पहाड़ी थी जिसे कंवर लोग मातिन देवी कहते हैं। मैंने अपनी दूरबीन से देखा तो उसकी चोटी पर पताका फहराते पाया। पूछने

१— टेम्पल की रिपोर्ट पृष्ठ १४७

२— अर्ली योरोपियन ट्रेवलर्स इन दी नागपुर टेरीटरीज

पर मालूम हुआ कि वह हिन्दू देवी भवानी का स्थान है । होली के दिन थे, पहाड़ी लोग गाकर और नाच कर बड़े गंवारू ढंग से त्यौहार मना रहे थे। बाजा जो वे बजा रहे थे, उसे एक किस्म का आप नगाड़ा समझिये। यह मिट्टी के बर्तन पर चमड़ा माढ़ कर बनाया गया था। वे इस बात को नहीं जानते थे कि इस त्यौहार की उत्पत्ति कब से हुई और इसका मतलब क्या है ? इस बात को बताने वाला उनमें कोई ब्राह्मण भी नहीं था। मेरी समझ में तो वे निम्न श्रेणी के हिंदू थे। मैं उनकी निरक्षरता और विचित्र बोली के कारण उनके इतिहास, रहन-सहन तथा धर्म के विषय में कुछ पता न लगा सका।

८ पेंडरा : क्षेत्रफल ७७४ वर्गमील, ग्राम संख्या २२५, जमींदार की पदवी 'लाल'।

रत्नपुर नरेश के आश्रय में हिन्दूसिंह और छिन्दूसिह नामक दो भाई रहते थे। इन्होंने एक दिन रास्ते के किनारे एक बोरा भर द्रव्य पड़े पाया जिसे वे राजा को दे आये। राजा इनकी इस ईमानदारी से प्रसन्न हो गया और इन्हें पेंडरा जमीन्दारी इनाम में दे दी। यह जमीन्दारी इनके घराने में १२ पुश्तों से चली आई थी।[1]

प्राचीन समय में हिन्दूसिंह से बहुत पहले इस अंचल में आर्यों का निवास था जैसा कि धनपुर के खण्डहरों तथा अवशेषों से प्रमाणित होता है। ये अभी भी इसके प्राचीन गौरव का स्मरण दिला रहे हैं। हिन्दूसिंह तो इनके सैकड़ों वर्ष पश्चात् हुआ होगा। पंडरीवन अर्थात पेंडरा से हिन्दूसिंह के वंश की बड़ी बढ़ती हुई और १०० वर्ष की भीतर इसके वंशज केंदा, उपरोड़ा, और मातिन के अधिकारी बन बैठे। मराठों के समय में भी ये अपनी जमीन्दारियों का उपभोग करते रहे पर सन् १७६८ में पेंडरा जमीन्दार पृथ्वीसिंह पर मराठों की कोप-दृष्टि पड़ी। रत्नपुर के सूबा ने उसे राजधानी में बुला भेजा परंतु वह नवागढ़ और मुंगली के जमीन्दारों की दुर्दशा का हाल सुन चुका था, इसलिए नहीं गया। इस पर केशवगोविंद पंत सूबा ने जमीन्दारी जब्त करली और पृथ्वी सिंह को तीर्थ यात्रा के बहाने भाग जाना पड़ा। मराठों ने इस पर यह जमीन्दारी एक गोंड़ को दे दी। परंतु सन् १८०४ में सोहागपुर के जमींदार ने पेंडरा पर चढ़ाई कर दी और गांव में आग लगा दिया। तब भोंसला तोपखाना के जमादार धनसिंह ने शत्रुओं को बड़ी वीरता के साथ लड़ कर मार भगाया और इनाम में जमींदारी प्राप्त कर ली। आगे चल कर सन् १८१८ में जब कर्नल एग्न्यू

१– टेम्पल की रिपोर्ट, पृष्ठ ४५

छत्तीसगढ़ के सुप्रेन्टेंडेंट होकर आया तब उसने उसके पुराने अधिकारी के वंशज अजीतसिंह को जमीन्दारी सौंप दी और वार्षिक टकौली १४००) बाँध दी।

६ पंडरिया : रकबा ४८७ वर्गमील, ग्राम संख्या ३५६, जमींदार का पद ठाकुर।

पहले इसका सदर मुकाम कामठी नामक गाँव में था जो इस समय जंगल के बीच है। वहाँ प्राचीन बस्ती के चिन्ह अभी भी दृष्टिगोचर होते हैं। पंडरिया जमीन्दारी की पूर्वी सीमा पर सेतगंगा नामक एक गाँव है। यहाँ एक अच्छा सा मंदिर है। कहते हैं कि यह मंदिर उपर्युक्त कामठी गाँव के सुंदर पत्थरों से निर्मित किया गया था। इस जिले में पंडरिया ही ऐसी जमीन्दारी थी जो हैहयवंशी राजाओं के "चौरासी" के रूप में कभी नहीं रही। ३६ गढ़ों में इसका नाम नहीं आता। कहते हैं कि पहले एक लोधी जमींदार गढ़ा मंडला के राजा की आधीनता में इसका उपभोग करता था। पर सन् १५४६ में उसने अपने राजा के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। अंत में उसे शामसिंह जो पंडरिया के अंतिम जमीन्दार के पूर्वज थे, से पराजित होना पड़ा। पुरस्कार में शामसिंह को पंडरिया जमींदारी प्राप्त हो गई। पंडरिया जमींदारी उस समय मुकुतपुर प्रतापगढ़ के नाम से प्रसिद्ध थी। दलसाय, जो शामसिंह के बाद उसकी सातवीं पीढ़ी में हुआ, के दो पुत्र थे। एक पृथ्वीसिंह दूसरा महाबलीसिंह। महाबली को सन् १७६० के लगभग कंवर्धा का राज्य प्राप्त हुआ। कहते हैं कि पंडरिया जमींदारी अंतिम जमीन्दार की १६ पीढ़ी पहले से इसके अधिकार में थी। ये अपना रक्त संबंध मकड़ाई नरेश से बताते हैं। इनका वैवाहिक संबंध सारंगढ़ नरेश, फुलझर तथा कंतेली जमीन्दारों से है। सहसपुर जमींदारी के अधिकारी भी पंडरिया परिवार के हैं।

हैहयवंशी राजाओं की पुरानी जमाबंदी के कागजातों से ज्ञात होता है कि प्रतापगढ़ (पंडरिया) उनकी करद जमींदारी थी। पर वास्तव में इस जमीन्दारी का संबंध गढ़ा मंडला से ही अधिक था। कप्तान ब्लन्ट सन् १७९५ में लिखते हैं कि प्रतापगढ़ के गोंड़ और रतनपुर के भोंसला राजाओं के बीच सदा लड़ाई हुआ करती थी। सन् १८१८ में जब नागपुर के अप्पा साहब भाग निकले और चहुं ओर उपद्रव होने लगे तब पंडरिया जमींदार के भी बिगड़ खड़े होने का ढंग दीख पड़ता था। बलवे के समय भी इस पर सोहागपुर के विद्रोहियों के साथ संबंध रखने का संदेह किया गया था। यही कारण है कि जब करद राज्यों के हक्कों का निर्णय हुआ तब पंडरिया, रियासत के बदले जमींदारी मानी गई।

मराठों ने इसकी वार्षिक टकौली ३००) बाँधी थी जो सन् १७९८ में ८००) कर दी गई।[1]

१० लाफा :—क्षेत्रफल ३५९ वर्गमील, ग्राम संख्या ८६, जमींदार का पद दीवान।

यह जमींदारी रतनपुर के उत्तर दिशा में फैली हुई थी। लाफा का गढ़, पाली का मंदिर, तुम्माण के खंडहर सब इसके प्राचीन वैभव के चिन्ह है। जमींदार-परिवार का प्राचीन इतिहास प्राप्त नहीं है। जमीन्दार-परिवार का कथन था कि वे लोग असल क्षत्रिय हैं और लगभग २०० वर्ष पहले दिल्ली से आये थे। प्रमाण के लिए वे एक ताम्रपत्र पेश करते हैं। इस ताम्रपत्र में लिखा है कि राजा पृथ्वीदेव, लुंगाराव को १२० गाँव प्रदान करते हैं। ताम्रपत्र में सं० ८०९ की तिथि पड़ी है। प्रसिद्ध पुरातत्वज्ञ श्री हीरालाल इस ताम्रपत्र को सच्चा नहीं मानते थे। लाफा जमींदारी से होती हुई एक सड़क रतनपुर गई है। इसी मार्ग से प्राचीन समय में मिरजापुर तक व्यापार होता था। यहाँ की मुख्य पहाड़ियाँ चितौड़गढ़ (जहाँ लाफा का किला है) पलमा और घिलोरी हैं।

मराठों ने इसकी वार्षिक टकौली ३००) से बढ़ा कर ६३०) कर दी थी।[2]

११ भटगाँव :—क्षेत्रफल ६४ वर्गमील, ग्राम संख्या ६०, जमीन्दार बिंझवार जाति का है। इसके पूर्व पुरुष जोगीराय रतनपुर नरेश के कल्याण साय के साथ दिल्ली गया था जहाँ उसे (राजा को) मुगल बादशाह जहाँगीर की प्रभुता स्वीकार करने के लिए जाना पड़ा था। कुछ वर्षों के पश्चात् रतनपुर नरेश इस परिवार से कुपित हो गये। परिणाम यह हुआ कि सारा परिवार रतनपुर से भाग कर महानदी पार कर जंगलों में चला गया जहाँ सबलपुर नरेश का राज्य था। भटगाँव जमीदारी का निर्माण इसी परिवार के द्वारा किया गया था और आगे चल कर इसमें किकिरदा तालुका भी जोड़ दिया गया। १७ वीं शताब्दी में जमींदारी रतनपुर राज्य के अधिकार में आ गई। राज्य ने इसके इस जमीदारी हक को स्वीकार कर लिया और पाँच पीढ़ी तक कोई टकौली नहीं बाँधी। छठीं पीढ़ी में यह राशि ४००) वार्षिक मराठों द्वारा बाँधी गई जो सन् १८१९ में घटा कर ३००) कर दी गई।[3]

१२ बिलाईगढ़ : क्षेत्रफल ११२ वर्गमील, ग्राम संख्या ७४, पूर्व काल में इसके अधिकारी भैना जाति के थे। भैनाजाति आदिवासी वर्ग की सूची मे आती

१— टेम्पल रिपोर्ट, पृष्ठ ४५
२— टेम्पल रिपोर्ट, पृष्ठ ५०
३— टेम्पल रिपोर्ट, पृष्ठ ४७

है। कहते हैं कि मैनों की इष्ट देवी धमतरी की बिलाई माता थी। इसी से इस क्षेत्र का नाम बिलाईगढ़ पड़ा। पहले बिलाईगढ़ का दर्जा बरहों का था। बरहों का मतलब होता है बारह गाँव का अधिकारी। ये गाँव जंगलों में बसे हुए थे और फुलझर जमींदारी के अंतर्गत आते थे। इनका नायक फुलझर में निवास करता था जहाँ गोंड़ वंशीय फुलझर जमींदार भी रहते थे। सन् १७०० में रतनपुर नरेश के पास शिकायतें पहुंचने लगीं कि इस रास्ते से जो लोग जगन्नाथ पुरी तीर्थ यात्रा के निमित्त जाते हैं उन्हें ये पहाड़ी गोंड़ बहुत सताते हैं। कहना न होगा कि छत्तीसगढ़ ही नहीं वरन मंडला, रींवा, उत्तर प्रदेश आदि प्रांत से जो लोग पुरी जाते थे, इसी रास्ते से। तीर्थ यात्रियों के ऊपर किये गये जुल्म और उन्हें लूटे जाने से बचाने के लिए रतनपुर नरेश ने इन गोंड़ों के नायक माँझी मेरवार को बिलाईगढ़ और कटंगी क्षेत्र इस शर्त पर प्रदान कर दिया कि वे मार्ग से जाने और लौटने वाले तीर्थ यात्रियों की पूर्ण रूप से रक्षा करेंगे। इसका परिणाम बहुत अच्छा निकला। माँझी के नेतृत्व में तीर्थ यात्रियों की पूर्ण रीति से सुरक्षा होने लगी। इस प्रकार यह क्षेत्र लगातार लगभग २०० वर्षों तक माँझी के वंशजों के अधिकार में बना रहा, लेकिन माँझी की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र गुमानसिंह और मुखीराय आपस में लड़ बैठे और दोनों में बंटवारा हो गया। गुमानसिंह को कटंगी क्षेत्र मिला और मुखीराय को बिलाईगढ़। लगभग ६० वर्ष पहले गुमानसिंह के वंशज में जब कोई पुत्र नहीं रह गया तो दोनों क्षेत्र फिर एक हो गये।[1] मराठों ने अपनी सत्ता में इस जमीन्दारी की वार्षिक टकौली ६६०), बाँधी जो १८१६ में घटा कर ५००) कर दी गई।

१३ बिंद्रानागढ़ : क्षेत्र फल १५५६ वर्गमील, ग्राम संख्या ४४६, यह गढ़ छत्तीसगढ़ के ३६ किलों में से एक है। इस जमीन्दारी का जब संगठन हुआ, तब इसका नामकरण नवागढ़ किया गया लेकिन नवागढ़ नाम का एक गढ़ पहले ही से मौजूद था इसलिए इसके नाम के आरंभ में बेंदरा और लगा दिया गया क्योंकि यहाँ बंदरों की संख्या बहुत थी। कालांतर में बेंदरानवागढ़, बिन्द्रानवागढ़ कहलाने लगा।

यह गढ़ पहले पटना के महाराज के अधिकार में था। पश्चात् राजगोंड़ लोग इसके अधिकारी हो गये। यह कैसे इनके अधिकार में आया, इसकी कथा इस प्रकार है :–

लांजीगढ़ के गढ़पति की एक शाखा सिंगल साय के नेतृत्व में छुरा में आकर

१– टेम्पल की रिपोर्ट, पृष्ठ ४७

बस गई। छुरा उस समय मरदा जमींदारी के मंजिया जाति के जमीदार के कब्जे में था। इसे इस बात की आशंका हो गई कि सिंगलसाय इसकी जमीदारी लेने के लिए प्रयत्न कर रहा है। फलतः उसे जहर देकर मरवा डाला गया। सिंगलसाय की गर्भिणी विधवा स्त्री भाग कर पटना चली गई और वहा एक ब्राह्मण के घर में दासी बन कर उदर पोषण करने लग गई। एक दिन जब वह उस ब्राह्मण का घर झाड़ बुहार रही थी, उसी बीच उसने एक पुत्र को जन्म दिया, जिसका नाम रक्खा गया कचरा–घुरवा अर्थात कूड़ा-कचरा बुहारने वाला। कचरा-घुरवा अपने बालकाल से ही अपनी शूरता का परिचय देने लगा, फलतः वह महाराजा की सेना में भरती कर लिया गया। यहाँ उसकी पदोन्नति होती गई। उसने अल्पकाल मे ही महाराजा के शत्रुओं के धुर्रे उड़ा दिये। इससे महाराजा उससे बड़े प्रसन्न हो गये और उसकी यह विनती स्वीकार करली कि उसे मरदा की जमींदारी पुरस्कार स्वरूप प्रदान की जाय जिसे महाराजाने स्वीकार कर लिया। तब उसने मरदा पर हमला कर दिया और अपने बाप के हत्यारे को मार कर जमीदारी न केवल छीन ली प्रत्युत आसपास के छोटे मोटे भूपतियो को पराजित कर उनकी सारी भू-संपत्ति छीन कर अपनी जमीदारी में मिला ली और सारी जमींदारी का नाम दिया "बेंदरा नवागढ़।"

१४ देवरी:—क्षेत्रफल ८२ वर्गमील, ग्राम संख्या ३७, जमीदार जाति के बिंझवार थे। मूल पुरुष का पता नहीं लग सका पर संभवतः सोनाखान जमीदार के संबंधी रहे हों। स्वाधीनता संघर्ष के समय जमीदार महाराजसाय ने सोनाखान के विरुद्ध अंग्रेजों को सहायता दी थी। सोनाखान का जमीदार इसका भतीजा था। लेकिन सोनाखान जमींदार के पुत्र गोविंदसिंह ने इसका बदला शीघ्र चुका दिया और उसे मार डाला। इसकी वार्षिक टकौली नाम मात्र को वार्षिक १०) बाँधी गई थी।[१]

१५ फिंगेश्वर:—क्षेत्रफल १७६ वर्गमील, ग्राम संख्या ८६, यहाँ का जमींदार-वंश सैंकड़ों वर्ष से इस जमींदारी का अधिकारी है। १६ वी शताब्दी में रतनपुर के हैहयवंशी राजाओं ने जमीन्दारियों की जो सूची तैयार की थी, उस सूची में इस जमीन्दारी का नाम है। जमीदार गोंड़ जाति का था।

मराठों ने इस जमीन्दारी की वार्षिक टकौली ३००) बाँधी थी।[२]

१– टेम्पल की रिपोर्ट, पृष्ठ ३६

२– टेम्पल की रिपोर्ट, पृष्ठ ४६

१६ कटगी :—क्षेत्रफल ५७ वर्गमील, ग्राम संख्या ४२, यह जमींदारी रतनपुर नरेश (हैहयवंशी) द्वारा लगभग २७० वर्ष पहले गोंड़ों के नायक माँझी मेरवार को दे दी गई थी और उससे यह करार करा लिया गया था कि उसकी जमींदारी में होकर जो मार्ग जगन्नाथ पुरी को जाता है उस पर चलने वाले यात्रियों की वह लूटमार या अन्य कष्टों से रक्षा करेगा जिसका पालन माँझी और उसके वंशज निष्ठा पूर्वक करते रहे। माँझी की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र गुमान सिंह और मुखीराय आपस में लड़ बैठे और दोनों में बंटवारा हो गया। बंटवारे में गुमानसिंह को कटगी क्षेत्र मिला और मुखीराय को बिलाईगढ़। लगभग ६० वर्ष पहले गुमान सिंह के वंश में कोई नहीं रहा तो फिर दोनों जमींदारियाँ एक ही जमींदार के अधिकार में आ गईं अर्थात बिलाईगढ़ के।

मराठों द्वारा वार्षिक टकौली ३००)[1]

१७ कौड़िया :—क्षेत्रफल २६५ वर्गमील ग्राम संख्या १५५, कौड़िया पहले खालसा तालुका था और हैहयवंशी राज घराने के अधिकार में था। इसके अधिकारी कई पीढ़ी तक इसके तालुकेदार रहे जो जमींदार कहलाने लगे थे। अंतिम जमींदार रणजीत सिंह की निःसंतान मृत्यु हो जाने पर उसकी विधवा पत्नी विष्णुप्रिया देवी इस जमीन्दारी की अधिकारिणी हुई।

मराठों द्वारा वार्षिक टकौली ३००)[2]

१८ खरियार : क्षेत्रफल १४८६ वर्गमील, ग्राम संख्या ६०६, कहा जाता है कि खरियार जमीन्दारी को जयपुर (बिहार) के महाराजा ने अपने पुत्री के व्याह में जो पटना के महाराज प्रताप देव के छोटे राज कुमार के साथ संपन्न हुआ था, दहेज में दिया था तब से यह जमींदारी इसी वंश के अधिकार में चली आ रही थी। इस जमीन्दारी में खोलागढ़, गौरागढ़ और कुमरागढ़ के इलाके भी शामिल थे। जमीन्दार जाति के चौहान क्षत्रिय हैं।

१६ नर्रा :—क्षेत्रफल २१ वर्गमील, ग्राम संख्या १६, यह जमींदारी पहले खरियार जमीन्दारी का एक इलाका था जिसे लगभग २७० वर्ष पहले खरियार जमीन्दार ने अपनी पुत्री को दहेज में दे दिया था।

मराठों ने सन् १७८३ में इसकी वार्षिक टकौली ७५) बाँधी थी।[3]

१– टेम्पल की रिपोर्ट पृष्ठ ४८

२– पूर्वोक्त पृष्ठ ४६

३– टेम्पल की रिपोर्ट, पृष्ठ ४८–४६

२० फुलझर :—क्षेत्रफल ८४२ वर्गमील, ग्राम संख्या ५२७, जमींदार चांदा के राजवंशी गोंड़ थे। कोई ३७० वर्ष पहले इस वंश के हटराजसाय ने इस इलाके को एक आदिवासी राजा को पराजित कर अपने अधिकार में कर लिया था। इस राजवंश की चौथी पुश्त के त्रिभुवनसाय नामक राजा के राजत्व काल में इसकी लहुरी शाखाएं सारंगढ़, रायगढ़, सकती और सुअरमार में जाकर जम गई। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि छत्तीसगढ़ की अधिकांश जमीन्दारियाँ और रियासतें के शासक फुलझर जमींदार के वंशज थे और वे फुलझर जमींदार को अपना आदि वंश-स्रोत मानते हैं।

२१ सुवरमाल :—क्षेत्रफल १९९ वर्गमील, ग्राम संख्या १०२, पहले यह जमींदारी हैहयवंशी राजाओं के राजत्वकाल में खालसा तालुक था। लगभग २७० वर्ष पहले यहाँ के तालुकेदार ने विद्रोहात्मक संघर्ष आरंभ किया। फलतः यह जमींदारी गोंड़ जमींदारको प्रदान कर दी गई जिसने विद्रोह को विफल करने में मदद पहुंचाई थी। तब से यह जमीन्दारी १३-१४ पुश्तों से उन्हीं के कब्जे में चली आई। कहते हैं इस जमींदारी का सुवरमार नाम इसलिए पड़ा कि एक भयानक सुअर यहाँ बहुत दिनों से उपद्रव मचा रहा था जिसे जमींदारी के आदि पुरुष पूरनराय ने मार डाला। परंतु कुछ सयानों का कहना है कि यह पहले संवरा जाति के आधीन था। इससे इसका नाम संवरमाल पड़ा जो बिगड़ते बिगड़ते सुंवरमाल हो गया।

सन् १७५५ में मराठों ने इसकी वार्षिक टकौली ५००) बाँधी थी।[1]

२२ औंधी :—क्षेत्रफल ८१ वर्गमील, ग्राम संख्या ४३ पहले यह जमींदारी पनवाड़ा जमींदारी का एक अंग थी और बंटवारा में अलग कर दी गई थी पर जमींदार के निर्वंशी होने के कारण फिर मूल जमींदारी पनवाड़ा में मिला दी गई।

२३ बरबसपुर :—क्षेत्रफल ३२ वर्गमील, ग्राम संख्या २३, पहले यह गंड़ई जमींदारी का एक भाग था, जमींदार धुर गोंड़ था। बाजी राव भोंसला के राजत्व-काल में यह गंड़ई से अलग कर दिया गया और जमींदार को ठाकुर की पदवी दे दी गई तथा वार्षिक टकौली १२४) बाँध दी गई।[2]

२४ डोंडी-लोहारा—क्षेत्रफल २८० मील, ग्राम संख्या १४७ पहले यह एक कटंगा नामक गोंड़ के अधिकार में था पर वह इसका ठीक प्रबंध नहीं कर

१— जेनकिन की रिपोर्ट पृष्ठ १३४

२— टेम्पल की रिपोर्ट, पृष्ठ ४४
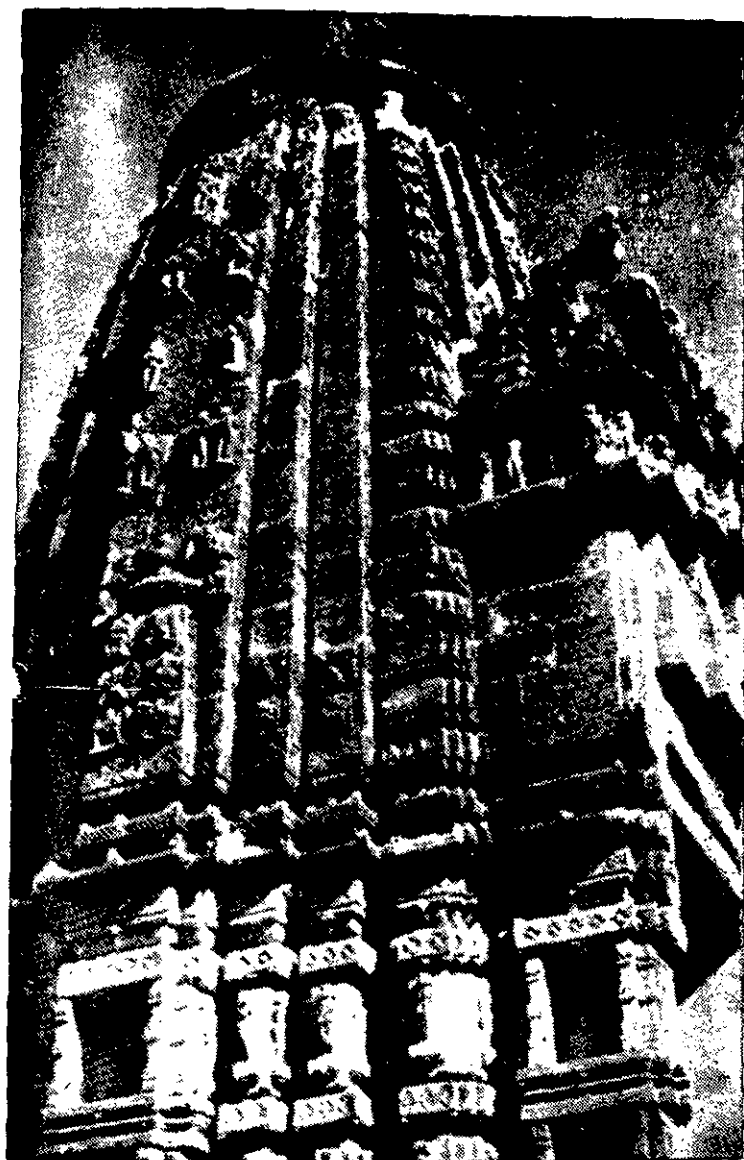
गड़ई का मंदिर

सका। इसके निकटवर्ती राज्य कांकेर में एक राजगोंड़ रहता था जिसका नाम था दलसाय। वह वहाँ का दीवान भी था। उसे वहाँ के राजा ने उसकी कार्य क्षमता से प्रसन्न होकर लोहतुर परगना पुरस्कार स्वरूप दे दिया। दलसाय ने जब देखा कि कंटगा टकौली नहीं पटा सका है तब उसने सारी बकाया राशि टकौली की पटा दी और रतनपुर नरेश से जमींदारी अपने नाम पर लिखवा ली। यह सन् १५३८ ई० की बात है।

मराठी सत्ता ने इसकी वार्षिक टकौली ५००) बाँधी थी।[1]

२५ गंड़ई :—क्षेत्रफल १६६ वर्गमील, ग्राम संख्या ८६, लगभग ६५० वर्ष पहले गढ़ा मडला के राजा ने अपने एक संबंधी लिंगाधर धुरगोंड़ को यह जमींदारी प्रदान कर दी थी, और उसे उसके पड़ोसियों ने राजा की पदवी दे दी। आगे चल कर इसी वंश के मुखी ठाकुर ने जमीन्दारी के तीन हिस्से करके अपने तीनों पुत्र में बाँट दिया। सन् १८२८ में इस बंटवारे की पुष्टीकरण हो गई और बंटवारे में दिये गये दो हिस्से सिलहटी और बरबसपुर भी जमींदारी का दर्जा पा गये। राजा बख्तसिंह के राजत्वकाल में जब वह टकौली नहीं पटा सका तो नागपुर के भोंसला राजा ने उस पर चढ़ाई कर दी और बख्तसिंह भाग कर कंवर्धा चला गया। कुछ वर्षों के बाद खैरागढ़ के राजा ने इस जमींदारी पर आक्रमण कर दिया तब उस समय राजा तरवरसिंह की माता राजकाज संभालती थी। उसने इस आक्रमण को विफल कर दिया। तरवरसिंह की मृत्यु के पश्चात उसके पुत्र रणधीरसिंह का दावा इसलिए खारिज कर दिया गया कि वह राजा का अवैध पुत्र था क्योंकि उसकी माता राजा की व्याहता स्त्री नहीं थी। परंतु रणधीर सिंह के पुत्र ने मुकद्दमा चला कर अपना हक प्राप्त कर लिया। इस जमींदारी का खोलवा नामक क्षेत्र के २१ गाँव खैरागढ़ के अधिकार में "सुवा नचाई" के उपलक्ष्य में आ गये थे। मराठा-नरेश ने इसकी वार्षिक टकौली २५००) से ३०००) करदी थी।[2]

२६ गुंडरदेही :—क्षेत्रफल ८३ मील, ग्राम संख्या ४८, यहाँ के जमींदार कंवर क्षत्रिय थे। इसके एक पूर्व पुरुष ने सन् १५२५ ई० में बस्तर राजा द्वारा किये गये आक्रमण का सामना करने में रतनपुर को सहायता पहुंचाई थी। इसके पुरस्कार स्वरूप यह जमींदारी और राय की पदवी उसे प्रदान की गई थी। पश्चात बालौद परगना भी इसमें मिला दिया गया। सन् १५४० में डाकुओं

१– जेन्किन्स की रिपोर्ट, पृष्ठ १३३

२– टेम्पल की रिपोर्ट, पृष्ठ ४३

को मार भगाने के पुरस्कार स्वरूप चार तालुक तत्कालीन जमीन्दार को और प्रदान किये गये। इनके नाम हैं—१ राजोली, २ अरमोरी, ३ अर्जुनदा और ४, गुरेड़ा। प्रत्येक तालुका के अंतर्गत ग्रामों की संख्या १२ थी। तत्कालीन जमींदार माखनसिंह इसकी वार्षिक टकौली एक अशर्फी दिया करता था। यह व्यवस्था भीखमराय दीवान तक चली। अब हैहयवंशियों का राज्य समाप्त हो गया और मराठे अधिकार संपन्न हो गये। भोंसला राजा बिम्बाजी ने इन चारों तालुकों को जमीन्दारी से निकाल कर अपने राज्य में मिला लिया।

मराठों द्वारा (वार्षिक टकौली सन् १८१६ में ६८६) से ५०२० कर दी गई थी।[1]

२७ खुज्जी : क्षेत्रफल ६३ मील, ग्राम संख्या ३३, लगभग २०० वर्ष पहले गोंड़ राजाओं ने इसे एक मुसलमान सैनिक, को जिसने उन्हें नागपुर के भोंसला राजा रघुजी के आक्रमण के विरुद्ध सहायता पहुँचाई थी, पुरस्कार के रूप में प्रदान किया था।

व्यंकोजी भोंसला के समय में इसकी वार्षिक टकौली ६०) से १५००) बढ़ा दी गई।[2]

२८ कोराचा : क्षेत्रफल २०४ वर्गमील, ग्राम संख्या ७७, जमींदार एक मुसलमान था। पहले यह पनवाड़ा जमींदारी में था, पश्चात् बॅटवारा में अलग हो गया।

२९ पनबाड़ा : क्षेत्रफल ३४५ वर्गमील, ग्राम संख्या २६३, यह एक पुरानी जमींदारी थी जो चांदा के गोंड़ राजा द्वारा प्रदान की गई थी। किसी समय यह रतनपुर के हैहयवंशी राजाओं के अधिकार में थी। कहा जाता है कि इस जमींदार वंश के एक जमींदार घामशाह ने दिल्ली की सेना से लड़ने में ऐसी वीरता दिखाई थी कि बादशाह इससे बड़े खुश हो गये और इसे बैरागढ़ की प्रभुता दे दी और दर्जा बढ़ा दिया। इस घराने के पास उस समय का मोरछल और चौरी अभी तक मौजूद है जो अन्य जमींदारों के पास नहीं है और इनसे प्रमाणित होता है कि ये काफी ऊँचे दर्जे के जमींदार थे और इनका मर्तबा भारी था।

सन् १८१८ में जब नागपुर के अप्पासाहब भोंसले ने अंग्रेजों का विरोध किया अब तत्कालीन जमींदार निजामशाह ने भोंसलों का पक्ष लिया और अन्य जमींदारों ने भी उसका साथ दिया। एक अवसर पर तो उन्होंने अंग्रेजी सेना की एक

१– टेम्पल की रिपोर्ट पृष्ठ ४६

२– इलियट की रिपोर्ट, जिल्द ३, पृष्ठ ५६
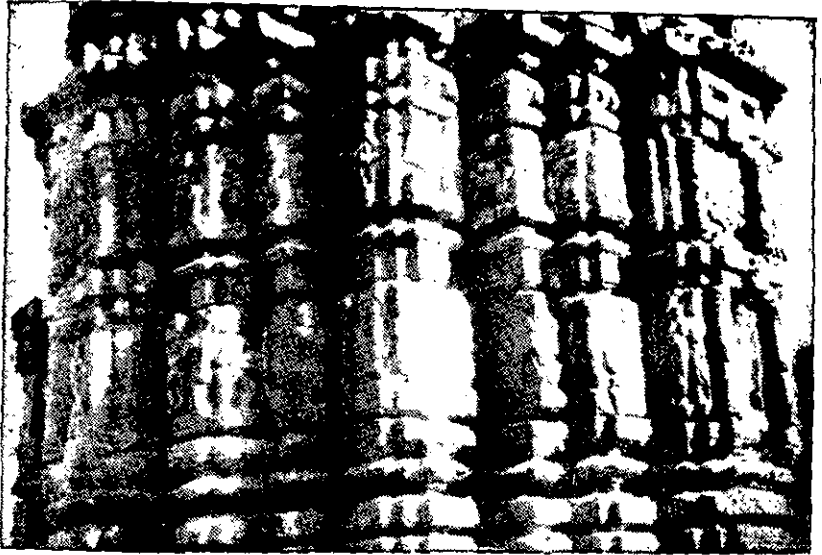
गड़ई के मंदिर के निचले भाग की नक्काशी

टुकड़ी को जिसमें ७० सिपाही थे रांगी के समीप गिलगाँव में घेर लिया और सारे सिपाहियों को काट डाला, परंतु निजामशाह को शीघ्र ही पीछे हटना पड़ा और कांकेर में भाग कर शरण लेनी पड़ी। लेकिन आगे चल कर उसे क्षमा प्रदान कर दी गई और जमींदारी भी वापस दे दी गई।

३० परपोंड़ी : क्षेत्रफल २८ वर्गमील, ग्राम संख्या २४, यहाँ के जमींदार धमधा के गोंड़ राजा के वंशज थे। १८वीं शताब्दी में विद्रोह करने के कारण यह जमींदारी गोंड़ों से निकाल कर एक राजपूत परिवार को दे दी गई। सन् १८०० में मराठों की बाँधी हुई टकौली १४००) वार्षिक।[1]

३१ सहसपुर लोहारा : क्षेत्रफल १४६ वर्गमील, ग्राम संख्या ८८, पहले यह जमींदारी कंवर्धा रियासत का एक भाग था, पश्चात इसे बैजनाथ सोनसिंह को कंवर्धा के राजा महाबलीसिंह द्वारा परवरिश के लिए प्रदान कर दिया गया था जो उसी के वंश के—बेलकरिया गोंड़ थे। सहसपुर और लोहारा दो अलग अलग ग्राम हैं। बीच में दो मील लंबा एक बड़ा तालाब है। सहसपुर गाँव के संबंध में कहा जाता है कि हैहयवंशी राजाओं के आदि पुरुष सहस्त्रार्जुन के नाम से बसाया गया था। यहाँ एक प्रस्तर प्रतिमा भी है जो उसी की मूर्ति कही जाती है। उसके निम्न भाग में एक लेख उत्कीर्ण है। इसमें राजा यशोराज उसकी रानी लक्ष्मी देवी, उनकी संतान भोजदेव, राजदेव और कुमारी जसल्ला देवी का नाम उल्लिखित है।

सन् १७९८ में मराठों द्वारा बाँधी गई वार्षिक टकौली ८००) रु०,[2]

३२, सिलहेटी:—क्षेत्रफल ५५ मील, ग्राम संख्या ३०, यह जमीदारी मूलतः गंड़ई जमींदारी का एक भाग है। अंग्रेजी शासन के आरंभ में ही यहाँ के तत्कालीन जमींदार ने इसे परिवरिश के लिए अपने परिवार के एक सदस्य को प्रदान कर दिया जिससे यह एक अलग जमीदारी बन गई।

३३ ठाकुरटोला : क्षेत्रफल १८७ वर्गमील, ग्राम संख्या ८१, इस जमींदारी के पूर्व जमींदार अपनी आचरणहीनता के कारण अधिकारच्युत कर दिया गया था और सन् १८४२ में मराठों ने इसे चमारराय के पूर्व पुरुष को प्रदान कर दिया था। यह परिवार नरसिंहपुर जिले के दिलहरी और पतेहरा के राजगोंड़ वंश से संबंध रखता है।

मराठों द्वारा बाँधी गई वार्षिक टकोली ४४५ रु०।[3]

१– टेम्पल की रिपोर्ट, पृष्ठ ४८
२– टेम्पल की रिपोर्ट, पृष्ठ ४५
३– पूर्वोक्त पृष्ठ ४४
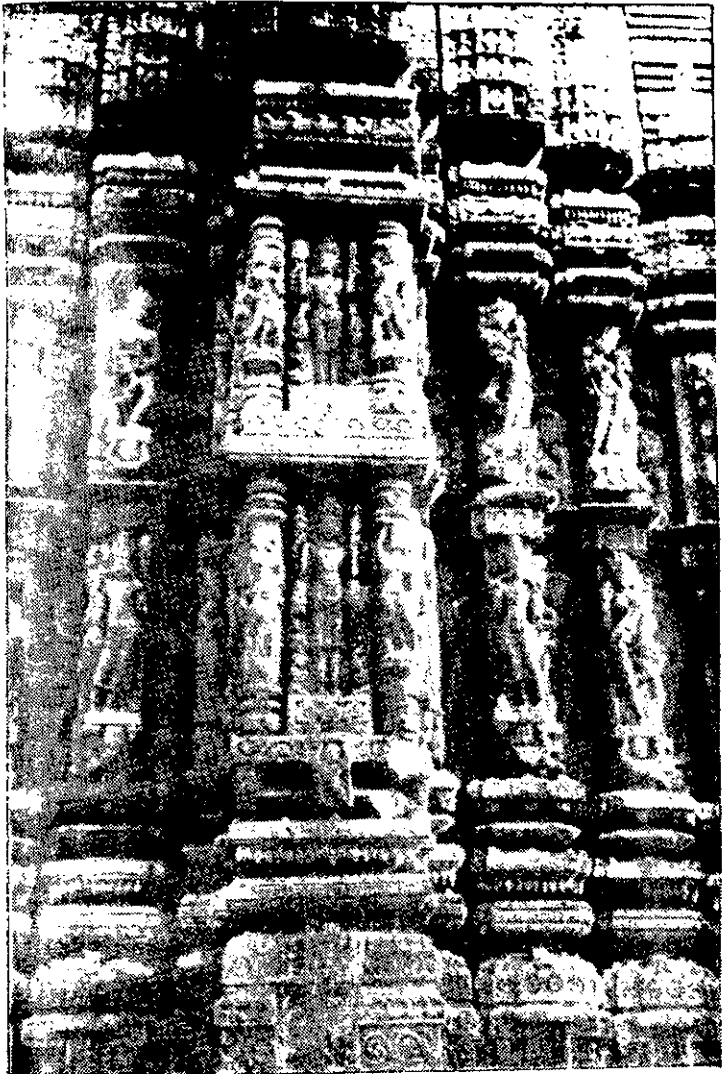
गड़ई के मंदिर में नक्काशी के दृश्य

साहित्य—१

गड़ई का मंदिर, आकर्षक पिछला भाग

२०

संस्कृत के प्रशस्तिकार कवि

प्राचीन छ० ग० में ग्रंथकार–साहित्यकारों की अपेक्षा प्रशस्तिकार कवियों की रचनाएँ प्रचुर संख्या में प्राप्त हैं। ये कवि प्रायः ब्राह्मण होते थे, पर क्षत्रिय तथा पर्याप्त संख्या में कायस्थ प्रशस्तिकार भी पाये गये हैं। क्षत्रिय प्रशस्तिकारों में कई राजकुल के भी थे, जैसे—रत्नपुर के कुमारपाल। कहा जाता है कि सिरपुर के कोसलेन्द्र ययाति राजदेव उच्चकोटि के संस्कृत एवं हिन्दी के प्रतिभाशाली कवि थे। संभवतः निम्नलिखित श्लोक[1] उन्हीं की रचना है—

चित्रोत्पला चरण चुम्बित चारु भूमौ।
श्रीमान् कलिंग विषयेषु ययातिपुर्यमि ॥
ताम्रे चकार रचना नृपतिर्ययातिः।
श्री कोसलेन्द्र इति नामयुतः प्रसिद्धः ॥

इसमें संदेह नहीं कि उस समय भी संस्कृत में विविध विषयक ग्रंथों की रचना बमुकाबिले धार्मिक और पौराणिक ग्रंथों के सीमित रूप में की जाती थी, पर उन पाण्डुलिपियों का पता लगाना और उन्हें सुरक्षित रूप से प्राप्त करना सहज नहीं है। अब तो यह कार्य और दुस्तर हो गया है। इसका मुख्य कारण यह है कि जिन व्यक्तियों के पास ये हस्तलिखित ग्रंथ थे वे उनकी भलीभांति रक्षा नहीं कर सके। फलतः वे सींड़ में सड़ गये या दीमक की खुराक बन गये। कई लोग तो उसे प्राचीन सामग्री के नाते अमूल्य समझ कर उसे अलग करना अशुभ समझते हैं किंतु साथ ही उसे सुरक्षित रूप से रखने की चिन्ता भी नहीं करते।

दक्षिण कोसल के कलचुरि राजाओं के दरबार में संस्कृत के अनेक उच्च-कोटि के विद्वान कवि हो गये हैं। कई प्रशस्तियाँ तो ऐसी प्राप्त हुई हैं, जिनमें रचयिता कवियों के नाम उल्लिखित नहीं हैं। उस युग में विशेष कर

१– कोसल-प्रशस्ति-रत्नावली–लो० प्र० पाण्डेय

कवि या साहित्यकार, नाम या यश अर्जन करने की विशेष चिन्ता नहीं करते थे। कई ग्रंथों में (जैसे तुलसीकृत रामायण) तो यहाँ तक पाया गया है कि अनाम कवियों ने विशेष प्रसंगों पर अपनी रचनाएँ घुसेड़ कर उन्हें प्रचलित करने का प्रयत्न किया है। ऐसी रचनाएँ क्षेपक कहलाती हैं।

महानदी के दाहिने तट पर सिरपुर (श्रीपुर) नामक एक छोटा सा ग्राम है। यह एक समय दक्षिण कोसल की राजधानी थी। उस समय यह एक अतीव सुंदर, सम्पन्न और प्रासाद पुंज पूरित, विद्या तथा संस्कृति से अलंकृत आदर्श नगर था। तब इसे "श्रीपुर" कहते थे जो अब बोलचाल में बिगड़ कर सिरपुर हो गया है। चिन्तातुरांक ईशान कवि का शुभ नाम इसी सिरपुर के एक शिलालेख में मिलता है। इस शिलालेख की आयु इस समय एक हजार वर्ष से भी अधिक है। इस कवि ने अपनी लिखी इस प्रशस्ति में अपने संबंध में कुछ प्रकाश नहीं डाला है। अतः उसके व्यक्तित्व के सबंध में कुछ नहीं कहा जा सकता तथापि उसकी कवित्व शक्ति तथा प्रतिभा का परिचय उसकी रचनाओं से अवश्य मिलता है। दक्षिण कोसल में कलचुरि राजाओं के पूर्व सोमवंशी राजाओं के जो उत्कीर्ण लेख अभी तक प्राप्त हुए हैं, उनमें दो कवियों के नाम उल्लिखित हैं :—

(१) भास्कर भट्ट

(२) चिन्तातुरांक उपाधिधारी कवि ईशान

भास्कर भट्ट वस्तुतः ईशान के पूर्ववर्ती कवि थे। उनके समय में दक्षिण कोसल की राजधानी भद्रावती पुरी या भद्रापत्तन (चाँदा जिला का वर्तमान भांडक) में थी। भास्कर भट्ट का एक श्लोक है[1] :—

सद्वर्ण्ण जाति सुभगा विद्वन्मधुकर प्रिया।
कृता भास्कर भट्टेन प्रशस्तिः स्रगिवोज्ज्वला ॥

भास्कर भट्ट की यह प्रशस्ति एक बौद्ध मंदिर में लगी थी।

ईशान कवि द्वारा रचित और उत्कीर्ण प्रशस्ति सिरपुर के विष्णु-मंदिर में लगी थी। यह मंदिर महारानी "वासटा" ने निर्माण कराया था। यह रानी मगधराज श्री सूर्यवर्मा की कन्या थी, जो सिरपुर नरेश हर्षगुप्त को ब्याही थी। रानी 'वासटा' ने यह विष्णु मंदिर अपने पुत्र महाशिव गुप्त बालार्जुन के राज्यकाल में अपने पति की पुण्यस्मृति में निर्माण कराया था। यह मंदिर वर्तमान समय में लक्ष्मण मदिर के नाम से प्रसिद्ध है।

१– उत्कीर्ण लेख, पृष्ठ उन्तालीस बालचन्द्र जैन।

ईशान कवि वास्तव में बड़ा प्रतिभावान कवि था। प्राचीन छत्तीसगढ़ की प्राचीन साहित्यिक परम्परा में संस्कृत के कवि ईशान और ब्रजभाषा के कवि गोपाल-माखन मिश्र का नाम अविस्मरणीय रहेगा। ये दोनों कवि अपनी रचनाओं में विविध छन्दों का प्रयोग करने में सिद्धस्त थे। ईशान कवि ने स्त्रग्धरा से आरंभ कर हरिणी, वसंत तिलका, शिखरिणी, शार्दूल विक्रीड़ित, प्रहर्षिणी, उपजाति, अनुष्ठुप, वंशस्थतिलक, द्रुत-विलंबित, वैतालीय आर्या आदि छंदों का प्रयोग किया है। उनकी रचनाओं में बिम्ब, प्रतिबिम्ब, उपमा, उपमेय, अलंकार आदि काव्य की सभी विधाओं का रसास्वाद किया जा सकता है। एक उदाहरण लीजिए :—

अन्योन्टाप्रांतरांतर्विचल दुरु मरुत्पुञ्ज गुञ्जार वोघ्रै।
रङ्गुल्य प्रौरूदज्जनख किरण शिखास्पष्ट दंष्ट्राकरालैः॥
कामान्वः मानु पञ्चानन इव चरणश्चक्रिणः रवे घनौघा-।
न्विध्वस्य ध्वान्तधाम्नः करिण इव किरन्मौक्तिका भानि भानि॥

भावार्थ :—उस चक्रधर का चरण तुम्हारी रक्षा करे। यह चरण जिसकी अँगुलियों के अंतरों से होकर वायु के वेगपूर्वक गमन से गुंजीफलों के समान नाद होता था और जिसके नखों से प्रकाश की किरणों निकल कर जबड़े को उज्जवलित कर उस समय अत्यन्त भयानक रूप दिखलाती थी, जब उन्होंने आकाश के बादलों को फाड़ कर छिन्न-भिन्न कर दिया, जिससे आकाश के तारे मोती के समान झिलमिलाने लगे। यह ठीक उस सिंह के सदृश था जो अंधकार के पुञ्ज (हाथी) के मस्तक को फाड़कर चहुँ ओर चमकते हुए गजमुक्ता को फैला देता है।

ईशान कवि के शब्द चित्र का एक और उदाहरण लीजिए जिससे दक्षिण कोसल में हजार वर्ष पहले नाटकों के प्रचार की जानकारी मिलती है :—

क्षुण्ण भित्तिरनेकधा विघठितः सर्वेप्यमी सन्धयों।
वीथ्यङ्ग न्यपि विक्षतानि परितः शुष्कोस्थि बन्धक्रयः॥
चित्रं प्रच्युतमामुखावपी कथं किं वीक्षिते नामुना।
यस्येति द्विषतांकनाटकमिव द्विष्टं पुरं प्रेक्षकैः॥

भावार्थ :—उसके शत्रुओं के नगर, देखने वालों के मन में घृणा उत्पन्न करते हैं, क्योंकि नगर की दीवालें क्षुण्ण हो गई हैं, संधिया टूट गई है, सड़कें उखड़ गई हैं और चहुँ ओर सूखी हड्डियों फैली हुई हैं। दर्शक कहते हैं कि यहाँ क्या देखें, द्वार तक का तो पता नहीं। ये तो उन नाटकों से भी गये बीते

हैं कि जिनके परदे फट गये हैं, कथा नीरस है। जोड़ निकल गये हैं, और कथा क्रम टूट गया है। "ईशान कवि की अभिव्यंजनाशक्ति के प्रमाण में उनके अनेक छंद प्रस्तुत किये जा सकते हैं "वन पर्वत गिरदरी सरित पूरित" दक्षिण कोसल की भूमि उस समय (सन् ६००–७००) में भी, संस्कृत के कवि कोविदों से रहित नहीं थी। उनकी लेखन कुशलता महाकवि दंडी और वाणभट्ट की शैली का स्मरण दिलाती हैं। ऐसे प्रशस्तिकार कविवरों में श्री तारादत्तात्मज सुमंगल का नाम भी उल्लेखनीय है। वे एक स्थान पर लिखते हैं:—[1]

धवल कुल कमल भानौ भूमृति भूपाल मण्डवी तिलके
प्रतिपक्ष क्षतिदक्षौ रक्षति वालार्जुन क्षोणिम्।

प्राचीन छ० ग० के कलचुरिकालीन कवियों में नारायण, आल्लव (कायस्थ), अल्लण, कीर्तिधर (काय०) वल्लभराज (का०) वत्सराज (काय०) धर्मराज (का०) मामे (का०) रत्नसिंह (का०) कुमार पाल (क्षत्री) सुरगण, त्रिभुवन लाल (क्ष०) देवगण (का०) नृसिंह, दामोदर मिश्र कवियों के नाम विभिन्न उत्कीर्ण लेखों में उल्लिखित हैं।

कुलचुरियों के राज्य में राज्यकाल तथा सामाजिक सेवाओं में कायस्थों का बड़ा योगदान रहा करता था। ये राज्य के सर्वोच्च मंत्री या अमात्य पद पर नियुक्त पाये गये हैं। सारी लिखा पढ़ी का काम इन्हीं के जिम्मे रहता था। ये प्राय: श्रेष्ठ विद्वान और धार्मिक प्रवृत्तियों से ओतप्रोत रहते थे। धर्मशास्त्रों का इन्हें खूब अध्ययन रहता था।

कोटगढ़ में वल्लभराज द्वारा खुदवाये गये वल्लभसागर नामक तालाब का निम्नलिखित श्लेषयुक्त वर्णन देवपाणि कवि द्वारा सुनिये—

[2]दधद खिल क्षण भङ्गं निस्सामान्यं प्रमाण रमणीयम्।
सौगत मतमिव लोके वल्लभ सागर सरो भाति।

भावार्थ:—यह वल्लभ सागर तालाब बौद्धधर्म की भाँति दिखाई देता है। बौद्ध धर्म में यह प्रतिपादित किया गया है कि सभी वस्तुएँ क्षण भंगुर हैं, उसमें सामान्य अथवा जाति पदार्थ को मान्यता नहीं दी जाती और वह प्रमाण के कारण रमणीय जान पड़ता है। उसी प्रकार यह सरोवर अपनी सुंदरता से सभी लोगों का ध्यान आकर्षित कर मन बहलाता है। वह अनुपमेय है और प्रमाण युक्त होने के कारण रमणीय दिखाई देता है।

१— विकास मासिक पत्र, बिलासपुर, लेखक—लो० प्र० पाण्डेय
२— शिला लेखों की प्रतिलिपि

कुमार पाल नामक कवि ने शिवरीनारायण में महानदी के तट पर "चंद्र चूड़ेश्वर" शिवजी का मंदिर निर्माण कराया और उस मंदिर के व्यय के लिए "चिचोली" ग्राम प्रदत्त कर दिया। यहाँ जो शिला लेख मिला है उसमें रत्नपुर के राजाओं की वंशावली दी गई है और पृथ्वीदेव के भाई सर्वदेव तथा उसके पुत्र राजदेव, पौत्र गोपालदेव, प्रपौत्र अमानदेव के पुण्य कर्मों का उल्लेख किया गया है। कवि कुमार पाल राजवंशी (क्षत्री) ज्ञात होते हैं। वे समृद्धिवान थे, उन्होंने मंदिर निर्माण कराया था और उसके व्यय के हेतु गाँव भी प्रदान किया था।

रतनपुर के बादलवाले महलवाले शिलालेख (सन् ११६३–६४) के रचयिता त्रिभुवनपाल संस्कृत के बड़े विद्वान थे। उनकी लिखी प्रशस्ति की भाषा उच्च-कोटि की तथा अलंकारिक रहती थी। एक उदाहरण नीचे दिया जाता[1] है—

यश्चामी करकुम्भसन्निभकुचद्वंद्वस्य रत्युत्सव।
क्रीड़ानेहसि शैलराजदुहितुर्व्वक्त्रारविंदस्य च॥
निः पर्यायदिदृक्षयेव भगवान्धत्ते स्म नेत्रतयं स।
श्रेयांसि समातनोतु भवतामर्द्धेंदुचूड़ामणिः॥

भावार्थ :—ये चंद्रचूड़ामणिशिव आपके कल्याण की वृद्धि करें जिन्होंने तीन नेत्र इसलिए धारण किये हैं कि वे रतिक्रीड़ा के समय पार्वती के स्वर्णघट के सदृश दोनों वक्षस्थलों और मुखकमल दोनों को समान रूप से देख सकें।

वाहारेन्द्र (बाहरसाय) राजा की प्रशंसा में जो लेख रत्नपुर के महामाया मंदिर में लगा है उसमें कवि का नाम नहीं दिया गया है। उसका प्रथम[2] श्लोक इस प्रकार है :—

श्रीमद्रत्नपुरं पुरन्दरपुरं देवं नरं दुर्लभं।
तत्रास्ति क्षितिपालनैक नृपति श्रीवाहरेन्द्र स्वयम्॥
गतेश्चैव गजेन्द्र षष्टि गणितं मेकं सहस्त्रंहयान।
संग्रामे रिपुमर्दनैव विषमं वन्हेश्य तेजाधिकम्॥

कतिपय शिलालेख ऐसे भी प्राप्त हुए हैं, जिनमें आश्रयदाता राजा की प्रशंसा तो की ही गई है पर साथ ही उसके बाद कवि ने स्वयं अपने और अपने पूर्वपुरुषों के गुणगान में भी उन शिलालेखों में विस्तृत स्थान लिया है। लगता है कि उस समय के राजे अपने प्रशस्तिकारों की गौरव-गरिमा एवं विद्वता प्रदर्शित कराने में अपने गौरव की वृद्धि समझते थे। रत्नपुर में प्राप्त द्वितीय

१– शिलालेखों की प्रतिलिपि

२– महामाया–मंदिर में लगे लेख की प्रतिलिपि।

पृथ्वीदेव के सन् ११५० वाला शिलालेख[1] इसका एक उत्तम उदाहरण है, जिसका सम्पूर्ण मूलपाठ अर्थ सहित नीचे दिया जाता है। इसमें कवि ने पौराणिक संदर्भों का आधार लेकर जो रस वर्षा की है, वह अभूतपूर्व है। अतिशयोक्तियों से ओतप्रोत होते हुए भी इन पद्यों में कवि की भावुक अनुभूतियाँ तथा संवेदन शीलता एवं काव्य-कौशल के साथ भाषा की सौष्ठता प्रस्फुटित हुई है।

मूलपाठ

सिद्धिः। ओं नमः शिवाय॥ भोगीन्द्रो नयनश्रुतिः कथमसौ द्रष्टुं क्षमो नौ भवेदेषा चन्द्रकलापि शैशवदशामासाद्य नो वं शैल सुता प्रबोधन परो रुद्रो रते पातु वः ॥१॥ सत्सिन्दूर विशाल पांशुपटलाभ्य- वलेककुम्भ-स्थलः शुण्डा ताण्डव मण्डिता खिलनभोदिङ्मण्डपाडम्बरः मीरुहव्यूहोन्मूलन-केलिरस्तु भवतां भूत्ये गणग्रामीणीः ॥२॥ देवः पीयूषधार। द्रवकर-निकराक्रान्तदिक्चक्र वालस्त्रैलोक्या क्रांति निर्यन्मदन नृपचमदर्पणा भोगलक्ष्मीः यति सुरवधूरत्न कर्णवतन्स शुभ्रांशु प्रौढ़ रामाहृदय गिरि गुहा-मानसव्वंकष श्री: ॥३॥ तद्वंशे भजदण्डमण्डल मदाक्रान्त त्रिलोकीतलो विभाणः सुरसार्थ नाथ पदवीमुद्रा निधि मेखलावलयित क्षोणीवधू वल्लभौ भूपालो भुवनैकभूषण मणिज्जजिल्लदेवोऽभवत् ॥४॥ तस्माच्चेदिनरेन्द्र दुर्द्दम चमू चक्रैक वारांनिधेस्तौ ब्रौर्व्वज्वलनोऽज निष्ट तनयव्विख्यित चोडगङ्ग सुभट स्फारेन्दु विम्ब ग्रहग्रासे राहुरनन्त शौर्य महिमाश्चर्यो मही मण्डले॥ ५ ॥ सत्पंत्पूर्ण शशांक धाम धवल स्फारयशोजन्मभूरुग्रत्तोव्रतर प्रतापतर-णिः सत्क्षत्रयातदिगन्तवन्दि निवहाभीष्टार्थचिन्तामणिः पृथ्वी देवनरेश्वरोस्य तनयः श्रीमानभूद् भूतले ॥६॥ राज्ये भूमिभुजो स्यैव नयमार्गानुसारिणि। क्षीणोपसर्गसं सर्गं प्रजानन्द विधायिनी ॥७॥ वार्गोविन्द चेदि मण्डलात्। कृती कालक्रमणा सौ देशान्तुम्माण मागतः ॥८॥ पुत्रस्तस्य जनानुराग जलधिर्भू भृत्सभाभूषणो ज्यायान्पण्डित पुण्डरीक तरणिर्भामेऽभिधानोऽभवत्!। यो धात्री तिलकोनिलालङ्कार हारोपमो विख्यातस्त्रि पुरान्तकैक चरणम्भोजैक भृङ्गरो भुवि ॥९॥ भ्राता श्री राघवोऽमुष्य कनीयान्गुणसागरः। नागरो भुवना-भोग भूषा पूहोपमो विभौ ॥१०॥ श्री भामेतनयः समस्त जगतीकीर्णं स्फुरत्कुन्देन्दु द्युतिकीर्तिसन्त

1— उत्कीर्ण लेख पृष्ठ १००, जैन

तिलता व्यासक्त विङ्ग मण्डपः। राजत्पुन्मवधावि वृन्द बलनो लीलाविहार : श्रियः शीलाचार विवेक पुण्य निलयः श्री रत्नसिंह कवि : ॥११॥ शचीव जिष्णोर्गिरिजेम्भो र्दुग्धाब्धि पुत्रीव च चक्रपाणेः। साध्वी सदा बंधुजना-भिपूज्या रम्भेतिनामाऽ भवदस्य पत्नी ॥ १२॥ ताभ्यामजायत जगत्त्रय घुष्टकीर्ति राखण्डितारि बुध मण्डल चण्डवर्ण्यः चण्डीशचारु चरणाम्बुज चन्चरी कः प्रज्ञापयोरिह देवगणस्तनूजः ॥१३॥ एतद्यस्य जगद्यशोभिरभितो डिण्डीरपिण्डप्रभैराक्रान्तन्धवलम्बिलोक्य निखिलं गोपाङ्गनावीक्षितः । कालिन्दी ह्रदकालनेमिदलन प्रारंभवीतादरस्तीरे ताम्यति वारिराशि तनयास्तोपि जातभ्रमः ।१४॥ पीयूषद्रवसान्द्रबिन्दुवर्सातिर्यस्य वाक्चन्द्रिका विद्वच्चक्र-चकोरचन्चुपुटकै' रापीयमानानिशम्। 'किञ्चा यं कर पन्जरोऽखिलमिलश्नाना-दिगन्तार्थिना भूयोऽभीष्टफल प्रदान चतुरस्वाधीन कल्पद्रुम : ॥१५॥ चन्द्रिकेव शिशिरांशुमालिनो मंजरीव सुरमेदिनीरुहः। कान्ति निर्जित सुरा-ङ्गनागणा तस्य साधुचरिता वधूः प्रभा ॥१६॥ जाम्हो नाम्नी द्वितीयास्य विलासवसतिः प्रिया। अमितप्रेमबाहुल्यायं प्राणमन्दिरम् ॥१७॥ लावण्य प्रतिमल्लतामदभरा मौलिन्दुना क्रोधतो दग्धस्यापि मनोभवस्य भुवने विद्येव सन्जीवनी। सत्सौभाग्य गुणंक गर्व्वंवसतिः प्राणधिका प्रेयसी यां निर्म्माय सरोजभूः प्रमुदितः प्राप्तः परां निर्वृतिम् ॥१८॥ अबोधध्वान्तसन्ताकविरि कुम्भ विदारणः । जगत्सिंहोऽस्य तनयः सिंहवद्भुवि राजते ॥१९॥ सारकारिरसौ शैलसुतासनुरयं पुनः सुतोरायरसिंहोऽस्य बन्धुवर्गस्य तारकः ॥२०॥ भोपास्य दुहिता साध्वी कलिकालविचेष्टितैः अस्पृष्टा स्वर्द्धुनीवेयं भुवनत्रयपा वनी ॥॥ २१॥वाल्हू श्री देवदासाख्यौ बद्धसख्यौ परस्परम् जगद्द्योतकौ भातः पुष्प वन्ताविवाम्बरे॥२२॥ वातोद्धूति विलोल तूल तरणं नृणामिव जीवितं लक्ष्मीं घोर घनान्तराल विलसद् विद्युद्विलासोपमाम्मत्वैतदुरितौघदा-रुदहन प्रोद्दाम दावानले श्रद्धामुद्धत धर्म्मबुद्धिरकरोच्छ्रेयः पथे शाश्वते ॥२३॥ चक्रे देव गणों धाम विल्वपाणि पिनाकिनः। सौंबाग्रामेतुषाराद्रि शिखिराभोग-भासुरम् ।।२४।। नाना भूपाल भुक्त क्षितिजघनघनाश्लेषतोषादिवादौ दिग्वामा-कामपीड़ा तरलतनु गुरुश्लेषलिप्सं समन्तात् कामी वेदम्विदग्धौ विरचित परम प्रेमहासंत्वरावत्स्ववर्वामाणं समक्षं गगन परिसर श्रीमुखं चुम्बीतीव ॥२५॥ निः शेषागमशुद्ध बोध विभवः काव्येषु यो भव्य धी: सत्तवकर्म्बुधिपारगो भृगुसुतो यो दण्डनीतौ मतः॥ छन्दोऽलङ्कृतिशब्दमन्मथकलाशास्त्राब्ज चण्डद्युतिश्चक्रे देवगणः प्रशस्तिममलां श्रीरत्नसिंहात्मजः॥२६॥ यः काव्यकैरव विकासनशीतरश्मि रुद्दामबुद्धि निलयोऽत्र-निपालसूनुः। विद्याविलासवसतिर्विमलां

प्रशस्तिं श्रीमानिमां कुमरपाल बुधोलिलेख ॥२७॥ प्रशस्तिरियमुत्कीर्णाविचित्र अल्पंक्तिभिः श्रीमता सूत्रधारेण सांपुलेनमनोरमा ॥२८॥ देवगणवेतौ रूपकार शिरोमणी चक्रतुर्घटनान्धाम्नो बिल्वपाणिपिनाकिनः ॥२९॥ घनघर्म किरणावलीवलयितं यावद्विधत्ता ऽजगद्दिङ मातङ्ग घटोपबृंहितधराचक्रऽजकू- नक्षत्रप्रकरोरुहारलतिकाऽलकांरसारं नभस्त्व कीर्तिर्म्मदनारिमन्दिर मिषात्तावचिरा नन्दतु ॥३०॥ सं० १२०७

(टीप :—मूल प्रशस्ति में अनेक स्थानों में शब्द छूट गये हैं तथा अशुद्धियाँ भी हैं जो स्पष्टतः उत्कीर्ण करने वाले कारीगर की असावधानी के कारण हुई होगी) ।

भावार्थ —सिद्ध । ओम शिव को नमस्कार । वे रुद्र आपकी रक्षा करें, जो रति के समय पार्वती के आपत्ति करने पर यह प्रबोधन करने पर लगे हुए हैं कि इस क्रिया को नागराज कैसे देख सकते हैं जो आँखों से कान का काम लेते हैं और इस चन्द्रकला का तो बचपन भी नहीं बीता है । १। गणों के अग्रणी गणपति जिनके विशाल कुंभस्थल पर सिंदूर की मोटी परत चढ़ी हुई है और जो अपनी सूंड़ को नचा नचा कर सभी दिशाओं और आकाश को मंडित करते हैं तथा वृक्षों के कतार के कतार को उखाड़ने का खेल कर रहे हैं आपके वैभव के लिए अनुकूल हों । २ । वह स्वच्छ किरणों का देव चंद्रमा, जो अमृत की धारा बहाने वाली रश्मियों के दलों से दिशाओं को चक्रान्वित कर देता है, जो त्रैलोक्य को विजय करने के हेतु नृप कामदेव के सैन्य के लाभ के लिए दर्पण का काम देता है, जो सुरबालाओं के लिए रत्नजटित कर्णबाला के सदृश है और जिसका शुभ्र सौन्दर्य प्रौढ़ा स्त्रियों के हृदय के बीच गिरि गुहा रूपी मान बनकर बैठ जाता है, उसे भंग कर देता है । ३ । उस चंद्र वंश में भूपाल (प्रथम) जाजल्ल हुआ, जो त्रैलोक्य का आभूषण था, उसने अपने भुजबल से सारे संसार को आक्रान्त कर दिया था और सुरनाथ की उपाधि प्राप्त कर ली थी । वह समुद्र रूपी करधनी पहने पृथ्वीरूपी वधू का वल्लभ था । ४ ।

उसका पुत्र (द्वितीय रत्नदेव) चेदिनरेश की दुर्दमनीय सेना समूह रूपी समुद्र के लिए प्रज्वलित बड़वानल के समान था, जिस प्रकार राहु चंद्रमा के विशाल बिम्ब को पकड़ कर निगल जाता है उसी भाँति उसने दर्प से भरे चोड़ गंग के योद्धाओं का गर्वखर्व कर दिया । उसके अनंत शौर्य और उसकी महिमा के आश्चर्य का पृथ्वी मंडल पर अंत नहीं था । ५ । पूर्ण शशि की विस्तृत

आभा और उसकी बढ़ती हुई यशोभूमि से पृथ्वीदेव (द्वितीय) हुआ। पृथ्वीदेव उग्र प्रतापवान उदय होते हुए सूर्य के समान, विभिन्न दिशाओं से आये बंदीजनों को अभीष्ट वस्तु देने वाला चिन्तामणि के सदृश था। ६। नीति मार्ग का अनुसरण करने वाले और प्रजा के कष्टों को दूर कर आनंद देने वाले इसके राज्यकाल में। ७। कालक्रम से वह कृति गोविन्द (कायस्थ) चेदि देश से तुम्माण देश आया। ८। उसका मामे नामक ज्येष्ठ पुत्र जनानुरागी समुन्नत था और जो राजसभा का भूषण, पंडित रूपी कमलों के लिए सूर्य के सदृश पृथ्वी का तिलक और शिवजी के पादपद्मों का मधुकर था। ६। इसका लघु-भ्राता श्रीराघव गुणों का समुद्र और पृथ्वी मण्डल का आभूषणवत् सूर्य के समान दीप्तिवान था। १०। श्री मामे का पुत्र श्री रत्नसिंह कवि था और साथ ही शील, आचार, विवेक तथा पुण्य का आगार था। उसकी कीर्ति रूपी लता सारी दिशाओं में ऐसी फैली थी जैसे कुन्द और इन्दु की द्युति सारे जगत में फैली रहती है, वह (रत्नसिंह) उन्मत्तों के मद को नष्ट करने वाला लक्ष्मी का क्रीड़ास्थल बना हुआ था। ११। रंभा नामक उसकी पत्नी साध्वी और बंधुजनों से सम्मानित उसी भाँति थी जैसे राजा इन्द्र की पत्नी शची, शंकरजी की पत्नी पार्वती और विष्णुजी की पत्नी लक्ष्मी हैं। १२। इन दोनों से पुत्र हुआ—देवगण। यह विद्वता का समुद्र और शिवजी के चरण कमल का मधुप था। इसने विपक्षी विद्वानों के गर्व को खर्व कर दिया और अपनी कीर्ति तीनों लोक में घोषित कर दी। १३। फेन के समान जिसका यश विश्व में चहुँओर फैल गया है, परिणाम यह हुआ कि सारे जगत को श्वेत देखकर कृष्णजी, जो यमुना के गहरे जल में कालीनाग को मर्दन करने को तैयार हुए थे, भ्रमित हो गये और अनुत्सुक होकर तट पर खड़े दुखी हो रहे हैं और गोपियाँ उन्हें देख रही हैं। १४।

उस देवगण की वाणी को विद्वान उत्सुकता के साथ सुनते हैं क्योंकि उसकी वाणी सुधारस से पूर्ण चंद्रिका के सदृश है, जिसे चकोर पक्षी की गोल गोल चोंच पीती रहती हैं। इधर उसका हाथ भी विभिन्न दिशाओं से आने वाले याचकों को अभीष्ट वस्तु देने में निपुण स्वाधीन कल्पवृक्ष के समान है। १५। और इसकी पत्नी प्रभा जैसे चंद्रमा में चाँदनी और कल्पवृक्ष में मंजरी होती है, बस, उसी प्रकार है। वह सच्चरित्रा है और उसने अपनी कांति से सुरबालाओं को लज्जित कर दिया है। १६। जाम्हो नाम की द्वितीय पत्नी देवगण की विलासवती प्रिया है। अमित प्रेम की अधिकता से वह उसके प्राणों का मंदिर बन गई है।। १७। अद्वितीय लावण्यवती और मदमाती

होने के कारण वह कामदेव जिसे शंकरजी ने कुपित होकर भस्म कर दिया था, को पुनर्जीवन देने के लिए संजीवनी विद्या सिद्ध हो रही है। सत्सौभाग्य पृथ्वी के गर्व का एकमात्र स्थान होने के कारण वह पति को प्राणों से भी अधिक प्यारी है। उसका निर्माण करके स्वयं ब्रह्मा परम सुखी और आनंदित हो उठे थे। १८। इसका पुत्र जगत्सिंह पृथ्वी पर इस भाँति सुशोभित है जैसे अज्ञानाधंकार रूपी हाथियों के कुंभ को फोड़ने वाला सिंह हो। १९। पार्वती-पुत्र तो तारक राक्षस का बैरी है पर उसका (अर्थात देवगण का) पुत्र रायर-सिंह बंधुवर्ग का तारक (कल्याणदाता) है। २०। इसकी (देवगण की) साध्वी पुत्री भोपा है, वह कलिकाल की कुचेष्टाओं से अछूती गंगाजी के सदृश त्रैलोक्य को पवित्र करने वाली है[1]। २१। वाल्हू और देवदास परस्पर बड़े मित्र हैं और चाँद सूरज के सदृश संसार को प्रकाशित करते हुए शोभाय-मान हैं। २२। यह जानकार कि मानव-जीवन वायु के झकोरों से उड़ जाने वाली कपास की नाव के समान है तथा लक्ष्मी ऐसी है जैसे बादलों के बीच विलास करने वाली (चंचला) हो, उस परम धार्मिक (देवगण) ने अपनी श्रद्धा को श्रेय के शाश्वत मार्ग पर लगा दिया जिससे पाप के पुंज ऐसे ही नष्ट हो जाते हैं जैसे प्रचंड दावानल से काष्ट जल जाता है। २३। देवगण ने सांबा नामक ग्राम में बर्फ से ढके हिमालय के उच्चशिखर के सदृश शोभाय-मान विल्व पाणि पिनाकी (शिवजी) का मंदिर निर्माण कराया। २४।

वह मंदिर अनेक राजाओं द्वारा भोगी हुई मोटी जाँघ वाली पृथ्वी के आलिंगन से संतुष्ट जान पड़ता है, किन्तु फिर वह कामदेव से पीड़ित दिशा रूपी स्त्रियों के तरल तन से लिपटने की लालसा से, निपुण कामी के समान परम प्रेम को प्रकटने वाला हास्य करता है तथा देवांगणों के समक्ष ही शीघ्रतापूर्वक गगन परिसर श्रीमुख का चुंबन ले लेता है। २५। समस्त आगम (वेद और समस्त शास्त्र) के अध्ययन से शुद्ध बोध का वैभव प्राप्त करने वाले, काव्यों का भव्य ज्ञान रखने वाले, दण्डनीति में शुक्राचार्य के सदृश मान्यता प्राप्त करने वाले, छंद-अलंकार-शब्द शास्त्र, तथा कामकला शास्त्र रूपी कमल-वन के लिए सूर्य के समान दीप्तिवान श्री रत्नसिंह के सुपुत्र देवगण ने इस दोषरहित प्रशस्ति की रचना की। २६। जो काव्यरूपी कुमुदिनी को विकसित करने के लिए शीतरश्मि फेकने वाले चंद्रमा के समान है, जो प्रखर बुद्धि के आगार हैं, और जो विद्या-विलास के स्थल हैं, ऐसे श्रीमान् कुमारपाल नामक विद्वान, जो अवनिपाल के सुपुत्र हैं, ने इस विमल प्रशस्ति को लिपिबद्ध, किया। २७। इसे मनोहर तथा रुचिर प्रशस्ति पूर्ण अक्षरों की पंक्ति में

बुद्धिमान सांपुल्ल नामक सूत्रधार ने उत्कीर्ण किया । २८ । देवगण तथा शिल्पियों के शिरोमणि, इन दोनों ने बिल्वपाणि पिनाकी के इस धाम का निर्माण किया । २६ । जब तक चांद और—सूर्य अपनी किरणों का जगत में विस्तार कर रहे हैं, जब तक पृथ्वी दिग्गज मंडल को सम्हाले हुए हैं और जब तक नक्षत्र समूह लता के समान फैल कर लंबे हार से आकाश को अलंकृत कर रहे हैं, तब तक आपकी (देवगण की) कीर्ति इस शिवमंदिर के बहाने चिरकाल तक वर्द्धिगत होती रहे । ३० । संवत् १२०७ वि०

पुजारी पाली (सारंगढ़) में गोपालवीर का एक शिलालेख[1] प्राप्त हुआ है । उसमें नारायण नामक एक सत्कवि का परिचय एक श्लोक में दिया गया है । पर उसमें उल्लिखित उनके द्वारा रचित "रामाभ्युदय" नामक रसमय काव्य ग्रंथ का पता नहीं चलता । वह श्लोक इस प्रकार है—

श्री वक्षश्चरणाब्ज पूजनमतिर्नारायणः सत्कविः
श्री रामाभ्युदयमिधं रसमयं काव्यं स तद्यो भ्यात्
स्मृत्यारूढ़ यदीय वाक्य रचना प्रादुर्भवन्निर्भर
प्राणोल्लासित चित्त वृत्तिरमुचत् वाग्देवता वल्लकीम्

(श्लोक ४३)

रत्नपुर के रेवाराम बाबू कायस्थ बड़े विद्वान और प्रतिभाशाली कवि थे । इन्होंने भाषा और संस्कृत में कई ग्रंथ लिखे थे । पं० तेजनाथ शास्त्री का रामायण सार संग्रह नामक संस्कृत ग्रंथ प्रसिद्ध है । इन दोनों साहित्यकारों का प्रादुर्भाव मराठाकाल में १७–१८वीं शताब्दी में हुआ था ।

---

१ कोसल प्रशस्ति रत्नावली, पृष्ठ २४, लो० प्र० पाण्डेय

२१

हिन्दी के साहित्यकार

इस क्षेत्र की भाषा के क्रमिक विकास के अध्ययन से यह कहा जा सकता है कि अन्य क्षेत्रों के सदृश यहाँ भी हिन्दी का विकास ब्रज एवं अवधी के उपरांत हुआ। प्राचीनकाल में यहाँ की सभ्यता एवं संस्कृति का स्वरूप कैसा था यह हमारे इस ग्रंथ के अवलोकन से बहुत अधिक अंशों में ज्ञात होगा और यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकेगा कि हिन्दी साहित्य की परम्परा यहाँ अत्यन्त गौरवपूर्ण रही है।

इस क्षेत्र की प्रमुख भाषा हिन्दी और लोकभाषा छत्तीसगढ़ी है। छत्तीसगढ़ी सर्वाधिक बोली जाने वाली तो है ही पर साथ ही वह समृद्ध भी है जो लोक साहित्य के अध्ययन से स्पष्ट है। प्राचीन इतिहास के सदृश ही यहाँ के साहित्यिक इतिहास की कड़ियाँ भी अभी अंधकार में हैं। प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथ या तो दबा दिये गये या आक्रांताओं द्वारा हरण कर लिये गये या नष्ट कर दिये गये। इस संबंध में पिछले पन्नों में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। उनमें बतलाये गये कारणों से उनका काल विभाजन करना अनावश्यकसा जान पड़ता है।

जो हो, पर छत्तीसगढ़ की महत्ता इसलिए अक्षुण्ण है कि उसने महाप्रभु वल्लभाचार्य जैसे उच्चकोटि के संत तथा विचारक को जन्म दिया। इनका जन्म रायपुर जिले के राजिम के समीप चम्पारण्य नामक स्थान में बैशाख कृष्ण ११ सं० १५३५ वि० में हुआ था तथा अवसान आषाढ़ शुक्ल ३ सं० १५८७ के दिन। आचार्य जी का अधिकांश समय ब्रजभूमि में ही व्यतीत हुआ और यही कारण है कि उनका प्रभाव उत्तरभारत, गुजरात आदि प्रदेश के साहित्य एवं संस्कृति पर जितना पड़ा उतना अन्यत्र नहीं। ब्रज एक पावन तीर्थ-स्थान है, जहाँ भारत के विभिन्न प्रान्तों की श्रद्धालु जनता का आगमन प्राचीन काल से हो रहा है, फलतः वल्लभाचार्य के अनुयायी पर्याप्त संख्या में हर प्रान्त में पाये जाते हैं।

फिर भी छत्तीसगढ़ को इस बात का गर्व तो है ही कि उसने वल्लभाचार्य जैसे पुष्टिमार्ग के संस्थापक को जन्म दिया ।[1]

इस पंथ का लक्ष्य भी शंकराचार्य के मायावाद और विवर्तवाद से मुक्ति प्राप्ति का था। इनके "पूर्व मीमांसा" तथा "उत्तर मीमांसा या ब्रज सूत्र भाषा" महत्वपूर्ण ग्रंथ हैं। इनमें शुद्ध अद्वैतवाद का दार्शनिक दृष्टि से प्रतिपादन किया गया है। श्रीमद्‌भागवत की सुबोधिनी टीका, तत्वदीप निबंध तथा सोलह प्रकरण ग्रंथ इनकी अन्य रचनाएँ हैं। कहते हैं कि "अणुभाष्य" पूर्ण होने के पहले ही वल्लभाचार्य जी का निधन हो गया और उसके शेष भाग को उनके सुपुत्र विट्ठलनाथ जी ने पूरा किया। विट्ठलदास के पुत्र गोकुलनाथ जी ने "चौरासी वैष्णव की वार्ता" और "दो सौ बावन वैष्णव" की वार्ता की रचना की थी।

वल्लभाचार्य के पूर्व भी छ० ग० में संत परम्परा के विकास की कुछ कड़ियाँ मिलती हैं। तेरहवीं शताब्दी में श्री राघवानंद के शिष्य रामानंद ने भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक वैष्णवधर्म के प्रचार का प्रयास किया था जो छ० ग० में पर्याप्त रूप से लोकप्रिय हुआ। उस समय स्त्रियों और हरिजनों को दीक्षा देने का अधिकार नहीं था। इस रुकावट को दूर करने में रामानंदी मत ने महत्वपूर्ण कार्य किया। रामानंद जी ने एक विरक्तदल का संगठन किया, जो वैरागी कहलाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन वैरागियों और दशनामी सन्यासियों का यहाँ बहुत प्रभाव रहा होगा। इनका नारा था—"जात पात पूछे नहिं कोई, हरि को भजे सो हरि का होई"। राजनांदगांव और छुईखदान रियासत के राजे निम्बार्क संप्रदाय के कृष्ण भक्त वैरागी रहे हैं। रामानंदी मठों में स्वामी गरीबदास का मठ जो रायपुर में उनके शिष्य बलभद्रदास द्वारा स्थापित किया गया था, दूधाधारी मठ के नाम से आज भी प्रसिद्ध है। इसी प्रकार दूसरा मठ शिवरीनारायण में है, जो हैहयवंशी राजाओं के समय से चला आ रहा है। इस मठ के प्रवर्तक स्वामी दयाराम जी थे।

संतधरमदास[2] कबीरदासजी के पट्ट शिष्य थे। इनका समय १७वीं शताब्दी मानी गई है। इस वंश की एक गद्दी कंवर्धा में है। कहते हैं, पहले कंवर्धा का नाम "कबीरधाम" था जो बोलते बिगड़ते कंवर्धा हो गया है।[3]

१– छ० ग० के साहित्यकार पृष्ठ ६, ब्रजभूषण सिंह आदर्श
२– छ० ग० के साहित्यकार, पृष्ठ ६–७, ले० ब्रजभूषण सिंह आदर्श
३– महाकोशल का दीवाली अंक सन् १९७१

कबीर की वाणी में अंध परम्परा एवं बाह्यडम्बर के प्रति जो आक्रोश है वह धरमदास की रचनाओं में नहीं पाया जाता। इनके नाम से बहुत सी रचनाएँ प्रसिद्ध हैं, जिनमें कुछ सामान्य स्तरीय हैं और कुछ में उच्च बौद्धिक दार्शनिक तत्वों का विवेचन किया गया है।

छत्तीसगढ़ में १८वीं सदी में सतनामी संप्रदाय का प्रसार हुआ, जिसके प्रवर्तक जगजीवनदास बाराबंकी जिले के चंदेल क्षत्रिय थे। उनका वचन है—
"सत समरथ ते राखि मन करिय जगत को काम"

इस संप्रदाय की एक शाखा जो छ० ग० में बहुत पनपी उसके प्रवर्तक दुर्ग जिले के गिरोद निवासी घासीदास थे। इनकी आज्ञा थी—"सत्यनाम जपा करो। देवी-देवताओं का पूजन त्याग दो, सभी मनुष्य बराबर हैं, ऊँच नीच कोई जाति नहीं है और न मूर्ति पूजा में कोई सार है। हिंसा करना पाप है।" रायपुर से १८ मील दूर बंगोली नामक ग्राम में घासीदास जी की समाधि है। यहाँ माघ पूर्णिमा को सतनामियों का मेला लगता है।

पर सच पूछिये तो कबीरदास की छ० ग० शाखा का साहित्य सर्वाधिक है। कबीर बानी, निरभैज्ञान रेखता, हंस मुक्तावली, संतोषबोध, मूलज्ञान, अमरमूल, धनी धर्मदास की शब्दावली, काफिर बोध, भवतारण बोध, ज्ञानबोध, कर्मबोध, मुक्तिबोध, ब्रह्म निरूपणम्, जीवधर्म बोध, कबीरपंथी नीति दर्शन, सुख विधान, इत्यादि ग्रंथों का काफी प्रचार है। इनके अतिरिक्त श्री गुरु महात्म, ज्ञान तिलक, ज्ञान प्रकाश, विवेक सागर, धर्मबोध, ज्ञान स्थिति बोध, ब्रह्मविलास, उग्रगीता आदि पुस्तकें छत्तीसगढ़ी शाखा से संबंधित हैं। संत धर्मदास की अनेक रचनाएँ बानी ग्रंथ में संग्रहीत हैं। इनकी कविता में विशेष कलापक्ष तो दृष्टिगत नहीं होता परंतु भाषा स्वाभाविक और प्रवाहमयी है। इनके काव्य में भाषा का रूप यों स्वाभाविक रूप से, बांधवगढ़ के निवासी होने के कारण बघेलखंडी होना चाहिए परंतु कबीरदास के शिष्य तथा अनुयायी होने के कारण इन्होंने अपनी भाषा तक में परिवर्तन करके उसे पूर्वी रूप दे दिया है।[1]

संत साहित्य की परम्परा को छोड़ जब हम सामान्यतः अन्य साहित्यिक क्षेत्र में आते हैं तो चारण कवियों के मुक्तक काव्य प्रवृत्ति पर प्रकाश पड़ता है। खैरागढ़ रियासत में नौ चारण कवि एक ही वंश के पाये गये हैं, जिन्होंने विक्रम सं० १५४४ (सन् १४८७) से लेकर बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ तक

१ — कविता कौमुदी, रामनरेश त्रिपाठी

वभिन्न २४ राजाओं के आश्रय में रहकर साहित्य साधना की। इनके पूर्वज का नाम दलराम राव था और अंतिम थे कवि कमलराय।

कहा जाता है कि इनके पूर्वज दलरामराव ने छोटानागपुर के युवराज लक्ष्मीनिधि कर्णराय के साथ सं० १५४१ में देशान्तर गमन किया था। लक्ष्मी निधि कालान्तर में मंडलानरेश संग्रामसिंह के प्रधान मंत्री हुए और सं० १५४४ में बुंदेला नरेश को पराजित करने पर इन्हें मंडलानरेश द्वारा खैरागढ़ राज्यान्तर्गत खोलवा परगना पुरस्कार स्वरूप प्रदान किया गया। तब लक्ष्मीनिधि के साथ दलरामराव भी खोलवा चले आये।[1] उनकी एक पद्य-रचना जिसमें 'छत्तीसगढ़' शब्द का प्रयोग प्रथम बार पाया जाता है, इस ग्रंथ के पृष्ठ ४० में उद्धृत किया गया है।

इस कविता से एक बात बिलकुल नई ज्ञात हुई कि संवत् १५४४ अर्थात् सन् १४८७ में इस अंचल का नाम छत्तीसगढ़ प्रचलित हो चुका था, जो इसके पहले लिखा जा चुका है कि कुछ विद्वानों का अनुमान है कि इस भूभाग के लिए छत्तीसगढ़ सन् १४९३ के लगभग प्रचार में आ चुका था। यह उपर्युक्त दलरामराव की रचना से प्रमाणित हो जाता है।

खैरागढ़ के चारणवंशी कवियों में एक विशेषता यह रही कि उनकी रचनाओं में अतिशयोक्ति का बाहुल्य कभी नहीं रहा अन्यथा चारण कवि अतिशयोक्ति का पुल बांधने में परम निपुण समझे जाते हैं।

दलराम राव के सुपुत्र दलवीर राय ने जब सन् १५४० में खैरागढ़ के राजा घनश्याम राय गोडों की सेना में मुठमेड़ लेने के लिए तत्पर हुए तब कहा था—

> **गोंड़ न कटक देख भूप भय खाना नहि,**
> **झाड़ो तलवार और हिम्मत अड़ाना है,**
> **कल-बल-छल और साहस बहादुरी से**
> **शान न घटाना और अकल बढ़ाना है।**
> **मारो ललकार दल आगे को बढ़ाते चलो,**
> **बान करपान झाड़ वीरता दिखाना है।**
> **भूप घनश्याम राय कवि दलवीर भाखै**
> **हिम्मत को छोड़ना न कीरत बढ़ाना है।**

---

१ छ० ग० के साहित्यकार, पृ० ८, ब्र० भू० सिंह आदर्श

आज से लगभग साढ़े चार सौ वर्ष पहले छ० ग० प्रान्त में रच गई शुद्ध खड़ी बोली की कविता को पढ़कर सचमुच विस्मित होना पड़ता है।

खैरागढ़ राजदरबार में पीढ़ी दर पीढ़ी अनेक प्रतिभाशाली कवि हो गये हैं। सन् १६४३ में राजा ओघड़राय सिंहासनारूढ़ हुए थे। तत्कालीन दरबारी कवि सुन्दरराव ने अपने राजा का जो अलंकारपूर्ण भाषा में वर्णन किया है वह इस प्रकार है—

> देखि बुद्धिमानी ज्ञानी होत आनंद बड़े, करहिं प्रशंसा नृपराज
> तो छली से थे।
> जाके जस जाहिर जहान में प्रकाश होत, सुन्दर स्वरूप जैसे स्वच्छ
> निर्मली से थे।
> दामिनी समान साज बैठे बीच दरबार, ओघड़ राय भूप
> मानों कुंज की कली से थे।
>
> मन बीच शंका नहिं जरा राखै दान देत,
> ऐसे दानधारी पूरन बली से थे।

गोपाल कवि—

रतनपुर के गोपाल[1] कवि हिन्दी काव्य-परंपरा की दृष्टि से छत्तीसगढ़ के बाल्मीकि हैं। "खूब तमासा" तत्प्रणीत आदि काव्य हैं। हिन्दी साहित्य के रीतिकालीन भक्ति कवियों में उनका महत्वपूर्ण स्थान होना चाहिये, किंतु मूल्यांकन के अभाव में उनका क्षेत्रीय महत्व समझकर ही हम संतुष्ट हो लेते हैं। गोपाल कवि के दुर्भाग्य ने ही मानो उन्हें छत्तीसगढ़ में आश्रय दिया, अन्यथा उत्तर भारतीय समीक्षकों की लेखनी में आज तक वे रीतिकाल के महाकवि रूप से प्रसिद्ध हो चुके होते।

पिता तथा पुत्र के नाम के अतिरिक्त उनके पारिवारिक जीवन के संबंध में कुछ भी अंतः साक्ष्य नहीं मिलता। उनके पिता का नाम गंगाराम था तथा पुत्र का नाम "माखन" था। वे ब्राह्मण थे। विद्वानों ने उनका जन्मसंवत् १६६० या ६१ माना है। वे रत्नपुर के राजा राजसिंह के आश्रित थे। उन्हें भक्त का हृदय मिला था। उनका आविर्भाव औरंगजेब काल में हुआ था। औरंगजेब के अत्याचार से वे क्षुब्ध थे। स्पष्टवादिता गोपाल कवि की विशेषता

---

१ विष्णु यज्ञ स्मारक ग्रन्थ, पृष्ठ १२३, लेखक द्वारा सम्पादित

थी। राजा रामसिंह के हित की दृष्टि से उन्होंने जो नीतियाँ कही हैं, उनमें उनका खरापन दिखाई पड़ता है। राजाओं के दोषों का वर्णन उन्होंने बड़ी निर्भीकता से किया है। धर्म उनके जीवन में ओतप्रोत है। धर्म से अलग होकर वे किसी भी समस्या का समाधान ढूंढने के लिए तैयार नहीं हैं। अतः हिन्दुत्व उनकी दृष्टि है। कबीर की तरह वे खंडित हिन्दुत्व के पोषक नहीं थे।

उनके निम्नलिखित ग्रंथ उपलब्ध हैं—१. खूब तमाशा, २—जैमिनी अश्वमेध, ३—सुदामा, चरित, ४—भक्ति चिंतामणि, ५—राम प्रताप। उन्होंने औरंगजेब की अमानवीय नीतियों से क्षुब्ध होकर एक प्रभावपूर्ण ग्रंथ की रचना की थी, जिसे पढ़कर वीररस का संचार होता था। राजा रामसिंह इसे पढ़कर उत्तेजित हो गये और औरंगजेब से लोहा लेने को प्रस्तुत हो गये, किंतु उनके हिताकांक्षियों ने येन केन प्रकारेण उन्हें शांत किया। बात इतने में ही समाप्त नहीं हो गई। उन हितैषियों ने गोपाल कवि की इस पांडुलिपि तक को नष्ट कर दिया। इस ग्रंथ का नाम "शठ शतक" बताया जाता है। इस घटना के बाद गोपाल कवि रत्नपुर के राजाश्रय से अलग हो गये। कहा जाता है कि "जैमिनी अश्वमेध" की रचना खैरागढ़ में हुई।" "खूब तमाशा " तथा "जैमिनी अश्वमेध" के रचना-काल से इसकी पुष्टि होती है। "खूब तमाशा" की रचना संवत् १७४६ में हुई, जबकि जैमिनी अश्वमेध की रचना संवत् १७५२ में हुई। इन दोनों के बीच ६ वर्षों का व्यवधान यह मानने से रोकता है कि इस अवधि में कवि की लेखनी निष्क्रिय रही। अवश्य ही, इस बीच कोई ग्रंथ लिखा गया होगा, जो आज हमें उपलब्ध नहीं है और वह ग्रंथ, संभव है, "शठ शतक" ही हो।

"खूब तमाशा" में विविध विषयों का प्रतिपादन हुआ है। ऐतिहासिक अन्वेषण की दृष्टि से उनका बड़ा महत्व है। स्व० श्री लोचनप्रसाद पाण्डेय ने अनेक तथ्यों की पुष्टि "खूब तमाशा" के उद्धरणों से की है। इसमें कवि के भौगोलिक ज्ञान का भी परिचय मिलता है। संस्कृत साहित्य के वे गम्भीर अध्येता थे। खूब तमाशामें जहाँ एक ओर कवि का पांडित्य मुखरित हुआ है, जहाँ उनकी काव्य मर्मज्ञता संचय है, तो दूसरी ओर कवि की रीतिकालीन प्रवृत्तियों का परिचय भी। निःसंदेह गोपाल कवि काव्य के आचार्य थे। उन्हें भारतीय काव्य-आदर्शों का गम्भीर अध्ययन था।

"जैमिनि अश्वमेध" जैमिनिकृत संस्कृत अश्वमेध' के आधार पर लिखा गया है। महाभारत युद्ध के बाद युधिष्ठिर को "गोतवध"(गोत्रवध) पर पश्चाताप हुआ। व्यास जी ने इस पाप से निवृत्त होने के लिये उन्हें अश्वमेध यज्ञ करने

२०

का परामर्श दिया। युधिष्ठिर ने उसकी पूर्ति की। इसी कथा का आधार लेकर कवि ने इस ग्रंथ की रचना की है। इसका युद्ध वर्णन पठनीय है--

लखि सैन अपारहि क्रोध बढ़यो
बहु बाननि भूतल व्योम मढ़्यो
जितही कित बीर उठाइ परै
चतुरंग चमू चक चूर करै
गिरि से गजराज अपार हनै
फरकै फरही हय कौन गनै
तिहि मानहु पौन उड़ाइ दयो
गज पुँजनि को जनु सिंह दल्यौ

गोपाल कवि का "सुदामा चरित" नामक ग्रंथ एक छोटा खंड काव्य है। प्रतिपाद्य विषय का अनुमान नाम से ही हो जाता है। द्वारिकापुरी में एक घुड़साल का वर्णन पढ़िये--

देखत विप्र चले हय साल विसाल बँधे बहुरंग विराजी
चंचलता मन मानहि गंजन मैनहु की गति ते छबि छाजी
भाँति अनेक सके कहि कौन सकै न परै तिन साजसमाजी
राजत हैं रव हंस लवै गति यों जो गोपाल हिये द्विज बाजी

"भक्ति चिंतामणि" तथा "राम प्रताप" दोनों प्रबंध काव्य हैं। दोनों बड़े आकार में हैं। इनमें एक "कृष्ण काव्य" है,तो दूसरा "राम काव्य"। हिन्दी साहित्य के भक्ति काल में सगुण भक्ति की दो शाखाएँ थीं--रामाश्रयी तथा कृष्णाश्रयी। गोपाल कवि की काव्यभूमि पर उक्त दोनों धाराएँ आकर संगमित हुई हैं। इन ग्रंथों के आधार प्रमुखतः संस्कृत ग्रंथ हैं। "भक्ति चिंतामणि" की भूमिका श्रीमद्-भागवत का दशम स्कन्ध है। "राम प्रताप" में बाल्मीकि का प्रभाव है। "भक्ति चिंतामणि" में कवि की भावुक अनुभूतियाँ अधिक तीव्र हो उठी हैं। उसमें जैसी संवेदनशीलता है, अभिव्यक्ति के लिये वैसा काव्य कौशल भी उसमें विद्यमान है। "जैमिनि अश्वमेध" में जहाँ उग्र भावों की आँधी है, वहाँ भक्ति चिंतामणि में भक्ति का मंथर प्रवाह।

गोवर्धन-धारण के अवसर पर ग्वाल-गर्व-हरण का यह विनोद देखिये--

ग्वालन के गरब बिचारि कै गोपाल लाल
ख्याल ही में कीन्हें नेक गिरि छुटकाई है

दै दै कोक बलत उपेलत परत मुकि
टूटत लकुरि कहुँ टिकत न पाई है
शरण सखा करि टेरत बिकल मति
आरत पुकारत अनेक बिललाई है
बाबा को न पाइ बाबि आरत पहार तर
राखु राखु रे कन्हैया तेरी हम गाई हैं।

"राम प्रताप" का कुछ अंश उनके पुत्र माखन ने पूरा किया था। समझा जाता है कि "राम प्रताप" पूर्ण होने के पूर्व ही गोपाल कवि का निधन हो गया। इसमें राम जन्म से लेकर उनके साकेत धाम गमन तक की पूरी कथा ग्रहण की गई है। इसमें प्रसंगानुसार सभी रसों के परिपाक हुए हैं। कवि की यह अंतिम रचना है, अतः इसकी प्रौढ़ता स्वाभाविक है।

गोपाल कवि को पिंगल शास्त्र का गहन अध्ययन था। उसमें पूर्णता प्राप्त करने के बाद ही सम्भवतः उन्होंने काव्य सृजन प्रारंभ किया। उनके सारे ग्रंथों में पद पद पर बदलते छंद हमें आचार्य केशव की याद दिलाते हैं। छंद प्रयोग की दृष्टि से वे उनसे प्रभावित लगते हैं। एक मात्र "जैमिनि अश्वमेध" में ही उन्होंने ५६ प्रकार के छंदों का प्रयोग किया है। छप्पय, दोहा, त्रोटक, घनाक्षरी, चौबोला, तोमर, सवैया, तथा सोरठा उनके प्रिय छंद प्रतीत होते हैं। युद्ध की भीषणता के लिये छप्पय तथा नाराच का विशेष प्रयोग हुआ है।

अपने काव्य मे विविध छंदों के प्रयोग से उनकी तुलना, इस पुस्तक में वर्णित संस्कृत के ईशान कवि से की जा सकती है। विविध छंदों की बानगी दिखाने के बावजूद भी आचार्य केशव की भाँति उन्होंने इसे काव्य का प्रयोजन नहीं बनाया।

कवि की चार पुस्तकें प्रकाशित हैं। "सुदामा चरित" अप्रकाशित है। इसमें दो मत नहीं हो सकते कि सही मूल्यांकन के बाद इन्हें महाकवि का स्थान प्राप्त होगा और छत्तीसगढ़ के लिये यह गौरव की बात होगी कि उसने भी हिन्दी साहित्य जगत को एक महाकवि प्रदान किया।

गोपाल कवि के पुत्र माखन ने "राम प्रताप" के अंतिम भाग की पूर्ति की है। काव्य-रचना में इनकी पैठ पिता के समान ही थी। "राम प्रताप" में किसी भी स्थान पर "जोड़" नहीं दिखाई पड़ता। उसमें दो शैलियों का आभास नहीं मिलता। यह तथ्य माखन कवि के काव्यकौशल का परिचायक है।

वे अत्यंत पितृभक्त थे। उन्होंने "छंद विलास" नामक पिंगल ग्रंथ लिखा है। उसमें अनेक स्थानों पर "गोपाल विरचित" लिखा है। "छंद विलास" पूर्णतः माखन की रचना है। इसमें ५०० छंद हैं, जो सात भिन्न भिन्न तरंगों में विभाजित किये गये हैं।[1]

रेवाराम बाबू

गोपाल कवि की भाँति रत्नपुर के रेवाराम[2] बाबू का भी मूल्यांकन की दृष्टि से बड़ा दुर्भाग्य रहा। रेवाराम बाबू हिन्दी के साथ संस्कृत के भी बड़े समर्थ विद्वान थे। अनुमानतः १८७० संवत् में इनका जन्म हुआ था। आपके आविर्भाव के समय छत्तीसगढ़ में मराठा शासन था। कुछ बीमारी से इनके पाँव फूले हुए थे तथा जमीकंद की गाँठों की तरह गाँठें निकल आई थीं। इससे लोग उन्हें जमीकंद बाबू कहकर पुकारा करते थे।

हिन्दी, ब्रजभाषा तथा संस्कृत के साथ ये उर्दू-फारसी में भी निष्णात थे। आप संगीत के भी जानकार थे। इनकी पत्नी का नाम फुंदरी था। वह बड़ी सुंदरी तथा पतिपरायणा थी। पत्नी की मृत्यु पर उन्होंने यह श्लोक लिखा—

मृद्वी मृद्वी कहृद्योल्लासित्त हृदि सुबाधाय रामांघ्रिपद्मम्
गीतां गीतांनिपीयश्रवसि महिसुरंर्थ्यामि पृथ्वीग्रहेंदौ
साध्वां साध्वीश वाग्मी रवि रवि दिवसे प्रातराषाढ़ कृष्णे
चंकादश्यामुपोष्यो हरिपद गमत्फुंदरी सुंदरी मे।

इनकी संतति के संबंध में कहीं प्रामाणिक उल्लेख नहीं है। जनश्रुति के अनुसार इनकी एक पुत्री तथा एक पुत्र थे। पुत्र की मृत्यु अल्पायु में हो गई। बाबू जी जगदम्बा के उपासक थे। पुस्तकें रचनकर वे जीवन-निर्वाह करते थे। बालकों को संस्कृत पढ़ाकर भी कुछ द्रव्य अर्जन कर लिया करते थे। इनके संबंध में यह सत्य है कि इनकी भी सरस्वती से, लक्ष्मी रूठी हुई थी।

रत्नपुर बहुत पहले से छत्तीसगढ़ की राजधानी रहता आया है। अतः यहाँ पंडितों का सदा अभाव होता रहा। वाराणसी आदि स्थानों से अनेक विद्वान यहाँ शास्त्रार्थ के लिये आते थे। रेवाराम बाबू अपने समय में यहाँ के अकेले विद्वान् थे किंतु सीधे शास्त्रार्थ नहीं करते। वे शास्त्रार्थ के समय अपने

---

१. बिल्लू पत्र स्मारक ग्रंथ पृ० १३५, लेखक द्वारा

सम्मुख एक ब्राह्मण बिठा लेते थे। रेवाराम बाबू कायस्थ थे, अतः सम्भवतः अपने को शास्त्रार्थ का अधिकारी नहीं समझते थे।

बाबू बड़े उदार स्वभाव के थे किंतु स्वाभिमानी भी थे। इनका देहावसान संवत् १९३० के आसपास हुआ। मृत्यु के समय इन्हें अत्यंत कष्ट हुआ था।

इनके १३ ग्रंथों का पता लगता है। वे निम्नलिखित हैं—(१) सार रामायण दीपिका (२) ब्राह्मण स्तोत्र (३) गीतामाधव महाकाव्य (४) नर्मदाष्टक (५) गंगालहरी (६) रामाश्वमेध (७) विक्रम बिलास (८) रत्नपरीक्षा (९) दोहावली (१०) माता के भजन (११) कृष्ण लीला के भजन (१२) लोक लावण्य वृत्तांत (१३) रत्नपुर का इतिहास।

इनमें से प्रारंभ के ५ ग्रंथ संस्कृत में हैं। पश्चात् ६ ग्रंथ हिन्दी के पद्य-साहित्य हैं तथा अंतिम दो गद्य-साहित्य हैं। सार रामायण दीपिका में रामचंद्र की लीला वर्णित है। इसमें इन्होंने अपने प्रत्येक श्लोक की संस्कृत टीका स्वयं लिखी है।

यह ग्रंथ संवत् १९१० की श्रावण शुक्ल साप्तमी को समाप्त हुआ। ब्राह्मण स्तोत्र में ब्राह्मणों की प्रशंसा की गई है। गीत माधव महाकाव्य में बाबूजी ने जयदेव रचित गीत गोविंद के अनुकरण पर गीत लिखे हैं जो लालित्य और प्रवाहमयता में गीतगोविंद से कम नहीं हैं। यह ग्रंथ संवत् १९११ में समाप्त हुआ। नर्मदाष्टक में नर्मदा की महिमा तथा गंगालहरी में गंगा की महिमा का वर्णन है। रामाश्वमेध हिन्दी का काव्य ग्रंथ है। यह प्रकाशित हो चुका है। इसमें विविध छंदों में रामचंद्रजी के अश्वमेध यज्ञ का वर्णन है। "विक्रम विलास" सिंहासन बत्तीसी का पद्यानुवाद है। इस ग्रंथ में "छत्तीसगढ़" शब्द व्यवहृत है —

"तासु मध्य छत्तिसगढ़ पावन। पुण्य भूमि सुर मुनि मन भावन।

"विक्रम चरित" में जगन्नाथ पुरी का सुंदर वर्णन है। "रत्नपरीक्षा" में विभिन्न आचार्य-मुनियों के अनुकरण पर विभिन्न छंदों में रत्नों के प्रकार गुण आदि का वर्णन किया गया है। "दोहावली" फुटकर दोहों का संग्रह है। "माता के भजन" का छत्तीसगढ़ में सर्वाधिक प्रचार है। यह "गुटका" के नाम से प्रसिद्ध है। "कृष्ण लीला के गीत" में कृष्ण लीला है। इसके पद लालित्य से पूर्ण हैं। "लोक लावण्य वृत्तांत" गद्य-साहित्य है। इसके तीन भाग हैं। इसमें सृष्टि रचना संबंधी विषय का पौराणिक आधार पर प्रतिपादन हुआ है। रतनपुर का इतिहास भी गद्य में है। इसमें हैहय वंशी राजाओं का वृत्तांत है किन्तु अपूर्ण है।

इन ग्रंथों के अतिरिक्त अन्य ग्रंथ भी उन्होंने लिखे हैं किन्तु वे उपलब्ध नहीं हैं। इनमें "गीत माधव" महाकाव्य, "रामाश्वमेध" तथा "कृष्ण लीला के गीत" काव्यत्व की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। समुचित मूल्यांकन से हिन्दी तथा संस्कृत साहित्य में इनकी प्रभा बिखर सकती है।

रतनपुर के पं० शिवदत्त शास्त्री ने 'इतिहास समुच्चय'[1] नामक पुस्तक लिखी थी, जिसमें रतनपुर राज्य तथा रतनपुर नगर का विस्तृत वर्णन है। पं० तेजनाथ शास्त्री के भी कुछ ग्रंथ जो संस्कृत तथा भाषा में रचे गये थे, अब अप्राप्य हैं।

१. यह पुस्तक पुरानी अप्रकाशित है।

साहित्य-२

२२. प्राचीन छत्तीसगढ़ की राजभाषा

२३. प्राचीन छत्तीसगढ़ी साहित्य

२४. छत्तीसगढ़ी एक अध्ययन

२५. छत्तीसगढ़ी लोक साहित्य

२६. छत्तीसगढ़ी सांगीतिक उपलब्धियाँ

२२

प्राचीन छत्तीसगढ़ की राज भाषा

प्राचीन छत्तीसगढ़ में प्रचलित भाषा के स्वरूप का ठीक ठीक पता नहीं चलता। किन्तु इतना तो कहा जा सकता है कि उसका कोई स्थिर स्वरूप नहीं रहा होगा और आदिवासियों की बोली, विभिन्न प्रान्तवासियों की बोली तथा विभिन्न प्रान्त निवासियों की बोली के मिश्रण से छ० ग० के गद्य का निर्माण तथा विकास होता चला गया होगा। छ० ग० के नगरों में विशेषकर विभिन्न देश के निवासी बस गये हैं। ग्रामों में भी उनका प्रवेश हो गया था। फलतः समझना होगा कि वर्तमान गद्य की नीव पड़ चुकी थी और विभिन्न भाषाओं के शब्दों से उसका भंडार भरते चला गया होगा। हिन्दी, उड़िया, बंगला, मराठी आदि भाषाओं की गणना भारत की आधुनिक आर्यभाषाओं में की जाती है। ये समस्त भाषाएँ विभिन्न ऐतिहासिक कालों मे प्राकृत, पाली, संस्कृत एवं अपभ्रंश से उत्पन्न हुई हैं। उर्दू-फारसी का भी प्रवेश हो चुका था। परिणाम यह हुआ कि छत्तीसगढ़ में आर्य परिवार की बोलियों की प्रमुखता है और ये बोलियाँ धीरे धीरे निकटवर्ती अनार्यों की बोली पर हावी होकर उन्हें मिटा रही हैं या आत्मसात कर रही हैं। इन सब का सांकेतिक प्रमाण उस पत्र से मिलता है जिसे विक्रम सं० १७४५ (सन् १६८८) को रतनपुर के तत्कालीन राजा तखतसिंह की ओर से उनके चचेरे भाई रायपुर के शासक राजा शेरसिंह देव को राज्य के दीवान द्वारा लिखा गया था। उपर्युक्त पत्र की प्रतिलिपि[1] सूचनार्थ नीचे दी जाती है—

श्री

कटीजू कइ सही होइ

श्रीकृष्णकारी कान्हविजय सखा स्वस्ती श्री महाराजधिराज कटी महाराजा कटी राजा श्री श्री राजा तखतसिंह देव राजे रतनपुर योग्य स्वस्ती श्री

---

१. श्री विष्णु यज्ञ स्मारक ग्रंथ, पृष्ठ १०३, लेखक द्वारा

महाराजकुमार राजा श्री मेरसिंह देव भाई प्रति लिखित अस जो कई राज कह बटार दीन्हें मध्यस्थ पंच राजा श्री नरसिंग देव आदि जगह बाट दीन्हें सेवा राजगादी कई सल्लाह सरई कि परमपरा कह देने जथा जोग बिदा गजह्

रायपुर	ग्राम	६४०
राजिम	"	८४
दुरुग	"	८४
पाटन	"	१५२
खलारी	"	८४
सिरपुर	"	८४
लवन	"	२५२

यह परिगन सात सात करि कई वर्त बूक करत जाउ। सही कातिक सु संं० १७४५ सही रामधर देवान कइ तथा बाबू रामसाय देवान कइ।

मुंदरी मुंदरी (मुहर)

पत्र के ऊपर "श्रीकृष्ण कारी कान्ह" उत्कीर्ण है। वह रेवाराम बाबू अनुसार मयूरध्वज को वरदान देते समय श्रीकृष्ण जी ने 'वान' स्वरूप दि था। "वान", हिन्दुओं की कई जातियों में कुल या गोत्र तथा प्रवर के स संकेत चिन्ह माना जाता है।

इसी भाषा से मिलती जुलती भाषा उस ताम्रपत्र की है जिसे रायपुर राजा अमरसिंग देव ने ठाकुर नंदू तथा घासीराम के प्रति वि० सं० १७ (सन् १७३५) लिख दिया था। यह ताम्रपत्र आरंग के अंजोरी लोधी के पाया गया था। वह इस प्रकार है—

श्री राम।

सही (राज दरबार)

स्वस्ती श्री महाराजधिराज श्री महाराजा श्री राजा अमरसिंध देव एतो ठाकुर नंदू तथा घासीराम कहं कबूल पट्टा लिषाइ दीन्हें। अस जो छींटा, बूंदा गयारि, मई मुआरी ई सब सकौ न देइ ॥ एक विद्यावान देवान कोकाप्रसाद रा तथा देवान मल्लसाहि विषे बाबू कासीराम कबूल पट्टा सही रायपुर बैठे लिषे कातिक सुदि ७ कहं सं० १७९२ डोंगर पटइल तथा मथुरा पटइल तथा तखत सराफ लिषाइ ले गये राजधानी हू जब नंदू धमतरी उठ गये रहे तब सही कबूल महं आए। ३ कबूल के विद्यावान महंत श्रीमान दास तथा श्री महाराज कुमार ठाकुर श्री उदेसिंग तथा श्री महाराजकुमार लाल श्री कृपालसिंग तथा नाय

परगना और साखी बाबू गुमानसिंह तथा ठाकुर कोदू राइ तथा परिहार [illegible] दुवे।[1]

दरबाहल सिवाइ आवे
सही दीवान कोकाप्रसाद राइके।
सही दीवान [illegible] साहि के।

दोनों दस्तावेजों की तिथियों में ४७ वर्षों का अंतर है पर भाषा में एकदम समानता है। इन पर छत्तीसगढ़ी भाषा का प्रत्यक्ष प्रभाव दिखाई नहीं देता यद्यपि रायपुर वाले ताम्रपत्र में करों के प्रचलित नाम उल्लिखित हैं। दोनों में दो दीवानों के हस्ताक्षर हैं। जिनके नाम के पूर्व बाबू शब्द का प्रयोग किया गया है वह कायस्थ जाति का द्योतक है।

कलचुरि राजाओं के हिन्दी दस्तावेज अभी तक दो ही पाये गये हैं। पहले पत्र के द्वारा रतनपुर के राजा तखतसिंह ने रायपुर के राजा मेरसिंह को राजा नरसिंह देव की मध्यस्थता करने पर परगनों का फिर से बँटवारा किया गया है और मेरसिंह देव को वे परगने दिये गये जिनके नाम उपर्युक्त पत्र में नीचे दर्ज हैं। रायपुर राज्यान्तर्गत ७ परगनों में उस समय (सन् १६८८) राजिउ (राजिम); दुरुग, खलारी, सिरपुर ये ४ परगने ८४-८४ गांवो के थे। लगता है लवन में तीन ८४ सम्मिलित थे और रायपुर राज्य में कुल ग्रामों की संख्या १३८० थी। यदि हम तत्कालीन परम्परा के अनुसार चौरासी गाँवों की संख्या को एक गढ़ मानें तो १३८० गाँवों के १६ गढ़ बनते हैं और ३६ गाँव बच जाते हैं। अर्थात् पूरे १८ गढ़ बनने के लिए ८४+४८=१३२ गाँवों की कमी पड़ती है। रायपुर राज्य में १८ गढ़ और रतनपुर राज्य में १८ गढ़ थे और इसी से इस राज्य का नाम 'छत्तीसगढ़' रखा गया था फिर भी सुविधानुसार ग्रामों की संख्या में कमी बेशी हुआ करती थी। जो हो, इस लेख में हमें विशेषकर तत्कालीन प्रचलित भाषा पर अधिक ध्यान देना है। एक बात ध्यान देने योग्य है कि राजा तखतसिंह अपने पत्र में इस बात पर राजा मेरसिंह को विशेष रूप से ध्यान दिला रहे हैं कि "सेवा राजगादी कइ सलाह सरई कि परमपरा कह निर्वाहि देलें" अर्थात् रतनपुर की राजगद्दी जेठी है और तुम्हारी गद्दी है लहुरी। सो जेठी राजगद्दी की सेवा करने की परम्परा का निर्वाह करना तुम्हारे लिए उचित है।

आरंग वाले ताम्रपत्र के द्वारा रायपुर नरेश अमरसिंह ने ठाकुर नंदू और घासीराम को इस बात के लिए रियायत बख्श दी है कि वे छींटा (व्याह कर

---

१. बिलासपुर वैभव से, प्रणेता लेखक

जो २ रु० का होता था), बूंदा (विधवा विवाह कर), गयारि (भगाई गई स्त्री को रख लेने पर कर) मई मुआरि (निःसंतान व्यक्ति की जायदाद पर कर) कर न दें। छत्तीसगढ़ की निम्न जातियों में ये बिरादरी-टैक्स अभी भी प्रचलित हैं।

इन पंक्तियों के लेखक को संबलपुर राजा के दो ताम्रपत्रों की प्रतिलिपियाँ देखने को मिली थीं। इन ताम्रपत्रों का मिलान उपर्युक्त दोनों दस्तावेजों की भाषा से करने पर बड़ा अंतर मिलता है, यद्यपि इनकी तिथियों में विशेष अंतर नहीं है अर्थात् पहला संबलपुरी ताम्रपत्र राजा तखतसिंह के पत्र के केवल दो वर्ष पश्चात् लिखा गया है। संबलपुरी ताम्रपत्र की भाषा अधिक विकसित और संगठित पाई गई थी। रतनपुर और संबलपुर में लगभग १२० मील की दूरी है और रतनपुर में हैहयवंशी राजाओं के राज्य होने के कारण वहां अच्छी हिन्दी जानने वालों की संख्या अधिक होना चाहिए। इधर संबलपुर था उड़ीसा प्रांत (तत्कालीन हीराखंड राज्य) में। फिर भी उसकी राजभाषा छत्तीसगढ़ी प्रभावित हिन्दी थी। संबलपुर में प्राप्त दूसरे ताम्रपत्र की भाषा में, यद्यपि यह ८० वर्ष पीछे लिखा गया था, पहले पत्र की भाषा से विशेष अंतर दृष्टिगोचर नहीं होता। खेद है कि संबलपुरी ताम्रपत्रों की प्रतिलिपि हमसे खो गई है और हम उनकी प्रतिलिपि इसी कारण यहाँ नहीं दे सके।

प्राचीन गद्य के संबंध में विचार करते समय हमें बस्तर के दन्तेवाड़ा वाले दिग्पालदेव राजा के सं०–१७६० (सन् १७०३) के शिलालेख की भाषा पर दृष्टिपात करना ही होगा। दन्तेवाड़ा लेख इस प्रकार है—

"दंतावली देवी जयति। देववाणी मह प्रशस्ति लिषाए ण घर है महाराजा दिग्पाल देव के कलयुग-मह-मह-संस्कृत के बचवैया थोरहो हैं ते-पाइ दूसर पाथर मंह भाषा लिषे है। सोमवंशी पांडव अर्जुन के संतान तुरूकान व हस्तिनापुरछाड़ि ओरिंगल के राजा भए।। ते वंश-मह काकती प्रतापरुद्रनाम राजा भए जै राजा शिव के अंश नउ लाष धनुक के ठाकुर जे-के राज्य सुवर्ण वर्षा मै ते-राजा के भाई अन्नमराज बस्तर-मह राजा भए ओरंगल छाड़ि कै। ते-के-संतान हमीरदेव राजा भए ता के पुत्र भै राजदेव राजा। ताके पुत्र पुरुसोत्तम देव महाराजा ताके पुत्र जैसिंह देव राजा ताके पुत्र नरसिंह रायदेव महाराजा जेकर महारानी लछिमी देई अनेक ताल बाग करि सोरह महादान दीन्हे।। ताके पुत्र जगदीशराय देव राजा।। ताके पुत्र विरनारायण देव महाराजा। ताके पुत्र बीरसिंह देव नाम धर्म अवतार पंडित दाता सर्वगुन सहित देव ब्राह्मण पालन, चंदेलिनि बदनकुमारि महारानी विषै दंतावली के प्रसाद के दिकपाल देव पुत्र पाए। शतसठि वर्ष राज्य

करि दिकपाल देव-देव कहु राज्य सौंपि कै बसाखी पूर्णिमा महूं प्राणायाम समाधि बैकुंठ गए। ताके पुत्र स्वस्ति श्री महाराजाधिराज सकल प्रशस्ति सहित पृथुराज के अवतार, बुद्धिगणेश बलभीम सोभा-काम पन परसुराम दानकरण अर्जुन अचल सुमेरु सील सागर रीझै कुबेरते अ-मौन पीछे थम प्रताप-अग्नि, पाता करे निररिति सहैशी करे,, वरुण-सेना सरदार इंद्र वषत महादेव आचार ब्रह्मा बिद्या सेसनाग एहू भाँति दस दिकपाल के गुन जानि पंडित वामन दिकपाल देव नाम धरे। ते दिकपाल देव बिआहू कीन्हें बरदी के चन्देले राव रतन राजा के कन्या अजबकुमारी महारानी विषै अठारहें वर्ष रक्षपाल देव नाम जुवराज पुत्र भए। तब हल्ला ते नवरंगपुर गढ़ टोरि फारि सकल बंद करि जगन्नाथ बस्तर पठै कै फेरि नवरंगपुर दै कै ओड़िया राजा थापेर बाजे।। पुनि सकल पुरवासि लोग समेत दंतावली के कुटुम-जात्रा करे। संवत सत्रह सै साठि १७६० चैत्र सुदि १४ आरंभ बैसाष बदि ३ ते संपूर्ण मैं जात्रा कते कौ हजार भैंसा बोकरा मारे तेकर रकत-प्रवाह बह पाँच दिन संषिनी नदी लाल कुसुम बने भए। ई अर्थ मैथिल भगवान मिश्र राजगुरू पंडित भाषा अउ संस्कृत दोउ पाथर-मह लिषाये। अस राजा श्री दिकपाल देव देव समान कलयुग न हो है आन-राजा।।"[1]

इस लेख की भाषा को छत्तीसगढ़ी मिश्रित हिन्दी कही जा सकती है यद्यपि इसमें बृजभाषा और भोजपुरी का प्रभाव है। शिलालेख की अंतिम पाँच सात पंक्तियों की भाषा थोड़े अंतर के साथ विशुद्ध छत्तीसगढ़ी है।

उपर्युक्त लेख की भाषा स्पष्टत: छत्तीसगढ़ी हिन्दी है। अब संवत १७६० में सुदूर पूर्व बस्तर में ऐसी छत्तीसगढ़ी प्रचलित थी तब छ० ग० के मध्य और पश्चिम में इसी भाँति की छ० ग० प्रचिलित न रही हो, ऐसा असंभव सा लगता है। ऐसी स्थिति में यही कहा जा सकता है कि रतनपुर और रायपुर राज्य के उद्धृत लेखों की भाषा दरबारी हिन्दी थी।

अब यहाँ एक कौतुहल वर्द्धक ताम्रपत्र का उल्लेख किया जाता है जिसमें केवल ६ पंक्तियाँ हैं:—ताम्रलेख की भूमिका में जो कथा है वह इस प्रकार है—

पापलाहंडी का उड़िया राजा ३०० घर के ब्राह्मणों को (शायद धार्मिक मतभेद के कारण) जो उसके राज्य में निवास करते थे, बड़ा कष्ट देता था। बस्तर के राजा काकतीय रक्षपाल को यह अन्याय सहन नहीं हो सका। उसने पापलाहंडी के राजा के ऊपर चढ़ाई कर दी और इन ३०० ब्राह्मण परिवारों

---

१. विकास मासिक पत्र, बिलासपुर।

को कोरेकोट परगना के बिनता नाम ग्राम में बसा दिया, किन्तु कुछ शर्तों के साथ। ये शर्तें ही इस ताम्रपत्र में खोदी गई हैं। बस्तर नरेश हिन्दी भाषा भाषी था, फलतः उसकी प्रतिज्ञा नागरी में खोदी गई जिससे वे परस्पर एक दूसरे की शर्तों को बखूबी समझ सकें। ताम्रपत्र-लेख इस प्रकार है—[1]

१—(उड़िया में) श्री जगन्नाथ श्री बलभद्र श्री सुभद्रा सहित एहि किति निमित्त कोही साक्षी।।

।। श्री रक्षापाल देव राजा चालकी वंश राज्यपरि
।। यन्तप पलाडण्डि ब्रम्ह पुरा घर तीन शए जीवंत
२ दण्ड नाही मरण मुसाली नाही शरण मार नाही ए
बोलन्ते पाल—
३ ।। ई ताहार सुअर मा अ गधाबाय ए बोलन्कथ चंद्रसूर्य
जग लोकपाल धर्मराज साक्षी करि घरे मेलिथा बांचे
४ (हिन्दी) ।। जब लै श्री चालकी वंश राजा सब लै, ब्रह्मपुरा
क्षड़नो नाहि ए बोल छाड़ि कै पीपल बाडिआ जाइ
५ ।। तो सुअर माइ बाप गावह अष्ट लोकपाल धर्मराज
साक्षि।। (उड़िया)
।। बसाल सूर्य र बान कूप थो ।।
६ ।। मच्छ तं जहीं कार रहि रेखा (वर्गाकार में हिन्दी) सही

रक्षपाल वास्तव में काकतीयवंशी था। उपर्युक्त लेख में उसे चालकी (चालुक्य) वंशी इसलिए बताया गया है कि रक्षपाल के राज्य पर जब मुसलमानों ने चढ़ाई की थी तब रक्षपाल और उसकी गर्भिणी रानी ने एक चालक्य ब्राह्मण के गृह में अपने रिश्तेदारों के यहाँ आश्रय लिया था। उसी समय वहीं पुत्र का जन्म हो गया, अतएव इन्होंने अपने को चालुक्यवंशी बना लिया शायद कृतज्ञतावश।

ताम्रपत्र के उत्कीर्ण लेख का सारांश यह है कि—"राजा रक्षपाल ने वचन दिया कि ये तीन सौ ब्राह्मण परिवारों को दण्डनीय (फौजदारी) अपराधों के कारण दण्ड नहीं दिया जावेगा, जब वे निःसंतान मृत्यु को प्राप्त होंगे तो उनकी संपत्ति राज्य द्वारा जब्त नहीं की जावेगी और उनके शरणागत होने पर उन्हें शारीरिक दंड नहीं दिया जावेगा। अगर ऐसा नहीं किया गया तो उसकी माता

---

१. एपीग्राफिआ इंडिका। बा० चं० जैन

सुअर और पिता गधा कहावेंगे। चांद, सूर्य, लोकपाल और धर्मराज इस अनुबंध के साक्षी रहें।"

ब्राह्मणों की वचनबद्धता इस प्रकार थी कि—"वे चालकी वंश का जब तक राज्य रहेगा ब्राह्मपुरा का त्याग नहीं करेंगे और यदि कोई पापलाहंडी लौट कर आयगा तो उसकी माँ सुअर और बाप गधा समझा जायगा। और आठ लोकपाल तथा धर्मराज इसके साक्षी रहें।"

छत्तीसगढ़ में हैहयवंशी राजाओं का राज्य समाप्त होने के पश्चात् नागपुर के भोंसले-मराठे उसके अधिकारी हो गये। इन्होंने लगभग ६० वर्षों तक यहाँ का राज्य किया। पश्चात् यहाँ का शासन सन् १८१८ से १८३० तक अंग्रेजों की निगरानी में होता रहा। पर सन् १८३१ से १८५४ तक फिर मराठी सत्ता क़ायम हुई। इस संधि काल में प्रचलित हिन्दी गद्य को विकास का अच्छा अवसर मिला पर पद्य के मुकाबिले में वह कम ही रहा। उस समय छ० ग० की प्राचीन राजधानी रतनपुर में पं० शिवदत्त राय शास्त्री गौरहा ने रत्नपुर "इतिहास समुच्चय" नामक पुस्तक लिखी थी जिसमें रतनपुर के हैययवंशी राजाओं तथा उनके कुछ करद राजाओं का वर्णन है। इनकी भाषा में पुरानी पंडिताऊ शैली झलकती है। उदाहरण के लिए कुछ पंक्तियाँ नीचे दी जाती हैं—[1]

"नर्मदा से पूर्व भाग में रत्नपुर शहर हय कलिंग देश भीतर। मेकल पर्वत कलिंग देश में हय—ऐसे सार संग्रह नर्मदा माहात्म्य में हय मत्स्य पुराण कूर्म पुराण में हय। पर्यङ्क पर्वत में लाफागढ़ हय सो मयूरध्वज के मणिपुर के भीतर हय। मणिपुर के पाँच खंड हय—तुमानखोल, नरखोल, देवीखोल, भैरवखोल, बाराहखोल। ऐसे पाँच खंड मणिपुर भए। बीच में लाफा गढ़ तहाँ जटाशंकर महादेव हय, जटाशंकरी गंगा बहे हय। लाफागढ़ मयूरध्वज के स्थान हय, तुमान खोल में थोरे बस्ती हय। तीन खोला कौन हय। ये जाने नहीं हय।।" इत्यादि

इसी संधि काल (ई० की १८ वीं शताब्दि) में रतनपुर में बाबू रेवाराम कायस्थ का जन्म हुआ। ये हिन्दी, संस्कृत ब्रजभाषा, उर्दू फारसी के अपूर्व विद्वान थे, गद्य भी लिखते थे, और पद्य भी। इनकी लिखी कोई १३ पुस्तकों का पता चलता है जिनके नाम हैं—१. सार रामायण दीपिका २. ब्राह्मण स्तोत्र, ३. गीत माधव, ४. नर्मदाष्टक, ५. गंगालहरी ६. रामाश्वमेध, ७. विक्रम विलास, ८. रत्नपरीक्षा, ९. दोहावली, १०. शीतलामाता के भजन, ११. कृष्णलीला के भजन, १२. लोकलावण्य वृतान्त और १३. रत्नपुर का इतिहास। इनमें से ५ ग्रंथ हिन्दी

---

१. इतिहास समुच्चय (अप्रकाशित) शिवदत्त शास्त्री

में, मध्य के ६ पद्य में और शेष २ गद्य में हैं। इनकी गद्य की शैली कथ्य के अनुरूप चलती थी पर ये उर्दू फारसी शब्दों का बिलकुल बहिष्कार नहीं करते थे। उदाहरण नीचे दिया जाता है जो उनके द्वारा लिखे रत्नपुर के इतिहास से लिया गया है—[1]

"राजा भानुसिंह—माता चंद्रावती, पिता कर्णसिंह, रानी पार्वती, देवी, दूसरी श्यामादेवी राजा रत्नसिंह चंदेले की बेटी, पुत्र के नाम नृसिंह देव राजधानी रत्नपुर, यह राजा बड़े धर्मात्मा हुए, पितृतृप्ति होने के लिए पितृयज्ञ किये, कई कोटि द्रव्य खर्च किये, बाद होने यज्ञ उसी जाय पर अपने बाप के नाम से तालाब कर्णार्जुनी बनाये, राज ३६ वर्ष किये, गत काल कलि ४२६६, सं० १२५१ पुत्र को राज्य दे इंतिकाल पाये।"

यह स्पष्टत: उस समय के प्रबुद्ध वर्ग की बोलचाल या लिखने की हिन्दी भाषा है।

हमें भोंसला-राज्य-काल के कुछ दस्तावेज और देखने को मिले थे जिनकी भाषा में उर्दू शब्दों का बाहुल्य था।

---

१. रतनपुर का इतिहास (अप्रकाशित) रेवाराम बाबू

२३

प्राचीन छत्तीसगढ़ी साहित्य

छत्तीसगढ़ी भाषा अर्धमागधी की दुहिता एवं अवधी की सहोदरा है। छत्तीसगढ़ी और अवधी दोनों का जन्म अर्धमागधी के गर्भ से आज से लगभग १०८० वर्ष पूर्व नवीं-दसवीं शताब्दी में हुआ था। इस एक सहस्र वर्ष के सुदीर्घ अंतराल में छत्तीसगढ़ी और अवधी पर अन्य भाषाओं के प्रभाव भी पड़े तथा उनका स्वरूप पर्याप्त परिवर्तित हो गया। छत्तीसगढ़ी भाषा भाषियों की संख्या अवधी की अपेक्षा कहीं अधिक है, और इस दृष्टि से यह बोली के स्तर के ऊपर उठकर भाषा का स्वरूप प्राप्त करती है।[1]

भाषा और साहित्य परस्पर अंतरावलम्बी होते हैं। इस दृष्टि से किसी भी भाषा के साहित्य के विकास की रेखाएँ भाषा-विकास की सहगामिनी होती हैं। किन्तु छत्तीसगढ़ी साहित्य के विकास की रेखाएँ अतीत में सुस्पष्ट नहीं है। इसका कारण यह नहीं है कि छत्तीसगढ़ साहित्य सृजन की दृष्टि से अनुर्वर रहा है, प्रत्युत यह तो महान् साहित्य सृष्टाओं और कर्मियों की भूमि रही है। यह बहुत संभव है कि संस्कृत भाषा की लोकोत्तर प्रतिष्ठा के कारण यहाँ के लेखकों ने संस्कृत में ही अपनी अभिव्यक्ति की तथा आंचलिक भाषा के प्रति उदासीन रहे। जब सोलहवें संवत् में काव्य रचना करने वाले कठिन काव्य के प्रेत केशव दास को भी लोकभाषा में कविता करने के कारण ग्लानि का अनुभव करना पड़ा तब यहाँ के साहित्यकारों की मनःस्थिति का अनुमान सहज ही किया जा सकता है। यही कारण है कि हमें छत्तीसगढ़ी के अतीतकालिक साहित्य के अधिक उदाहरण नहीं मिलते। तथापि, हमारे पास ऐसे प्रमाणों की कमी भी नहीं है कि हमें छत्तीसगढ़ी साहित्य को कुछ सौ वर्षों तक ही सीमित कर देना पड़े। छत्तीसगढ़ी भाषा में रचित साहित्य की परम्परा का आरंभ भी लगभग एक हजार वर्ष पूर्व हुआ है। यह बात दूसरी है कि इस भाषा में प्रभूत मात्रा में साहित्य का सृजन यहाँ

---

१. हिन्दी भाषा—डा० भोलानाथ तिवारी

नहीं हुआ है। फिर भी, विभिन्न कालों में रचित साहित्य के पुष्ट प्रमाण आज भी हमें उपलब्ध हैं। इस एक हजार वर्ष की साहित्यिक परम्परा को विभिन्न युगों की विशिष्ट साहित्यिक परम्पराओं के अनुरूप निम्नतः विभाजित किया जा सकता है :—

१. गाथा युग विक्रम संवत
   १००० से १५०० तक।
२. भक्ति युग विक्रम संवत
   १५०० से १९०० तक
३. आधुनिक युग विक्रम संवत
   १९०० से आज तक।

वस्तुतः साहित्य का प्रवाह अखण्डित और अव्याहत होता है तथापि विशिष्ट युग की प्रवृत्तियाँ साहित्य के वक्ष पर अपने चरण-चिह्न भी छोड़ती हैं। इन्हीं प्रवृत्तियों के अनुरूप विशिष्ट युग में रचा गया साहित्य भी विशिष्ट हो जाता है। छत्तीसगढ़ी साहित्य के इतिहास के नामकरण में हमने प्रवृत्त्यानुरूप दृष्टिकोण को ग्रहण किया है। इसका कालानुरूप विभाजन भी आदिकाल, मध्यकाल और आधुनिक काल के रूप में किया जा सकता है। प्रवृत्त्यानुरूप नामकरण को देखकर यह नहीं सोचना चाहिए कि किसी युग में किसी विशिष्ट प्रवृत्तियों से युक्त साहित्य की रचना ही की जाती थी, तथा अन्य प्रकार की रचनाओं का उस युग में एकान्त अभाव था। असल में, विभिन्न युगों में विभिन्न प्रकार की रचनाएँ हुई हैं पर यह नामकरण किसी प्रवृत्ति की सापेक्षिक अधिकता की दृष्टि में रखकर किया गया है। यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि अन्यायन्य भारतीय आर्य भाषाओं की भाँति ही छत्तीसगढ़ी में भी मध्ययुग तक केवल पद्यात्मक रचनाएँ ही हुई हैं। हम इन विभिन्न युगों में रचे गये साहित्य पर क्रमिक रूप से विचार करेंगे।

१. आदि काल – गाथायुग

इतिहास की दृष्टि से छत्तीसगढ़ी का गाथा युग स्वर्णयुग कहा जा सकता है। ऐसे तो महाभारत में पाँच हजार वर्ष से पूर्व का छत्तीसगढ़ अन्य प्रमुख राज्यों के साथ-साथ चित्रित है तथा यहाँ दो हजार वर्ष पूर्व समृद्ध संस्कृति के प्रमाण भी मिलते हैं, तथापि गाथा युग की सामाजिक-राजनीतिक स्थिति भी आदर्श मानी जा सकती है। गाथा युग के पूर्व छत्तीसगढ़ में पाली भाषा का विशेष प्रचार हुआ था, क्योंकि बौद्ध धर्म का यह एक महान् केन्द्र माना जाता था तथा प्रसिद्ध दार्शनिक नागार्जुन ने यहीं बैठकर अपने चिंतन के आरम्भ सूत्र खोजे

थे। बौद्ध धर्म के पतन के साथ ही कुछ राजनीतिक उलटफेर भी हुए तथा गाथा-युग के प्रारंभ में सन् ८७५ के लगभग चेदि राज कोकल्ल के पुत्र कलिंगराज ने इसे पुनः व्यवस्था प्रदान की। कलिंगराज के पुत्र रत्नदेव ने ही रतनपुर की नींव डाली थी। संवत् ११०० से १५०० तक छत्तीसगढ़ी में अनेकानेक गाथाओं की रचना हुई, जिनमें प्रेम तथा वीरता का अपूर्व विन्यास हुआ है। यद्यपि इन गाथाओं की लिपिबद्ध परम्परा नहीं रही है तथा ये पीढ़ी दर पीढ़ी मौखिक रूप से अभिरक्षित होते आये हैं तथापि इस काल में घटी घटनाओं का वर्णन यहाँ इतने जीवन्त रूप में हुआ है जिसके आधार पर इनका काल निर्धारण किया जा सकता है। आधुनिक युग के पूर्वार्द्ध में ही इन गाथाओं को लिपिबद्ध किया जा सकता है तथा लेखक को इनकी जानकारी श्री दयाशंकर शुक्ल के माध्यम से हुई है। इन गाथाओं को इस युग की रचना मानने के कुछ वैज्ञानिक कारण भी हैं। इन गाथाओं की भाषा अनेकानेक परिवर्तन-परिष्करण के बावजूद भी अपने अनूठे आर्ष प्रयोगों से युक्त है। इन गाथाओं के आधार पर ही इस युग को गाथायुग कहा गया है। विषयों के अनुसार इन गाथाओं का विवेचन प्रेमप्रधान तथा पौराणिक और धार्मिक गाथाओं के रूप में किया जा सकता है।[1]

१. प्रेमप्रधान गाथाएँ

छत्तीसगढ़ी की प्राचीन प्रेमप्रधान गाथाओं में अहिमन रानी, केवलारानी, रेखारानी और राजा वीरसिंह की गाथाएँ प्रमुख हैं। इन गाथाओं का आकार पर्याप्त दीर्घ है। इनका वस्तु विन्यास तथा घटना क्रम के नियोजन की शैली हिन्दी के वीरगाथाकालीन ग्रंथों की शैली का स्मरण करा देती है। यद्यपि श्री दयाशंकर शुक्ल ने अपने ग्रंथ "छत्तीसगढ़ी लोकसाहित्य का अध्ययन" में इनका विवेचन किया है तथापि इनका मूल अंश बहुत स्वल्प मात्रा में दिया जा सकता है। लोक गाथाकार[2] इन गाथाओं को तीन से पाँच दिनों में सुनाकर पूर्ण करते हैं। ऐसे पृथुल स्वरूप के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ये गाथाएँ आरंभ में प्रबन्ध काव्य की शैली पर रची गयी थीं। इन गाथाओं में वीरगाथाकालीन प्रबन्धकाव्य की कथा रूढ़ियों का भी परिपालन किया गया है तथा इनमें प्रायः तुकान्तता का अभाव भी है। ऐसा सोचा जा सकता है कि ये गाथाएँ 'बैलेड्स' या चारण काव्य की परम्परा का द्योतन करती हैं। ये सभी गाथाएँ नारीप्रधान हैं तथा नारी-जीवन के असहाय और दुःखपूर्ण पक्षों पर प्रकाश डालती हैं। इन

१: छत्तीसगढ़ी लोक साहित्य का अध्ययन, पाँचवाँ अध्याय, दयाशंकर शुक्ल।
२. ये देवार कहलाते हैं।

प्रवृत्तियों के अतिरिक्त इनमें मंत्र, तंत्र तथा पारलौकिक शक्तियों का भी वि
से चित्रण किया गया है। कहना न होगा कि इनमें परवर्ती बौद्ध परम्परा
प्रभावित समाज की मनःस्थिति का सुंदर निर्देशन हुआ है।

२· धार्मिक एवं पौराणिक गाथाएँ

यद्यपि छत्तीसगढ़ी की प्रायः सभी गाथाओं में धार्मिक सूत्र अभिनिवि
तथापि 'फुलवासन' और 'पंडवानी' में विशिष्ट पौराणिक पात्रों का स्वच्छ
पूर्ण नियोजन किया गया है। 'फुलवासन' में सीता तथा लक्ष्मण की क
जिसमें सीता लक्ष्मण से स्वप्न में देखे गये फूलवासन नामक फूल को ला
अनुरोध करती है। लक्ष्मण अनेक कठिनाइयों को पार करने के उपरान्त पू
होकर वापस लौटते हैं।[1] यहाँ यद्यपि पात्रों का नियोजन प्राचीन है, त
घटना-क्रम पूर्णतया स्वच्छन्द है। इसी स्थल पर हिन्दी के उन सूफी कवि
स्मृति भी हो आती है जिन्होंने अपने मत-विशेष के प्रचार के लिए हिन्दुअ
पौराणिक गाथाओं का स्वच्छल नियोजन किया था। ठीक ऐसी ही स्वच्छल
पंडवानी की रचना में दिखाई देती है। इसमें पांडवों की कथा के आलम्ब
हरतालिका व्रत या तीजा के अवसर पर द्रौपदी के मायके जाने की अमिट
के माध्यम से छत्तीसगढ़ी नारी की शाश्वत आकांक्षा का चित्रण किया गया।
द्रौपदी के अनुरोध पर अर्जुन उसे उसके मायके पहुँचाने के लिए उद्यत तो
हैं किंतु मार्ग में ही उन्हे बंदी बना लिया जाता है। अनेकानेक घटना-क्रम
यह कथा आगे बढ़ती है। किन्तु ध्यान देने की बात यह है कि यहाँ जिन घट
का आनयन किया गया है, वे पौराणिक नहीं हैं तथा इनके माध्यम से भी
जीवन की मौलिक साधों का ही वर्णन किया गया है। इस दृष्टि से अलौकिक
चमत्कारपूर्ण घटनाओं का चयन विशेष उल्लेखनीय है जो वीरगाथाका
प्रबन्ध-काव्यों की एक सुविख्यात कथा-रूढ़ि है। गाथाओं की यह परम्परा
मध्ययुग में व्याप्त है।

२. मध्यकाल—भक्तियुग

विक्रम संवत १५०० से १६०० तक का युग छत्तीसगढ़ की दृष्टि से
नीतिक उलटफेर और अशांति का युग रहा है। मध्यकाल के आरंभ से ही छ
गढ़ पर बाहरी नरेशों के आक्रमण होने लगे थे तथा सम्भवत: छत्तीसगढ़ पर मु
मानों का सर्वप्रथम आक्रमण रतनपुर के राजा बाहरेन्द्र के काल में सन् ११

---

१. छत्तीसगढ़ी लो० सा०, पाँचवा अध्याय, द० शं० शुक्ल।

ईस्वी में हुआ था। यद्यपि इस युद्ध में मुसलमानों की पराजय हुई थी, फिर भी उनका आतंक छत्तीसगढ़ में सैकड़ों वर्षों तक बना रहा । यही कारण है कि इस काल में रचित गाथाओं में मुस्लिम अक्रान्ताओं के वर्णन के साथ ही शौर्य और पराक्रम के भाव भी संचित हैं। इस युग की साहित्य-चर्या मूलतः तीन धाराओं में प्रवाहित होती है। पहली धारा गाथा युग की गाथा परम्परा से विकसित गाथाओं की है, दूसरी धारा धार्मिक और सामाजिक गीतों की है तथा तीसरी धारा स्फुट रचनाओं की है जिनमें अनेकानेक भावनाएँ व्यंजित है।

१. मध्ययुग की वीरगाथाएँ

मध्ययुग की वीरगाथाओं में "फूलकुँवर", "देवी गाथा" और "कल्यानसाय की गाथाएँ" प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त "गोपल्ला गीत," "रायसिंघ के पँवारा" तथा "ढोलामारू" और "नगेसर कइना" के गीत के नाम से प्रचलित लघु गाथाएँ भी विशिष्ट रूप से उल्लेखनीय है। "लोरिक चंदनी", "सरवन गीत, और "बोधरू गीतों" की शैली भी इन्हीं लोकगाथाओं के समान है। फूलकुँवर की गाथा में वीरांगना फूलकुँवर का मुसलमानों से किये गये युद्ध का चित्रण किया गया है। यद्यपि गाथा में फूलकुँवर को राजा जगत की पुत्री कहा गया है, तथापि इतिहास में इस बात के प्रमाण बिरल हैं। गाथा में जिस प्रकार फुलकुँवर का पराक्रम चित्रित है वह झाँसी की रानी की वीरता के मुकाबले में कम नहीं है। कल्यानसाय की गाथा में रतनपुर के सम्राट बाहारेन्द्र के पुत्र कल्यानसाय की वीरता का आकलन किया गया है। राजा कल्यानसाय मुगल सम्राट जहाँगीर का समकालीन था। इस गाथा में कल्यानसाय के वीर भट गोपाल राय का शौर्य भी व्यंजित हुआ है। 'गोपल्ला गीत' में भी इसी कथानक का उपयोग किया गया है। "रायसिंघ के पँवारा" में छत्तीसगढ़ के तत्कालीन शासक का सम्बलपुर अभियान चित्रित किया गया है। ये सभी गाथाएँ प्रबन्ध काव्य की शैली में लिखी गई हैं तथा इसमें मध्ययुग की प्रायः सभी कथानक-रूढ़ियों का परिपाक हुआ है। "देवी गाथा" में मध्ययुग के ऐतिहासिक पात्रों के सम्मिलित अनेक रूप मिलते हैं जिनमें अकबर का चरित्र विशिष्ट रूप से उभरता है। अकबर को यहाँ देवी के पुजारी के रूप में चित्रित किया गया है। यह भावात्मक ऐक्य बहुत कुछ अकबर की उदार नीति तथा निर्गुण मतावलम्बी सन्तों के हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रयासों के परिणाम स्वरूप उत्पन्न हुआ है।[1]

---

१. छ० गढ़ी लो० सा० का अध्ययन, पृष्ठ १११, द० श० शुक्ल ।

२. धार्मिक एवं सामाजिक गीत धारा

छत्तीसगढ़ी के मध्ययुग की धार्मिक एवं सामाजिक गीत धारा का समारम्भ कबीर प्रभावित आंचलिक संप्रदायों एवं पंथों के माध्यम से होता है। इनमें कबीरपन्थ की छत्तीसगढ़ी शाखा तथा सतनामपंथ प्रमुख हैं। इस युग की जन-पदीय संस्कृति के उत्तोलन में इन दोनों पंथों ने अत्याधिक योगदान दिया है तथा इसके साथ ही इन्हीं पंथों के माध्यम से निर्गुण मतालम्बी रचनाएँ भी प्रचुरता से उत्प्रष्ठ हुई हैं। इन दोनों पंथों का निर्माण कबीरदास के शिष्यों की प्रेरणा से ही हुआ है। छत्तीसगढ़ में स्थापित कबीरपन्थ का योगदान छत्तीसगढ़ी साहित्य के विकास के संदर्भ में इसलिये भी अतिशय; महत्वपूर्ण हो जाता है कि इसी के माध्यम से हम छत्तीसगढ़ी साहित्य का प्रथम लिपिबद्ध स्वरूप प्राप्त करते हैं।

सन्त धरमदास

सन्त धरमदास कबीरदास के पट्ट शिष्य थे। उनका जन्म कसौदा ग्राम के बैश्य परिवार में हुआ था। उनका समय सोलह से सत्रहवें संवत का माना जाता है। उन्होंने कंवर्धा में कबीरपंथ का शुभारम्भ किया था तथा एक किंवदन्ती के अनुसार तो कंवर्धा का पूर्वनाम कबीरधाम ही था। यही कबीरधाम आज घिसते-घिसते कंवरधा हो गया है।[1] सन्त धरमदास के छत्तीसगढ़ी गीत पुष्कल मात्रा में छत्तीसगढ़ी जनता के कण्ठों में बसे हैं। कबीर की वाणी में उच्च वर्गों के प्रति जो आक्रोश व्यक्त हुआ है तथा वाह्याडम्बरों के प्रति जो तीक्ष्ण व्यंग भाव मिलता है, वह संत धरमदास में अतिशय विरल तथा विनम्र है। सन्त धरमदास में कबीर की आत्मानुभूति, ईश्वरीय विरह तथा परमतत्त्व के साक्षात्कार से उत्पन्न आत्मोत्फुल्लता के भावों का ही अग्रिम विकास हुआ है। इनके अतिरिक्त उनके गीत उच्चकोटि के काव्यात्मक उद्‌गारों से भी सम्पृक्त हैं। यदि हम विविध गाथाओं के रचयिता जनकवियों को छोड़ दें तो सन्त धरमदास ही छत्तीसगढ़ी के प्रथम कृती कवि सिद्ध होते हैं। सन्त धरम-दास का गीत-साहित्य विपुल है तथा उसमें एक साधक के आध्यात्मिक विकास से ही समग्र स्थितियों के दर्शन हो जाते हैं। अन्य भक्त कवियों के समान सन्त धरमदास भी सतगुरु को प्रणिपात करते हैं, कानों से ईश्वर के पवित्र नाम

---

१. कबीर और उनका पंथ, केदारनाथ द्विवेदी।

की सुधा पान करने के अभिलाषी हैं तथा ईश्वर साक्षात्कार के रत्न-पदार्थ को प्राप्त करने के आकांक्षी हैं :—

जमुनिया की डार मोरी टोर देव हो।
एक जमुनिया के चउदा डारा,
सार सबद ले के मोड़ देव हो।
काया कंचन गजब पियासा,
नाम बुटी रस घोर देव हो।
सुरत सुवासिन गजब पियासी,
अमरित रस मा बोर देव हो।
सत्तगुरु हमरे ज्ञान जौहरी,
रतन पदारथ जोर देव हो।
धरमदास के अरज गोंसाइँ,
जीवन के बांधे डोर छोर देव हो।।

निर्गुण मतावलम्बी जन वस्तुतः निगूढ़ रहस्यवादी थे तथा उनकी साधना मधुर-भाव से संवलित थी। कबीर ने नीरस ज्ञान के क्षेत्र में भक्ति के बीज का वपन कर आत्मानुभूति की मनोरम वल्लरी को प्राप्त किया था। कबीर की भाँति धरमदास भी अपनी आत्मासुन्दरी को प्रियतम परमात्मा की चिर वियुक्ता वधू समझते हैं तथा ईश्वर साक्षात्कार की परम क्लिष्ट यौगिक साधना के क्रमागत सोपानों को लौकिक प्रतीकों के माध्यम से प्रकट करते हुए लोकगीतात्मक सरलता का अभिनिवेश करते हैं :

सइँया महरा, मोरी डोलिया फंदावों।
काहे के तोर डोलिया, काहे के तोर पालकी
काहे के ओमा बाँस लगावो,
आव भाव के डोलिया पालकी
संत नाम के बाँस लगावो
परेम के डोर जतन ले बांधो,
ऊपर खलीता लाल ओढ़ावो
ज्ञान दुलीचा झारि दसावो,
नाम के तकिया अघर लगावो
धरमदास विनवै कर जोरी,
गगन मंदिर मा पिया बुलरावौ।

1. उपर्युक्त पंक्तियों में लौकिक प्रतीकों के माध्यम से गहनगर्भी भावनाएँ अभिव्यंजित हो गयी हैं। जहाँ धरमदास ईश्वरीय साक्षात्कार के चरम क्षणों का प्रत्यक्षत: काव्यात्मक निवेदन करते हैं, वहाँ उनकी आत्मोत्फुल्लता शब्दों की संकीर्ण सीमाओं को तोड़कर बाहर छलक पड़ती है:—

> आज घर आये साहेब मोर।
> हुलसि हुलसि घर अँगना बहारौं,
> मोतियन चउँक पुराई।
> चरन धोय चरनामरित लेहैं
> सिंघासन बइठाई।
> पाँच सखी मिल मंगल गाहैं,
> सबद मा सुरत समाई।

सन्त धरमदास छत्तीसगढ़ के वे प्रथम कवि हैं, जिन्होंने लोकगीतों की सहज-सरल शैली में निगूढ़तम दार्शनिक भावनाओं की अभिव्यक्ति की और छत्तीसगढ़-भाषा की शक्तियों को आत्मसात करते हुए उच्चतर मानवीय भावों के संवहन के योग्य बनाया। किन्तु उनकी यह उदात्त परम्परा आगे विकसित नहीं हो पायी। यद्यपि सतनाम पंथ के अंतर्गत भी कतिपय काव्य रचनाएँ विशेष रूप से प्रचलित रही हैं तथापि यह पंथ संत धरमदास के समान पुष्कल मात्रा में काव्य सृजन करने वाला समर्थ व्यक्तित्व दान नहीं कर सका।

सतनाम पंथ की रचनाएँ

सतनाम पंथ की स्थापना छत्तीसगढ़ के महान् संत घासीदास ने की थी। संत घासीदास छत्तीसगढ़ के गिरोद नामक ग्राम में एक चमार के घर पैदा हुए थे तथा किसानी-मजदूरी करके जीवनयापन किया करते थे। कहा जाता है कि उनकी भेंट एक बार सन्त जगजीवनदास से हुई, जिन्होंने उन्हें सतनाम प्रदान किया। मंत्र-दीक्षा के बाद सन्त घासीदास विरक्त हो उठे और घरबार छोड़कर कोमाखान के जंगलों में विलीन हो गये। वहाँ एक तेंदू के वृक्ष के नीचे उन्होंने सतनाम की साधना की और पूर्णकाम होकर वापस लौटे। उनका जीवन अब आध्यात्मिकता के आलोक से भास्वर (दीप्तिमान) हो गया था। समय-क्रम में कई ऐसी अलौकिक घटनाएँ भी घटीं, जिससे उनका नाम दूर-दूर तक फैल गया। कहा जाता है कि एक बार सन्त घासीदास ने सतनाम के प्रभाव से साँप डसने से मरे हुए व्यक्ति को जीवित कर दिया था। कालान्तर

में उनकी जाति के लोगों ने उन्हें गुरु के पद पर अधिष्ठित कर दिया और स्वयं को सतनामी कहा। सन्त घासीदास ने लोगों को सिखाया कि सतनाम का जाप करना चाहिये, मांस और मछली का परित्याग करना चाहिए और अहिंसा-व्रत मे दृढ़ रहना चाहिए। उनकी वाणी में संत कबीर के उपदेशों की ही ध्वनि गूंज रही है। यद्यपि कबीरपंथ और सतनामपंथ मूलतः एक हैं, तथापि गुरु परम्परा के कारण ये एक दूसरे से पृथक हो गये हैं।

सतनाम पंथ की रचनाएँ भी मूलतः सांसारिक संबंधों की असारता और ईश्वरीय कृपा की प्राप्ति की अभिलाषा का चित्रण करती हैं। "चल हंसा अमर लोक जइबो" में मायावी संसार की स्वार्थपरता को स्पष्ट करते हुए ईश्वर के नाम को शाश्वत शांति के क्रोड़ के रूप में चित्रित किया गया है—

चलौ चलौ हंसा अमर लोक जइबौ,
इहाँ हमार संगी कोनो नइयै।
एक संगी हावय घर के तिरिया
देखे मा जियरा जुड़ाथै।
ओहू तिरिया होव बनत भर के
मरे मा दूसर बनाथै।
एक संगी हावय कोख के बेटवा,
देखे मा धोसा बंधाथै।
ओहू बेटा हावय बनत भर के,
बहू आये ले बुउराथै।
एक संगी हावय धन अउ लक्ष्मी,
देखे मा चोला लोभाथै।
धन अउ लछमी बनत भर के,
मरे मा ओहू तिरियाथै।
एक संगी परमू सतनाम है,
पापी मन ला मनाथै।
जनम मरन के सबो दिन संगी,
ओही सरग अमराथै।

उपर्युक्त गीत की मूलभावना में कबीर का प्रभाव स्पष्ट है। इसी प्रकार अन्य गीतों में कबीर की अन्योक्तिगर्भ-शैली का सफल अनुकरण मिल जाता है। इस दृष्टि से 'खेलये दिन चार मइके मा" जैसे गीत उल्लेखनीय हैं।

स्फुट रचनाएँ

मध्ययुग का तीसरा स्वर स्फुट रचनाओं का है। इस युग के अन्य कवियों में गोपाल, माखन, रेवाराम, और प्रह्लाद दुबे के नाम उल्लेखनीय हैं। गोपाल कवि तथा उनके पुत्र माखन कवि रतनपुर के निवासी थे तथा कलचुरि नरेश राजसिंह के समकालीन थे। उनके "जैमिनी अश्वमेध", "सुदामा चरित", "भक्ति चिन्तामणि" और "छन्दविलास" नामक रचनाओं का उल्लेख प्रायः किया जाता है। यद्यपि गोपाल कवि ने समग्रतः छत्तीसगढ़ी में पद्य रचना नहीं की है, तथापि उनकी काव्य-भाषा में छत्तीसगढ़ी का पर्याप्त प्रभाव पड़ रहा है। इसी प्रकार बाबू रेवाराम कायस्थ ने भी दशाधिक काव्य ग्रन्थों की रचना की है। "भोंसला वंश प्रशस्ति" के लेखक लक्ष्मण कवि का नामोल्लेख भी इस संदर्भ में किया जा सकता है, जिनके काव्य में अंग्रेजों के नृशंस अत्याचार का सर्वप्रथम आकलन हुआ है। तथापि सारंगढ़ निवासी प्रह्लाद दुबे का कृतित्व इसलिये अधिक महत्वपूर्ण है कि उनकी "जयचन्द्रिका" में छत्तीसगढ़ी का प्राकृत स्वरूप अभिव्यक्त हुआ है।

उदाहरण के लिए निम्न पंक्तियों का अवलोकन किया जा सकता है :—

तुम करहु जैसे जौन
हम हवैं सामिल तौन।
महापात्र मन मह अंदाजे
हम ही हैं संबलपुर राजे।[१]

---

१. जयचंद्रिका—प्रह्लाद दुबे।

टीप—संपूर्ण लेख युगधर्म १९७१ के विशेषांक से साभार उद्धृत,
लेखक—डा० नरेन्द्र देव वर्मा।

२४

छत्तीसगढ़ी––एक संक्षिप्त अध्ययन

छत्तीसगढ़ में छत्तीसगढ़ी बोली जाती है। छत्तीसगढ़ की परिव्याप्ति रायपुर, दुर्ग, बिलासपुर, रायगढ़, बस्तर तथा सरगुजा जिले में है। एक मात्र छत्तीसगढ़ी इस क्षेत्र की भाषा नहीं है। हलबी, भतरी के अतिरिक्त लरिया, खल्हाटी, सरगुजिया, सदरी कोरबा, बैगानी, बिंझवारी, कलंगा बोली तथा भूलिया इसकी अंतर्वर्तिनी बोलियाँ हैं। "हलबी" हलबा जाति की बोली है। इसी तरह भतरी भतरा जाति की बोली है। श्री भालचंद्र तैलंग ने इन दोनों को क्रमशः मराठी तथा उड़िया की बोली कहा है। हलबी बोली बस्तर की एक प्रधान बोली है। वहाँ के माड़िया गोंड़ भी इसी का व्यवहार करने लगे हैं। भतरी बोली बस्तर राज्य के उत्तर-पूर्व सीमा में फैली हुई है। खल्हाटी तथा लरिया बोली, कौड़िया, सालेटेकरी, भीमताल तथा रायगढ़ में बोली जाती है। इसमें अधिकरण कारक का चिन्ह "मा" तथा "में" हैं। दूरवर्ती सर्वनाम "ओ" का "वो" रूप प्रचलित है। सरगुजिया सरगुजा में बोली जाती है। सदरी कोरबा जसपुर के कोरवा जाति की बोली है। बिलासपुर तथा रायगढ़ में भी यह बोली जाती है। बैगानी बइगा जाति की बोली है, यह कंवर्धा, उत्तर छत्तीसगढ़, रायपुर, बिलासपुर, सम्बलपुर तथा बालाघाट में बोली जाती है। बिंझवारी बिंझवार जाति की बोली है और रायपुर, रायगढ़, सरगुजा तथा पटना में बोली जाती है। कलंगा बोली उड़िया क्षेत्र से लगे हुए पटना के आसपास बोली जाती है। भूलिया बोली सोनपुर के जुलाहों की बोली है। सारंगढ़ तथा पटना में इसका व्यवहार होता है। सरगुजिया में अपनीत के उदाहरण बहुत मिलते हैं, यथा––मनिसे-मइनसे। इसके संप्रदान तथा कर्मकारक में "के" विभक्ति लगती है। सम्बन्ध कारक में 'कर' का प्रयोग होता है। संख्यावाचक शब्दों में 'गोट' शब्द लगाया

टीप––प्रस्तुत निबंध में 'शब्द-व्युत्पत्तियाँ 'डा० भा० चं राव तैलंग की "छ० गढ़ी का वैज्ञानिक अध्ययन" नामक पुस्तक के आधार पर दी गई हैं।

जाता है—यथा दूगोट=दू ठन। 'मो हौला' का प्रयोग मुझको भी के अर्थ में होता है। "जे"—"से" का प्रयोग होता है यथा—जे आहे से पाहे (जो आएगा वह पायगा।)। सदरी कोरबा में "च" और "छ" का उच्चारण दन्त्य 'स' के समान होता है। अवधारण रूप में "ने" प्रयोग होता है यथा—"आइस ने" = आया। "नहीं" के लिये "नखौं" का प्रयोग होता है। अधिकरण कारक में 'ए' "हे" या "हें" चिन्ह लगता है—खेते=खेत में। डीहे=गाँव में। बैगानी में हेत्वर्थक प्रत्यय के रूप में "लाने" का प्रयोग होता है। यथा—बनहिया के लाने=मजदूर के लिये। "ना" का प्रयोग अवधारणार्थ होता है—मैं ना नहकों डरौं। मुझको के अर्थ में "मोहिला" का प्रयोग होता है। बिझवारी में भी शब्द के अंत में अवधारणार्थ "ना" का प्रयोग होता है। सर्वनाम शब्दों में "टा" प्रत्यय जोड़ते हैं यथा—केतेटा=कितने। ईटा=यह। 'बा' वाले रूप का प्रचलन है यथा—गायबा-बाजबा=गाना-बजाना। करीबा लागेस=करने लगा। आज्ञार्थ में "स" भी लगता है यथा—पिन्हा देस=पहिना दो। कलंगा बोली में "बाप" के लिए 'बुआ' शब्द है। "मुझे" के लिये "मला" का प्रयोग होता है। इसी तरह मर=मेरा। तर=तेरा। इये=यही। उई=उसी। पिंधा=पहिनाओ। हके=होकर। बागिर=वगैरह। तोर रे=निश्चय ही तेरा। भूलिया बोली में "क" के स्थान पर "ख" महाप्राण का प्रयोग होता है—उखर=उसका, "जो" के स्थान पर "ज" का प्रयोग होता है। "आमी जइ थाने"=हम जो इस स्थान पर। करिबार=करने का। मने करीस=इच्छा की। डाकिस=बुलाया। 'इ' शब्द में "टा" का योग उल्लेखनीय है—इटा=यहाँ।[1]

रायपुर तथा बिलासपुर की छत्तीसगढ़ी परिनिष्ठित मानी जाती है, किन्तु दोनों में क्वचित् अंतर भी है। बिलासपुर या रतनपुर में "ओर" के लिए "लंग" का प्रयोग होता है। "पास" के अर्थ में भी इसका प्रयोग होता है यथा—ए लंग=इस ओर, मोर लंग=मेरे पास। रायपुर की छत्तीसगढ़ी में ओर के लिये "डहर" का प्रयोग होता है। ए-डहर=इस ओर। किंतु 'डहर' का प्रयोग "पास" के अर्थ में कदापि नहीं होता। "पास" के लिये वस्तुत: "मेर" शब्द का प्रयोग होता है। मोर मेरे—मेरे पास। "और" के लिये रायपुर क्षेत्र में "कोती" का भी प्रयोग होता है। इसका ग्राम्य रूप "कोत" है। रायपुर में कर्मकारक की विभक्ति "ला" है, बिलासपुर में "का"। इस तरह छत्तीसगढ़ में स्थानगत भेद दिखाई पड़ता है। इसके ग्राम्य रूप तथा नागररूप में भी पर्याप्त अंतर

---

१. छ० गढ़ी का वैज्ञानिक अध्ययन, पृ० २२—४८, मालचंद राव तैलंग।

दिखाई पड़ता है। "दसना दसा दे" (बिस्तर बिछा दो) यह नागर रूप है। इसका ग्राम्य रूप है—जठना जठा दे।

छत्तीसगढ़ी की अंतर्वर्तिनी बोलियों में से कुछ तो अन्य भाषा के निकट सरक चुकी है। भूलिया को इसके उदाहरण में रखा जा सकता है। शेष बोलियों में भी अंतर स्पष्ट है। छत्तीसगढ़ी का अध्ययन करते हुए रायपुर की बोली पर हमारी दृष्टि अधिक केंद्रित होगी।

अर्द्धमागधी प्राकृत से अर्द्धमागधी अपभ्रंश का विकास हुआ। पुनः उससे पूर्वी हिन्दी निःसृत हुई और पूर्वी हिंदी से छत्तीसगढ़ी की अलग धारा फूटी। बघेली तथा अवधी इसकी बहनें हैं। फलस्वरूप, इन तीनों में कई बातों में साम्य दिखाई पड़ता है।

—ध्वनि—

छत्तीसगढ़ी बोली में निम्नलिखित मूल स्वर हैं—

अ—ह्रस्व, अवृतमुखी, अग्र, अर्द्धविवृत
इ—ह्रस्व, अवृतमुखी, अग्र, संवृत
उ—ह्रस्व, पूर्णवृत्तमुखी, पश्च, संवृत
आ—दीर्घ, स्वल्पवृतमुखी, पश्च, संवृत
ई—दीर्घ, अवृतमुखी, अग्र, संवृत
ऊ—दीर्घ, पूर्णवृतमुखी, पश्च, संवृत
ए—ह्रस्व, अवृतमुखी, अग्र, अर्द्धसंवृत
ऎ—दीर्घ, अवृतमुखी, अग्र, अर्द्धसंवृत
ओ—ह्रस्व, वृत्तमुखी, पश्च, अर्द्धसंवृत
ऒ—दीर्घ, वृत्तमुखी, पश्च, अर्द्धसंवृत
ऐ—(अइ) संयुक्त
औ—(अउ)—सयुक्त[1]

कुछ लोगों ने "ए" तथा "ओ" को संयुक्त स्वर माना है।[2] हमारे ख्याल से यह उचित नहीं है। छत्तीसगढ़ी "ए" तथा "ओ" के उच्चारणकाल में जिह्वा को अपनी स्थिति नहीं बदलनी पड़ती। अतः उसे मूल स्वर की ही संज्ञा दी जानी चाहिये। छत्तीसगढ़ी में "औ" का उच्चारण साधारणतः "अउ" तथा "ऐ" का उच्चारण "अइ" होता है। यह अंतर वस्तुतः पश्चिमी

---

१. भाषा विज्ञान, पृष्ठ २७०—डा० भोलानाथ तिवारी
२. "छ० गढ़ी बोली, व्याकरण और कोश, पृष्ठ ६६, डा० कांतिकुमार।

हिन्दी तथा पूर्वी हिंदी का अंतर है, जो कि खड़ी बोली तथा छत्तीसगढ़ी में चला आया है, किन्तु फिर भी छत्तीसगढ़ी में "ऐ", "औ" का सर्वथा बहिष्कार नहीं है। भविष्य काल के क्रिया-रूपों में इनका प्रयोग देखा जा सकता है—

जाहै, खाहै, पढ़िहै
जाहौ, खाहौ, पढ़िहौ
खड़ी बोली के तद्भव रूप में—
व्यापारी—बैपारी

उत्तम पुरुष व मध्यमपुरुष के सर्वनामों में—मैं, तैं। एक अन्य शब्द—कै बात सुनाइस (कितनी बात सुनाई)

ह्रस्व "ए" तथा "ओ" छत्तीसगढ़ी की विकसित ध्वनि है। यह विकास खड़ी बोली में भी दिखाई पड़ता है, यथा—एकलौता

व्यञ्जन :—
छत्तीसगढ़ी में निम्नलिखित व्यञ्जन है—
क् ख् ग् घ्—स्पर्श
च् छ् ज् झ्—स्पर्श संघर्षी
ट् ठ् ड् ढ्—स्पर्श
त् थ् द् ध्—स्पर्श
प् फ् ब् म्—स्पर्श
ङ् न् न्ह् म् म्ह्—अनुनासिक
य् व्—अर्ध स्वर
र् र्ह —लुंठित
ल् ल्ह् —पार्श्विक
स् ह् —संघर्षी
ड़् ड़् ड (ढ़) —उत्क्षिप्त

कुछ लोगों ने छत्तीसगढ़ी में अनुनासिक "ङ" का अभाव बताया है किंतु द्रष्टव्य है कि संयुक्त रूप से छत्तीसगढ़ी में भी "ङ" का प्रयोग होता है, यथा—अङठी=अंगुली। संङ्गी=साथी। ओङघावथे=ऊँघ रहा है। "ञ्", तथा "ण्" का अस्तित्व छत्तीसगढ़ी में नहीं है। न्ह्, म्ह्, ल्ह्, र्ह, तथा ल्ह् संयुक्त व्यञ्जन हैं। इनके स्वतंत्र प्रदर्शन का कारण यह है कि इनमें संयुक्त क्रमशः न्, म्, ल्, र् तथा ङ के उच्चारण में अल्पकालिक स्पर्श होता है। "ब्रह्म" के "म" में स्पर्श

-विलम्बित है, जबकि "बाम्हन" में अल्पकालिक। यदि उक्त व्यञ्जनों को म्, न्, र् तथा ड़् का महाप्राण कहा जाय, तो अनुचित न होगा। छत्तीसगढ़ी में उपलब्ध इस तरह के व्यञ्जनों के उदाहरण:—

सम्हार। कन्हिया (=कमर)। खाल्हे (=नीचे)।

कल्हरब (=बेचैनी की स्थिति में "आह" आदि कहना)।

कर्हैया (=कड़ाही)। कोंड़्हा (=धान से निकला एक पदार्थ)

छत्तीसगढ़ी में "श्" तथा "ष्" का सर्वथा अभाव है। एक मात्र दन्त्य "स्" उपलब्ध है। "न्" में प्रायः "स्वर भक्ति" हो जाया करती है, यथा जंतर-मंतर। जतर-कतर। तिरपाठी। इसी तरह "ज्ञ" "क्ष" जैसे कठिन वर्ण भी छत्तीसगढ़ी में अनुपलब्ध हैं। "ज्ञ्" के स्थान पर प्रायः "गिय" की प्रवृत्ति मिलती है। जैसे ज्ञान-गियान।

उक्त व्यञ्जनों का उच्चारण स्थान की दृष्टि से वर्गीकरण:—

१—ओष्ठ्य—प् फ् ब् भ् म् म्ह् व्

२—दन्त्य—त् थ् द् ध्

३—वर्त्स्य—न् न्ह् र् रह् ल् ल्ह् स्

४—तालव्य—च् छ् ज् झ् य्

५—मूर्द्धन्य—ट् ठ् ड् ढ् ड़् ड़्ह्

६—कंठ्य—क् ख् ग् घ् ङ

७—काकल्य—ह्

अरबी फारसी के अनेक शब्द तो छत्तीसगढ़ी में घुस पड़े हैं, पर उनकी ध्वनि जिह्वा मूलीय क़् ख़् ग़् आदि का प्रवेश छत्तीसगढ़ी में न हो सका।

इस तरह छत्तीसगढ़ी में कुल ३५ व्यञ्जन तथा १२ स्वर विद्यमान हैं।[1]

ध्वनियों का विकास

छत्तीसगढ़ी में संस्कृत की ध्वनियाँ अर्द्धमागधी प्राकृत, अपभ्रंश तथा पूर्वी हिन्दी भाषाओं से होती हुई वर्तमान रूप को प्राप्त हुई हैं। अतः इसके विकास में इन भाषाओं की प्रकृति का प्रभाव है। यथा—राक्षस (सं०) > रक्खस (अपभ्रंश) > रकसा (छत्तीसगढ़ी), "राक्षस के "रा" का "आ" अपभ्रंश में "अ" हो गया। वही "अ" छत्तीसगढ़ी में विद्यमान है। कुछ स्वरों तथा व्यञ्जनों के उदाहरण प्रस्तुत हैं —"आ" की तरह अन्य स्वरों से भी छत्तीसगढ़ी का

---

१. समस्त उदाहरण डा० तेसंग के "छ० गढ़ी का वैज्ञानिक अध्ययन" 'स्वरों की उत्पत्ति' प्रकरण से लिये गये है।

"अ" विकसित हुआ है। यथा--- मुकुट (सं०) > मकुट (छ० ग०)। एकरस (सं०) > एकरस (छ० ग०), कहीं स्वरागम के रूप में "अ" पाया जाता है—

स्नान (सं०) > अस्नान (छ० ग०)। लोप (सं०) > अलोप (छ० ग०)

कहीं उच्चारण की त्वरता के कारण स्वराघात निर्बल पड़ गये—अतः दीर्घ का ह्रस्व बन गया। यथा–आशीष (सं०) > असीस (छ० ग०)। कहीं संयुक्त व्यञ्जन के कारण 'अ' का "आ" हो गया। कज्जल (सं०) > कज्जल (अपभ्रंश) > काजर (छ० ग०)

स्वराघात सबल होने के कारण कहीं संस्कृत का "अ" छत्तीसगढ़ी "आ" हो गया। जैसे–जप (सं०) > जाप (छ० ग०)

कहीं प्राकृत–अपभ्रंश के "अ" से "आ" बना। यथा–भोलअ > भोला

"इ" की उत्पत्ति कही शुद्धतः अपभ्रंश के प्रभाव से हुई है—तइयाह > तइहा (छ० ग०) = पुराने समय में।

अनेक स्थानों पर संस्कृत के ई, य, अ तथा ऋ स्वर 'इ' में बदले दिखाई पड़ते हैं–

दीप > दिया। व्याकुल > बियाकुल। उत्तम > उत्तिम।

कहीं अपनीत तथा स्वरागम से "इ" की उत्पत्ति हुई है–सत्यानाश > सइतानास। क्रिया > किरिया

अनेक स्थानो पर संस्कृत के "इ" "ऋ", "ए" स्वर "ई" स्वर में परिवर्तित हो गये:–

पिप्पल > पीपल। सदृश > सरिक्ख (अपभ्रंश) सरिख। तले > तरी। कही "य" का सम्प्रसारण दिखाई पड़ता है–मध्यम > मद्धिम।

प्राकृत के "इ+आ "ई" में बदल गये–

वर्तिका (सं०) > वत्तिआ (प्रा०) > बात्ती (छ० ग०) = बत्ती।

"उ" का आविर्भाव स्वर भक्ति से –

मूर्ख > मुरुख।

संस्कृत "ई" से "उ" का आविर्भाव– जीर्णम् > जुन्ना।

संयुक्त वर्ण के पूर्व "उ" का परिवर्तन "ऊ" में

पुत्र > पूत।

"ऋ" से "ऊ"– श्यालिवोढ़ (सं०) > साल दुओ (प्रा०) > साढ़ू (छ० ग०)। "इ" या "ई" से "ए" का विकास (ह्रस्व ए) निमंत्रण > नेवता। दीपावली > देवारी।

"अ" से "ए" (दीर्घ) का विकास :–

शय्या (सं०)>सज्जा (प्रा०)>सेज (छ० ग०)।

प्राकृत "ओ" से 'औ'। वर्कर (सं०)>बोक्कड़ा (प्रा०)>बोकरा (छ० ग०)

अपभ्रंश 'उ' से 'ओ'– आर्द्र (सं०)> उल्ल (अप०)>ओलहा
'अम्' से "औ"–गमन (सं०)>गौना

अ+इ के संयोग से "ऐ' की उत्पत्ति – बधिर (सं०)>बहिरा बहिरा (प्रा०)>भैरा (छ० ग०)।

अधिक उदाहरण न देकर यह निष्कर्ष प्रस्तुत कर देना अधिक उचित है कि (१) कही संस्कृत के ही विभिन्न स्वर प्राकृत–अपभ्रंश में सुरक्षित रहते हुए छत्तीसगढ़ी तक सुरक्षित चले आए हैं। (२) कहीं संस्कृत के स्वर प्राकृत अपभ्रंश में परिवर्तित हो गये और उसका वह परिवर्तित रूप छत्तीसगढ़ी में सुरक्षित है। (३) कहीं संस्कृत के स्वर प्राकृत–अपभ्रंश में तो अपरिवर्तित रहे, पर छत्तीसगढ़ी में परिवर्तित हो गये (४) कहीं सस्कृत के स्वर प्राकृत अपभ्रंश में परिवर्तित हुए और छत्तीसगढ़ी में आकर पुनः परिवर्तित हो गये।[1]

ठीक यही बात "व्यञ्जन" के संबंध में कही जा सकती है। उक्त निष्कर्ष के आधार पर व्यञ्जन के केवल चार उदाहरण प्रस्तुत है :–

१– खुर (सं०)>खुर (पा० 'प्रा०)> खुर छ० ग०

२– प्रभात (सं०)>पहात (अपभ्रंश)>पहट (छ० ग०)

३– करीष (सं०)>करीस (पा०)>खरसी (छ० ग०)=छेना के टुकड़े।

४ भाग्य (सं०)>भाग्ग (पा० प्रा०)> भाग (छ० ग०)

ध्वनि परिवर्तन की दिशाएँ:–

भाषा विज्ञान ने लोप, आगम, विपर्यय आदि के रूप में ध्वनि-परिवर्तन की दिशाएं निर्धारित की हैं।

छत्तीसगढ़ी में इन परिवर्तनों के अधिकांश स्वरूप उपलब्ध होते हैं। क्रमशः प्रत्येक के उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं—

१– लोप—स्वर लोप –

---

१. चारों उदाहरण "छत्तीसगढ़ी का वैज्ञानिक अध्ययन" प्रकरण—व्यंजनों की उत्पत्ति—लेखक डा० तेलंग।

अलक्त (सं०)>लत्ता (छ० ग०)=कपड़ा ('अ' का लोप)

गुरू (सं०)>गरू (छ० ग०)=भारी (उ का लोप)

व्यञ्जन लोप–

स्टेशन (अं०)>टेसन (छ० ग०) (स् का लोप)

गोपी (सं०)>गोई (छ० ग०) (प् का लोप)

२– आगम–स्वरागम–

लोप (सं०)>अलोप (छ० ग०) (अ का आगम)

पुरोहित (सं०)>उपरोहित (छ० ग०) (उ का आगम)

गुप्त (सं०)>गुपुत (छ० ग०) (स्वर भक्ति से 'उ' आगम)

व्यञ्जनागम :–

समुद्र (सं०)>समुन्दर (छ० ग०) (न् का आगम)

जेल (अं०)>जेहल (छ० ग०) (ह् का आगम)

अपटगे (छ० ग०)>हपटगे (छ० ग०) (ह् का आगम)

३– विपर्यय :– (ध्वनियों का परस्पर स्थान बदल लेना) स्वर विपर्यय–

लबार>लबरा। महार>महरा।

जानवर>जनावर। नबेला>नेबरा (नेबरा बैला – जवान बैल)

व्यञ्जन विपर्यय–

सिग्नल>सिगल

कांसड़ा>साकड़ा (बैल के नाथ से बंधी रस्सी)

४– समीकरण – (एक ध्वनि दूसरी ध्वनि को अपनी जाति की बना लेती है।)

स्वर समीकरण :––

सूरज>सूरुज। आदमी>अदमी

इमली>अमली।

व्यञ्जन समीकरण :–

चक्र>चक्का। पक्व>पक्का

तलवार>तरवार। डाक्टर>डाक्डर

उत्कट>उट्कट।

५– विषमीकरण :–(दो समान ध्वनियों में एक ध्वनि का बदल जाना)

मुकुट>मकुट। बिन्दी>बेंदी। बदर>बेदरा।

व्यंजन – चुनचुन>चुनमुन।

६– सन्धि--छत्तीसगढ़ी में संधि नियम नहीं है; किन्तु संधि की प्रवृत्ति छत्तीसगढ़ी में दिखाई अवश्य पड़ती है :–

दूध् दे>दुद्दे (ध्+द – द्द)

कम्पाउन्डर>कम्पोडर (आ+उ – ओ)

७– उष्मीकरण–'छ' का उच्चारण 'स' करने की प्रवृत्ति ग्राम्य छत्तीसगढ़ी में उपलब्ध होती है। यथा–छेना>सेना। छकड़ा>सकड़ा। छत्ता> सत्ता।

८– अनुनासिक––

कौवा>कौवाँ। श्वास>साँस। कुआ>कुआँ।

९– मात्रा – (दीर्घ स्वर का ह्रस्व या ह्रस्व का दीर्घ होना)

आषाढ़>असाढ़ 'सा' के बलाघात के कारण 'आ' का 'अ' हो गया।

आकाश>अकास। गुरु>गुरू। ज्योति>जोती।

१०– घोषीकरण :–(अघोष व्यञ्जन का 'घोष' में परिवर्तन)

डाक्टर>डाग्डर। शाक्>साग। प्रकट>परगट

११– अघोषीकरण :–

शराव>सराप। खूबसूरत>खुपसूरत।

द्रौपदी>दुरपती। मदद>मदत्।

१२– महाप्राणीकरण :–

नगर>नाघर (ग्राम्य उच्चारण) पश्चिम>पच्छिम

हस्त>हस्थ। पुष्ट>पोठ। खाक़ी>खाखी।

१३– अल्पप्राणीकरण.–

भाठागाँव>भटगाव। हाफपैंट>हापपेंट

सोफ>सौंप। कठखोलवा>कटखोलवा

ध्वनि परिवर्तन के उक्त स्वरूपों में लोप, आगम, विपर्यय, समीकरण, अनुनासिक तथा मात्रा परिवर्तन की प्रवृत्ति विशेष रूप से पाई जाती है। छत्तीसगढ़ी में "स्वर भक्ति" की भी विशेष प्रवृत्ति है, जैसे–

कद्र>कदर (कतर अनुकरणात्मक) धर्म>धरम।

ध्वनि विकार के मूल में प्रधानतः अनुकरण की अपूर्णता, अज्ञान, मुख-सुख, बलाघात, स्वाभाविक विकास तथा विदेशी ध्वनि का अभाव विद्यमान है। रिपोर्ट का "रपट" हो जाना अनुकरण की अपूर्णता का द्योतक है। अज्ञान के कारण ओवरसियर का 'ओसियर' तथा पोलिस का 'पुलिस' बन गया। स्टेशन का टेसन मुखसुख के कारण हुआ। कौवा से

कौंवां बन जाने में ध्वनि का स्वाभाविक विकास परिलक्षित होता है। बीमार का 'बिमार', बेचारा का 'बिचारा' हो जाना "मा" तथा "चा" के बलाघात के कारण हुआ। अरबी फारसी की क़, ख़, आदि ध्वनियां न होने के कारण उनके स्थान पर छत्तीसगढ़ी ध्वनि ने स्थान पा लिया–काग़ज>कागज। फ़ेल>फेल>फैल।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि छत्तीसगढ़ी ध्वनियों का मुख्य स्रोत संस्कृत तथा देशी भाषाएँ हैं, विदेशी ध्वनियाँ छत्तीसगढ़ी ध्वनि को प्रभावित न कर सकीं। ह्रस्व "ए" तथा "ओ" छत्तीसगढ़ी का अपना विकास है।

रूप–रचना

'शब्द' को 'पद' बनाने के लिये उसमें सम्बन्ध तत्व जोड़ने की आवश्यकता पड़ती है। अर्थ तत्वों का परस्पर क्या संबध है, इसका ज्ञान सम्बन्ध तत्व से होता है। छत्तीसगढ़ी में उपलब्ध संबध तत्वों का यहाँ क्रमश. उल्लेख किया जा रहा है :–

१– परसर्ग–पद रचना के लिये शब्द के पूर्व लगने वाले अक्षर या अक्षर समूह को परसर्ग या उपसर्ग कहते हैं। छत्तीसगढ़ी में उपलब्ध निम्नलिखित परसर्ग हैं:–

संस्कृत से आए उपसर्ग –

अ– अकारथ, अनाथ	कु– कुलच्छन
अधि–अधिकार	नि– निखालिस
अनु– अनभो, अनुसार	निस् –निस्तार
अप– अपजस, अपराध	परि– परिनाम, परिकरमा
उ – उरिन	स– सनाथ, सजोर
उत– उदास	सु– सुकाल
उप – उपदेस	सम् –संताप, सम्बाद

संस्कृत उपसर्ग से विकसित :–

अ – संस्कृत के 'आ' से विकसित। यथा–अधीन

अधि – संस्कृत के "अर्द्ध" से निष्पन्न। यथा–अधमरा

अन्>सं० अन्। अनभल, अनमन।

अन्>(हिन्दी) अन। अनजान (अनजान), अन्चिन्हार, अन्देखे

ि–औं>सं० अव। औंतार, औगुन

ं>सं० उत्। उतान (उत्तान), उखान (उत्खन)

क>सं० कु । कपूत

दु>सं० दुः । दुकाल (दुष्काल)

दुर>सं० दुर् । दुरमत

निर>सं० निर् । निरमल

पर>सं० प्र० । परसाद, परसार, परगट, परतीत

अत>सं० अति । अतकिहा

अइत>सं० अति । अइताचार (अत्याचार)

बि>सं० वि । बिरोध , बिघात।

दर>सं० अर्द्ध । दरपका (अधपका), दरपिसा (अधपिसा)

नन>सं० निम्न । ननजतिया

नान>सं० निम्न । नानजात

उक्त तत्सम—तद्भव उपसर्गों के अतिरिक्त विदेशी उपसर्ग भी छत्तीसगढ़ी मे मिल चुके हैं :-

अल – (अरबी) अलबेला

ग़ैर – (फा०) – गैरवाजिब

न – (फा० ना से) – नदान, नलाएक, नराज

बद – (फारसी)– बदमास, बदचाल, बदनाम

बे – (फा०)– बेइज्जत, बेहोश

ला – (अ०) –लापता

सर – (फा०) – सरकार, सरपंच

उक्त अरबी फारसी के उपसर्ग खड़ी बोली के सम्पर्क से आए हैं।[1]

२– प्रत्यय – शब्द रचना के लिए शब्द के अंत में प्रत्यय लगाया जाता है । छत्तीसगढ़ी के निम्नलिखित प्रत्यय उल्लेख्य हैं-[2] अई– इसका विकास संस्कृत के "आपिका" से हुआ है।

आपिका>अविआ (प्रा०)>अविअ>आवी>अई ।

यथा चतुरई, करुअई।

आई<सं० आपिका । पढ़ाई

आऊ<सं० आप–उक । चढ़ाऊ, देखाऊ । सुनाऊ (मोर सुनाऊ मैं कहिबे)

आव<सं० त्व । सजाव, बनाव, रखाव, पहिराव

आप<अपु अप्प । मिलाप, सुन्दरपा

---

१. छत्तीसगढ़ी बोली, व्याकरण और कोश, पृष्ठ १०२ डा० कांति कुमार

२ "छ० बोली का अध्ययन" पृष्ठ ६४- तेलंग

आँवत<सं० आ+वृत्। पहिलाँवत
आस<सं० आप+वश। पियास, मिठास
आर<सं० कार। सोनार, चिन्हार
आरी<सं० कारिक। सोनारी, भंडारी
आनी<सं० आपन। मेहतरानी
इन<सं० इन। धोबिन
ई-इया<सं० इका। घोड़ी, बछिया
इहा<सं० इका। रइपुरिहा
इत<सं० इका। पबरित
ईत<सं० गत। पछीत
ऊ<सं० उक। पैठू, पेटू, मोटू
उर<द्राविड़ी प्रत्यय। फुसुर-फुसुर।
उल<सं० इल। देखाउल, ऐंठुल
उआ<सं० उक। गेरुआ
उक<सं० उक। पेरुक, छोटुक
ए<सं० एव। तोरे (तुम्हारा ही)
एक<सं० एक। जतेक (यदेकं)
एच<सं० एव। मोहनेच
एर,<एरा सं० कृ०। तमेर, बसेरा
ऐत<सं० आपन्त। लठैत
ऐया<सं० आपिका। जपैया
ओ<सं० अपि। रामो (राम भी)
ओत<सं० गत। पछौत
ओट<सं० पट्टिका। लंगोट (लिंग पट्टिका)
औती<सं० वृत्ति। बपौती, मनौती, चढ़ौती

उक्त, स्वरादि प्रत्ययों से स्पष्ट है कि छत्तीसगढ़ी के अधिकांश प्रत्यय संस्कृत से ही निष्पन्न हैं। व्यञ्जनादि प्रत्ययों का विकास भी संस्कृत प्रत्ययों या शब्दों से हुआ है। व्यञ्जनादि प्रत्ययों के दो चार उदाहरण द्रष्टव्य हैं-

रू < सं० रूप। चिन्हारू, दुलरू

न, ना, नी,<सं० अन। नहना, दुहना, खोदनी, करनी, मरनी, नहावन, फोरन,

हा<प्रा० आह (षष्ठी प्रत्यय)। अलकरहा, रेसमाही, फुटहा

वाला-(स० पाल)। मतवाला

पदों में एक से अधिक प्रत्यय भी लगे होते हैं। यथा- अगड़ाही (ड़ा+ही) - आगे का।

छत्तीसगढ़ी मे "मध्यसर्ग" का अभाव है।

३-- स्वतंत्र सम्बन्ध तत्व :-उपसर्ग या प्रत्यय शब्दों में संयुक्त हो जाते हैं। किन्तु ऐसे भी शब्द हैं जो स्वतंत्र रहकर संबंध तत्व का कार्य करते हैं। उदाहरणार्थ, विभिन्न कारकों की विभिन्न विभक्तियाँ निर्धारित हैं:-

कर्त्ताकारक- हा, हर,- ये संस्कृत के "सर्व" से व्युत्पन्न हैं। कर्म, सम्प्रदान-का, ला, बर--इनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं।

करण, अपादान-ले, लग- सस्कृत के 'लग्ने' से इनका विकास हुआ।

सम्बन्ध- के संस्कृत के 'कृते' से उत्पन्न

अधिकरण- माँ, माँ, मैं - इनकी उत्पत्ति संस्कृत के "मध्ये" से हुई है।

सम्बोधन-ए- इसका विकास संस्कृत के 'अये' से हुआ है।

अन्य स्वतंत्र सम्बन्ध तत्व, यथा-कोती, डहर, मेर।

४- शब्द स्थान-अनेक बार स्थान परिवर्तन से संबंध तत्वों में अंतर आ जाता है। यथा-

घरगोसैंया = गृहपति। गोसैंयाघर = पतिगृह

अधिकारी तथा अधिकृत वस्तु का स्थान निर्धारित है। उनके स्थान परिवर्तन से अर्थ-परिवर्तन हो जाता है। इसी तरह निम्नलिखित परिमाण वाचक विशेषण का स्थान- परिवर्तन के साथ अर्थ-परिवर्तन हो जाता है—

बहुत आदमी मन खाइन। आदमी मन बहुत खाइन।

५- शून्य सम्बन्ध तत्व-शब्द कभी कभी अपने मूल रूप में उपस्थित रहते हैं, पर उनमें सम्बन्ध तत्व प्रगट रहता है-

मोहन जाथे। (मोहन अपने मूल रूप में रहकर भी कर्त्ताकारक का अर्थ दे रहा है।)

मैं आमा खाएंव। (आमा पर ध्यान दीजिए)

६- ध्वनि प्रतिस्थापन :-ध्वनि प्रति स्थापन द्वारा भी छत्तीसगढ़ी में संबंध तत्व प्रगट होता है :-

जा - जाथौं- (व्यञ्जन स्वर प्रतिस्थापन)

(माँग) पोंछ पोछौनी- (व्यञ्जन स्वर प्रति स्थापन)

(माँग पोंछने के उपलक्ष्य में)

बइठक–बैइठकी – (स्वर प्रतिस्थापन)
(बिठाने के उपलक्ष्य में)

(मुड़) मींज–मिंजनी– (स्वर प्रतिस्थापन (सिर मींजने की)

कह्-कहे (स्वर प्रतिस्थापन) (कहने से, यथा–तोर कहे कुछ् नइ होवे)

द्रष्टव्य है कि जिस अर्थ के लिये हिन्दी में स्वतन्त्र शब्द की आवश्यकता पड़ती है, वह अर्थ छत्तीसगढ़ी में केवल ध्वनि प्रतिस्थापन से सिद्ध हो रहा है।

मर–मरत् (व्यंजन प्रतिस्थापन) मरत आदमी = मरता हुआ आदमी।

सुन– सुनाउ –(स्वर प्रतिस्थापन)–सुनने योग्य।

"तैं मोला मोर बाप के सुनाऊ दपकारबे।"

उल्लेखनीय है कि "बाप के सुनाऊ" इस रूप से पूरे एक उपवाक्य कहने की मिहनत बच रही है। हिन्दी में इसे इस तरह कहेंगे–तुम मुझे ऐसे डाँटना, कि मेरे पिताजी सुन लें। निश्चित ही छत्तीसगढ़ी की यह अपनी विशेषता है।

७– ध्वनि द्विरावृत्ति–कभी कभी ध्वनि की द्विरावृत्ति द्वारा सम्बन्ध तत्व व्यक्त होता है। यथा–

रो – रोनरोनहा। गोटी = गोटगोटहा

माटी– मटमटिहा। रोस–रोसरोसहा

८– ध्वनि गुण–सुर बलाघात द्वारा संबंध तत्व का प्रगट होना–

जाबे। (निश्चय वाचक)

जाबे ? (प्रश्नवाचक)

जाबे ! (आश्चर्य सूचक)

शब्द बलाघात के कारण सम्बन्ध तत्व का प्रगट होना––"मोहन हा राम ला तुरते पटक दइस" (कर्त्ता की सूचना देना अभीष्ट)

"राम ला मोहन हा तुरते पटक दइस" (कर्म की सूचना देना अभीष्ट)

"तुरते पटक दइस राम ला मोहन हा" (पराक्रम की सूचना देना अभीष्ट)

ध्वनि विनियोजन के उदाहरण नहीं दिखाई पड़ते।

छत्तीसगढ़ी के इन सम्बन्ध तत्वों में प्रत्यय, उपसर्ग तथा स्वतंत्र सम्बन्ध-तत्वों की प्रधानता है। इसमें अश्लिष्ट तथा श्लिष्ट योगात्मक रूप उपलब्ध होते हैं। छत्तीसगढ़ी में यद्यपि पदक्रम का शत प्रतिशत निर्धारण नहीं है, जैसा कि अयोगात्मक भाषाओं में होता है– केवल पद-

स्थान से ही अर्थ सूचित हो जाता है-किंतु क्वचित अंशों में पदों के स्थान निर्धारित भी हैं। उनके स्थान-परिवर्तन से अर्थ परिवर्तन हो जाता है। उदाहरण हम ऊपर दे चुके हैं। विभिन्न पदों का स्थान यद्यपि दृढ़तापूर्वक नहीं है, किन्तु परम्परा से उनमें निर्धारण अवश्य है।

-व्याकरण-

संज्ञा :— भाववाचक संज्ञा बनाने के लिये प्रायः निम्नलिखित प्रत्ययों का प्रयोग होता है:-

आई- संस्कृत के "आपिका" से निष्पन्न। पढ़ाई, सुनवाई

अई<सं० अपिका। चतुरई

आव<सं० त्व। बनाव, रखाव, पहिराव।

आऊ<सं० आप+उऊ। चढ़ाऊ

आप<अप० अप्प<त्वन् मिलाप

आस<सं० आप+वश। पियास

आरी<सं० कारिक। सोनारी

ई<सं० इका। भलाई, नेकी

आवन<सं० आपन। मतावन, पहिरावन,

आन<सं० आपन। उठान

औनी<सं० आपन। पुरौनी

औका<सं० आप+क। मिलौका (=मिलाप) बनौका,

औती<सं० वृत्ति। बपौती, मनौती

व<सं० तव्य। बनब, रखब

न<सं० न। खान- पान

पा<सं० अप। सुन्दरपा

छत्तीसगढ़ी संज्ञाओं में दो लिंग होते है—स्त्रीलिंग, पुल्लिग।

इनमें से कुछ शब्दों के पुल्लिग तथा स्त्रीलिंग रूप संस्कृत से ही चले आए है, यथा-पिता, जेठ, माता, ससुर आदि

अनेक ऐसे शब्द हैं, जिसका केवल पुल्लिंग या स्त्रीलिंग रूप ही दिखाई देता है। यथा—

गुनिया (पुल्लिंग)

भदई (पुल्लिंग)

रेजा (स्त्रीलिंग)

दाऊ (पुल्लिंग)

बिहाता (स्त्रीलिंग)

निम्नलिखित शब्दों में दोनों लिंग सूचित होते हैं:–

मनसे = आदमी। परानी = प्राणी। पनबूड़ी = विशेष बालक या बालिका

लिंग भेद निम्नलिखित प्रत्ययों से दर्शित होता है:–

आ–पुल्लिंग यथा बोकरा

स्त्रीलिंग यथा–केजा

ई– स्त्रीलिंग यथा–बोकरी, गोई, राही (राधिका)

इया–स्त्रीलिंग यथा बछिया

नी, निन, इन, आइन––स्त्रीलिंग यथा–बघनी, गौटनिन, तेलिन, रौताइन।

संज्ञाओं के एक वचन तथा बहुवचन रूप पाये जाते हैं।

एक वचन से बहुवचन रूप बनाने के लिये 'न' 'मन' तथा 'मनन' प्रत्यय लगाया जाता है यथा–

अदमी– अदमिन

अदमी–अदमीमन

अदमी – अदमीमनन

कुछ स्थानों पर एक बचन का रूप ही बहुवचन के अर्थ मे व्यवहृत होता है, यथा–

चार बैला मोर, एक बैला तोर।

आदर या सम्मान प्रदर्शन के लिये बहुबचन रूप को एक वचन के अर्थ में प्रयुक्त करते हैं:–

तोर ममा मन आइन का ? (तुम्हारे मामा आए क्या?)

कहीं 'मन' का प्रयोग 'आदि' के अर्थ में होता है तथा पूरा शब्द बहुवचन बन जाता है:–

लइका मन आगइन – (पूरा परिवार आ गया)

डा० चटर्जी के अनुसार 'मन' की उत्पत्ति 'मानव' से हुई है। एक वचन में निश्चित वस्तु की सूचना के लिये 'हर' प्रत्यय का प्रयोग होता है। अंगरेजी में The का जो स्थान है वही छत्तीसगढ़ी मे 'हर' का।[१]

---

[१] छत्तीसगढ़ी का वैज्ञानिक अध्ययन—तेलंग, पृष्ठ १७७

ए किताब ला. आप मन म एक आदमी पढ़िसे
(अनिश्चित व्यक्ति)

आदमी हर किताब ला पढ़िस (निश्चित व्यक्ति)

'हर' की व्युत्पत्ति 'सर्व' से मानी गई है।[1] 'प्रत्येक' अर्थ गर्भित करने के लिये शब्द की द्विरुक्ति की जाती है। यह नियम संस्कृत से चला आया है—आदमी अदमी म भेद होथे
(आदमी–आदमी में भेद होता है)

सर्वनाम– छत्तीसगढ़ी में निम्नलिखित पुरुष वाचक सर्वनाम है–

मैं–हमन (हम –उत्तम पुरुष)

तैं–तूमन (तुम लोग–मध्यम पुरुष)

ओ --ओमन
तौन – तौनमन } वे लोग–अन्य पु०

इनकी व्युत्पत्ति इस तरह की गई है–

मया+एन (सं०) से मय (मैं)

त्वया+एन (सं०) से तैं या तें

अव (सं०) से ओ

तत+पुनः (सं०') से तौन

इनके विभिन्न कारकों तथा वचनों में निम्नलिखित रूप बनते हैं–

उत्तम पुरुष	मध्यम पुरुष	
एकबचन बहुव०	एकवचन बहुवचन	(आदरसूचक रूप)
मैं – हमन	तैं – तूमन	तूमन तूंमनन
मोला – हमला	तोला– तूमनला	तुंहला तुंहर मन ला
मोर ले–हमन ले	तोर ले–तूमनले	तुंहर ले तुंहर मनले
मोर बर-हमर बर (हमन बर)	तोर-बर–तूमन बर	तुंहरर बर तुंहर मन बर
मोर ले –हमन ले	तोर ले–तूमन ले	तुंहरले. तुंहर मन ले
मोर –हमर	तोर–तूमन के	तुंहर तुंहर मन के
मोर म हमर म	तोर म–तूमन म	तुंहर म तुं हर मन म

अन्य पुरुष		अन्य पुरुष दूसरा रूप	
एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन
ओ (हा)	ओमन	तौन (हा)	तौनमन

---

१. छत्तीसगढ़ी का वैज्ञानिक अध्ययन पृष्ठ ११८

ओला	ओमन ला	तौन ला	तौन मन ला
ओखर से (ले)	ओखर मन से, ले (ओमन ले)	तौन ले	तौन मन ल ले (से) तेखरमन से
ओखर बर	ओखर मन बर (ओ मनबर)	तौन बर (तेखर बर)	तौन मन बर, तेखर मन बर
ओखर से (ले)	ओखर मन से ले (ओमनसे)	तौन ले—तौन मनले, तेखर मनले	
ओखर	ओखर मन के (ओमनके)	तेखर—तेखर मन के	
ओमा	ओमन मा	तेमा (तौन म)	तौन मन म

मध्यमपुरुष के आदरसूचक रूप में 'तुंहर' के अतिरिक्त तुंहार रूप भी होता है। उल्लेखनीय है कि अन्य पुरुषके 'तौन' रूप का प्रयोग सामान्यतः निश्चयवाचक सर्वनाम के रूप में नहीं होता। इसका प्रयोग सम्बन्धवाचक सर्वनाम की पूर्ति रूप में होता है। यथा–'जौन आदमी ला में देखे रहैंव, तौन आदमी हवपैसा लाइस। 'आपे' छत्तीसगढ़ी का निजवाचक सर्वनाम है। संस्कृत का 'आत्मन्' + एव प्राकृत (अप्प + एव) आदि से होते हुए छत्तीसगढ़ी में 'आपे' बना। इसके 'आपो आप', 'आपुस' तथा 'अपन' रूप बनते हैं। छत्तीसगढ़ी के 'सवांगे' (स्वय) शब्द की उत्पत्ति 'स्वयंकृते' से मानी गई है। 'अप्पेकृते' से 'पोगराना' (स्वयं ले लेना) की उत्पत्ति स्वीकार की गई हैं।

'कोन' 'कउन', काखर (किसका), का कर, का के, आदि प्रश्नवाचक सर्वनाम हैं। संस्कृत के कः + पुनः से कउन रूप बनता है। अन्य इसी के विभिन्न विकास हैं।

'कोनो' अनिश्च्यवाचक सर्वनाम हैं। 'कोखरो' 'या 'कखरो' इसके संबंध कारक का रूप है। कुछू (कुछ भी) की उत्पत्ति संस्कृत के 'किञ्चिद्' से हुई है।

सम्बंध वाचक सर्वनाम 'जौन' (जउन) है।

यह संस्कृत के 'यः + पुनः' से व्युत्पन्न माना जाता है। इसके सबंध कारक का रूप 'जेखर', जेकर 'जिन्हकर' तथा 'जिन्हखर' बनता है।

'ये', 'ओ' निश्चयवाचक सर्वनाम हैं। 'ये' की उत्पत्ति संस्कृत के 'एतत्' से हुई है। 'ये' निकटवाची तथा 'ओ' दूरवाची है। सम्बंधकारक में एखर, ओखर, एकर, ओकर, रूप बनते हैं।

विशेषणः––विशेषण बनाने के लिये साधारणतः निम्नलिखित प्रत्ययों का प्रयोग होता है––

अंता—पढ़न्ता
आऊ—जुझाऊ
आरी—मोटियारी
इया—करिया
ई—धरमी
उआ—घरुआ
उल—चमकुल
ऊ—घरू
ए—पियासे
एल—रखेल
ऐला—गोबरैला
ऐया—पढ़ैया
ऐता—सर्फैता
औआ—घरौआ
औती—पुरखौती
छुर—नुनछुर
तुर—गुरतुर
सुर—अमसुर
हा—रोगहा
कुन—नानकुन

विशेषण में विशेष्य के अनुसार लिंग परिवर्तन होता है, पर कई स्थानों पर दोनो लिगों के लिये एक ही रूप व्यवहृत होता है। यथा—

पुल्लिंग	स्त्रीलिंग	प्रत्यय
सर्फैता	सर्फैतिन	इन
रोगहा	रोगही	ई
रइपुरिहा	रइपुरिहिन	हिन
कमैया	कमैलिन	ऐलिन
चमकुल	चमकुलिया	इया
अमसुर	अमसुर	
गुरतुर	गुरतुर	
नानकुन	नानकुन	

सार्वनामिक विशेषण—एतका, अतकी, अतेक, अतका (इतना) इनमें एतका तथा अतका का अर्थ तो सामान्य है, पर 'अतकी' शब्द 'अल्पता' की सूचना देता है, तथा 'अतेक' शब्द' 'आधिक्य' की। ये शब्द पाली के 'एत्तक' से विकसित है। इसी तरह पाली के 'कित्तिक' शब्द से बना 'केतका' है, जिसके 'कतका' 'कतकी' तथा 'कतेक' रूप बने हैं।

संस्कृत के 'दृश' से विकसित 'एसन' के 'ऐसने' 'ऐसे' तथा 'अइसनहा' रूप बनते हैं। उक्त सर्वनामों का दूरवर्ती रूप भी होता है। यथा ओतका, ओतेक, ओतकी, वैसने, वैसना, ओसने, ओइसने, ओसनहा, आदि। अन्य सार्वनामिक विशेषण:—

जेतका, जतका, जतेक, जतके, जैसन, जैसना, जैसने, तेतका, ततका, ततेक, तैसन, तैसने, तैसना, केतका, कतका, कतैक, कैसन, कैसना,

निम्नलिखित शब्द हिन्दी के प्रभाव से आए हैं—
जेतना, तेतना, ऐसे, कैसे आदि

गुणवाचकविशेपण:—यथा—करिया, कारी, गोरी, गोरिया, लाल, ललिहा, लीला (नीला), सुफेद, धुमलहा, मटिहा, हरियर, पिंवरा, चक्कर, चाकर, लम्मा, सांकुर, बड़े, छोटे, बड़का, छोटका, तिरछहूं, तिरपट, ऊँच, निच, गोल, मोठ, पातर, पनियर, हरू, गरू, अम्मठ, चुरपुर, सिरतोन, आदि।

संख्यावाचक:—निश्चित ;संख्या—

एक, दू, तीन चार, पाँच, छै, सात, आठ, नौ दस, गियारा, बारा, तेरा, चौदा, पंदरा, सोरा, सतरा, अट्ठारा, ओन्नइस, (या एक घाट कोरी), कोरी।

एक आगर एक ,कोरी—२१

दू आगर एक कोरी—२२

इसी तरह कोरी के पूर्व 'आगर' या घाट' लगाकर धनात्मक—ऋणात्मक रीति से अन्य संख्याएं बनाई जाती है। जैसे ८५ को—पांच आगर चार कोरी।

९५ को—पांच घाट पाँच कोरी

मनुष्येतर पदार्थ की संख्या के आगे गणनावाची 'ठन' या 'टिया' का प्रयोग होता है।

क्रमवाचक संख्या शब्द—पहिली पहिलीपहिल, दुसर, तीसर, चौथे, चौथइया आदि।

छत्तीसगढ़ी के संख्यावाची शब्दों का विकास संस्कृत के संख्यावाची शब्दों से हुआ है। 'कोरी' शब्द संस्कृत का 'कोटि' है। 'आगर' का विकास संस्कृत के 'अग्रे' से हुआ है। 'ठन' की उत्पत्ति' एकस्थक तथा 'झन' की उत्पत्ति 'जन' से हुई है। 'झिक' (यथा—एक झिक टूरी) का विकास 'दुहिता' से माना गया है। 'घाट' शब्द संस्कृत के 'घट्' से निकला है। अनिश्चित संख्या को व्यक्त करने के लिये 'अकन' या 'एकन' या 'यक' शब्द का योग कर देते है, जो संस्कृत के 'एक' का विकृत रूप है।—दूअकन, (लगभग दो) ठीक इसी तरह 'असन' का भी प्रयोग करते है—अतेक असन। परिमाण बोधक विशेषण —अड़बड़ बहुत, बहुते, खूब, अघात, थोर, थोरे, थोरिक, थोरक, थोरकन, थोरकिन, थोरकुन, चिटिकनर, रचक, जम्मा, जम्मो, सबो, सब्बो, गजब, गज आदि।

इनमें 'अघात' का विकास संस्कृत के 'अग्राह्य' से हुआ है। 'बहुत' संस्कृत के 'बहु' का विकार है। संस्कृत के 'स्तोक' से 'थोर' शब्द निकला हुआ है।

क्रिया विशेषण :—

काल वाचक—अब, जब, तब, आज, काल, काल्हो, परसिदन, नरसिदन,

बिहनियां, संझा, मंझनियां, रतिहा, परिहार, पौर, आजकाल, ओदिन, कभी, सदा, वखत, फेर, आगू, पीछू, तैहा, तुरत, तुरत, झपके, अबेर, संवकेरहा, आखिर, जुआर, बेरा, खानी, पहाती, आंसो,

स्थान वाचक—इहां, उहां, जिहां, कहां, कतेहां, कतिहां, तिहां, तहां, एती, इती, ओती, उती, जेती, तेती, केती, किती, धापभर, दुरिहा, लकठा, आगू, पाछू, अगाड़ी, पछीत, पछोत, अन्तै, साम्हू, छेंवट, छेंव, एकोती, ओकोती, जेकोती, तेकोती, कोनकोत, ओमेर, ओलंग, एमेर, एलंग, जौनमेर, नघींच, भितरी, बहिरी, खाल्हे, तरी, मेर, मेरी।

रीतिवाचक—ऐसन, ऐसे, वैसन, वैसे, जैसन, जैसे, जस, तस जैसने, तैसने, कैसन, कैसना, झन, झिन, सिरतोंन, सिरतों, पांच-परगट, कलेचुप, चुपेचाप, बिरथा, घाव (बार)

परिमाण वाचक—परिमाण वाचक विशेषण में परिमाणवाचक क्रिया विशेषण के रूप देखे जा सकते हैं।

छत्तीसगढ़ का 'बेरा' शब्द संस्कृत के 'वेला' से व्युत्पन्न हुआ है। 'जातखानी' में 'खानी' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के 'क्षणे' से हुआ है। 'वखत' फारसी से आया है। संस्कृत का 'घात' छत्तीसगढ़ी में 'घाव' बन गया है। 'अबेर' की उत्पत्ति भी 'वेला' से है। 'संवकेरहा' के मूल में संस्कृत का 'सकाले' शब्द निहित है। 'प्रभाती' से 'पहाती' बन गया है। 'बिहनियां' शब्द संस्कृत के 'विभानु' से विकसित हुआ है। 'भिनसरहा' की उत्पत्ति संस्कृत के 'विभानु + सृ + हा' से हुई है। छत्तीसगढ़ी का मझनियां संस्कृत के 'मध्याह्न' का विकसित रूप है। संस्कृत की 'संध्या' छत्तीसगढ़ी की 'संझा' बन गई। संस्कृत का 'एवं' 'अब' हो गया है। 'अभी' इसी का रूप है। संस्कृत का 'अद्य' छत्तीसगढ़ी का आज है। संस्कृत का 'कल्य' छत्तीसगढ़ी का 'काल' है। संस्कृत के एषमस् 'से आसों' या एसो' की उत्पत्ति हुई है। संस्कृत का 'तदा' छत्तीसगढ़ी में 'तैहा' बन बैठा। संस्कृत के 'सीमान्त' से छत्तीसगढ़ी का 'छेवट' व्युत्पन्न हुआ है। अवधी का 'कैती' छत्तीसगढ़ी में 'कोत' या कोती बना है। संस्कृत का 'मर्यादा' छत्तीसगढ़ी का 'मेर' है। संस्कृत के 'लग्न' से छत्तीसगढ़ी का 'लग' निकला है। संस्कृत का 'सीमा' तथा 'सन्मुख' क्रमशः 'छेव' तथा 'समुहे' बन गये। प्राकृत का 'इत्थ' 'तत्थ' 'जत्थ' तथा 'कत्थ' क्रमशः 'इहाँ' तिहाँ, जिहाँ तथा कहाँ बन गया है। संस्कृत के 'यत्र' से 'जतर' तथा 'जतर' के अनुकरण पर 'कतर' की उत्पत्ति हो गई) अपभ्रंश के 'एत्थु' 'जित्थु', 'तित्थु' तथा 'कित्थु' से 'एती', 'जेती' 'तेती' तथा 'केती' शब्द का

विकास हुआ। संस्कृत के 'बहिर' से 'बाहिर' 'अभ्यतंरे' से भीतर तथा 'उपरि' से 'उप्पर' की व्युत्पत्ति हुई। संस्कृत के 'तले' से छत्तीसगढ़ी का 'तरी' शब्द निकला है। संस्कृत के 'पश्चात्' से पीछे शब्द की व्युत्पत्ति हुई है। 'मझौत' की उत्पत्ति 'मध्य' से, 'लकठा' की उत्पत्ति 'निकट' से, 'पास' की उत्पत्ति 'पार्श्व' से, 'अलग' की उत्पत्ति 'अलग्न' से तथा 'उबड़ी' की उत्पत्ति 'उत्पतति' से हुई है। संस्कृत के 'कलम्' से विकसित 'कले' शब्द के बाद हिन्दी का 'चुप' बैठ गया। इससे छत्तीसगढ़ी में 'कलेचुप' बन गया। छत्तीसगढ़ी का 'हलू हलू' संस्कृत के 'लघुक' शब्द से निकल कर 'द्वित्व' हो गया। संस्कृत का 'झटिति' छत्तीसगढ़ी मे 'झट' बन गया। इसी तरह संस्कृत का 'बलात् प्रेरित' छत्तीसगड़ी में 'बरपेल्ली' बन गया। संस्कृत का 'भद्र' शब्द 'भलुक' बन बैठा है। प्राकृत के 'फोट्ट + ट' से 'फोकट' तथा 'निक्क' शब्द से 'निक' बना है। संस्कृत के 'खलु' से 'घलुक', स्तोक' से 'थोर' तथा 'अग्राह्य' से 'अघात' शब्द की व्युत्पत्ति हुई है।

अव्यय—समुच्चय बोधक 'औ' तथा 'अउर' की व्युत्पत्ति 'अपरम्' से हुई है। 'के' (अथवा का) का विकास 'किम्' से हुआ है। 'झन' का विकास संस्कृत के 'यत् + न' से हुआ है। गा, ओ रे, अरे, सम्बोधन सूचक अव्यय हैं। ह हो, हूँहूँ हाँ, नि, नी, नई, नअहिं तथा ऊँहुँ—स्वीकारात्मक—निषेधात्मक अव्यय हैं। 'अरे बाप रे', 'ए दाई रे', 'हाय ददा' 'हाय दाई' आदि शोक बोधक अव्यय है। 'वाह वा', 'बाहबा' हर्षबोधक हैं। 'छिदई', 'हट हट', 'चल चल' 'धत रे' 'हत रे' घृणासूचक अव्यय हैं।

नि, नही' आदि संस्कृत के 'नहिं' से विकसित हुए है। 'हाय' की उत्पत्ति प्राकृत के 'हा' से हुई है। 'घन घन' का विकास सस्कृत के 'धन्य धन्य' से हुआ है। 'छी' की उत्पत्ति अपभ्रंश के 'छी' से हुई है।

क्रिया:—अन्य शब्दों की अपेक्षा क्रिया में रूपों का बाहुल्य है। इसमें, काल, वाच्य, अर्थ, पुरुष, वचन आदि की दृष्टि से विभिन्न रूप बनते हैं। छत्तीसगड़ी के अधिकांश धातु रूप संस्कृत से व्युत्पन्न हैं।

यथा:—जान <सं० जानाति। निहार <निमाल् (स०)

अनेक धातु रूप प्राकृत अपभ्रंश आदि मध्यवर्ती भाषाओं से आए है। यथा—

उलद या उलड <प्रा० उलंड। ओरझत <प्रा० अरुज्झ

चढ़ै <प्रा० चडै। जामै <प्रा० जम्मई

झूलै <प्रा० झुल्ल। भेंटिस <अप० अभिट्ट

बूकै <अप० वुक्क। झपाएवं <अप० झप्प

घालेंव <अप० घल्ल।

इनके अतिरिक्त अनेक विदेशी धातुओं का प्रवेश भी हुआ है। यथा—कबूलिहों, गुजरगे, बदलगे।

छत्तीसगढ़ी की क्रियाओं का प्रेरणार्थक रूप—

खांथै—खंवाथै—(प्रेरणार्थक रूप)

पीथै—पियाथै (प्रेरणार्थक)

बुड़थै—बुडोथै। हंसथै—हंसाथे

जाथै—पठोथै।

उक्त उदाहरणों में स्पष्ट है कि प्रेरणार्थक रूप बनाने के लिये मध्य में 'वा' 'आ' तथा 'ओ' का आगम होता है। जबकि 'जाना' का प्रेरणार्थक सर्वथा अन्य धातु है। 'आ' तथा 'ओ' का प्रयोग प्रथम प्रेरणार्थक तथा 'वा' प्रयोग द्वितीय प्रेरणार्थक के लिए होता है।

पढ़थै— (पढ़ता है)— पढ़ाथै (पढ़ाता है)— पढ़वाथै (पढ़वाता है)

बुड़थै (डूबता है)— बुडोथै (डुबाता है)— बुड़वाथै (डुबवाता है)

कहीं बड़े विचित्र रूप से प्रेरणार्थक रूप बनता है—

फिरथै—फेरथै—फेरवाथै।

रुकिहों— रोकिहों— रोकवाहौं।

फुटथै— फोरथै — फोरवाथै।

प्रथम दो उदाहरणों में आदि स्वर का गुण परिवर्तन हुआ है। तीसरे उदाहरण मे गुण परिवर्तन के अतिरिक्त 'ट' का 'र' हो गया।

आगम रूप 'आ' तथा 'वा' की उत्पत्ति संस्कृत के 'आप' से हुई है। 'ओ' का विकास संस्कृत के अपभ्रंश से हुआ है। 'ट' का 'र' में बदलने की प्रवृत्ति अपभ्रंश से आई है।

नाम धातु— छत्तीसगढ़ी में भी 'नाम धातु" का प्रयोग होता है। यथा:-

बासी— बसियाहौं—बासी खाऊँगा।

लात— लतियाहौं—लात मारूँगा।

आगू—अगुवाहौं— आगे हो जाऊंगा।

पाछू— पछुवाहौं— पीछे होऊँगा

जूड़— जुड़ाहै— ठंडा होगा

(शीतल) सीत— सितराहै— ठंढा होगा

गरु— गरुवाहे— वजनदार होगा

उक्त नाम धातु संज्ञा, विशेषण तथा क्रिया विशेषण से बने हैं। इनकी रचना में 'आ' 'इया!' तथा 'वा' प्रत्यय का प्रयोग हुआ है। बिना प्रत्यय के भी नाम धातु बनते हैं–

जन्मेंव, सरापही

छत्तीसगढ़ी में धातुओं के कृदन्ती रूप "संस्कृत" से आए हैं।

यथा–नाचत, कूदत, मारत–वर्तमानकालिक कृदन्त

मरे, खाए, सुते—भूतकालिक कृदंत

पूर्वकालिक कृदन्त के प्रत्यय 'कर' या "के" का विकास "कृत्वा" से हुआ है। 'अवधी' में 'इ' प्रत्यय लगाकर यह रूप बनाया जाता है यथा–खाइ–खाकर। इसके बाद "के" वैकल्पिक रूप में लगता है। छत्तीसगढ़ी में इस 'इ' का लोप हो जाता है। 'इ' की उत्पत्ति संस्कृत के 'य' प्रत्यय से हुई है। वर्तमानकालिक कृदन्त में संस्कृत का 'अत्' प्रत्यय सुरक्षित है। भूतकालिक कृदन्त में लगे प्रत्यय 'ए' का विकास 'त' से हुआ है।

विध्यर्थ कृदन्त में 'आऊ' प्रत्यय लगता है यथा चढ़ाऊ देखाऊ, सुनाऊ। इनका अर्थ होगा, चढ़ने योग्य, देखने योग्य, सुनने योग्य। आऊ का विकास संस्कृत के "आप–उक" से हुआ है। अब अरबी शब्द "लायक" के विकृत रूप "लाइक" के योग से यह रूप बनाते हैं– देखे लाइक, खाए लाइक है।

हेत्वर्थ कृदन्त बनाने के लिए धातु के बाद "बर" शब्द का प्रयोग करते हैं। यथा–खायेबर-खाने के लिये। क्रियार्थक संज्ञा के रूप :–

देखन नइ पाएंव।

सुतब औ मरब एके बरोबर।

क्रियार्थक संज्ञा में "न" तथा "ब' प्रत्यय लगा है। "न" की उत्पत्ति संस्कृत के "अन" से तथा 'ब' वाले रूप की उत्पत्ति संस्कृत के 'तव्य' से हुई है।

वाच्य :–संस्कृत की कर्मवाच्य की क्रियाएं छत्तीसगढ़ी में दिखाई पड़ती हैं। यथा–

बुध्यते (सं०)– बूझै

सिध्यते (सं०)–सीझै

छत्तीसगढ़ी के कर्मवाच्य के रूप में विभिन्न काल तथा अर्थ के अनुसार विभिन्न प्रत्यय लगते हैं। यथा:–

किताब पढ़े जाथे—सामान्य वर्तमान काल

किताब पढ़े जा रहे है– अपूर्ण वर्तमान

किताब पढ़ाय है या पढ़ागे है– पूर्ण वर्तमान

किताब पढ़े गईस–सामान्य भूत

किताब पढ़े जात रहिस–अपूर्ण भूत

किताब पढ़ाय रहिस या पढ़ेगे रहिस–पूर्ण भूत

किताब पढ़े जाहे या पढ़ाहै– –सामान्य भविष्य

किताब पढ़े जात रहिहै—अपूर्ण भविष्य

किताब पढ़ाय रहिहै या पढ़ागे रहिहै—पूर्ण भविष्य

उक्त उदाहरणों में कर्मवाच्य के रूप में ए, आय, प्रत्यय लगे दिखाई पड़े रहे हैं। कभी कभी 'आय' के 'य' का लोप भी हो जाता है ।

यथा—कुआं पटागे।

विभिन्न काल का रूप देने के लिये 'जा' तथा 'रह' धातु के विभिन्न रूपों की सहायता ली जाती है। विभिन्न 'अर्थों' का रूप बनाने के लिये 'होना' क्रिया का भी प्रयोग करते हैं । यथा—

किताब पढ़ाय हो है या पढ़ागे होहै (पुस्तक पढ़ ली गई होगी)

उक्त 'आय' प्रत्यय की उत्पत्ति संस्कृत के 'आपय' से हुई है। 'जा' की उत्पत्ति संस्कृत के 'या' से हुई है।

अर्थ :—'अर्थ' के अनुसार भी धातु के विभिन्न रूप बनते हैं—

निश्चार्थ—मैं जाथौं

सम्भावनार्थ—मैं पढ़तेंव। तैं पढ़ते। वो पढ़तिस। साईत पानी बरसे

संदेहार्थ—नौकर आवत हो है । तैं पढ़ते होबे ।

संकेतार्थ—तैं आते तो मैं जातेंव औ वो हा पढ़तिस ।

आज्ञार्थ—जा। जाहू । जावौ (बहुवचन)

इनके वचन-भेद से और अधिक रूप बनते हैं। संस्कृत के भू, अस्, तथा रह् धातु से 'भय' 'हो' तथा 'रह' का विकास हुआ है। छत्तीसगढ़ी में 'होंगे' के अर्थ में 'भैगे' का प्रयोग देखा जाता है । 'मंत्री हो गय होहैं' के बदले 'मंत्री भै गै होहै—' भी बोला जाता है ।

'पढ़तिस' में भूतकाल का 'इस' प्रत्यय लगाकर सम्भावनार्थ बना है। 'पढ़तेंव' का साम्य बघेली के 'पढ़त्येहु' से तथा अवधी के 'पढ़तेऊं' से है। आज्ञार्थ में विकरण

सहित धातु को ज्यों का त्यों रख देने की प्रवृत्ति जैसे संस्कृत में है, उसी तरह छत्तीसगढ़ी में भी है। यथा—

गच्छ् (सं०)। आ—(छत्तीसगढ़ी)

चल् (सं०)। चल—(छत्तीसगढ़ी)

'हू' का प्रयोग 'अपभ्रंश' के 'हू' से आया है। 'चलो' के 'ओ' का विकास अपभ्रंश के 'अहु' से हुआ है।

काल—छत्तीसगढ़ी में विभिन्न कालों के रूप इस तरह बनते हैं—

मैं खाथौं। तें खायस। ओ खाथै। सामान्य वर्तमान काल

मैं खावत हौं। तै खावत हस। औ खावत है। अपूर्ण वर्तमानकाल

मैं खाए हौं। तै खाए हस। ओ खाए है। पूर्ण वर्तमान काल

मैं खाएंवं। तैं खाए। ओ खाइस। सामान्य भूत

मैं खावत रहेंव। तैं खावत रहे। औ खावत रहिस। अपूर्णभूत

मैं खाए रहेंव। तैं खाए रहे। ओ खाए रहिस। पूर्ण भूत

मैं खाहौं। तैं खाबे। औ खाहै। सामान्य भविष्य

मैं खावत रहिहौं। तै खावत रहिबे। औ खावत रहिहै। अपूर्ण भविष्य

मैं खाए रहिहौं। तैं खाए रहिबे। ओ खाए रहिहै। पूर्ण भूतकाल

इनके वचन भेद से और भी रूप बनते हैं। 'हौं' तथा 'रह' का विकास संस्कृत के 'अस् तथा 'रह्' से हुआ है। मध्यम पुरुष के एक वचन में 'ब' रूप मिलता है। इसका विकास संस्कृत के 'तव्य' से हुआ है। तव्य > अव्व (प्रा०) > व (छ० ग०)। 'बे' का 'ए' प्रत्यय एक वचन की सूचना देता है। उत्तम पुरुष एकवचन में 'बो' तथा उत्तम पुरुष बहुवचन में 'बोन' प्रत्यय लगता है—

खाबो—खाबोन।

अपूर्ण काल के 'खावत' में संस्कृत के वर्तमानकालिक कृदन्त का 'अत्' 'प्रत्यय छिपा है। अब 'ब' के लोप की प्रवत्ति दिखाई पड़ रही है किंतु 'ब' के स्थान की पूर्ति 'खा' के 'आ' स्वर की लम्बाई से हो जाती है, यथा खाऽत हौं। अपूर्ण वर्तमान काल में अब 'खाऽत' के 'त' से 'ह' का मेल होकर अब 'थ' बन रहा है यथा—खाऽथों (खा रहा हूं)। 'खाएंव' का 'एवं' प्रत्यय संस्कृत के 'आमि' का विकसित रूप है। 'खाए' का 'ए' 'वं' के लोप से बचा हुआ रूप है। 'खाएन' रूप बघेली तथा अवधी से मिलता है। इस रूप का 'एन' 'हन' शब्द की मिलावट से बना है। खाएन < खाए + हन। मध्यमपुरुष का एकवचन वर्तमानकाल का रूप 'खाए का 'ए' संस्कृत के 'असि > अहि (अपभ्रंश) से विकसित हुआ है। अन्य पुरुष का 'इस' (खाइस) प्रत्यय 'सि' से बना है। 'मि' की उत्पत्ति मागधी

के 'थे' से हुई है। 'आइन' (अन्य पुरुष बहुवचन) का 'इन' प्रत्यय अवधी के 'इनि' से आया है।

छत्तीसगढ़ी का क्रियाओं में लिंग भेद नहीं होता। यथा—गाय आथे। बैला आथे।

वचन-भेद होता है। यथा—लइकन आथें—बहुव०

लइका आथे—एकव०

लइकन आइन—बहुव०

लइका आइस—एकव०

कभी कभी कर्त्ता के बहुवचन के उपरांत भी क्रिया एक ही वचन में दिखाई पड़ती है। यथा—

चार बैला दिखऽथे।

यहाँ दिखऽथे का एक वचन का रूप है। आदर की सूचना के लिये बहुवचन का प्रयोग करते हैं—पंडितजी आइन (आइन बहुवचन का रूप है।)

अर्थ

अर्थ—विकास के विभिन्न आधार छत्तीसगढ़ी में दिखाई पड़ते हैं। नामकरण की प्रवृत्ति परम्परा के आधार पर, तिथि, मास आदि के आधार पर तो कहीं अपनी विशिष्ट भावना के आधार पर देखी जाती है। कुछ उदाहरण यहाँ द्रष्टव्य हैं:—

व्यक्तियों के नाम—रामू, सत्रुहन, परम्परा पर आधारित।

तिजिया, मंगली, पुसउ, जेठउ, फगुनी—तिथि, दिन मास आदि पर आधारित।

मनटोरा, मनबोधी, सुखरू—भावना के आधार पर।

सुकालू, दुकालू—दुष्काल में उत्पन्न होने के कारण। ढेला, फेंकूराम, झाडू, घेंदू—अरिष्ट निवारण हेतु रखे नाम।

मैना—ध्वनि के आधार पर।

दुबरी, लुदरू—आकार के आधार पर।

अन्य वस्तुओं के नाम—

दुलहरा तलाब—निर्माता के आधार पर (दुल्लहदेव का खुदाया हुआ)

बामनमारा तालाब—घटना पर आधारित (जहाँ ब्राह्मण डूब गया था)

राजिम—देवी देवता या मंदिर के नाम पर।

धुंकनी, टेकनी—उपयोग के आधार पर।

पिवरी (रोग)—लक्षण के आधार पर।

कठखोलवा—कार्य के आधार पर।

तिलई—रूप के आधार पर (तिल के समान दिखने वाला)

छत्तीसगढ़ी शब्दों में अभिधार्थ के अतिरिक्त लक्षणार्थ सिद्धि भी होती है। यथा—

सूरदास = अंधा। भैंसा = अकर्मण्य। बैला = बेअकल। गाँव = गाँव के लोग। गोड़मुड़ = शरीर। घरवाली = पत्नी। घरवाला = पति। महाबाम्हन = मृतक-दान लेने वाला ब्राह्मण। सोनाखातू = मैला का खाद डोरी = साँप (यह अर्थ रात के समय लागू होता है।

काड़ी = बदून, यह अर्थ रात के समय लागू होता है।

धूंकी—हैजा। भारीपाँव—गर्भिणी।

खटिया उठगे—माता की बीमारी से मृत्यु।

व्यंग्यार्थ का भी प्रयोग होता है, पर वह अधिकांशतः प्रसंगादि पर अवलम्बित होता है। शब्दों में लक्षणार्थ की सिद्धि निम्नलिखित हेतुओं से होती है—

१—अशोभन का बहिष्कार

विधवा स्त्री के लिये 'खाली हाँथ', छुच्छा हाँथ 'का प्रयोग होता है। शौच के लिये' मैदान जाथौं, तरैया जाथौं' या 'दिसा जाथौं' का प्रयोग होता है। रजस्वला के लिये 'छुआ' का प्रयोग किया जाता है।

२—सादृश्य—सीधे आदमी के लिये कहा जाता है—निच्चट गौ त आय (बिलकुल 'गाय' तो है)

३—प्रतिनिधित्व—'हाँथ-गोड़ बंचा के काम करबे (हाथ पैर बचा के काम करना)। यहाँ 'हाथ-गोड़' शरीर के प्रतिनिधि रूप में उपस्थित होकर संपूर्ण शरीर का अर्थ द्योतन कर रहा है। इसी तरह 'लोटा-चरू' कहने से पूरे खाने पीने के बर्तनों का बोध होता है। 'लइकन बालन में 'पत्नी' भी सम्मिलित होती है। यहाँ संकोच भी हेतु रूप में विद्यमान है। 'चूल्हा चुकिया अलग' तथा 'हंड़िया अलग', का तात्पर्य, पूर्ण रूप से अलग रहने का होता है।

४—धार्मिक विश्वास—विशिष्ट बीमारी का नाम 'माता' या 'माय' पड़ गया है।

५—विनोद—ग्राम्य लोगों में 'रकसा' का प्रयोग रिक्शा के लिये प्रचलित है। इसे 'रिक्शा' का ध्वनि परिवर्तन नहीं समझना चाहिये। विनोद रूप में, ध्वनि-साम्य होने के कारण 'रकसा' नामक एक अदृश्य योनि (संभवतः राक्षस) का सम्बन्ध हीन आरोपण है।

६—अज्ञान—'फोकट' का अर्थ 'व्यर्थ' होता है पर बोलचाल में से 'बिनफोकट' कहा जाता है, जिसका शब्दार्थ होगा—काम से'। उपसर्ग प्रत्यय भी अर्थ में परिवर्तन लाते हैं। इसी तरह ध्वनि परिवर्तन तथा स्वराघात से अर्थ में परि-

वर्तन आता है। छत्तीसगढ़ी में विपरीत से अर्थ परिवर्तन के उदाहरण उपलब्ध होते हैं।

भौंरा—फूल विशेष—भौंवरी—मछली विशेष

पतरा—पचांग —पतरी—पत्तल

पियरा—पीला —पियरी—बीमारी विशेष ;या पीला वस्त्र

छत्तीसगढ़ी में अर्थ संकोच, अर्थ विस्तार, अर्थादेश, अर्थोत्कर्ष, तथा अर्थाप-कर्ष के उदाहरण उपलब्ध होते हैं—अर्थसंकोच—यथा पियरी। इसका साधारण अर्थ 'पीली' होना चाहिये। पर विवाह के अवसर पर विशेष पीले वस्त्र को पियरी कहते हैं। इसी तरह हर पागा बांधने की क्रिया को पगबंधी नहीं कहेंगे। किसी मुखिया की मृत्यु के बाद उसके स्थान पर अन्य व्यक्ति को प्रधान बनाने के अवसर पर जो पागा बांधा जाता है, उस कार्य को पगबंधी कहते हैं। हर 'तीज' तिथि को 'तीजा' न कहकर एक विशिष्ट तीज अर्थात् हरतालिका को 'तीजा' कहते हैं। पत्रा पंचांग को ही कहते हैं।

अर्थ विस्तार—गाय चुराने पर की गई पुकार को ही पहले 'गोहार' कहते थे। यों गोहार का अर्थ सामान्य रूप से 'पुकारना' या हल्ला करना होता है। इस तरह इसमें अर्थ पहले सीमित था, अब विस्तृत हो गया। 'नारद मुनि' का व्यंगार्थ चुगलखोर और झगड़ा कराने वाले से होता है।

अर्थापदेश:—अर्थ का सर्वथा बदल जाना। जैसे छत्तीसगढ़ी में 'माया' का अर्थ 'प्रेम' होता है। यथा—मया-दया बरे रहिबे। 'करम' का अर्थ 'भाग्य' हो गया। 'मोर करम मा का लिखे है कौन जाने।' खियाल (ख्याल) का अर्थ मजाक हो गया। 'गढ़न' (बनावट) का अर्थ 'सचमुच' हो गया यथा—चुनचुनहा गढ़न। 'पंचाइत' का अर्थ समय विशेष पर व्यर्थ का 'झगड़ा' हो गया। यथा—तै पंचाइत मत कर।

अर्थोत्कर्ष:—'करतब' का अर्थ सामान्य कर्तव्य न रहकर साहसपूर्ण कार्य या 'पराक्रम' हो गया। 'कौशल' के अर्थ में भी इसका प्रयोग होता है पर वह साहसपूर्ण हो। इस तरह यह सामान्य अर्थ के स्थान पर अब अच्छाई या गुण का द्योतक हो गया।

अर्थापकर्ष:—'जौहर' का अर्थ पहले गौरवपूर्ण था। छत्तीसगढ़ी में वह अब एक 'गाली' बन गया। 'तोर जौहर होवै' 'पंचायत' का अर्थ न्याय होता था, अब झगड़ा।

एक दो मूल शब्द से निकले विभिन्न शब्दों का व्यवहार विभिन्न अर्थों में होता है। यथा—

'बद' से निकले 'बदला' का अर्थ है संकल्प करना है, परंतु 'बदी' का अर्थ उलहना होता है। 'स्नान' शब्द से निष्पन्न 'असनान' का अर्थ स्नान ही होता है, पर 'नहावन' का अर्थ मृत्यु के प्रसंग में होने वाला स्नान है। 'एतक' शब्द से व्युत्पन्न 'अतकी' अल्पता सूचक है, जबकि 'अतेक' आधिक्य सूचक। गाय को 'गाभिन' कह सकते हैं, पर स्त्री को नहीं यद्यपि वह शब्द 'गर्भिणी' से ही निष्पन्न है।

कहीं कहीं शब्द-मूल तो भिन्न होते हैं पर ध्वनि लगभग समान रहती हैं। अर्थों में साम्य नहीं रहता। यथा—

कुल (परिवार) —कुल (समस्त)
(संस्कृत) (अरबी)

छत्तीसगढ़ी में भी 'अनेकार्थ' वाची एक शब्द तथा एकार्थवाची अनेक शब्द होते हैं—

चुरवा—	१) अंजुली	२) हाथ का कड़ा	अनेकार्थ वाची एक शब्द
चूरा—	१) चूर्ण	२) हाथ का कड़ा	
गंज	१) एक बर्तन	२) बहुत	

झोपड़ी—कुटिया, कुरिया—एकार्थवाची अनेक शब्द

—वाक्य—

यहाँ वाक्य के संबंध में अधिक चर्चा नहीं की जा सकती। बोलचाल के रूप में प्रयुक्त होने वाले वाक्य छोटे होते हैं। उनमें जटिलता नही होती। अधिक उपवाक्यों का प्रयोग नहीं होता। वाक्यों में निकटस्थ अवयव पास पास रहते हैं।

शब्द

छत्तीसगढ़ी में विभिन्न भाषाओं के शब्दों का काफी प्रभाव तथा घुसपैठ है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा पूर्वी हिंदी के शब्दों का पाया जाना तो स्वाभाविक है। क्योंकि उन्हीं स्तरों को पार करके छत्तीसगढ़ी को यह रूप मिला है, किंतु अपने पार्श्ववर्ती भाषाओं से भी इसने बहुत कुछ लिया है। विद्वानो का मत है कि छत्तीसगढ़ी केवल मराठी तथा उड़िया के प्रभाव के कारण ही छत्तीसगढ़ी है, अन्यथा अवधी से उसका अत्यंत साम्य है। छत्तीसगढ़ी में नेपाली शब्दों का भी पर्याप्त समावेश माना गया है। डा० ग्रियर्सन के अनुसार पूर्वी हिंदी का विस्तार नेपाल की तराई से लेकर बस्तर राज्य तक था। इनके अतिरिक्त बंगला, भोज-

पुरी, ब्रजभाषा, बुंदेलखंडी, गोंड़ी, संथाली, परजी, कोरकू, तुर्की, अरबी तथा फारसी के शब्द छत्तीसगढ़ी में स्थान पाए हुए हैं । छत्तीसगढ़ी के अपने देशज शब्द भी हैं। इस तरह तत्सम, तद्भव, देशज तथा विदेशी-चारों प्रकार के शब्दों का पर्याप्त सन्निवेश इसमें मिलता है, खुर्पी, ढेंकी, नेवार आदि शब्द नेपाली हैं। कोलिहा, छेवट (शैवट) तथा खचित शब्द मराठी के उदाहरण हैं। छाप (दूरी) शब्द उड़िया का है। 'खोपा' शब्द बंगला का है। 'अगोरना' भोजपुरी में भी है। ब्रजभाषा में रास्ते को 'रवन' कहते हैं। 'गोहराना' बुंदेलीखंडी शब्द है। 'ठौंका' शब्द गोंड़ी है। दरोगा शब्द तुर्की है। कुर्सी, औकात आदि अरबी शब्द हैं। कुरता फारसी शब्द है। खेंढ़ा, खरही, टेटका, मलगी आदि देशज शब्द हैं।

छत्तीसगढ़ी में सूक्ष्म भावों के लिये पर्यायवाची शब्द अनुपलब्ध हैं। संख्यावाची शब्द २० से अधिक नहीं हैं– इससे अनुमान सहज ही लग सकता है कि यह भाषा मात्र व्यावहारिक उपयोग की है। साहित्य सृजन के लिये हमें सस्कृत, अंगरेजी आदि भाषाओं से शब्द उधार लेने पड़ेंगे । अब छत्तीसगढ़ी में साहित्य सृजन की प्रवृत्ति बढ़ रही है, निश्चित ही इसके फलस्वरूप छत्तीसगढ़ी की अनगढ़ता दूर होगी ।*

---

*श्री शेषनारायण चंदेले, एम० ए० के सौजन्य से ।

२५

छत्तीसगढ़ का लोक साहित्य

लोक साहित्य का स्वरूप और प्रकार

लोक साहित्य लोगों का मौखिक साहित्य है और यह परम्परागत भी है। इस तरह लोक साहित्य केवल जनमानस के हृदय में अलिखित रूप से विराजमान रहता है और पीढ़ी दर पीढ़ी प्रवाहमान होते हुए जीवित रहता है। इस प्रकार इस साहित्य में प्रत्येक पीढ़ी का मनुष्य अपनी ओर से इसके स्वरूप को कुछ न कुछ सजाता और संवारता रहता है। "इनसायक्लोपिडिया ब्रिटानिका" के लेखक सर विलियम सेगीनाल्य हाली डे इस संदर्भ में कहते हैं—"यदि वह सोचता है कि वह गीत को विकसित कर सकता है तो वह क्यों नहीं करेगा। यदि वह उसको कठिन प्रतीत होता है तो वह उसे सरल क्यों नहीं करेगा! इस तरह लोक गीत जैसे २ विभिन्न लोगों के मस्तिष्क और विभिन्न पीढ़ियों से पार होता जाता है धीरे धीरे वह विकसित होता जाता है।१" अब प्रश्न यहाँ पर उपस्थित होता है कि लोक साहित्य का रचयिता कौन है। इसके उत्तर में कहा जाता है कि इसका रचयिता सदैव से अज्ञात रहते चला आया है। कुछ लोग विद्वान समुदाय को इसका रचयिता मानते हैं और कुछ लोग व्यक्ति विशेष के भीतर समान रूप से पायी जाने वाली आदिम वृत्तियों को। लोक साहित्य का रचयिता चाहे जो भी हो, इस संबंध में यह बात निर्विवाद रूप से स्वीकार की जा सकती है कि अज्ञात रचयिता के द्वारा रचे हुए साहित्य को लोक समान रूप से अपनी चीज कहकर स्वीकार कर सकता है। उसे इसी प्रेम के कारण अपने कंठ में जीवित रखता है और उसकी सुरक्षा पीढ़ी -दर पीढ़ी करते चला आता है। इस साहित्य में लोक मानव का पूर्ण स्वरूप अभिव्यक्त होता है। किसी भी प्रदेश के जन जीवन से परिचय प्राप्त करना है, वहाँ के लोगों के समाज रीति रिवाज और रहन-सहन का अध्ययन करना है, वहाँ के लोक जीवन के इतिहास को

---

१. इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, जिल्द ६

जानना है तो वहां के लोक साहित्य का अध्ययन करना चाहिए। लोक साहित्य के माध्यम से वहां के लोक समुदाय का अच्छा परिचय प्राप्त किया जा सकता है। इसलिए लोक साहित्य में लोक का स्थान बड़ा महत्वपूर्ण है। यह लोक शब्द बहुत ही व्यापक है। जैन दर्शन के अनुसार जिस व्यापक क्षेत्र में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीव और पुदगल का अवस्थान है उसे लोक कहा जाता है और इसके बाहर जिस क्षेत्र में केवल आकाश द्रव्य ही है, अन्य जीव और पुदगल नहीं है, उसे अलोक कहा जाता है। इस मान्यता के अनुसार लोक उस क्षेत्र का नाम है जहां पर प्राणियों का निवास है। अतः यह लोक साहित्य, इस क्षेत्र विशेष में ही पाया जा सकता है।

छत्तीसगढ़ भी इसी तरह लोक है जो सात जिलों के स्थान विशेष से बना है। इनमें रायपुर, बिलासपुर, रायगढ़, सरगुजा, दुर्ग और बस्तर जिला का समावेश होता है।[1] भौगोलिक दृष्टिकोण से देखा जाय तो इसका विस्तार अक्षांश १६' ५० तथा २३"७० उत्तर और देशांश ८०"४३ एवं ८३"४८ पूर्व के मध्य में स्थित है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से छत्तीसगढ़ शब्द पर विचार किया जाय तो पता चलेगा कि इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग दलपत राव भाट की कविता तथा कविवर गोपाल चन्द मिश्र के खूब तमाशा नामक ग्रंथ में मिलता है।

छत्तीसगढ़ गाढ़े जहां बड़े गढ़ोहि जानि।
सेवा धर्मित कौर है सके पेड़ को मानि॥

यह रचना संवत १७५६ की है। इस प्रदेश के छत्तीसगढ़ कहलाने का एक कारण यह बताया जाता है कि इस भूभाग में गढ़ों की संख्या ३६ थी, अतः इन गढ़ों के कारण इसे छत्तीसगढ़ कहा गया है।

इस अंचल में जो लोक साहित्य उपलब्ध होता है, उसे छत्तीसगढ़ का लोक साहित्य कहते हैं। इस लोक साहित्य के प्रकारों का विश्लेषण किया जाय तो उसके निम्नलिखित रूप के साहित्य मिलेंगे।

लोक गीत—लोक गीतों के अन्तर्गत, प्रबन्ध लोक गीत और मुक्तक लोक गीत आवेंगे। रचना की दृष्टि से यह प्रकार-भेद होगा। विषय की दृष्टि से यदि इन गीतों के प्रकार पर विचार किया जाय, तो उसके अनेक प्रकार मिलेंगे। संस्कार के गीत, सामाजिक जीवन से सम्बन्धित गीत, प्रेम के गीत, अनुष्ठान के गीत, पूजा-पाठ के गीत आदि।[2] प्रस्तुत निबन्ध में गीतों का प्रस्तुतीकरण

---

१. अब राजनांदगांव भी नया जिला बन गया है।

२. निजी संग्रह

केवल शैली की दृष्टि से किया जावेगा। विषय की दृष्टि से अध्ययन करने के लिए स्थान-संकोच ही कारण है।

लोक गाथा—लोक गाथा वस्तुतः लोक गीतों के अन्तर्गत है, और इनका समावेश प्रबन्ध गीतों के अन्तर्गत किया जा सकता है। प्रबंध गीतों में कथा वस्तु होती है और वह कथा वस्तु छोटी भी हो सकती है और बड़ी भी। जिन प्रबन्ध गीतों की कथा वस्तु बहुत बड़ी होती है और कई रात गाने के बाद भी समाप्त नहीं होती है तथा जिसकी कथा वस्तु में किसी समुदाय विशेष की वीरता, प्रेम, जाति शौर्य और युद्ध का विस्तृत विवेचन मिलता है, उसे लोक गाथा कहते हैं। छत्तीसगढ़ अंचल में जो लोक गाथाएं प्रचलित हैं, उनमें ढोला मारू, लोरिक, चन्देनी, आल्हा, पण्डवानी आदि विशेष प्रसिद्ध हैं। विषय वस्तु की दृष्टि से इन लोक गाथाओं का संक्षिप्त परिचयात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जावेगा।

लोक कथा:—लोक कथा प्रायः गद्य में रची गई है। यह गेय नहीं होती परन्तु इसको कहने वाला दूसरों को सुनाया करता है और इसके लिए एक हुंकारू देने वाले का होना आवश्यक है। लोक कथा अत्यन्त प्राचीन काल से कही जा रही है, इन लोक कथाओं में मानव-सुलभ उत्सुकता का होना आवश्यक है। लोककथाओं में घटनाएँ सीधी सादी रूप से चलती हैं, बीच-बीच में बाधाएँ आती हैं, उन्हें नायक पार करते हुए चलता है। अन्त में उसकी विजय होती है। छत्तीसगढ़ में जो लोक कथाएं मिलती हैं, वे सभी प्रकार की हैं। यदि इन लोककथाओं को उनके विषय के आधार पर विभाजित करें तो निम्न प्रकार मिलेंगे—

(१) व्रत अनुष्ठान की कथा
(२) पौराणिक देवी-देवता की कथा
(३) भूतप्रेत के रूप में पूजे जाने वाले देवी-देवता की कथा
(४) पण्डवानी कथा
(५) मानवी विश्वास और सृष्टि उत्पत्ति की कथा
(६) चौदह विद्या, टोना विद्या और जादुई चमत्कार की कथा
(७) मानवी गरीबी तथा भूख आधारित कहानी
(८) पारिवारिक जीवन अर्थात् करुणा, कष्ट, सौत प्रदत्त दुख आधारित कहानी
(९) छद्म वेशी मानव या मानवेतर मानव की कहानी
(१०) साहस, कौशल एवं चमत्कार की कहानी
(११) मूर्खता, चोरी, ठगी की कहानी
(१२) मानवी यौन भाव की कहानी
(१३) धार्मिक नीति, सीख, बुद्धि, न्याय एवं सच्चरित्र मानव की कहानी

(१४) दानवों एवं राक्षसों की कहानी
(१५) पंचतंत्रीय कहानी
(१६) पशु, पक्षी वनस्पति एवं जीव जंतुओं पर पंचतंत्रीय शैली की कहानी
(१७) दन्त कथा एवं किंवदन्तियां, आदि।

लोक कथा के अंतर्गत अभिप्राय तत्व का भी मुख्य स्थान है, इस अभिप्राय को हम कथानक रूढ़ि भी कह सकते हैं। ये कथानक रूढ़ियां अनेक कथाओं में अपने अपरिवर्तित रूप में बार बार प्रकट होती हैं।

लोक कहावतें:—लोक जीवन की घटनाओं के आधार पर पहिले ही सूत्र रूप में नीति युक्त वाक्य खण्ड की रचना पाई जाती है जिसका प्रयोग लोक-मानव अपनी बात के समर्थन के लिए करता है। इन उक्तियों में बार-बार प्रयोग में आने की क्षमता रहती है तथा ये परम्परागत रूप से प्रयुक्त होती हैं। इन्हीं वाक्य-खण्डों को कहावतें या लोकोक्तियां कहते हैं, जो छत्तीसगढ़ी में 'हाना' कहलाती हैं। ये कहावतें प्रायः अति प्राचीन होती हैं। वैदिक काल में भी इनका अस्तित्व पाया गया है। इस अंचल की कहावतों में भी प्राचीन रूप उपलब्ध होता है। छत्तीसगढ़ की लोक कहावतों का वर्गीकरण विषय और रचना की दृष्टि से किया जा सकता है। विषय की दृष्टि से इन कहावतों के निम्नलिखित प्रकार होंगे—

१. मानव सम्बन्धी कहावतें

१ पारिवारिक मानव—स्त्री, पुरुष, पिता, पुत्र आदि
२ कौटुम्बिक (परिजन) मानव—दामाद, ससुराल, विधवा
३ सामाजिक मानव—मित्र, कंजूस, पड़ोसी
४ असामाजिक मानव—वेश्या, चोर, दुश्मन
५ राजनैतिक मानव—राजा, मंत्री, प्रजा, दीवान
६ अपंग मानव—काना, लूला, लंगड़ा, अंधा
७ धार्मिक मानव—वैरागी, साधु, गुरु-शिष्य
८ भौतिक मानव—शक्तिशाली, पहलवान, निर्बल,
९ चारित्रिक या प्रवृतिद्योतक मानव—शोक, सिंगार, प्रेम, बुद्धि, कपट
१० जातीय मानव—ब्राह्मण, अहीर, गड़ेरिया, बनिया आदि
११ अन्य मानव—साझेदार, धनहीन, शिक्षित, अशिक्षित मूर्ख आदि

२. पशु पक्षी, जल-जन्तु पर कहावतें

१ देवी देवता, व्रत उपवास आदि

२ अन्न रोटी, भूख प्यास, गरीबी आदि

३ नीति, उपदेश, अनुभव, आलोचना मूलक तथा अन्य

४ कृषि स्वास्थ्य; औषधि, प्रकृति तथा अन्य

कहावतों का वर्गीकरण यदि रचना-शैली को आधार मान कर किया जाय तो उन्हें अर्थ पूर्ण वाक्य द्वि पंक्ति, चार पंक्ति तथा छः पंक्तिबद्ध कहावतों के रूप में किया जा सकता है। कहावतें तुकान्त होती हैं जिससे उन्हें कहने में लय बांधा जा सके। छत्तीसगढ़ की कहावतों में वे सभी विशेषताएं मिलती हैं जो कहावतों के मूल गुण हैं, तथा इनकी किसी प्रदेश की कहावतों से तुलना की जा सकती है। आशय है कि विभिन्न प्रदेशों की कहावतों का विषय और ज्ञान एक ही समान हैं यदि उनमें अन्तर है तो वह केवल भाषा का। लोक पहेलियाँ— जिस तरह इस प्रदेश में कहावतें प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होती हैं, उसी भांति लोक-पहेलियां भी मिलती हैं। संस्कृत साहित्य में इन्हें ब्रह्मोदय के नाम से जाना जाता है। अश्वमेध यज्ञ में किसी विशिष्ट रहस्य के उद्घाटन के लिए ये पूछे जाते थे। पहेलियों के आविर्भाव में मानव की मूल प्रवृत्ति की भावना छिपी रहती है। पहेली मानव मस्तिष्क की वस्तुवादी प्रत्यय रचना है, जिसमें भाव-संगोपन के साथ काव्यात्मक-सम्मिश्रण भी पाया जाता है; जिसमे हास्य, चमत्कार एवं आनंद-भाव की सृष्टि निहित रहती है। छत्तीसगढ़ी में पहेलियों को "जनौवल" कहते हैं जो बड़ा सार्थक नामकरण है। छत्तीसगढ़ की लोक-पहेलियों का विश्लेषण करें तो हमें निम्नलिखित मूल प्रवृत्तियाँ दिखायी देंगी :—

१ भाव संगोपन,

२ मूल वस्तु की झलक का गोपन,

३ प्रश्नकर्त्ता को भ्रमित कर मानसिक व्यायाम कराने की उत्तेजना तथा कभी कभी पहेली के उत्तर न देने का अभिशाप एवं उत्तर देने से पुरस्कार देने की भावना,

४ चमत्कार और हास्य-व्यंग्य को प्रमुख स्थान,

५ यौन प्रवृत्ति के लक्षणों का चित्रण,

६ प्राकृतिक वस्तु के प्रति काव्यात्मक उपमा देने की भावना,

७ संख्या वाचक गणना को लेकर चमत्कार उत्पन्न करना,

८ मृत, उजड़, तथा घृणित वस्तुओं में जीवात्मा की उपस्थिति मानना;

६ अमानवी क्रियाओं को मानवी परिधान में देखना,

१० श्लेष अलंकार को चमत्कार उत्पन्न करने के साधन के रूप में अपनाना;

छत्तीसगढ़ की लोक पहेलियों का वर्गीकरण विषय को आधार मान कर किया जाय तो उसके निम्नलिखित भेद होंगे :—

(१) मानव शरीर सम्बन्धी,
(२) भोज्य पदार्थ संबंधी,
(३) घरेलू उपयोगी वस्तु संबंधी,
(४) कृषि एवं हथियार सम्बन्धी,
(५) जाति एवं व्यवसाय सम्बन्धी,
(६) मकान सम्बन्धी,
(७) पौराणिक एंव विद्या सम्बन्धी,
(८) पशु पक्षी एवं प्राणी वर्ग संबंधी,
(६) प्राकृतिक वस्तु संबंधी,
(१०) अति आधुनिक वस्तु संबंधी,
(११) अन्य विविध विषय संबंधी,

प्रकीर्ण साहित्य :— लोक साहित्य की उपर्युक्त विधाओं के अतिरिक्त प्रत्येक प्रदेश के लोक साहित्य में अन्य प्रकीर्ण लोक साहित्य प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। इसके अन्तर्गत बच्चों के खेलकूद में प्रयुक्त होने वाली तुकबन्दियों, विभिन्न लोकाचार एवं अनुष्ठान को पूरा करते समय उच्चारण किए जाने वाले वाक्य खण्ड, लोक रंगमंच पर प्रदर्शित किये जाने वाले हास्य व्यंग के प्रसंग आदि आते हैं। इनका सब का विवेचन उपयुक्त स्थानों पर किया गया है।

संस्कार के गीत :— भारत में मनुष्य के जीवन में अनेक संस्कार सम्पन्न किये जाते हैं। कर्मकांड के अनुसार इन संस्कारों की संख्या १६ मानी गई है जो जन्म से लेकर मृत्यु तक फैले हुए हैं। लेकिन लोक जीवन में दो संस्कारों से सम्बद्ध गीत अधिक मात्रा में मिलते हैं। १ जन्म, २ विवाह। छत्तीसगढ़ के लोकजीवन में उपनयन संस्कार के गीत भी मिलते हैं, जो यहाँ ब्राह्मणों में अधिक प्रचलित हैं। मृत्यु संस्कार के गीत केवल इस प्रदेश के कबीर पंथी समाज में गाये जाते हैं। विवाह संस्कार के गीत सभी समुदाय के लोगों में

प्रचारित है, इन गीतों में अनेक गीत सामान्य लोकाचार को सम्पन्न करते हुए गाये जाते हैं। इन गीतों का स्तर भी इस प्रदेश की जाति के स्तर के अनुसार है। जन्म संस्कार के समय गाये जाने वाले गीतों को सोहर गीत कहते हैं। ये गीत उच्च जाति के लोगों में स्त्रियों द्वारा उत्सव में गाये जाते हैं। संस्कार के इन गीतों का अलग-अलग विवेचन यहाँ पर किया जा रहा है।

सोहर गीत :—गर्भाधान का निश्चय हो जाने के बाद ही यह गीत गाया जाने लगता है। पर प्रचुरता पुत्र जन्म के समय रहती है। इन गीतों का विषय प्रायः रहता है—खुशी, बधाई, आशीष, बन्ध्या जीवन की अनुभूति दुख की वेदना, दोहद, गर्भिणी का चित्रण, मधु-पीपर पिलाने का कार्य, भाव प्रकाशन द्वारा विभिन्न प्रकार के रस्म अदा करना तथा पुरस्कार पाना आदि। सोहर के गीतों में बन्ध्या स्त्री के जीवन के दुख और दर्द को बड़े सजीव रूप में चित्रित किया गया है। राजा दशरथ की रानी कौशल्या बन्ध्या थी, वह एक सोहर गीत में पुत्र के न रहने से अन्न-जल का त्याग कर देती है। राजा दशरथ कौशल्या रानी को समझाने के लिए ब्राह्मण को बुलाते हैं। ब्राह्मण कौशल्या रानी को चाँवल, सुपारी और विल्व पत्र आदि सामग्री से पिंडी-महादेव की पूजा करने को कहते हैं। इससे कौशल्या का पुत्र पैदा होता है। एक दूसरे गीत में रानी कौशल्या एक झूरे (सूखे) पत्र को पीस कर अपनी आँख में लगाना चाहती है जिससे उसे अयोध्या को देखना न पड़े। जब रानी कौशल्या का पुत्र राम का जन्म हो जाता है और उनके विषय में यह भविष्य वाणी की जाती है कि जब रामचन्द्र जी बारह वर्ष के हो जावेंगे तब उन्हें बनवास जाना पड़ेगा। पर इससे कौशल्या को दुख नहीं होता है। वह पुत्र-जन्म की खुशी में मगन है। वह गीत में कहती है :—

> **बारा बछर के होइहय त रामचन्द्र बन ला जइहंय हो।**
> **ललना धरिहंय जोगिया के भेष कंदमूल खहंइय हो।**
> **भल भय राम जनम लिहे, भलह बन जाइहंय हो।**
> **ललना मोर छुटि गय बंझुली के नांव बहुरि घर अहंइय हो।**

खुशी के आलम में वह अनुमानित पुत्र वियोग की चिन्ता नहीं करती। **दोहा**—छत्तीसगढ़ के सोहर गीतों में दोहक भाव के गीत भी यथेष्ट मात्रा में मिलते हैं। आयुर्वेद शास्त्र के अनुसार नारी-शरीर में एक दूसरी आत्मा के प्रवेश होने के काल में गर्भिणी के मन में तरह तरह की चीजें खाने की

इच्छा पैदा होती है। इस इच्छा को दोहद कहते हैं और इसे पूरा करना परिवार का कर्त्तव्य माना जाता है। एक गीत में भगवान श्रीकृष्ण अपनी रानी रुक्मिणी से पूछते हैं कि—

हंसि हंसि पूछय सिरीकृष्ण सुना रानी रुक्मिनी हो।
ललना कउन कउन के साध कहा रानी हमसन हो।

गर्भावस्था में रानी रुक्मिणी की इच्छा अबूझ फल खाने की होती है, अबूझ फल शब्द अनिच्छा का द्योतक है, वह कहती है—

गुरु मोहें हाथ पाँव बहुत है, कछुन के न साध हो
ललना का कहब प्रभु तोरे सन हो।
लहंगा जो है मोरे धोतिया गुलजोर रंग हो।
ललना ओढ़नी बदुली सुहावत प्रभु नइये कछुन के साध हो।
पलंग जो हवय मोरे सुघर लाये चंदनबन के हो।
ललना नइये कछुन के साध हो, अबूझ फल लेतेंव हो।

इस अबूझ फल को लेने के लिए श्रीकृष्ण चल पड़ते हैं। एक अन्य गीत मे अबूझ फल की जगह नारंगी फल खाने की इच्छा व्यक्त की गयी है। यह नारंगी का बगीचा गर्भिणी के मायके में है। इस बगीचे में रखवाले दो भयानक कुत्ते और पहरेदार हैं। स्त्री कहती है कि पहरेदार को मतावन (नशा) दे देना और कुत्ते को मही-बासी देकर नारंगी फल ले आना। पति नारंगी फल चोरी करते हुए पकड़ लिया जाता है। तब स्त्री दौड़कर अपने मायके जाती है और अपने भैया से कहने लगती है :—

भैया चोर का होला बपुरा, बंधिहा, पंजर ओकर पातर हो।
बहिन का कहिन बहिनी, सुना दीदी मोर हो।
कहूं फल फरतिस कांवर कांवर भेजिवइतेंव हो।
दीदी नहीं करेंव नारंगी कइसे साध पुरवंय हो।

अर्थ स्पष्ट है। सोहर गीतों में भाभी को पुत्र जन्म पर सबसे बड़ी प्रसन्नता होती है। पर डरती है कि ननद बच्चे को काजल आंजने का नेग मांगने न आ जाय। वह बधाई के बाजा बजाने वालों को खबर भेजती है कि तुम लोग धीरे-धीरे बाजा बजाओ नहीं तो ननद दौड़कर आ जावेगी। गीत इस तरह हैं :—

आजि के अंजोनी लेइ लेहय,
बाके बधनी, लेजिहय घर के हार।

बजनिया के कइहय-बजनिया बड़ भइया,
भइया धीरे धीरे बाजय बधाई ।
ननदी मन सुनय, ननद रानी सुनिहय,
आँखि आँजे अइहय, ललना लेइ लेहय गर के हार ।

पारिवारिक कृपणता का कितना सुन्दर प्रदर्शन इस गीत में है ।

बरुआ गीत—उपनयन संस्कार के गीतों को इस अंचल में बरुवा गीत कहा जाता है। आश्वालायन गृह सूत्र के अनुसार ८ वर्ष की अवस्था में ब्राह्मण, ११ वर्ष में क्षत्रिय तथा १२ वर्ष में वैश्य ब्राह्मण का उपनयन कर देना चाहिए। इन गीतों में बालक को ब्राह्मण बनने की प्रेरणा दी जाती है। एक बालक भीखम लाल ब्राह्मण, महंगू राय से कहता है कि हमें ब्राह्मण बना लो। महंगू राय कहता है कि चैत्र माह जब आवेगा तब तुम आना। गीत की पंक्तियाँ इस तरह हैं :—

हाथे मां धरो छतरंगी खखोरी चीपे पाटी हो,
बरुवा के बोलन मोर बरुवा भीखम लाल,
हम का ब्राह्मण बनावा हो ।
पंडित के बोलेव मोर पंडित महंगूराय ।
हमका ब्राह्मण बनावा हो ।

एक गीत में बरुवा अपने रिश्तेदारों से भिक्षा माँगता है और अपने को काशी का ब्राह्मण बताता है। उसके रिश्तेदार उसे कुछ न कुछ देते हैं। परन्तु इस गीत में बरुवा को उसका मामा जवाब देता है:—

अइसन तपसी जानितेन बाबूराय मूंगा मोती सहेज रखितेन हो।
अइसन तपसी जानितेन, भांचा मोर, कामधेनु मंगा रखितेन हो।

मामाजी ने भांजे को कैसा व्यंगपूर्ण उत्तर दिया है !

विवाह के गीत :—विवाह के गीत सबसे अधिक संख्या में पाये जाते हैं। इनका विभाजन कन्या पक्ष और वर पक्ष के समाज में गाये जाने वाले गीतों के रूप में किया जा सकता है। यहाँ पर हम केवल प्रमुख गीतों की चर्चा करेंगे।

देवी देवता के ब्याह गीत—विवाह के अवसर पर विभिन्न देवताओं के ब्याह के गीत गाये जाते हैं। इनमें राम, कृष्ण और महादेव के ब्याह के गीत अति प्रसिद्ध हैं।

राम ब्याह :-

प्रथम गौरी गनेश सुत बन्दव गुरु हो चरन सिर नाये जू।
देखव हो बरतिया कवन छवि बरनव बरनि कमलापति आये जू।
सज सजके सब देवन आये, सिव आये हंय जटाधारी जू।
सब देवतन मिलि आये हंय बराती, मुनि गन संख बजाये जू।
दुइ कर जोरे राजा जनक जी, 'आशा' मांगन आये जू।

'आशा' मायने भोजन करने के लिए चलिये।

शिव ब्याह :-

ऊंचे चौरा बाबा के चोपरिआ घन तुलसी के छांह हो।
जेहि चढ़ि देखय दुलहिन देव के भइया कइ दल आवयग्र बरात हो।
कय दल हथिया कय दल घोरवा हो कय दल पैदल आवयग्र हो।
सौ दुइ हथिया सहस दल घोरवा हो पैदल के हो अनलेख हो।
बोलका ला सुनिन दुलहिन देव के बाबा देइ दीहिन बजुर कॅवार।
का दे समोखिहंव मय हथिया अऊ घोरवा का दे समोखिहंव मय बरात हो।

एक गीत और-

धाइ जा रे नउवा तू धाइ जा संग बांभन देख आवा महादेव के बरात हो।
इहाँ तो शिवजी विकट रूप धरिके बइल असवार हो।
देखि के पहुंचिना नउवा अऊ बांभन पहुंचे मैना रानी के पास हो।
कय दल आये नउवा हथिया अऊ घोरवा कय दल आए बरात हो।
ना हम देखेन माता हथिया अऊ घोरवा ना हम देखेन बरात हो।
एक हम देखेन माता जोगिया जलंधर चढ़े हे बइल असवार हो।

शिव का ब्याह-गीत प्रबंध-गीत है और वह काफी लम्बा गीत है तथा काफी समय तक गाया जाता है।[1]

ब्याह के गीतों में पुत्री जन्म को दुखप्रद बताया गया है तथा पुत्री के जन्म न होने की कामना की गयी है। एक गीत में मकोइया, पीपल और खजूर को पीस कर पीने की बात कही गयी है जिससे पुत्री का जन्म न हो। गीत इस तरह है—

---

१. निजी संग्रह से।

घाट मकोइया बाबा अवघट पीपर नीचे मां ताल खजूर हो।
एहि तीनों ला पीसके पीतेंव के झांझर निस बिन झांझर होय हो।
बेटवा के जनमत कोखिया के निरमल निसदिन सुमरत राम हो।
बिन बिन होम, बही बिन सान्ति, पियाँ बिन घरम न होय हो।

विवाह के गीतों में मधु परस के गीत, लोइ बन्धन के गीत, लगन के गीत, भात परसने का गीत, भांवर के गीत, दाइज पड़ने के गीत, बर पल्टन के गीत, गारी गीत, लाली भाजी खवाने के गीत, नहछूं के गीत विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। इन समस्त गीतों का विवेचन उनके नेगचारों के साथ यहाँ कर सकना संभव प्रतीत नहीं होता। अतएव संक्षेप में उन गीतों के परिचय के साथ उनका उदाहरण मात्र यहाँ दिया जा रहा है।

बरात आने के समय का गीत—बरात आने पर जिस गीत से उसका स्वागत किया जाता है उसे 'परघनी के गीत' कहते हैं। इस समय का एक गीत उदाहरण स्वरूप लीजिए :—

अतेक दिन ले रहा कंच कुवारे काहे नहिं रचा बिहाव
का तुहका कुन्दे हे कुंदेलवा का सांचा ढारे है सोनार।
माइ बाबा जनम दिहे हंय रूप दिहे भगवान।
का महतारी भाग गइस हय का वर रहेय कुमार

बरात आने के बाद कन्या और वर को विवाह-वेदी पर बिठा दिया जाता है और उन दोनों के हाथ को लोई (आटे का गोला) के साथ बाँध दिया जाता है। इस समय जो गीत गाया जाता है उसे लोई बन्धन गीत कहते हैं। इस समय का करुण रस ओतप्रोत एक गीत सुनिए :—

हरियर हरियर मड़वा खाल्हेवर कइना के हाथ हो
लोई बांधे नाउन ठाढ़े सिसकत पियरी भात हो
चौक म बइठे कइना रोवत पियरा बदन मलीन हो
बांधे लोई, कभू न छूटे, जनम जनम के साथ हो
(निजी संग्रह से)

छत्तीसगढ़ के ब्याह गीतों में गारी गीत उल्लेखनीय है। ये गीत दो प्रसंगों में गाये जाते हैं, एक तो भोजन के अवसर पर, दूसरे बारात के स्वागत के समय। इन गीतों में राम-गारी, कृष्ण-गारी के साथ समधिन-गारी का गीत भी गाया जाता है।[1] अब छत्तीसगढ़ का लोक समाज अपने को सभ्य

1. निजी अनुभव

मानने जा रहा है अतएव इन फूहड़ गाली गीतों के गाये जाने पर सामाजिक प्रतिबन्ध लगाया जा रहा है।

मृत्यु संस्कार के गीत—मृत्यु संस्कार के गीत या भजन या साखी इस प्रदेश के कबीर पंथी समाज में प्रचलित है। ये लोग साखी पर चौका करते हैं। यह एक प्रकार का उनके पंथ के अनुसार अनुष्ठान है। इसमें जीव को साखी के बोल सुनाते हैं जिससे जीव अपने वास्तविक स्वरूप को पहिचान ले। स्त्रियों की मृत्यु और पुरुषों की मृत्यु के अवसर पर अलग अलग साखी गाये जाते हैं। इन गीतों का विषय की दृष्टि से विभाजन किया जाय, तो निम्नलिखित विभाग होंगे:—

(१) जीव की स्थिति विषयक

(२) जगत, अमर लोक, सत लोक विषयक

(३) कबीर गुरु पंचनाम आदि विषयक।

जीव की स्थिति विषयक साखियों में जीव के उद्धार की कामना की गयी है। जीव दीन दयाल से प्रार्थना करता है कि इस समय मेरा उद्धार करें। जीव और दीन दयाल एक ही देश के रहने वाले हैं और एक ही घाट में उतरे हैं। जीव तो माया के वश में होने के कारण परदेशी हो गया है; इसलिए वह सत्य गुरु की याद करता है। यम को उत्तर देने के लिए जीव त्रिकुटी घाट में बताता है:—

गुरु के पांच नाम नाहुली, पुरुष नाम अमवार हो।
धर्मदास के बइहां मां सेइ के उतरब पार हो।
नाम के नाव सुने जस जबहीं सीस देहब ओरमाय हो।

—ओरमाय अर्थात झुकाना

जगत और अमर लोक विषयक गीतों में जगत को जीव का मायके माना है और अमर लोक को ससुराल। भव सागर में रहने के लिए जीव को बहुत ही सावधानी बरतने को कहा गया है, यथा :—

भवसागर मा कांटा-बारी, बिन पढ़े गड़ जाना।
एही भवसागर मां अगिन के सिलगा, बिन जले जल जाना
हे हंसा निरख परख के चलना।

इस भवसागर में रहते तक जीवात्मा को व्यापार करने के लिए और कृषि करने के लिए कहा गया है। क्योंकि अमरलोक में जाने के बाद भी खान-पान

करने को नहीं मिलेंगे। यह व्यापार निज नाम का है। गीत की पंक्तियाँ इस तरह से हैं :–

तोर धन सम्पत्ति हर नहि आवे काम
कर ले बनिज निज नाम ले ।५

इन साखियों में मिलने वाला अमर लोक सतलोक है जिसे कबीर लोक भी कह सकते हैं। हंसा शरीर त्यागने के बाद त्रिकुटी घाट में पहुँचता है जहाँ उसे तीन रास्ते मिलते हैं, एक रास्ता बैकुंठ लोक के लिए; दूसरा यम लोक को और तीसरा सत लोक जाता हैं। पापी जीव तो यमलोक को जाता है परन्तु जो जीव पाँच नाम की गठरी लेकर चलता है और यम राज को खोलकर अपनी गठरी दिखा देता है वह जीव सीधा सत् लोक में पहुँच जाता है। कबीर साहब के संबंध में इन गीतों में बताया गया है कि कबीर साहब चारों युग में अवतार लेने वाले महात्मा हैं। सतयुग में उनका नाम सत्यनाम, त्रेता में मुनीन्द्र, द्वापर में करूणाम और कलयुग में कबीर रहा। कबीर के सम्बन्ध में कहा गया है :–

पानी से पैदा नहीं स्वासा नहीं समीर।
अन अहार करता नहीं ताका नाम कबीर।

देवी सेवा के गीत :–माता निकलने पर मुक्तक गीतों में देवी सेवा के गीत उल्लेखनीय हैं। सेवा गीत की परम्परा इस प्रदेश में बहुत ही पुरानी है। जब किसी मनुष्य को माता निकल जाती है तब उसे साक्षात देवी का दरसना माना जाता है और उसे किसी भांति की दवा दारू नहीं दी जाती परंतु उसकी सेवा की जाती है। सेवा करते समय देवी की इक्कीस बहिनों को संबोधित किया जाता है तथा उन्हें प्रसन्न करने के लिए गीत गाये जाते हैं। विषय के अनुसार इन गीतों के निम्नलिखित विभाग किये जा सकते हैं :–

(१) देवी की स्तुति, ऐश्वर्य, महिमा, आरती, भुवन, पलंग, झूला के गीत, शतरंज का खेल, देवी दरबार, लौंग बिजोना के गीत,

(२) देवी के विभिन्न शृंगार–सोलह शृंगार, पचरंग शृंगार, फूल शृंगार, आभूषण शृंगार, नखसिख शृंगार, तिथि के अनुसार शृंगार,

(३) माता की बीमारी के स्वरूप का वर्णन,

(४) दार्शनिक सिद्धान्त

---

१. निजी संग्रह से

(५) लंगुरा, हिंगुलाज, गढ़ असुर संग्राम, मालिन सेवा आदि,
(६) देवी का यशगान, बारहमासा, षड् ऋतु वर्णन।

देवी की स्तुति विषयक गीत–

देवी की स्तुति एवं आरती के अनेक गीत हैं। कुछ गीतों में देवी के आगमन की बात सुनकर उनके स्वागत की इच्छा व्यक्त की गयी है। इस तरह का का एक गीत सुनिए :–

जय श्री शीतला सुनतेंव तुम्हरे आगमन हो माय।
आपन अजिर लिपाय सुगंधित गुगु'र कपूर जरातेंव।
जाय इन्द्रधर कला वृक्ष औ देवतन नेवत बुलातेंव।
द्वारिन द्वारिन तनतेंव चान्दनी चिन्तामणि चौंक पुरातेंव।
लाके सुभ पचराय मातु को जय जय शब्द बोलातेंव।
श्री फल भेंट औ गज मुक्ता मणियन माल पहिरातेंव
चन्द्रहार उपभेंट देइके आपन घर ले आतेंव।
चन्दन पिढुलिया बैठक बेके आपन दुख सुनातेंव।
आदर सहित जेवाय मातु को सुन्दर पान रचातेंव।
दोउ पद पद्म माथ मां धरके निज घर चलके आतेंव।
धन्य भाग्य ओंकारदत्त के प्रतिदिन यह जश गातेंव॥

देवी के श्रृंगार गीतों में पचरंग श्रृंगार का गीत बहुत ही प्रसिद्ध है। इस गीत में देवी का श्रृंगार पाँच रंग की चीजों से किया गया है। गीत इस तरह है–

मइया पचरंग सहज श्रृंगार हो माय।
सेते ककनिया सेते बनुरिया सेते पटा तुम्हारी हो माय।
सेते हैं तोरे बांह बहुंटिया सेत धजा फहराइ।
लाल कोर के अंगिया बिराजे पहिरे सारी लाल।
लाल पान मुख लाल भयो है सिर के सेन्दुर लाल।
पियरा सोन के तितरी बिराजे पियरा सोन के हार।
पियरा हे तोर नाक नथुनिया रहे ओंठ पर छाय।
कारी कारी चुरिया मइया कारी हे गल पोत।
कारी है तोर माथे बिन्दिया बरय सुरुज के जोत।
नील के अंगिया नील के पोलिया नील मनिन के हार।
पचरंग साजी पहिर भवानी मोहे जग संसार।

माता सेवा अथवा देवी सेवा के गीत इस तरह इस अंचल में हजारों की संख्या में प्रचलित हैं। इन गीतों में कभी कभी इनके रचयिता का नाम भी मिलता है, परन्तु इन रचयिताओं के व्यक्तिगत जीवन के संबध में कुछ भी जानकारी नहीं मिलती। रायपुर के अंतिम हैहय वंशी शासक राजा अमर सिंह का नाम भी कुछ गीतों में पाया गया है। इनके द्वारा रचित गीत का एक उदाहरण प्रस्तुत है :–

> तीन लोक कष्ट हरनी भवानी, तुम तो जगतपतिरानी हो माय।
> कनक रथ पर विमल विराजे श्वेत ध्वजा फहरानी हो माय।
> आसन मारि सिंहासन बैठे सिर पर छत्र तनानी हो माय।
> सिंह चढ़े रण गरजे भवानी, वीर लंगुरे अगवानी हो माय।
> जब महिषासुर दानव मारे, तब हम जानी भवानी हो माय।
> राजा अमर सिंह अरज करत है, परसन होहु भवानी हो माय॥

सेवा के गीत के प्रत्येक विषय का विवेचन करना इस लघु काय निबंध में संभव नहीं है :–

गौरा (या फूल पूजा के) देवी गीत :–

इस अंचल में फूल पूजा के गीत भी प्रचलित हैं। इन्हें संधिया या संध्या गीत भी कहते हैं। कुंवार मास में इनके चित्र दीवाल पर खचित किये जाते हैं और पर्री में फूल सजा कर इन पर बिखेरे जाते हैं। इन पर पत्ता या फूल चढ़ाते समय गीत गाया जाता है। इसे अधिकतर कुमारी कन्याएं ही करती हैं। इन गीतों में गौरी से दूध-पूत माँगा जाता है पर सौत नहीं, कन्याएं कहती हैं—

> "सबे ला दिहा गौरी अइसन तइसन मोला दिहा दूधापूत हो
> मोलादिहा दूधा पूत
> अन्न दिहा धन्न दिहा अऊ दिहा दूध पूत हो।
> एकै झन दिहा गौरी सौते सोहाग हो सौते सोहाग।
> सऊत के बोली गौरी सहि नहीं जाय हो सहि नहीं जाय।"[1]

भोजली गीत :–

भोजली गीत श्रावण के महीनों में गाया जाता है। श्रावण शुक्ल पक्ष की नवमी तिथि के दिन गेहूँ के दानों को टोकरी में मिट्टी भर कर बो दिया

---

१. निजी संग्रह से।

जाता है। इस दिन नवे की पूजा की जाती है और व्रत रखा जाता है। बोबे की रोटी का भोग लगता है। इस दिन से गेहूँ के अंकुर की सेवा प्रारंभ हो जाती है और रक्षा बन्धन के दूसरे रोज उनको जल में प्रवाहित कर दिया जाता है। इस बीच जो गीत गाये जाते हैं उन्हें भोजली गीत कहते हैं। भोजली गीत प्रबंध और मुक्तक दोनों शैली में गाये जाते हैं। भोजली गीतों को यदि विषय के अनुसार वर्गीकृत किया जाय तो उनके निम्न-लिखित प्रकार होंगे :-

(१) भोजली के जन्म, और जल में प्रवाहित होने का वर्णन,

(२) गंगा देवी से भोजली के अंगों को भिगा देने की प्रार्थना,

(३) भोजली की सेवा, प्रशंसा और वरदान के गीत,

(४) प्रबन्ध कथात्मक गीत।

भोजली बोते समय गीतों द्वारा प्रश्नोत्तर शैली में पूछा जाता है कि किसके घर की मिट्टी है और किसके घर की टोकरी और किसके घर की जवा भोजली है जिसमें मोतिम पानी चढ़ रहा है। गीत में ही इनका उत्तर भी मिल जाता है :-

कुम्हार घर के खातू माटी, तुलिया घर के टुकनी।
बइगा घर के जवां भोजली चढ़य मोतिम पानी॥
अहो देवी गंगा।

एक अन्य गीत में इसका उत्तर इस तरह से दिया गया है :-

कंडराघर के चुरकी, कुम्हार घर के खातू, कुम्हार घर के खातू।
राजा घर के जवा भोजली लिहय अवतारे। अहो देवी गंगा॥

इस गीत के शुरू और अंत में "देवी गंगा" की टेक दुहराई जाती है। गंगा देवी को संबोधित करके इन गीतों में कहा जाता है :-

देवी गंगा देवी गंगा लहर तुरंगा, लहर तुरंगा,
तुंहरे लहर माता भींजय आठो अंगा, अहोदेवी गंगा॥[1]

फाल्गुन त्योहार के गीत—

होली जलाने के त्योहार को ही इस अंचल में फागुन तिहार कहा जाता है। इस समय दो प्रकार के गीत गाये जाते हैं। फाग गीत और दहकी होली गीत। दहकी गीत बड़ा अश्लील होता है। फाग गीत के अन्तर्गत राधा

---

१. निजी संग्रह से

कृष्ण द्वारा खेले गये फाग का वर्णन रहता है। सभ्य लोक समाज में फाग गीत ही गाया जाता है। लोगों के अति अशिक्षित समाज में दहकी गीत गाया जाता है, जो अब सर्वथा बंद हो रहा है। फाग गीत का एक उदाहरण नीचे लीजिए :-

> बजे नगारा दसों जोड़ी
>
> हाँ राधा किशन खेलंय होरी।
>
> दूनों हाथ धरय पिचकारी, धरय पिचकारी, धरय पिचकारी।
>
> रंग गुलाल सबे बोरी। हां राधा...
>
> दुधुवा दहिया बचे न पाइस,
>
> ओहू मां रंग बिहिन घोरी हाँ-राधा०
>
> सब सखिन मिल पकड़ किशन ला
>
> वोही रंग मां दिहिन बोरी, हां राधा ०
>
> तब राधा मुसुकाय कहिन हां,
>
> अऊ खेलिहा तूं होरी, हां राधा० ॥[1]

डंडा नृत्य–पौष पूर्णिमा के पहिले छत्तीसगढ़ में डंडा नृत्य किया जाता है, इस नृत्य के साथ गीत भी गाये जाते हैं। नृत्य भेद के अनुसार यदि इन गीतों का वर्गीकरण किया जाय तो उनके निम्नलिखित प्रकार होंगे :-

(१) दुधइया नृत्य –तरिहरि नाना, अब हरि नाना तरिहरि नाना जोर।

(२) तीन तइया नृत्य—श्री तानरी नाना हो ना एक नानरी ना।

(३) पनिहारिन सेर– तना नना नर हो, न नारीय नार।

(४) कोटरी झलक–तन्ना हरि नाना मैया, नन्ना हे नगारा मां।

(५) भाड़ दौड़– वो दिन के तानरी नामोरी नान।

(६) चरखा भांज-गढ़ हुंकड़ के राजा कोहय समाय, ठग ठग बोकरा दादन खाया।

(७) समधिन भेंट– श्री तनारी नामोरी नाना री से भाई, अवहरि ना नामोरी नाना जोर

डंडा गीतों का वर्गीकरण विषय के अनुसार किया जा सकता है। इन गीतों के प्रारंभ में वंदना या स्तुति के गीत गाये जाते हैं। प्रथम डंडा ठोंकते समय किसका नाम स्मरण करेंगे, इस प्रश्न के उत्तर में गाँव के गौंठिया का नाम लिया जाता है। जैसे :-

---

१ निजी संग्रह से

पहिली डंडा ठोकओरे भाई, काकर लेबो नामरे ओर
गावे गउंठिया ठाकुर देवता जेकर लेबो नामे हे ओर।
आगे सुमिरो गुरु आपन ला दूजे सुमिरों रामा ओर।
माता पिता अब आपन सुमिरों गुरु के सुमिरों नामे रे ओर॥

करमा गीत— करमा गीत भी एक प्रकार का नृत्य गीत है। यह गीत अनुष्ठानिक गीत है। करमा सैनिक के सम्बन्ध में इस प्रदेश में अनेक वार्तायें प्रचलित हैं। इन में से दो वार्ताएँ संक्षिप्त रूप से यहाँ पर दी जाती है। २८ वें कलयुग के ४००० वर्ष पूर्व जम्बू द्वीप सेवा खण्ड छत्तीसगढ़ की पदमपुरी नामक गाँव में महानदी के किनारे में पदम सेन नामक बन्जारा रहता था। उसकी स्त्री का नाम पदमिन था। ये लोग बड़े कंजूस थे और बेई-मानी से धन संचय किया करते थे। इनके सात पुत्र थे। इनके नाम कलि-महा, घुघुरहा, लमतूरी, वेन्दियाहा, फून्दरहा, झां-झ-मंजीरहा और सरमाहा था। इनकी एक पुत्री भी थी जिसका नाम सतवंतीन था। बन्जारा की मृत्यु के बाद इनका धन नाश होने लगा। ये सब अलाल थे और कुछ काम नहीं करते थे। इन्होंने अपने पिता की लाश को जमीन में गाड़ दिया था जिससे जमीन अपवित्र हो गयी थी और वर्षा नहीं हुई। आपत्कालीन धन से उनके छ: भाइयों ने व्यापार किया परंतु उन्हें लाभ नहीं हुआ। सरमाहा ने श्मशान में खेती की और कामदेव से पीड़ित उसकी भावजों ने रात्रि के समय नाच गान किया और सरमाहा ने मान्दर बजाया। उनके भाई को व्यापार में लाभ होने लगा। कदम की डाल गाड़कर सरमाहा ने पूजा की और नाच गान किया। उसके भाई वापस लौट पड़े तब उन लोगों ने अपने नेता करम सैनिक का अपमान किया और डाल को महानदी में बहा दिया इससे उन्हें पुन: नुकसान हुआ। तब सरमाहा महानदी की धारा में बहते हुए कदम की डाल को लेने गया और वह क्षीर सागर में शेष शय्या पर बैठे करम सैनिक भगवान का दर्शन किया। और उसका नाम भी करमाहा उसी रोज से पड़ गया। करमसेन भगवान का वरदान भी करमाहा को प्राप्त हुआ। तब से धरती में करम सैनिक का उत्सव मनाया जाता है। करमसैनिक के सम्बन्ध में एक दूसरी वार्ता इस रूप में प्रचलित है। घसिया जाति के एक युवक ने संध्या समय घास काटते हुए ज्योति देखी। कई रोज देखते रहने के बाद एक दिन वह ज्योति कदम की डाल में दिखायी दी। घसिया उसे काटकर घर ले आया और उस डाल को गाड़कर उसने पूजा करके नृत्य गान किया।

इसी समय करम सैनिक का आगमन हुआ। करमा गीत में सर्व प्रथम करम सैनिक की स्तुति की जाती है। स्तुति विषयक गीत इस तरह है—

> और करम सैनिक के आती जाती सुनि पइलेंव,
> चौकी चन्दन पीढ़ुली मढ़इलेंव।
> सुरही गइया के गोबर मंगायलेंव।
> खुंट धरी अंगना लिपइलेंव।
> ढाही डोंगरिया और करम सैनिक तुंहर जाति जनमन।
> धसिया पर सिहा अवतारे।
> पहिली बन्दव गीता आजा सरसती,
> हरले कृष्ण सब दूख हमार।[1]

करमा गीत अतिकतर स्थानीय समस्या और स्थिति के अनुसार तुरंत बनाकर भी गाये जाते हैं। कभी कभी कोई परिस्थिति और घटना बड़ी प्रभावशालिनी होती है, उनसे संबंधित गीत काफी समय तक लोक जीवन में प्रचलित रहता है अन्यथा करमा गीतों की बहती गंगा है जो आज सुनने को मिलता है वह कल नहीं। और जो कल सुनने को मिला वह भविष्य में सुनने को मिलेगा इसका कोई भरोसा नहीं। एक समय की बात है कि गांड़ा जाति का एक युवक एक रावत कन्या से प्रेम करने लगा। इन दोनों की उपस्थिति में एक तीसरे आदमी ने करमा नृत्य के समय इस प्रसग में गीत बनाकर गा दिया। वह गीत इस तरह का था :-

> गांड़ा जाति बेजाति, टेड़गा मांग हेराय।
> राउत घर के दूध दही ला ठग ठग खाय।
> हेर हेर के खाय।
> पोटवइया नइये रे टांगे ठेंगा अमरइया नइये रे।

इस गीत का इतना प्रभाव पड़ा कि उस गांव के गाड़ा जाति का वह युवक पलायमान हो गया। इस तरह इन गीतों के विषय प्रेम, भक्ति, तथा लौकिक जीवन की आलोचना आदि रहा करते हैं।

रावत-नृत्य-दोहा :—नृत्यों के साथ गाये जाने वाले गीतों में रावतों के द्वारा दोहा जो कहे जाते हैं, उनका उल्लेख करना आवश्यक हो जाता है। यद्यपि ये दोहे नृत्य के साथ नहीं कहे जाते हैं वरन जब इन दोहों को कहा जाता है तब नृत्य अल्पकाल के लिए स्थगित कर दिया जाता है। ये दोहे

---

1. निजी संग्रह से

दोहा-छन्द के अनुसार ही कहे जाते हैं। डा० ग्रियर्सन इन दोहाओं की आलोचना करते हुए कहते हैं कि इन दोहों की पंक्तियों में पारस्परिक संबंध का अभाव पाया जाता है। रावत अपने नृत्य के अंत में आशीष देता है, वह भी दोहा में होता है। वह दोहा है :—

> धन दोगानी भइया पावा, पावा हमर असीस।
> नाती पूत ले घर भर जावे जीवा लाख बरीस।

रावत अपने दोहों में दीवाली का वर्णन करता है। दीवाली के आने पर रावत प्रसन्न हो जाता है परंतु दीवाली के समय होने वाली दुर्दशा को भी रावत नहीं भूलता है और कहता है :—

> देवारी देवारी कथें भइया देवारी जीव के काल हो।
> ककरो फूटे माड़ी कोहनी ककरो फूटे कपार हो।

रावतों के इन दोहों का विषय कोई निश्चित नहीं रहता। रावतों की दृष्टि जहाँ तक जा सकती है, वहां तक की बातों को वे अपने दोहों में कह सकते हैं। यदि इन रावतों को नाच करने के बाद बिदाई स्वरूप कम भेंट दी गई तो वे तुरंत उससे मिलता जुलता एक दोहा बनाकर कह देंगे। दीवाली के बाद रावतों के ये नृत्य कई हफ्ते चला करते हैं।

सुवा गीत—सुवा गीत भी नृत्य गीत हैं जो सूवा या तोता नामक पक्षी को संबोधित करके गाया जाता है। वस्तुत: ये स्त्रियों के ग्राम गीत हैं। प्रथा यह है कि एक टोकरी में मिट्टी का एक तोता बनाकर रक्खा जाता है। नृत्य करते समय स्त्रियाँ इस टोकरी को बीच में रख लेती हैं और दो दलों में विभक्त हो ताली पीटती हुई और निहुरे निहुरे गाती हुई गोलाकार घूमती हैं। इन गीतों का विषय छत्तीसगढ़ के नारी जीवन का दुख और दर्द है। विषय के अनुसार यदि इन गीतों का वर्गीकरण किया जाय तो इसके निम्नलिखित विभाग होंगे :—

(१) आशीर्वाद एवं वन्दना संबंधी।
(२) नारी जीवन विषयक,
(३) पौराणिक तथा धार्मिक विश्वास संबंधी,
(४) स्वतंत्र प्रबंध कथात्मक।

वंदना और आशीर्वाद विषयक गीत इन नारियों के लिए आरंभ और अंत में गाना आवश्यक है। प्रत्येक गीत के प्रारंभ में विभिन्न देवी देवताओं की वन्दना की जाती है तथा अन्त में स्त्रियों का दल नृत्य के उपलक्ष में

प्राप्त वस्तु के बदले आशीर्वाद देता है। आरम्भ के गीत में धरती, आकाश, माता पिता, सरस्वती भवानी की वन्दना की जाती है। इनके अतिरिक्त स्थानीय देवी-देवताओं की भी स्तुति के गीत गाये जाते हैं। इन देवी देव-ताओं में डिहडिहवारिन और ठाकुर देवता का नाम भी आता है। उदाहरण के लिए कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं—

सारद माता सरस्वती भवानी कि सुवना हो,
चरन मनावहुं तोर।
भूले आछर बतरावे तंय माता कि सुवना हो।
रात बिना सुधि लेव।

आशीर्वाद का गीत—

जइसे माता लिहे दिहे आना रे सुवना
तइसे तंय लइले असीस।
धने होगनी मा तोर घर भरही रे सुवाना
जीबे जुग लाख बरीस।

स्त्री-जीवन का दुख-दर्द अधिक मात्रा में सुवा गीत में व्यक्त हुआ है। इस दुःख को न सहने के कारण एक स्त्री चन्द्रमा और सूर्य से प्रार्थना करती है कि उसे स्त्री का जन्म ही न दे। सुवा गीत में कहा गया है।

पइयाँ मय लागत हंव चन्दा सुरुज के रे सुवना,
मोला तिरिया जनम झनि देय।
तिरिया जनम मोर गउ के बरोबर रे सुवना
जहं पठवय तिहाँ जाय।[१]

आगे क्या लिखें ? एक एक शब्द में करुण-रस भरा हुआ है। इस समय श्री मैथिलीशरण गुप्त की निम्नलिखित पंक्तियाँ याद आ जाती हैं—

"अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी,
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।"

बाँस गीत—

छत्तीसगढ़ अंचल में बहुत से लोक गीत जाति विशेष के लोगों द्वारा गाये जाते हैं ; उनमें बांस गीत रावत जाति के लोगों के द्वारा सुरक्षित हैं। ये गीत बांस के टुकड़े का पोंगा बजाते हुए मुक्तक और प्रबंध दोनों

१. स्त्रियों संग्रह से

प्रकार की कथा शैली में गाये जाते हैं। मुक्तक बांस-गीत में प्रणय की अनुभूति प्रधानतः रहती है। एक बांस गीत में गायक सुन्दर रमणी के बंध्या होने का कारण पूछता है :—

> कौने बरन तोरे सेन्दुर दीखे गोरी, कौने बरन तोरे मांग हो
> कौने बरन तोरे छतिया दीखे गोरी, कइसे का घर बन बांझ हो।
> रकत बरन तोरे सेन्दुर दीखे गोरी, कजरा बरन तोरे मांग हो।
> कमल फूल कस छतिया दीखे गोरी, कौने गुन घर बन बांझ हो।

कितनी समवेदना और सहानुभूति का प्रदर्शन है बंध्या के प्रति! रावतों के प्रबंध गीत के अन्तर्गत मुजबल अहिरा, कइना कनुपिया, दुरजन रावत, भंवरी, चंदा, बावन बीर, ठड़सुतवा रावत आदि के गीत आते हैं। इन गीतों में रावतों का जीवन, उनकी संस्कृति, उनकी उपजातियों का विवेचन, गोचारण की अनेक परिस्थितियों का चित्रण मिलता है। प्रत्येक गीत के आरंभ में लम्बी चौड़ी वन्दना मिलती है। इन वन्दना-गीतों की विशेषता है कि इनमें गोपालन और दोहन की वस्तुओं की स्तुति के साथ उनके देवी-देवता का उल्लेख भी मिलता है। एक वन्दना गीत की पंक्तियाँ कुछ इस तरह की हैं :—

> पहिली बन्दंव धरती अउ पृथवी, दूसर बन्दंव अहिराम।
> तीसर बन्दंव गाय भंइस ला, कइथ धोखा के अपराध।
> चउथे मा बन्दंव गोई-गलोली, रावत के करय प्रतिपाल।
> पंचहे बन्दंव अहीर पिलोना, जनमे हैं गोपी-गुवाल।

प्रबंध गीतों में रावतों की वेशभूषा और स्वभाव का भी सुन्दर चित्रण किया गया है। मुजबल अहीरा और कन्या मेनुपिया के गीतों में रावतों का स्वभाव इसी तरह से चित्रित हुआ है :—

> दूसर रावत के कुल्लार के लोरिया, होवे जल्दी तियार।
> सुनत देह जरे, फूंके करैजा मा आग, लोरिया मुंह के करिया होगे,
> गए बदन कुम्हिलाय, एड़ी के रिस तरवा चढ़गे, बावन बतीसों दांत
> कच्चा पक्का जल्दी अमरे रे चलव भंइस के पास।
> सिरगीन चौक म मारे हे उचढ़े हे बेन्दरा कोल्हान।

रावतों के इन गीतों का विश्लेषण किया जाय तो छत्तीसगढ़ की गोचारण संस्कृति के समस्त तत्व सामने आ जावेंगे। इसमें अलग शोध की नितान्त आवश्यकता है। इन गीतों की कथा काफी लंबी है। और रावत लोग अपने बांस में इन कथा-गीतों को दो-दो तीन-तीन रात में गाकर समाप्त करते हैं।

एक गीत की कथा संक्षेप में इस प्रकार है। बरोंवा देश में अहिरा कंठी, कसही बहिरा नामक दइहान में, अस्सी लाख भैंस को लेकर रहता था। पनागर का राजा अपने यहाँ से चोर भेजकर ठाठा बरारी भैंस की चोरी कराता है और कंठी अहिरा को भी बान्धकर मंगवा लेता है किन्तु अहिरा की बीच में मृत्यु हो जाती है। ठाठा बरारी अपने मालिक का बदला लेना चाहती है। इससे पनागर का राजा उसे सतखन्डा महल में बन्द करवा देता है। पनागर के राजा की एक लड़की थी जिसका नाम कइना (कन्या) अनुपिया था। राजा ने प्रतिज्ञा की थी कि जो कोई ठाठा बरारी भैंस को दुह देगा उसके साथ अपनी कन्या का व्याह कर देगा। इस भैंस को दुहने के लिए देश-देश के रावत आते हैं परंतु कोई नहीं दुह पाता। तब कंठी अहिरा का लड़का जिसका नाम मुजबल था, आता है और ठाठा बरारी को दुह लेता है। फलतः इसके साथ कन्या अनुपिया का व्याह हो जाता है। इसी तरह से अन्य गीतों में प्रबन्धात्मक कथावस्तु मिलती है।[1]

देवार गीत : छत्तीसगढ़ अंचल में देवार जाति भी काफी संख्या में मिलती है। इस जाति में मुक्तक और प्रबंध गीत प्रचलित हैं। देवारों का नृत्य भी होता है और उसके साथ मुक्तक गीत गाये जाते हैं। इन गीतों में विरम (विरह) है। विरम गीत की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार है :—

> **पांचो भाई के एके ठन बहिनी,**
> **वो मोरो दाई मैंतो देखत हों पिया धकेल।**
> **हइ हई रे मोरे बिरम, मैं तो देखत हों पिया धकेल।**
> **दाई ददा के इनहरी भरत है, भौजी के जियरा जुड़ाय।**
> **हई हई रे मोरे बिरम, भौजी के जियरा जुड़ाय।**

एक ही बहिन के व्याह हो जाने से पांचों भाइयों को उसका विरह दुखी करता है पर भौजाइयां खुश होती हैं। "सास ननंद मोरे जनम के बैरिन" लोकोक्ति भारत में प्रसिद्ध है। देवार जाति में प्रबंध गीत भी प्रचलित हैं। इन प्रबंध गीतों में छत्तीसगढ़ का इतिहास मुखरित होता है। अनेक गीत रतनपुर-राजा और उसके सामन्तों के कार्यों के वर्णन से भरे हुए हैं। पं० लोचन प्रसाद जी पाण्डेय ने देवारों को छत्तीसगढ़ की चारण जाति माना है, जिसके अनुसार इस जाति के लोग अपने स्वामी की प्रशस्ति का गान करते हैं। इस दृष्टि से देखा जाय तो देवार इस प्रदेश के ऐतिहासिक महत्व को अपने गीतों में सुरक्षित,

---

१. निजी संग्रह से

रखते चले आ रहे हैं। इन देवारों के प्रबंध-गीतों में गोपाल राय का पंवारा, डेरहा दलपत का पंवारा, चन्दा गुवालिन का पंवारा आदि प्रबंध गीत विशेष प्रसिद्ध हैं। गोपाल राय रतनपुर के राजा कल्याण साय, जो हैहयवंशी राजा था और जिसका उल्लेख जहांगीर नामा में मिलता है, का मल्ल था। एक समय राजा कल्याण साय ने दिल्ली जाने की इच्छा व्यक्त की और अपने मल्ल को बहुत धृष्ट होने के कारण नहीं ले जाने का विचार किया परंतु गोपालराय रानी भवानामति से आज्ञा लेकर उसके साथ चला गया। दिल्ली जाकर उसने बादशाह के हाथी को मार डाला, तथा अनेक वीरता के काम कर दिखाये। जिस गीत में राजा कल्याण साय अपनी माता भवानामति से दिल्ली जाने का आदेश मांगता है उस गीत की पंक्तियां इस तरह हैं:—१

राजा बोले कल्याण साय भवानी माता,
तोर हुकुम ला पातेंव तो बाच्छायके सेवा मां जातेंव।
बाच्छाय बइठे हवय जेकर बेटा शाह जहान,
बाच्छाय के बीरन बैठे, नेगी बहादुर खान।
बीरन बहादुर नेंगी के बेटा उब्बल खान,
बाच्छाय के गुरु जहाँ हे बलोला भलोला।
छै महीना ले सेवा करय तो तखत ला करय सलाम।
बरिख दिन सेवा करय तो बाच्छाय ला करय सलाम।
बरस दिन मांदू पड़त बाच्छाय बहिराय।
हिंदी के बाना ला वो डिल्ली मां बोरय गा।
गाय मांस खवावय कलमा पढ़वावय ज्वान।
कान चीर मुंदरी पहिरावय कर मुगलानी भेष।

निर्गुण गीत:—निर्गुण भजन के गीत छत्तीसगढ़ अंचल की वैरागी जाति, कबीर पंथी, और सतनामियों पंथी में प्रचलित हैं। इस प्रदेश की सामान्य हिंदू जनता प्रायः निर्गुण मत की ओर आकर्षित नहीं होती। वह सगुण ब्रह्म का उपासक है। निर्गुण गीतों में संपूर्ण विश्व की असारता व्यक्त होती है, यह जगत झूठा है, यह शरीर झूठा है तथा जगत के सारे संबंधी झूठे हैं। अन्त समय में कोई काम नहीं आता है, यदि कोई काम आता है तो वह भगवान का नाम ही है। इसलिए मनुष्य को भगवान का नाम ही लेना चाहिये। निर्गुण गीतों में इसी आशय की अभिव्यक्ति की गई हैं, उदाहरण

१. उत्थान मासिक पत्र, रायपुर, अंक दिसम्बर १८३७, पृष्ठ ३१२

तेकर बनत बनत बन जाही रे जीव। तेकर०
एके सगा तय धरती ला बनाले, अउ मरे मां घर ला लुकाही।
एके सगा नारी ला बना ले, मरे मा गंगा नहाही। तेकर०
बनत भर के वोहू सगा फेर, पर पुरुष मा भुलाही।
एके सगा तय बेटवा ला बना ले, मरे मां माटी देही। तेकर०
बनत भर के वोहू सगा फेर, नहि तो लात मार देही।
चल चल हंसा अमर लोक जाई, इहाँ नइये कोई संगी। तेकर०
एके संगी गुरू ला बनाले, आउ मरे मा पार लगाही।
बनत भर के वोहू सगा है, नहिं तो नरका कुंड मा धंसाही। तेकर० १

इन निर्गुण गीतों में जीव को अनेक तरह से समझाया गया है। संसार की चकाचौंध से सावधान रहने को कहा गया है, नहीं तो अंत में पछताने की बात कही गई है। इन गीतों में कबीर पंथी गुरु धर्मदास का प्रभाव ज्यादा दिखायी देता है और धर्मदास के रचे गीत इस प्रदेश में काफी संख्या में प्रचलित हैं।

नगमत गीत—नाग पंचमी के अवसर पर जो गीत गाये जाते है, उनको नगमत गीत कहते हैं। ये समस्त गीत सर्प से संबंधित हैं। इस अंचल के लोगों में ऐसा विश्वास है कि एक बार गुरु नाग ने बन में गाय चराते रावत को काट दिया। रावत ने अपनी बंशी वृक्ष में टाँग दी थी, जो हवा के चलने से बजती थी। सर्प सोचता था कि रावत मेरे विष के काटने से भी नहीं मरा। इससे क्रुद्ध होकर उसने सारे सर्पो में अपने विष का वितरण कर दिया और स्वय विष-विहीन हो गया। इन गीतों के साथ सपहर मंत्रों का समूह भी जुड़ा हुआ है। सपहर मंत्रों की अलग से चर्चा की जावेगी। नगमत गीतों को विषय के अनुसार तीन भागों में बाँटा जा सकता है–

१. गुरु की प्रशंसा,
२. सर्प की प्रशंसा,
३. सर्प विष उतारने के लिए पुकार।

गुरु-प्रशंसा के गीत को 'गुरथोपनी' के गीत कहते हैं। उसमें गुरु का महत्व बताया गया है। गीत की पंक्तियां इस तरह हैं—

गुरे सत गुरे सत गुरे नीर, गुरु सायर शंकर,
गुरु लक्ष्मी, गुरु तंत्र मंत्र, गुरु लखे निरंजन,

१. निजी संग्रह

गुरु बिन हुये ला होम कौन देही जो नागिन,
गुरु बिन हुये ला होम ।

एक अन्य गीत में गुरु के आगमन की बात सुनने पर शिष्य उसके स्वागत के लिए तैयारी करता है। इस गीत मे शिष्य गुरु को आसन के लिए अपना शिर काटकर देने को तैयार हो जाता है । गीत इस तरह है—

गुरु के आवत भय जब सुनि पइतेंव,
लंटचोरी अंगना बहिरेतेंव ।
सिर काट मुँड बइठक देतेंव,
गोंड़ धोएय वर पानी ।
भरि भरि हुक्का गुरु ला देतेंव,
फेर करव महिमानी ।

इन गीतों में सांप के नामों को बदल कर गाया जाता है। धमना सांप के लिए भंवर नाग, डोमी सांप के लिए कोयली नाग, गौहा सांप के लिए खर कोयली नाग, घोड़ा करायेंट के लिए मूरसी नाग, नौनक्का सांप के लिए नाग, पहाड़ी चित्ति के लिए चितरांग नाग, केवटिया डोमी के लिए वीर नाग, अजगर के लिए धरती नाग, अहिराज के लिए गुरु नाग का प्रयोग किया जाता है ।

ददरिया गीत—मुक्तक गीतों में सबसे प्रसिद्ध गीत ददरिया है, इसको वन भजन भी कहते हैं। ददरिया गीत को यदि विषय की दृष्टि से विभाजित किया जाय तो इसके निम्नलिखित विभाग किए जा सकते हैं :—

(१) प्रथम यौवन का आरंभ,
(२) रूप और प्रेम,
(३) संयोग श्रृंगार,
(४) विरह,
(५) भक्ति,
(६) राष्ट्रीय प्रेम ।

ददरिया-गीतों में दो पंक्ति होती है और प्रायः प्रत्येक पंक्ति अपने आप में स्वतंत्र रहती है, तथा केवल तुक मिलाने के लिए कही गयी प्रतीत होती हैं। ददरिया के एक गीत में एक बालिका कहती है कि जब मुझमें यौवन पूर्ण रूप से विकसित हो जावेगा, तो दिखाने लायक बात पैदा कर दूंगी । गीत है—

नागर ला जोते ला देखे ला रोखनी ।
जवानी तो कड़कन दे कर देहूँ देखनी ।

इन्हीं गीतों में कम उमर की लड़की किसी के द्वारा आँख मारे जाने पर कहती है कि—

आथे ले धूरा मारे ला झलका ,
नजर ल झन मारा उमर हलका ।

राष्ट्रीय गीतों में महात्मा गांधी, जवाहर लाल नेहरू, अंग्रेजी राज्य आदि का उल्लेख होता है। अंग्रेजी राज्य की अशांति का चित्रण एक गीत में इस तरह से किया गया है—

पीपर पान होवत हवय हलर हइया ।
अंगरेजवा के राज कलर कइया ।१

वस्तुतः ददरिया छ० ग० के लोकगीतों की रानी है ।

ढोलकी गीत--स्त्रियां ढोलक बजाकर जो गीत गाती हैं, उन्हें राम-दादरा कहते हैं। इन गीतों में भगवान राम-कृष्ण की लीलाओं का वर्णन रहता है। राम-दादरा गीत की कुछ पंक्तियां इस तरह हैं—

मेरो मन बसि गय कृष्ण कन्हैया,
कृष्ण कन्हैया राम सीता भइया ।
छोटे छोटे पांवन म चन्दन खड़उवा,
असमन लागथय, गढ़ावंव पयजनिया ।

कतिकहिन गीत—कातिक माह में लड़कियां स्त्रियां प्रायः सभी प्रातः स्नान करने जाती हैं और जाते तथा आते समय गीत गाती हैं । इन गीतों को कतिक स्नान के गीत कहते हैं। इन गीतों का मुख्य विषय तुलसी का ब्याह है । एक उदाहरण लीजिए—

छिन छिन मलिया छींच जगाएंव ।
तुलसी के बिरवा छींच जगाएवं ।
खन कोड़ के करेहंव तियारी ।
तुलसी है मोर कृष्ण पियारी ।

लोरी गीत--बच्चों को सुलाते समय माता लोरी गीत गाती है। इन गीतों में निंदिया रानी बुलायी जाती है और उससे विनय की जाती है कि उसके बच्चे की आंखों में आकर बस जाय। गीत की कतिपय पंक्तियां इस तरह हैं—

---

१. निजी संग्रह से

आजा रे निंदिया आ जा रे निंदिया,
बाबू ला आनि सुतावय रे ।
कउवा करय कांव कांव, बगुला करय सेते,
बाबू के ममा आवत हो ही, राम लखन के भेंटे ।

नवरात्रि के गीत—चैत्र और क्वांर माह के दूसरे पक्ष के प्रथम नव दिन तक नवरात्रि के गीत गाये जाते हैं। इस प्रदेश में ये गीत नेवरात गीत के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये गीत अधिकतर प्रबंधात्मक होते हैं। इन प्रबंध गीतों को दो भागों में बांटा जा सकता है। एक माता के गीत और दूसरा माता के भक्तों के गीत। इन प्रबंध गीतों में राजा जगत का गीत, लाल लंगुरवा का गीत, लाल दुलरुवा का गीत, करोंवा सुनइता का गीत, बढ़ई का गीत, बादशाह अकबर का गीत, बेनुआ भगत का गीत, आदि बहुत ही प्रसिद्ध हैं। माता के गीत में आदि-भवानी की उत्पत्ति, स्वरूप और विकास का विस्तृत विवेचन मिलता है। इस गीत में तीनों देव से दुर्गा माता को आदि शक्ति मानकर सबसे महान माना गया है। शाक्त मत के सिद्धान्तों तथा नारी के तीन स्वरूपों की चर्चा भी इनमें की गई है। आद्य भवानी के आदेश से समुद्र का मंथन किया गया और उससे वेद निकले। इस जनश्रुति को गीत में इस तरह से कहा गया है—

कथन करत मां चार वेद निकले,
अउ सुख समवेद है सार हो माय ।
वेद के मालिक बरम्हा बने,
अउ जोग करे ध्यान हो माय ।

माता का स्थान हिंगुलाज गढ़ में है। इस हिंगुलाज का वर्णन भी इन गीतों में मिलता है—

तीर तीर छेके हे नदी छतरंग,
मधे मां शिव पहाड़ हो माय ।
न दीखे गांव न दीखे तलवा,
न परवत के हरियान हो माय ।
माता पहुंचगे गढ़ हिंगुलाज मा
अउ तुरते करय अस्थान हो माय ।

राजा जगत के गीत में आदि भवानी के द्वारा उसके मस्तक का दान माँगने का उल्लेख है। राजा जगत आदि भवानी की साड़ी के अंचल में अपना मस्तक दान देने को तैयार हो जाता है। क्योंकि आदि भवानी का अंचल अमर है।

खप्पर में दान देने से उसका मस्तक भस्म हो जाता है। राजा जगत अपने सिर को इक्कीस बार काटकर देता है, परंतु हर बार वह सिर उछलकर राजा जगत की धड़ से जुड़ जाता है। तब राजा जगत आदि भवानी से कहता है—

सुनु सुनु ले तयं जननी महरानी,
जिभिया के कथन तुम्हार को माय।
एक बार सिर ला माँगे ओ दाई,
देत भये तीन सात हो माय।

माता आदि भवानी राजा जगत पर प्रसन्न हो जाती है और सुरूजगढ़ का अचल राज देकर अपने लोक गढ़ हिंगुलाज को चली जाती है। माता के सेवकों में लाल दुलरुवा, लाल लुंगुरवा, देगुन गुरू और धेनुआ भगत का नाम विशेष उल्लेखनीय है। धेनुआ भगत भूरा भगत का पुत्र था जो बंध्या स्त्री के गर्भ से देवी के वरदान से पैदा हुआ था। लाल लुंगुरवा के द्वारा बुलाये जाने पर यह गढ़ हिंगुलाज देवी की सेवा में चला जाता है। वहाँ देवी धेनुआ भगत पर अप्रसन्न हो जाती है और कहती है—

साते बलाव म तय आवे धेनुआ,
कइसे देहौं तोला वरदान हो माय।
ए मन के गरब ला टोरे रहे, धनुआ,
टोरिहंव मय तोर गरब-गुमान हो माय।

बाद में धेनु भगत के द्वारा अपने अंग अंग को काटकर देवी के खप्पर में होम करने से तथा अन्त में अपना सिर का काटकर होम करने से देवी को प्रसन्न करके पूरे प्रदेश में वह शीर्ष स्थान प्राप्त करता है और लोक देव के रूप में पूजा जाता है। लाल दुलरुवा बड़ा तांत्रिक है और देवी के जादुई साम्राज्य को नष्ट कर देता है तथा देवी को सेत परवाना में शांत रहने को राजी कर लेता है। दुलरू ने कमरू और पटना में जाकर वहाँ देवी की जादुई कन्या पर विजय प्राप्त की है, उसका वर्णन इस गीत में इस तरह से मिलता है—

कमरू अउ पटना के राजा कइना, जेला धरय डबिया मा आज हो माय।
साते चेरिया धरय अउ धरत हे सोलह पनिहारिन हो माय।
सुकटी चमारिन ला धरय अउ धरत हे नता धोबनिन आज हो माय
बलाही केवंटिन ला धरय दुलरुवा अउ धरय लोहकुटी लोहारिन हो माय

फोतकी तेलिन ला धरय बुलरुवा अउ धरके भमइ तंग लिया हो माय
बीजक लगावय सोने के डबिया मां अउ चलत हे बुलरुवा हर राज हो माय।[1]

ढोला मारू गीत—ढोला मारू एक प्रेम कहानी है। यह गाथा राजस्थान में "ढोला मारू दुल्हा" के नाम से प्रचलित है। इस अंचल में इसे "ढोला गीत" कहते है। इस गीत की संक्षिप्त कथा इस प्रकार है—राजा नल के पुत्र का नाम ढोला था और राजा बेन की कन्या का नाम मारू। इन दोनों का व्याह हो गया। ढोला बहुत ही सुन्दर युवक था। उसे घर से बाहर निकलने की अनुमति नहीं थी। उसके राज्य में रेवा-परेवा नामक एक जादूगरनी रहती थी। वह ढोला को अपने पास लाने के लिए जादू का तोता भेजती है। ढोला लाल उसे अपने गुलेल से मार देता है। इस पर रेवा-परवा बिगड़ उठी। उसने ढोला को उस तोता को जिन्दा करने के लिए कहा। ढोला ने अपने गुरु का नाम लेकर यद्यपि उस तोते को जिन्दा कर दिया पर गुरु ने यह शर्त कर दी कि तोता अब मरने न पावे। इस पर उस जादूगरनी ने उस तोते को खुद मार दिया जिससे ढोला डर गया। रेवा परेवा की अब बन आई। उसने यह शर्त रखी कि वह तोता को जिन्दा तो कर देगी परंतु ढोला अपने घर नहीं जा सकेगा। ढोला को मानना पड़ा। रेवा-परेवा ने तोता को जिन्दा कर दिया। ढोला वहीं रह गया। इधर मारू अपने पति को जादूगरनी के बंधन में पड़ा जान उसके वियोग में जलने लगी। मारू ने अपने पति के पास एक तोते के द्वारा पत्र भिजवाया परंतु रेवा-परेवा ने उसे पकड़ लिया और उसके पंख काट दिये। अन्त में ढोला ने कुसुम्मा तैयार कराया औररेवा-परेवा को उसे खिलाकर बेहोश कर दिया तथा करहा ऊंट पर बैठकर भाग निकला। जब रेवा-परेवा होश में आयी तब उसके हाथ में केवल ऊंट की पूंछ हाथ आयी। इसके बाद ढोला के सत की परीक्षा होती है और साथ ही साथ मारू के सत की भी परीक्षा। उन दोनों के उत्तीर्ण हो जाने पर बाद में उन दोनों का मिलन हो जाता है। ढोला गीत में प्रेम और यौवन का वर्णन प्रतीकात्मक शैली में किया गया है। मारू अपने पति को पत्र लिखती है उसमें अपने यौवन को पके निम्बू के समान बताती है। गीत की पंक्तियां इस तरह हैं—

लिख लिख चिट्ठी नरहुल भेजे, सुन ले हो ढोला महराज।
पाके लिमौवा औ मारू के संगे, रस चुवत ढर जाय हो।
वही बखत आतीस राजा नल के ढोला, लिमुआ चुहक घर जाय हो
पाछू ले आहे राजा नल के ढोला, हाथे भिजत रह जाय हो।

लोरिक चन्देनी—इस अंचल में पायी जाने वाली लोक गाथाओं में लोरिक

---

१. देवरों से प्राप्त

चन्देनी बहुत ही प्रसिद्ध है। इस गाथा का प्रचार समस्त भारत में किसी न किसी रूप में है। मुस्तफा दाउद ने इसी गाथा के आधार पर चन्द्रायण नामक सूफी-प्रेम-काव्य की रचना की है। इसी गाथा के आधार पर हैदराबाद दक्षिण में मसनवी लिखा गया है। इस प्रदेश में ही यह गाथा अनेक कथान्तरों के साथ मिलती है। वस्तुतः इसमें अभी अनुसंधान की आवश्यकता है। इस गाथा में प्रेम और वीरता का बड़ा सुंदर वर्णन किया गया है। युद्ध के वर्णन की कुछ पंक्तियां इस तरह हैं—

कड़क के बोलय बीर बावन जी अउ सुनो चान्दसेन राज।
सरही झगरा का खेलबो, छतरी धरम बुड़ि जाय।
होय दे झगरा अब मरना के जेला मरना नाहिं डेराय।
तीन तीन सेला ओसरी हे, चौथे मारय गँवार।
पाँच नराजी काटय तेला, काट भवानी खाय।

आल्हा गीत—पूरे भारतवर्ष में आल्हा का प्रचार है। इस आल्हा के मूल लेखक जगनिक नाम के कवि हैं। आल्हा का जो रूप आज प्राप्त होता है वह संकलित रूप है। छत्तीसगढ़ में जिस आल्हा का प्रचार है, वह अपने ही ढंग का है। इस आल्हा की संक्षिप्त कथा इस प्रकार है :—

आल्हा, उदल, मलखान, मुलखान, और खेरिहा ये पाँच भाई थे। बचपन में आल्हा अपने मामा का गाँव गया। वहाँ पर उसके मामा के लड़के अखरा डांड में दांव सीख रहे थे। उन लोगों ने अखरा डांड को तेल से पोतकर चिकना बना दिया था और नीचे लोहे का खंमा गाड़ दिया था। उसके उपर केले के वृक्ष को गाड़ देने से वह केले का वृक्ष जैसा प्रतीत हो रहा था। नीचे नोकदार लोहे के चना फैला दिये गये थे। वे लोग खंमे के ऊपर से कूदते थे और तलवार से लोहे के चना को बीनते थे। इसके बाद गुरूद चलाते थे। ऊदल ने भी अपने भाइयों को एक दांव सिखा देने को कहा। उन लोगों ने उसे बच्चा समझकर अस्वीकार कर दिया और कह दिया कि यदि तुम लोग गिर पड़ोगे तो मर जावोगे और जासल वंश समाप्त हो जावेगा। इससे ऊदल क्रोधित हो गया और चुनौती स्वीकार कर अपने घोड़ा मनोरथ पर सवार हो उसने अपने ममेरे भाइयों के सारे दांव बचा लिये। जब ऊदल ने दांव लेना शुरू किया तो उसके सारे ममेरे भाई घायल होने लगे। इसी समय उसका मामा नेंगी माहिल आ गया और अपने मांजा को रोककर कहा कि तुम इतने वीर हो तो अपने बाप का बदला लो जो कौहा गढ़ में मारा गया है और आज भी उसका सिर सिंह द्वार में टंगा

है जिसे राजा भीखम नित्य प्रति पाँच जूता मारता है और अस्सी बार उस पर थूकता है। इसे सुनकर आल्हा और उदल क्रोधित हो जाते हैं और कौहा गढ़ पर चढ़ाई करते हैं। आल्हा गीत में कौहा गढ़ की लड़ाई का बड़ा विस्तृत वर्णन मिलता है। आल्हा गीत की कुछ पंक्तियां इस तरह हैं:–

> रइया जूझे गढ़ माड़ों मां, बासन खेत डहाय।
> जासल जूझे गढ़ कौहा मा, मूड़ टांगे सिंग दुवार।
> पंच पंच पनही रोज परत है, अउ अस्सी परे खखार।[1]

पण्डवानी गीत—इस अंचल में प्रचलित पण्डवानी गीत में महाभारत की कथा गायी जाती है। पण्डवानी गीत को दो भागों में बांटा जा सकता है एक तो वेदमती पण्डवानी गीत और दूसरा कापालिक पण्डवानी गीत। वेदमती पण्डवानी गीत की जो कथा महाभारत से ली गयी है वह केवल इस प्रदेश के गायकों की कल्पना है। इस श्रेणी के गीतों में लोहिड़ी पुर की लड़ाई और नकुल का ब्याह विशेष प्रसिद्ध है। इस गीत को गाने के बाद गायक उसका अर्थ करता है। इस तरह इस गीत की कतिपय पंक्तियां उसके अर्थ के साथ यहाँ प्रस्तुत की जाती हैं–

> बोहत लो आवय बाबू भीम के मंजूसा गा,
> अब बोई ला झोंकि लेवे कइना तंय,
> अइसे कइके संकर जी हर कहय गा।
> नार नारे नारे नारे नन्ना रे जी।
> ओतका ला सुनय अब तो कइना (अर्थात् कन्या) गा,
> अउ चलत हे मंजूसा ला झोंके बर भाई,
> झोकय मंजूसा ला भाठा मा निकारय,
> अउ भाठा मां निकाल के गुनत हे राम जी
> शंकर बाबा हर बाबू देहे बरदाने,
> संझा टोरे फूल ल बिहनहा तो चघावे,
> अउ बिहनिहा के टोरे ला संझा तो,
> चघावत हे मनमोहना रामे जी।
> जब मंजूसा ला ओई खोलि के देखय,
> अउ बली के तो पंडवा के रहत है तनहर ओदे भाई,
> बासी फूल ओदे बाबू अउ बासी ओदे पति,

---

१. निजी संग्रह से

ए संकर सो पाए बरदाने ला भाई ।
जब तो गा ओदे भइया भीमसेने ल देखय,
मनेमन कइना हर बिचारत हे भाई ।
दउड़त दउड़त आवत हे गा भइया,
अपन पिता करा के पास मा मन मोहना रामे जी ।
नारे नारे नारे नारे नन्ना रे जी ।

अर्थ—महादेव कहीन, हे गिरजा पारवती, अब भीम के मंजूसा हर बोहावत उहां आवत रहीस। अउ कोनो गम ला नइ पाइन। तब वो कइना वो मंजूसा ला झोक के लानीस। काबर। शंकर के वरदान पाए रहीस त। संझा के फूलल बिहनहा अउ बिहनहा के टोरे फूल ल संझा चढ़ावे। अइसे तपसिया कइना बारों बरस तेरहों पुन्नी ले करे रहीस। तब खोल के देखिस अपन मजूसा ता भीम के महारूप भयंकर रूप ला देख के भारी डरडरावन, अइसे कइना तौन देखिस। हला डोला के देखिस, त कुछ नई रहीस। त कइना अपन पिता के पास चले गइस अउ डंडवत करके विनय करके अपन पिता करा तो अमरीत ला माग के लानीस।"

गोपीचंद के गीत—

इस प्रदेश में भिक्षा माँगने वाली बैरागी जाति के बीच में गोपी चन्द का गीत प्रचलित है। राजा गोपी चन्द की माता का नाम मैनावती था। जब गोपी चन्द वैराग्य लेने लगा तब माता बहुत रोती है। कितनी तपस्या के बाद उसने गोपी चन्द को अपने पुत्र के रूप में पाया है। तम्बूरा में गाया जाने वाला गीत इस तरह है :—

माता जी बोले बाबू सावन झड़ी
गंगा जमुना बहिगे नीरे ।
धोये चांउर बेटा अउ बेले के पाती,
नित उठ सिव मा चढ़ावे ।
सिव के सेवा मा बेटा तोला पायेंव
एक बहिनी मा एक भाई,
बारा बरस ले बेटा बंझली कहायेंव,
तेरा बरस मा तोला पाएंव ।
एकादशी बेटा बरत रहेंव,
अन्न नहिं खायेंव बेटा पियेंव पानी,
बेटा के कारन लेसेंव सकल सरीरे,

सावन बुन्दिया बेटा झीरियन बरसे,
जस बीच रोयथ महतारी ।[1]

श्रवण चरित्र के गीतः—इसे सरवन के गीत कहते हैं। स्मरण रहे यह अयोध्या-नरेश राजा दशरथ से संबंधित श्रवण कुमार नहीं है। यह गीत छत्तीसगढ़ की बसदेवा जाति में विशेषकर प्रचलित है। यह गीत बैरागी जाति में भी गाया जाता है परंतु उसका लय और स्वर बसदेवा गीत मे बिलकुल भिन्न रहता है। सरवन का एक गीत जो टीनू बसदेवा ग्राम आड़ामूड़ा तत्कालीन रायगढ़ स्टेट मे करीब १०० वर्ष पहिले संकलित किया गया था उसकी कुछ पंक्तिया इस तरह हैं:—

माता अंधरिन कलपन लागिन, बड़े कसट मां बेटवा पायेंव ।
अरू बेटवा मोर सरवन लाग ।
सिर डोल मूड़ पाकन लागिन, बूढ़त काल मां तोला पायेंव ।
दस मास तोला ओद्र मां राखेंव, घामन के तोलों छइहां राखेंव ।
बत्तीस धार के गोरस पियाएंव, छोटे ले बड़े करेंव ।
पोले पास के करेंव जवान, बीस कोस के राजा रे सरवन ।
झीन जा बेटा सोन बनिज बर, आठ दिन गवन करि आनेंव रे सरवन ।

बैना गीत:—बैना गीत तंत्र मंत्र के संदर्भ में गाया जाने वाला गीत है। इसे मांत्रिक केवल देवी और देवता को प्रसन्न करने के लिए गाता है। इस गीत को लोग बहुत कम सुन पाते हैं। इस गीत को गाते समय मांत्रिक का हाथ भी चलता रहता है। जब किसी देव का नाम आते ही उसका हाथ तीव्र हरकत करने लगता है तब उसको प्रतीत होता है कि उस देव ने या देवी ने ही आपत्ति सृजित की है। इसमें बंधेनु देव का बैना गीत, मरखी माता का बयना गीत और सरंगढ़हिन का बयना गीत प्रसिद्ध है। बंधेनु देव के बयना गीत की कुछ पंक्तियां इस प्रकार हैं—

पूरबे दिसा मां कउने रखवार,
बान्धव बंधनु देव कउने रखवार, कउने रखवार ।
पूरबे दिसा मां सूरज रखवार, बाँधव बंधनु देव दसो दुवार ?
पच्छिम दिसा मा कउने रखवार, कउने रखवार ।
बान्धव बंधेनु देव दसो दुवार ।
पच्छिम दिसा मा महावीर रखवार, बान्धव बधेनु देव दसो दुवार ।

---

१. निजी संग्रह से

लोक मंत्र:—लोक मंत्र यद्यपि लोक गीतों के अंतर्गत नहीं आते हैं परंतु लोक साहित्य में इनका महत्व पूर्ण स्थान है। इस प्रदेश में लोक मंत्रों का बड़ा विशाल भंडार है। इन लोक मंत्रों का यदि वर्गीकरण किया जाय तो इनके निम्न-लिखित प्रकार होंगे—

१. **बोल-मंत्र**—देवी को शान्त करने के लिए बोल मंत्र कहे जाते हैं। इन बोलों को सुनकर देवी शांत हो जाती है। देवी का एक बोल-मत्र इस प्रकार है:—

"ओंकार में जनम तुम्हारा, निराकार में रूप हमारा, धनु काल में हिया छपाई, एक कोट नयना, दु कोट सुवासा, धरती पाँव अक्कासे माथा, जय देवी अष्टंगी माता, तीन लोक मा फेरें हाथा, धरमदास के दोहाई, वाचा मा रहे टेकाई, भूरा भगत के अस्तुति अउ लिख देव परवाना, इक्काइस माता के बोल, सबोध होजा, अस्थिर होके गढ़ हेंगुलाज मां रहिजा।"

२. **नाम मंत्र**—नाम मंत्र कबीर सम्प्रदाय के संतों द्वारा रचित हैं। इनमें रेख नाम, आसन नाम, पंछी नाम, छपक नाम, झरती नाम, आदि उल्लेख-नीय है। आसन नाम मंत्र को कबीर पंथ के लोग किसी भी स्थान में बैठने के पहिले कह लेते हैं। इससे उनका आसन निरापद हो जाता है। एक उदाहरण—

"आसन वन्दव, पासन वन्दव, अउ वन्दव सिंहासन। अपन लोक से साहेब उतरय बइठय जोत पुरुष के पास। अगल बगल मा संत बइठय बीच मा साहेब के नाम।"

३. **पाठ मंत्र**—विभिन्न कष्टों को गुनियाई-विद्या के माध्यम से दूर करने के लिए पाठ मंत्र सीखना पड़ता है। ये मंत्र शिवजी के द्वारा बनाये गये माने जाते हैं।

४. **बन्धनी के मंत्र**—ये मंत्र किसी वस्तु के प्रभाव को हीन करने के लिए कहे जाते हैं। इसी मंत्र के बल में चूल्हे की आग को बान्ध देते हैं, भूत को किसी वृक्ष से बान्ध देते है, यहाँ तक गर्भ को बाँधकर इस मंत्र के बल से बंध्या बनाया जा सकता है। ये मंत्र भी शिव के द्वारा बनाये गये हैं। वस्तुत: ये मंत्र अधिक-तर निरर्थक हैं। इस मंत्र का स्वरूप इस तरह है--

"सात पड़की के आखर बिखर कोख हिल बाट टिमकी भूरी बाछ मसान महादेव के हुंकारे भूत राइ छाई हो जाय काकर बान्धे गुरू के बान्धे गुरू कौन महादेव बन्धा जा" इस मंत्र के द्वारा भूत बान्धा जा सकता है; ऐसा कहते हैं।

छत्तीसगढ़ के लोक मंत्रों के क्षेत्र में हांकनी के मंत्र, नहावन के मंत्र, पारखी के मंत्र, फूंकनी के मंत्र, गुरुहर नाम मंत्र, सुमरनी के मंत्र, संपहर मंत्र एवं अन्य विविध मंत्र प्रचलित हैं।[1]

लोक नाट्य—छत्तीसगढ़ में जो लोक नाट्य प्रचलित है उसे गम्मत कहते हैं। इसमें हास्य, प्रहसन और तमाशा बहुतायत से निकाला जाता है। मंच को "रहस बेड़ा" कहते हैं और इसका स्वरूप हमेशा बदलता रहता है, परंतु कुछ गीत अपने वास्तविक स्वरूप में मिलते हैं। बाबू देवाराम रचित कृष्ण लीला के गीत इस अंचल में काफी प्रचलित हैं। इसका एक उदाहरण यहाँ पर प्रस्तुत किया जाता है:—

सखा गण—तुम कौन ग्वालिनी बेचन जात दही रे, दही रे, दही रे,।
सब के सिर मटुकी, बोलत बात सही रे, सही रे, सही रे।
सखी—(राधा) वृषभान नंदिनी गोकुल जात कही रे, कही रे, कही रे।
संग ले सब सखियां बेचत दूध दही रे, दही रे, दही रे।
तुम जाने न देवत मारग रोक लइ रे, लइ रे, लइ रे।
सखा—(कृष्ण) हरि हमहिं पठायो रोकन बाट कही रे, कही रे, कहीरे।

लोक कथा—

व्रत और अनुष्ठान की लोक कथाएँ—इस श्रेणी की लोक कथाओं में नाग-पंचमी, नये, बहुरा चौथ, खमरछठ, गरजना, भाई जुतिया, बेटा जुतिया, सुरहुती त्यौहार; भाई दूज, वृहस्पतिवार की कथाएं, संकट चौथ एवं तीजा तिहार की कथाएं आती है। इन कथाओं को कहने या सुनने के पहिले व्रत रखना पड़ता है तथा विभिन्न देवी देवता की स्थापना करनी पड़ती है। इन देवी देवताओं की पूजा करते समय इन व्रत-कथाओं को सुनना चाहिये। प्रत्येक व्रत का अपना उद्देश्य होता है। संक्षेप में इन व्रत कथाओं की तालिका इस प्रकार बनायी जा सकती है।

व्रत कथा के पात्र सजीव एवं निर्जीव पदार्थ हैं, भाई दूज की कहानी में पहाड़ और नदी निर्जीव पदार्थ हैं। भाई भाई को नुकसान पहुंचाने को कटिबद्ध है। प्राणी वर्ग के रूप में सर्प, बाघ, गाय आदि जानवर आते हैं। नाग पंचमी की कहानी में सर्प के द्वारा विष-वितरण की कथा है। खमर छट की कहानी में सर्प के सात अन्डे फूटने से नागिन सात बच्चों को डस लेती है परंतु खमर छट व्रत के प्रभाव से वे बच्चे पुनः वापस मिल जाते हैं। इन कहानियों में मानवी पात्र

---

१. निजी संग्रह से।

आये हैं। असंभावी घटनाओं का चित्रण हुआ है। मरे हुए को जिन्दा करना बताया गया है, जिसका एकमात्र उद्देश्य व्रत के प्रति आस्था और विश्वास की वृद्धि।

तालिका —

क्रं०	मास	पक्ष	तिथि	त्योहार	उद्देश्य	वार्ता	देवता
१	श्रावण		५	नागपचमी	नाग देव की प्रसन्नता	नाग पचमी की कहानी और भद्रनाग का विष वितरण	नाग और नागिन
२	श्रावण	शुक्ल	६	नवे	देवी की प्रसन्नता	नवें की कहानी	नवे देवी
३	भादो	शुक्ल	४	बहुराचौथ	बहुरागाय की प्रसन्नता	बहुरा गाय की कथा	सिंह और गाय की मूर्ति
४	भादो	शुक्ल	६	खमरछट (हलषष्टी)	पुत्र कल्याण	खमरछट की कहानी	विभिन्न खेल खिलौने और दो नगरी
५	भादो	मघा नक्षत्र में		बादल का गरजना	मायके का कल्याण	मोरी रोठ की कथा	गरजनास्त्री पुरुष

पौराणिक देवी-देवता की कथाएं

पौराणिक देवी देवताओं की कथाओं का मुख्य विषय है——देवी देवताओं के मध्य छिड़ा वाद-विवाद कि उनमें कौन बड़ा है, भक्ति का महत्व, तपस्या का प्रभाव, भक्ति-निष्ठा की दृढ़ प्रवृत्ति, बैकुंठ लोक का क्रिया-कलाप आदि। इस श्रेणी की कहानियों में लक्ष्मी का विवाद, लक्ष्मी और बुद्धि में बड़े होने का प्रश्न, राही दामोदर सर फरिद, राजा भोज और बैकुंठ लोक, धनवार और कौवा, सुनउ भगत आदि की कथाएं हैं। इन कथाओं का उद्देश्य जीवन में धार्मिक-भावनाओं की स्थापना करना है। लोक कथा अपने इस उद्देश्य में पूर्णतः सफल होती है ऐसा विश्वास है। सत्य और लक्ष्मी के विवाद की कथा संक्षेप में इस तरह है—

एक समय सत्य और लक्ष्मी में झगड़ा हो गया कि उनमें कौन बड़ा है। दोनों न्याय के लिए ब्रह्मा, विष्णु महेश और पांच पांडव, के पास गये पर कोई न्याय न कर सका तब वे लोग मृत्यु लोक में सुनउ भगत के पास आये। वहां पर निवास के लिए लक्ष्मी को भेजा गया। वह गाय का रूप धारण कर वहां गयी पर सभी जगह से हंकाल दी गयी। तब सत्य गरीब ब्राह्मण का रूप धारण करके गया और सुनउ भगत ने उसे अपने यहां स्थान दिया। उस दिन उस राज्य के राजा

की बेटी का ब्याह हो रहा था और दहेज में सभी प्रजा कुछ न कुछ दे रही थी। सुनउ को उसके घर के मेहमान ने एक झांपी में सील-लोढ़ा रखवा कर देने को कहा। उसने उसकी पूर्ति की और राजमहल डरते डरते गया तथा उस झापी को राजा के घर रखकर शीघ्रता से लौट आया। वह सील-लोढ़ा भगवान के प्रताप से सोने का हो गया था। सुनउ ने अपनी मां की साड़ी के आधे भाग को फाड़कर बेच दिया और उसके बदले में दाल-चांवल लेकर अपने मेहमान को खिला दिया। इसी बीच राजा के भृत्य आ गये और सुनउ को पकड़कर ले गये। राजा के पास उसको बताना पड़ा कि उसे सोने का सील-लोढ़ा कहाँ मिला। उसने अपने मेहमान के कहने से राजा की दूसरी बेटी से अपना ब्याह किये जाने की माँग की। राजा ने शर्त रख दी कि यदि तुम्हारी बारात में सभी देवता आवें और तुम राजदरबार से अपने घर तक सोने का खंभा गाड़ सको तो ब्याह हो सकता है। सुनउ ने अपने मेहमान के प्रताप से इसे पूरा कर दिया। ब्याह के बाद उसकी पत्नी उससे कहने लगी कि तुमने सत्य का पल्ला नहीं छोड़ा, इससे तुम्हारा आज यह सम्मान हो रहा है। भगवान ने सत्य और लक्ष्मी को बता दिया कि अब तुम समझ लो कि कौन बड़ा है।

भूत प्रेत, देवी देवताओं की कथाएं—

लोक कहानियों के तीसरे प्रकार में भूत-प्रेत, देवी-देवताओं की कथाएं आती हैं। ये देवी-देवता, प्रेत-पूजा के आधार पर निर्मित हुई हैं। ये इस अंचल के आदिवासियों के जीवन के उस विश्वास को व्यक्त करते हैं जिससे मृत्यु के बाद व्यक्ति प्रेतयोनि में चला जाता है और लोगों को कष्ट देता है। जब तक यह प्रेत, देव के रूप में पूजा जाता है तब तक वह लोक मानव को कष्ट नहीं देता है और विपत्तियों में उसकी रक्षा भी करता है। इस श्रेणी की कथाओं में सरंगढ़हिन, मूड़खोरी, डंघबधिन तथा प्रेत-देवों में बूढ़ा देव, दूलहा-देव, कचना-घुरवा आदि की कथाएं आती हैं। ठाकुर देव एक ग्राम देव है और यह सात्विक पूजा लिया करता है। इनमें से अनेक देवी देवताएं रक्त पूजा भी लेती हैं। इस श्रेणियों की कथाओं का विभाजन विषय के अनुसार इस रूप में किया जा सकता हैं :—

(१) प्रेत देवियों की कथाएं।
(२) प्रेत देवता की कथाएं
(३) ग्राम कल्याणकारी देवता
(४) शाक्त मत की दुर्गा देवियां
(५) भूत कथाएं।

छ० ग० में भूतों की अनेक कथाएं प्रचलित है जिनमें डीड़वा रावत और भूत की कथाएं अति प्रसिद्ध हैं। भूतों के नाम तथा उसके अनुसार उनकी कथाएं मिलती हैं। इन के नाम इस तरह हैं—घाट गोंसाइन, बघरा पाठ, देगुन राउत, कोल्हू परधान, हांड़ी-बाघ, नता धोबनिन, गांगन, गुवालिन, मुड़फोरी मसान, दाउ बघोरी, दुनिया मुनिया, रस्सा डिहारिन, मइसामूर, चौंसठ जोगिनी, डेहरी डोकरी, मठिया बोचन, रात माय, गूंगा पीर, खोलबूला, मटिया, आदि।

पण्डवानी कथा—

महाभारत की कथा को पण्डवानी कहते हैं। पण्डवानी गीत के संदर्भ में इसकी चर्चा पूर्व पृष्ठों में की जा चुकी है। इसे ही कथा का रूप दे दिया गया है।

मानवी विश्वास एवं सृष्टि उत्पति की कहानी—

इस अंचल में मानवी एवं सृष्टि उत्पत्ति संबंधी अनेक धार्मिक कथाएं मिलती है। नवरात्रि के गीत में, धार्मिक गाथा के रूप में, सृष्टि उत्पत्ति के संदर्भ में गायत्री के सिद्धान्तों की चर्चा मिलती है। धरमदास द्वारा वर्णित निर्गुण-निरंजन द्वारा सृष्टि उत्पत्ति एवं सत् कबीर के आविर्भाव की कथाएं भी यहाँ मिलती हैं। आदि वासियों के महादेव के साथ सृष्टि उत्पत्ति कराने, बूढ़े देव के द्वारा नाव बनाकर उसमें मानवी जोड़े का बीज वपन कराने का धार्मिक वृतांत्त भी, यहाँ पाया जाता है। इन कथाओं का निर्माण ज्ञान वर्द्धन के क्षेत्र में हुआ है। प्रकृति के उपादानों की व्याख्या, प्रकृति के कार्य व्यापार की विधि का दिग्दर्शन, प्रकृति के तत्वों से सृजन शक्ति का कारण, इन कथाओं में अच्छे ढंग से बताया गया है। प्रकृति दर्शन एवं मानवीय व्यवहार के प्रति लोगों के मन में स्वभावतः उत्सुकता छिपी रहती है, उसी को शांत करने के लिए इस श्रेणी की कथाओं की सृष्टि की गई है:—

चौदह विद्या, टोना विद्या एवं जादुई चमत्कार की कहानी—

लोक मानव का विश्वास है कि लोक में विभिन्न प्रकार की विद्याओं का प्रचार है जिनमें चौदह विद्या, टोना विद्या एवं पांगन विद्या प्रमुख है। चौदह विद्या की कथा में कई राजा की कथा अति प्रसिद्ध है। इस कथा की संक्षिप्ति इस तरह है:—

"एक समय एक राजा चौदह विद्या जानने वाले गुरु के पास जाकर विद्या सीख रहा था। साथ में वह अपने नाई को भी ले जाता था। उसका नाई कुशाग्र बुद्धि का था। यद्यपि वह राजा से दूर बैठता था, परंतु उन सारी चीजों

को भी वह चुपके से सीख लेता था जिसे राजा सीख रहा था। जब राजा ने सारी विद्या सीख ली तो एक दिन रास्ते में नाई ने राजा को एक मरे हुए तोते को बताते हुए कहा "महाराज आपने विद्या सीखी है उसके बल पर इस तोता को जिन्दा कीजिए।" राजा ने अपना शरीर छोड़कर उस तोते के शरीर में प्रवेश किया और इधर नाई ने अपना शरीर छोड़कर राजा के शरीर में प्रवेश किया। तोता बना राजा उड़ गया और नाई राजा का शरीर धारण कर राजमहल में आ गया और राज्य करने लगा। उसने अपने राज्य के बहेलियों को बुलाकर सभी तोतों को मारने का हुक्म दिया। पर राजा तोता किसी तरह भाग कर रानियों के पास पहुंचा और उनसे सब हाल बताकर षड्यंत्र रचा कर नाई-राजा को मरवा डाला तथा उसके शरीर में प्रवेश कर फिर अपने असली शरीर को पा गया।

गुरु और शिष्य में चौदह विद्या का खेल खेला जाता है, उसकी भी कथा इस प्रदेश में प्रचलित हैं। टोना विद्या की अनेक कथाएं मिलती हैं जिनमें टोनही स्त्री दूसरों को मारने का उपाय करती है। जादुई चमत्कार की कहानी के अंतर्गत एक सुन्दर लड़की के सिर में कील ठोंककर उसे चिड़िया बना दिया जाता है और उस लड़की की जगह में अपनी लड़की को राजा की रानी बनवा दिया जाता है। एक कहानी ऐसी भी मिली है जिसमें छत्तीसगढ़ी, ब्रज, भोजपुरी और मैथिली चिड़ियों द्वारा एक घटना को उनकी अपनी २ बोली में कहलवाया गया है। खेद है कि इस कहानी का शुद्ध रूप अभी उपलब्ध नहीं है।

मानवी गरीबी एवं भूख पर आधारित कहानी—

इस क्षेत्र में पर्याप्त कथाएं लोगों की गरीबी और भूख से संबंधित मिलती है। मनुष्य की गरीबी कभी राजा के दान से, कभी भूत प्रेत या बाघ द्वारा अद्भुत चीज देने से दूर हुई है। भूख के साथ ही प्यास पर भी आधारित कथाएं मिलती है। "कथा कहय कंथली जरय पेट के अंथली" शीर्षक लोक कथा भूख पर आधारित है। वह संक्षेप में इस तरह है :—

"एक समय एक कंजूस गृहस्थ के घर में एक भूखा मेहमान आया। उसे गृह स्वामी ने खाने को कुछ नहीं दिया और कहानी कहने को कहा, तब उसने कहा—

> **कथा कहय कंथली, जरत पेट के अंथली। चार गोड़ के मिरगा मरै, बरछा के खाले कोई खाता न पीता।**

इस उक्ति को सुनकर गृहस्वामी ने लालच वश उस मृग को लेने चला गया। तब गाँव वालों ने उसे खूब पीटा। इधर भूखा मेहमान खा पीकर चलता बना।

इस श्रेणी की कुछ कथाओं में गरीबी को दूर करने के लिए ब्राह्मण को मुहर देने वाली थैली प्राप्त हुई है, तो कोई खीर पकाने वाली कड़ाही पा गया है। जब इन चीजों को किसी ने छीन लिया है तब उन्हें सुधार सिंग नामक ठेंगा भी प्राप्त हुआ है जिनके प्रयोग से उन्हें अपनी ये अलभ्य चीजें फिर मिल गई। इन कथाओं में मनोरंजन की पर्याप्त सामग्री रहती है जिनसे मानव की सामान्य प्रवृत्तियों का पता चलता है।

पारिवारिक जीवन करुणा, कष्ट एवं सौत प्रदत्त दुख पर आधारित कथाएं—

इस अंचल की लोक कथाओं में पारिवारिक जीवन का वास्तविक चित्र मिलता है। इन कथाओं में सौत, ननद, भावज, भाई, सौतली माँ का चरित्र उभरा हुआ है। सौत का चरित्र अपनी सह पत्नी के प्रति निर्दयता पूर्वक अभिव्यक्त हुआ है। कौवा हांकनी की कथा में अपने सुन्दर पुत्रों के खो जाने के बाद राजा के द्वारा उसे कौवा हांकने का काम दिया जाता है। "सातों भइया अम्मर काया बहिनी केकती" की कहानी में भी सौतों के द्वारा दिया गया दुःख ही स्पष्ट हुआ है। शीत और बसन्त की कथा में दो राजकुमारों को अपनी विमाता के व्यवहार के कारण राज्य छोड़कर बाहर जाना पड़ता है। भाइयों द्वारा बहिन को मारकर खाने की भी दुष्ट कथा इस प्रदेश में मिलती है। कभी कभी बहिन को अपने भाइयों के व्यापार करने के लिए परदेश चले जाने पर चिड़िया के घोसलों में अपना जीवन बिताना पड़ा है। समाज शास्त्रीय अध्ययन के लिए इन कथाओं का संकलन और विवेचन बहुत ही महत्वपूर्ण है। इनमें बहुत सी कथाएं ऐसी पाई गई हैं जो किंचित परिवर्तन के साथ भारतवर्ष के अन्य प्रांतों में भी प्रचलित हैं।

छद्म वेशी मानव या मानवेतर मानव की कहानी—

इस भूभाग की लोक कथाओं में मानव को छिपाकर विभिन्न जीव जन्तुओं के रूप में भी रखा गया है। और जिन्हें किसी घटना या क्रिया के द्वारा पूर्ण, स्वास्थ्य एवं सौंदर्य युक्त मानव के रूप में कथाकार ने पुनः प्रतिष्ठित कर दिया है। कहानी के इस नये मोड़ में लोक कला की चरम सीमा की अभिव्यक्ति होती है। अनार शहजादी अथवा बेलवा देवरान की लोक कथा मे राजकन्या का आविर्भाव अनार और बेल के फल से होता है। ऐसी कन्या पर अनेक विपत्तिया आती हैं और कानी मालिन या चमारिन की कूटनीति के कारण उसे विभिन्न स्वरूप

धारण करने पड़ते हैं। अन्त में रहस्य का उद्घाटन होता है और राजकुमारी को अपना वास्तविक स्थान प्राप्त होता है तथा खल नायिका को अपने किये पाप का फल भोगना पड़ता है। इस शैली की कथाओं में मैना कुमारी, ऊड़ावन जादू घोड़ा, चलता सुपारी, मुख बोलता पान, हंसता सुपारी, खेलता मृगा, धोवा चांउर, बंगला के पान, रूप के झाड़, कंचन के पान, हीरा के फूल, मोती के झाड़ आदि कथाएं आती हैं। इस प्रकार की कथाओं में कथाकार ने अपनी कल्पना का अद्भुत प्रदर्शन किया है और उसे सर्वथा स्वप्न लोक की चीज बना दिया है। कुछ कथाओं में रूपात्मक पहेली को भी स्थान मिला है। मानवी आत्मा को उसने इन कथाओं में अमर बताया है, और केवल उसमें रूप परिवर्तन होते दिखाया है तथा अन्त में उसे मानवीय रूप में कथाकार ने प्रस्तुत भी कर दिया है। कुछ कथाओं में सुन्दर राजकुमार अथवा राजकुमारी को अधिक कष्ट से गुजरते भी दिखाया गया है पर साथ ही दैवी कृपा को भी स्थान दिया गया है।

साहस, कौशल एवं चमत्कार की कहानी—

साहस, कौशल अथवा चमत्कार की कथा के नायकों के चरित्र में उक्त सब का प्रादुर्भाव होता है। कथाकार ने इस प्रकार की कहानियों में परिस्थिति को इस प्रकार से रखा है कि अयोग्य एवं अपात्र में स्वतः ही साहस का प्रादुर्भाव होता जाता है। इन कथाओं का विभाजन इस तरह से किया जा सकता है—

(१) मित्रों के द्वारा मित्र के लिए साहस का कार्य,
(२) अयोग्य पात्रों द्वारा परिस्थिति वश कौशल प्रदर्शन।
(३) राजा विक्रमादित्य के चरित्र में चमत्कारिक व्यक्तित्व का स्वरूप,
(४) छोटे पात्रों के द्वारा बड़े कार्यों एवं चमत्कारी कार्य की सफलता,
(५) स्त्री चरित्र में चमत्कार एवं साहस का प्रदर्शन।

इन समस्त कथाओं की चर्चा कर सकना यहां संभव नहीं है। यहां पर "राजा के तीन मित्र" शीर्षक लोक कथा की चर्चा की जाती है। इस कथा में राजा के तीन मित्र तीन दिव्य गुणों से संपन्न रहते हैं और इन्हीं गुणों के आधार पर वे अपने मित्र की खोज कर लेते हैं। इस कहानी की कथावस्तु इस तरह से है :—

एक राजपुत्र के तीन मित्र रहते हैं, इनमें एक बढ़ई का लड़का, दूसरा सुनार का लड़का और तीसरा लोहार का लड़का रहता है। ये चारो देशाटन को जाते हैं। जंगल में एक तालाब के किनारे राजपुत्र जैसे ही पत्थर पर बैठता है, वह पत्थर तालाब के अन्दर चला जाता है। वहाँ वह एक राक्षस को मारकर राजकुमारी से व्याह करके वापस आता है। इस राजकुमारी के सोने के बाल

रहते हैं। राजकुमारी एक दिन स्नान करते समय एक बाल टूटने पर, उसे नदी में बहा देती है, जिसे दूसरे देश का एक राजकुमार प्राप्त करता है और अपनी बुढ़िया कुटनी को भेजकर राजकुमारी को बहकाकर बुलवा लेता है। राजकुमारी जाने के पहिले बुढ़िया को उसके पति के प्राण जिस तलवार में निवास करता है उस तलवार को बता देती है। बुढ़िया उस तलवार को नष्ट कर देती है और राजकुमार मर जाता है। राजकुमार के तीनों मित्र दुःखित हो राजकुमार के शव को सुरक्षित रखते हैं और राजकुमारी की खोज में निकल जाते हैं। सुनार राजकुमारी को अपनी बनायी अंगूठी के द्वारा पहचान लेता है, लुहार तलवार में पालिश करके चमकदार बनाता है और राजकुमार को जीवित कर देता है और बढ़ई अपने बनाये उड़न खटोले में राजकुमारी और बुढ़िया को लेकर आकाश में उड़ता है और बुढ़िया को वहीं से गिराकर मार डालता है। फिर चारों मित्र राजकुमारी के साथ अपने देश वापस आ जाते हैं।

इसी तरह अन्य कहानियों में भी साहस और कौशल का प्रदर्शन हुआ है।

मूर्खता, चोरी एवं ठगी की कहानी—

इस अंचल में मूर्खता, चोरी और ठगी विषय पर भी पर्याप्त संख्या में लोक कथाएं मिलती हैं। इन कथाओं में मूर्खता के दुष्परिणाम भी बताये गये हैं। चोरी पर जो कथाएं मिलती हैं उनमें चोर के दुस्साहसपूर्ण कार्यों का उल्लेख रहता है। ठग से की जाने वाली ठगी असफल रहती है। परन्तु जहाँ ठगी धार्मिक विचार के आदमी से की जाती है, वहाँ पर ठगी सफल हो जाती है। किन्हीं किन्हीं कथाओं में मूर्खता और चोरी को एक साथ चित्रित भी किया गया है। इस श्रेणी की कथा में लेढ़वा चोर की कथा उल्लेखनीय हैं। डेड़सैल इस प्रदेश का एक दुस्साहसी चोर है। इसकी ठगी की कहानी की कथावस्तु संक्षेप में इस तरह से है :—

एक शहर के राजा की मृत्यु हो जाती है। दो ठग उसके पुत्र को ठगने के लिए षड़यंत्र रचते हैं। एक ठग राजदरबार में जाकर कहता है कि मृत राजा ने उससे रुपया उधार लिया था, उसे उसका पुत्र वापस करें। राजा के पुत्र को विश्वास नहीं होता है। तब ठग कहता है कि श्मशान में जाकर राजा से ही स्वयं पूछ लिया जाय। दूसरा ठग मुर्दा गाड़ने की जगह में छिपा रहता है और वहीं से कहता कि हाँ, 'मैंने रुपया उधार लिया था, उसे दे दिया जाय। मृतक राजा का पुत्र विश्वास कर लेता है और उसका रुपया दे दिया जाता है।"

ऐसी पापबुद्धि और धर्मबुद्धि की कहानी पंचतंत्र में भी मिलती है। वहाँ पर साक्षी के लिए वृक्ष का उपयोग किया जाता है, जहाँ पर पापबुद्धि का पिता पहले ही से छिपा रहता है। धर्मबुद्धि के द्वारा वृक्ष में आग लगाये जाने से उसकी ठगी सफल नहीं होती है किन्तु उपर्युक्त लोककथा में ठगी सफल हो जाती है।

मानवी-यौन भाव की कहानी—

यौन-भाव पर भी इस प्रदेश में पर्याप्त लोककथाएँ प्रचलित हैं। इस लेख में उनकी चर्चा नहीं की जा रही है।

नीति, सीख, बुद्धि, न्याय एवं सच्चरित्र मानव की कहानियां—

इस प्रदेश में मिलने वाली नीति एवं सीख की सारी कहानियाँ प्राय: कहावतों पर आधारित हैं, अथवा इन कहानियों के आधार पर नीति एवं सीख की उपलब्धि कर उन्हें कहावतों स्वरूप दे दिया गया है। इस प्रकार के नीति और सीख के कथानक के लिए मानव स्वभाव से प्रेरित घटनाओं को आधार माना गया है। इनके पात्रों में मानव एवं पशु-पक्षी दोनों समान रूप में आये हैं। पशु पक्षियों के जीवन में मानवी घटना एवं व्यवहार का आरोप करके नीति एवं सीख की रोचक कहानियाँ गढ़ी गयी हैं। कहावती कहानियों की संक्षिप्त तालिका इस रूप में बनायी जा सकती है—

क्र०	शीर्षक	नीति या सीख	कथानक की व्याख्या
१	जवानी न चीन्हय	नीति-प्रेम, प्यास, नींद एवं क्षुधा की शान्ति के लिए सामाजिक शील का ध्यान नहीं रखा जाता।	यह राजा के अंग रक्षक की उक्ति है। इस कथा में अंग-रक्षक ने राजा के विशेष कृत्य को बदलकर सामान्य मानव के कृत्य के रूप में प्रस्तुत किया है।
२	मारने वाला से बचाने वाला जबरदस्त।	बचाने वाला को ज्यादा शक्तिशाली माना गया है।	दो व्यक्तियों में होड़ लगती है कि अमुक में झगड़ा करा कर मरवा दूंगा और दोनों को बचा दूँगा। इसमें बचाने वाले की जीत बतायी गयी है।

वस्तुतः इस श्रेणी की कहानियों में नीति या सीख सार रूप में सूत्र बद्ध होकर लोगों में प्रचलित हैं। इनकी संख्या पर्याप्त हैं।

दानवों एवं राक्षसों की कहानी—

दानवों एवं राक्षसों को एक ही समाज का व्यक्ति छत्तीसगढ़ी कथाओं में माना गया है। ये सभी राक्षस अथवा दानव नर भक्षी बताये गये है। ये दूर से ही मनुष्य की गंध को सूंघकर उनकी उपस्थिति की जानकारी पा लेते है। ये दानव कहीं कहीं पूरे शहर के मनुष्यों को खा जाते हैं और कहीं इन राक्षसों के बचने के लिए लोगों ने प्रति दिन एक आदमी भेजने का नियम भी बनाया है। ये राक्षस अंत में मनुष्यों के हाथों पराजित होते हुए भी दिखाये गये हैं। दानव राक्षस एक दो कहानियों में मूर्ख मनुष्य के द्वारा भी पराजित हुआ है और उसको बदले में मनचाही वस्तु देकर छुटकारा पा लेता है। अतिबली और महाबली की कहानी में राक्षस इन दोनों भाइयों के द्वारा परास्त होकर मारा जाता है। लेढ़वा और दानव की कहानी में मूर्ख मनुष्य राक्षस से मनचाही चीज लेने में सफल होता है। राक्षस और मानव में व्याह संबंध भी होता हुआ बताया गया है। भीम ने भी राक्षस कन्या से व्याह किया था। राक्षसियों से उत्पन्न पुत्र नरभक्षिता का विरोध करते हैं। वे मानव समाज के प्रति ज्यादा आस्थावान हैं।

पंचतंत्री शैली की कहानी—

इस प्रदेश में अनेक लोक कथाएं ऐसी मिलती हैं जो पंचतंत्री शैली की हैं। कहा नहीं जा सकता है कि पंचतंत्र में लेखन पूर्व ये कथाएं इस प्रदेश में प्रचलित थीं अथवा पंचतंत्र की कथाओं का इस प्रदेश में प्रचार हुआ। इन कहानियों में लोक मानव के ज्ञान को विकसित करने का प्रयास किया गया है। कुछ कथाओं की तुलना-मूलक तालिका इस तरह से बनायी जा सकती है—

क्रमांक	छत्तीसगढ़ी कथा	पंचतंत्री कथा	स्रोत
१	बकुला और केकड़ा	क्षुब्ध बक कर्कटक कथा	पंचतत्र की प्रथम तत्र की ६ वीं कथा

विवेचनः—दोनों कथाओं में बगुले की पाखंड पूर्ण उक्ति पर विश्वास किया गया है। छत्तीसगढ़ी-कथा का बगुला पचतत्र के बगुले के समान विद्वान नहीं है। फलतः अपनी हत्या केकड़े से करा लेता है लेकिन दोनों में कथा समान रूप से विकसित हुई है।

२ खरगोश और बाघ सिंह-शशक कथा पं०, प्रथम-तंत्र ८ वीं कथा ।

विवेचन :—दोनों में समान कथानक की सृष्टि, विकास और अंत है।

३ (एक कोलिहा हुआ हुआ चंडरव बकद्रुम विकास और अंत है

तो सब कोलिहा हुआ हुआ शृंगार कथा प्रथम तंत्र १० वीं कथा

विवेचन :—छत्तीसगढ़ी में यह कथा कहावत के रूप में है जो किसी विशिष्ट जाति के स्वभाव को प्रगट करने के लिए प्रयोग की जाती है। पंचतंत्र में अपने आदमियों को दूर हटाने के अपमान के फलस्वरूप यह दृष्टान्त दिया गया है।

इसी तरह से अन्य कथाओं की भी तुलना की जा सकती है। ऐसी कथाओं की संख्या अनेक हैं, विस्तार के भय से इसे यहीं समाप्त किया जाता है।

पशु-पक्षी, वनस्पति, जीव, जन्तु पर पंचतंत्र शैली की कहानी—

इस कथा-विभाग में, पशु-पक्षी संबंधी वे समस्त कथाएं आ जाती हैं जिनकी विवेचना अब तक नहीं की गयी है। इन कथाओं के प्रमुख पात्र पशु-पक्षी ही हैं। यद्यपि मानव भी इन कथाओं में पात्र के रूप में आये हैं तथा मानव के साथ महादेव भी पात्र के रूप में इन कथाओं में विराजते हैं। ये पशु पक्षी इन कथाओं में मनुष्य के समान ही व्यवहार करते हैं। इन कथाओं के कुछ शीर्षक इस तरह हैं :—

(१) चूहे और चूहिया की मृत्यु पर शोक-प्रदर्शन
(२) कौवा का उद्योग
(३) चूहा की प्रताड़ना और चुहिया का आनन्द
(४) भैंसे के खड़इया ठुठु गरत हैं
(५) सियार और मुरगी का बच्चा
(६) चींटी और चांटा
(७) कौवा का चोंच धोना
(८) सुरही गाय और रावत
(९) कोलिहा और बन्दर
(१०) चरटंग और दसटंग
(११) कोलिहा और शेर का तैरना
(१२) सियार राजा का पानी पर प्रतिबन्ध आदेश

१—कोलिहा अर्थात् सियार

(१३) ठग बुचवा कोलिहा

(१४) पयली और पयला

(१५) महोदव और सियार

(१६) कुस बहन

(१७) बन्दर और दानव

(१८) ढेला और पान

(१९) कुत्ता, बिल्ली और साँप

(२०) बंडा शेर

(२१) घर घर छपक

(२२) आकाश पाताल का ब्याह

(२३) बदमाश भालू आदि

इन कथाओं का विवेचन अलग-अलग कर सकना संभव नहीं है। अतएव इनमें आये हुए पात्रों का विवेचन संक्षेप में यहाँ किया जा रहा है:

शेर:

लोककथा में शेर को शक्तिशाली बताया गया है परन्तु इसके साथ ही साथ उसे मूर्ख भी बताया गया है। शेर अपनी मूर्खता के कारण बकरे से हार मान लेता है। एक चतुर नाई शेर के सामने दर्पण दिखाकर तथा नाच कर उसको डरा देता है। शेर को लोक कथाकार ने कृतघ्न भी बताया है। वह अपने पर किये गये उपकार को नहीं मानता और स्वस्थ होने पर अपने जीवनदाता को खाने के लिए तैयार हो जाता है। शेर बैल से पराजित होते हुए भी बताया गया है और यह पराजय शेर की मूर्खता का कारण है।

हाथी:

हाथी के चरित्र में मित्र के लिए जीवन का त्याग करते हुए दिखाया गया है। हाथी बहुत ही गंभीर और शीलवान प्राणी है। वह अपने सूप जैसे कान में गौरैया द्वारा बनाये गये घोंसले को भी नष्ट नहीं करता है। सियार के भूखा होने पर उसे अपने शरीर के भीतर के मांस को खाकर पानी पीने तक की अनुमति दे देता है, यद्यपि ऐसा करते समय उसकी मृत्यु हो जाती है।

भालू :

भालू का चरित्र भी कथाओं में एक सच्चे प्राणी के रूप में चित्रित किया गया है। भालू की अपेक्षा मनुष्य को कृतघ्न बताया गया है। एक वृक्ष में शेर के भय से एक राजकुमार और एक भालू चढ़ जाते हैं। और वे रात भर बारी-बारी से पहरा देते हैं। जब राजकुमार सो जाता है और भालू पहरा देता है उस समय शेर भालू से कहता है कि वह राजकुमार को नीचे गिरा देवे; परन्तु भालू अस्वीकार कर देता है। यही बात राजकुमार के पहरे की बारी में शेर कहता है तब राजकुमार भालू को गिराने के लिए तैयार हो जाता है। भालू मनुष्य पर विश्वास न करते हुए जागते हुए सोता है और अपना प्राण बचा लेता है।

सियार :

सियार का चरित्र अनेक लोक कथाओं में वर्णित हुआ है। सियार सभी कथाओं में चतुर प्राणी के रूप में अभिव्यक्त हुआ है। सियार की बुद्धि के सामने बन्दर भी पराजित हो गया है। सियार महादेव को भी ठग लेता है और हाथी के प्रति कृतघ्नता का व्यवहार करता है। सियार शेर का भी विनाश करता है। सियार खलिहान में आग लगाकर भूने गये बकरे का मांस भी खा जाता है। पूंछ-कटा सियार तो शैतान बताया गया है।

बैल :

कथाओं में बैल को कुछ बुद्धि रखने वाला प्राणी बताया गया है। एक लोक-कथा में किसान के द्वारा दिन भर जोते जाने से बैल बड़ा दुखी है। फलतः वह महादेव के नन्दी से कहकर किसान को धूम्रपान की लत लगवा देता है जिससे किसान के बैल को किसान द्वारा धूम्रपान किये जाते समय आराम करने को मिल जाता है।

सुरही गाय :

व्रत अनुष्ठान की कथा में बहुरा गाय की कथा आती है जो शेर को अपने प्राण देने का वचन देकर उसे पूरा करती है। सुरही गाय जंगल में रहने वाली गाय है। जो दुखी मनुष्य उसकी शरण में चला जाता है उसकी वह पूरी रक्षा करती है। एक रावत इसी तरह से सुरही गाय की शरण में जाकर अपना जीवन सुरक्षित बना लेता है। सुरही गाय ने रावत को एक बंशी दी थी जिसके बजाने से यह आवाज निकलती है–

"बाजे बाजे वंशी, रूपे के ठेठी, बंधन परिगे तोर गोसंइया, दौड़ा दौड़ा सुरही गाय के पीला गोहार।"

घोड़ा :

खड़ाखनजादू घोड़ा में राजकुमार छिपा रहता है। आकाश में उड़ने वाले घोड़ा का भी उल्लेख मिलता है। लीली हंसा घोड़ा तो लोककथा का प्रिय घोड़ा है जो बार-बार आता है।

कुत्ता :

लोककथा में कुत्ता स्वामीभक्त जानवर के रूप में आया है। बंजारा के कुत्ता की कथा तो अति प्रसिद्ध है जिसके संबंध में अनेक स्थानों में कुत्तों का मंदिर होने की बात बतायी जाती है। कुत्ता कथा में सहन शील जानवर के रूप में आया है। जबकि बिल्ली कौवे के द्वारा चोंच मारने पर चिल्ला उठती हैं। बूचा कुत्ता हलवाई दुकान की मिठाई रोज चुरा कर खाता है और अन्त में एक दिन मारा जाता है।

बिल्ली :

लोक कथा में बिल्ली भी अनेक स्थानों में नायिका के रूप में आती है। एक कथा में एक बिल्ली बनारस में जाकर गुरु बनाने की बात कहती है और चूहों को चेला बनाने का प्रयास करती है। उस समय बिल्ली नाचते हुए यह गीत गाती है:—

गुरू बना ला भाई, हमला गूरा बना ला हो।
माँस मछरिया छाड़ेन अउ छाड़ेन तइहा के चारा,
बनारसो मा गुरू बनायेन पहिरेन कंठी माला।

जब इस बिल्ली का बाजा "घर घर छपक" आवाज करते हुए बज रहा था तब एक सयाने चूहे ने दूसरे चूहों को कपटी बाजा कहकर सावधान किया।

लोक कथाओं में इसके अतिरिक्त जिन पशु पात्रों का उल्लेख हुआ है उनमें चूहा और चुहिया, सर्प, मछली, चींटी और चाँटा, कौवा, मुर्गा, आदि पात्र आते हैं।

किंवदन्ती लोक कथाएं :

इस प्रदेश में किंवदन्ती लोक कथाएँ बहुत बड़ी संख्या में मिलती हैं जो इस प्रदेश के महान सन्त, महात्मा, वीर, देवी, देवता, मंदिर, देवालय, नदी.

पहाड़, स्थान, नगर, तथा प्राचीन इतिहास को व्यक्त करती हैं। इन कथाओं की तालिका इस तरह से बनायी जा सकती है :-

क्र०	स्रोत	प्रकार	स्मृति चिन्ह	व्याख्या
(१)	दंतेश्वरी देवी	धार्मिक	बस्तर राज्य की देवी	बस्तर राज्य में अन्ना देव की सेना को वस्त्र दे कर इस देवी ने विजय प्राप्त करायी थी। इसीसे बस्तर राज्य में इस देवी की बड़ी मान्यता है
(२)	खलारी-देवी	धार्मिक	महासमुंद से ६ मील दूर पहाड़ी में स्थित	खलारी देवी सुन्दर षोडसी का रूप धारण कर बाजार आती है जिसे देख एक बंजारा मुग्ध होकर अपना प्राण गंवाया
(३)	खमदई दाई	धार्मिक	नैला रेलवे स्टेशन से १५ मील दूर पहाड़ी पर	इसकी भी कथा खलारी देवी से मिलती जुलती है।
(४)	महामाया-देवी	धार्मिक	रतनपुर में मंदिर	महाराज रत्नदेव को रतनपुर को राजधानी बनाने में इसी देवी ने उचित स्थान बताया।

इस श्रेणी में अनेक कथाएँ आती हैं, उन सबों का विवेचन यहाँ पर विस्तार भय से नहीं किया जा रहा है।

लोक कहावतें :

लोक कहावतें ज्ञान के सूत्र हैं जिसे लोक मानव ने अपने अनुभव से जाना

और बनाया है। इन्हीं कहावतों का ज्ञान प्राप्त करने को, लोक जीवन में कढ़ना कहा जाता है। मनुष्य सबसे प्रथम अनुभव अपने परिवार से प्राप्त करता है, इसलिए इन कहावतों में पारिवारिक मानव का स्वरूप प्रकट होता है। इस श्रेणी की कहावतों में स्त्री–पुरुष, पिता-पुत्र आदि अनेक वस्तुओं और घटनाओं पर अनुभव जनित ज्ञान गूंजता रहता है।

पिता – बाप खाय घीव बेटा बखत सूंघ ले।

पुत्र– गहूँ के रोटी टेढ़वा नीक, अपन कनवा खोरवा बेटवा नीक।

स्त्री– खाटे तिरिया मुई मलार, एदेखा कलजुग बेपार।

परिवार के बाद मनुष्य का संबंध कुटुम्ब से आता है, इसलिए इन कहावतों में कौटुम्बिक मानव का स्वरूप अभिव्यक्त होता है।

दामाद–असी दमाद बर खसी, परदेसी दमाद बर बोकरा।

घर दमाद बर केकरा भुंजावे ठुठुर ठुठुर चाबे बपुरा।

ससुरार– लोहा के चना मैन के दाँत, ते खाय ससुरार के भात।

विधवा–राड़ी डेरुवावय कांड़ी बर, झन आबे दुखहाई कूटे बर।

सामाजिक मानव के अन्तर्गत मित्र, पड़ोसी आदि लोग आते हैं, इन कहावतों में इनका स्वरूप और गुण का विवेचन हुआ है, उदाहरण–

मित्र–गंवई के चिन्हार, अउ सहर के मितान।

पड़ोसी-पड़ोसी के बूती साँप नई मरय।

इस प्रदेश के कहावतों में वेश्या को केवल पैसा की साथिन बताया गया है। चोर के माल को चंडाल को खाते हुए बताया गया है। दगाबाज को तो चोर से ज्यादा खतरनाक बताया गया है। उससे भेंट नहीं होने की कामना इन कहावतों में की गयी है। राजा को लोक में सबसे ऊंचा स्थान दिया गया है, जैसे भुंजवा तेली के साथ राजा की तुलना नहीं की जा सकती। अंगविहीन मानव पर जो कहावतें मिलती है उनमें लंगड़ा और काना को बहुत ही उपद्रवी बताया गया है। अंधा को हमेशा हरा ही दिखायी देने वाला प्राणी माना है। बहरा की समझ की हंसी उड़ायी गयी है। धार्मिक मानव के अन्तर्गत साधु सन्यासी, बैरागी आदि लोग आते हैं। इन कहावतों में साधु पर बहुत बड़ा व्यंग्य कसा गया है। एक पाँव के साधु के पास सवा सेर के शंख को देखकर अथवा भुक्कड़ साधु के गले में रुद्राक्ष की माला को डूमर फल की माला कहकर लोक कहावतकार उसकी हंसी उड़ाने में पीछे नहीं रहता है। निर्बल मानव की दयनीय स्थिति का चित्र भी इन कहावतों में मिलता है। गरीब की औरत को सब लोग "भौजी" कहकर मजाक उड़ाते हैं। किसी

को बहुत समय तक शृंगार करते देख लोक कहावतकार कह उठता है कि "नव मन तेल जर गया फेर सिंगार नइ होइस"। जातीय धंधे संबंधी कहावतों में जातिगत गुणों का संकेत किया गया है। जैसे:–

ब्राह्मण—बारा बाम्हन तेरा चूलहा।

रावत—कतको राउत पिंगल पढ़य, बारा भूत के चाल चलय।

गड़ेरिया– एक तो अइसे गड़ेरनिन तेमा लसून खाये।

बनिया—ठलहा बनिया का करय, यें कोठी के धान वो कोठी मा धरय।

नाई—आदमी मा नउवा, पंछी मा कंउवा।

कुत्ता– बाम्हन, कूकुर, नाऊ, जात देख गुर्राऊ।

हिन्ती बिन्ती ठाकुर माने, बाम्हन माने खाए।
नीच जात लतियाए माने, कायथ माने पाए।

साझेदारी तथा धन हीन मानव पर भी कहावतें मिलती हैं। साझेदारी को कहावत को हानिप्रद बताया गया है। साझे में खरीदे गये बैल पर कीड़ा पड़ जाता है और वह मर जाता है।

पशु-पक्षी तथा जल-जन्तु पर जो कहावतें मिलती है, उनकी शैली अन्योक्ति जैसी है। आशय यह है कि ये कहावतें तो विभिन्न प्राणी वर्गों पर कही गयी हैं परन्तु इनके अर्थ में किसी दृष्टान्त के माध्यम से मानवीय क्रिया कलाप या भावनाओं का प्रभाव निहित है। ऐसी कहावतों में विशेष प्राणी के भाव को सामान्यीकृत कर लिया जाता है। इन कहावतों में दूसरी प्रवृत्ति कहानी मूलक है। इनके पीछे पंचतंत्रीय कहानी शैली का सूत्र मिलता है। परंतु प्राणी वर्ग के माध्यम से लोक कहावतकार ने दृष्टान्त की रचना की है। पहिली प्रवृत्ति के अन्तर्गत आने वाली कहावतों की तालिका इस तरह से बनायी जा सकती है:–

क्रमांक	कहावत	आशय अन्योक्ति	अन्योक्ति
(१)	जल में रहिके मगर ले बैर	जल में रहकर मगर से बैर नहीं करना चाहिये।	बलवान के आश्रय में रह कर उससे विरोध नहीं करना चाहिये।

(२) दहरा के मछरी भाठा मा मोल	जल की गहराई में मछली और बाहर उसका मूल्य किया जा रहा है।	अप्राप्य वस्तु का उपभोग करने पर विचार
(३) मंजूरवा के आँजत आँजत खुसरूवा राज ले लेइस।	मंजूर पक्षी के शृंगार करते तक खुसरू पक्षी राज्य ले लेता है।	शृंगार में समय बिताने वाला नुकसान में रहता है।

इस श्रेणी के अन्तर्गत और अनेक कहावतें आती हैं। उन सबका विवेचन विस्तार भय से यहाँ नहीं किया जा रहा है।

देवी-देवता और भूत-प्रेत पर भी कहावतें मिलती हैं। इन कहावतों में लोक जीवन में व्याप्त आलोचन प्रवृत्ति, या बराबरी करने की भावना स्पष्ट होती है। ठाकुर देव भी मटिया देव द्वारा ठगा जाता है। इस कहावत में ठाकुर देव के देवत्व की आलोचना है। यदि वह सचमुच का देव है तो मटिया भूत उसको कैसे ठग सकता है! उदाहरणार्थ कुछ कहावतों का अवलोकन कीजिए—

दूलहा देव—कहाँ शबरी नारायण अउ कहाँ दुल्हा देव अर्थात् कहाँ विष्णु भगवान और कहाँ ग्राम देव।

झूठा देव— लबरा देवता अउ खरी के अठवाही अर्थात् झूठा देवता और उसके लिए खली का नैवेद्य।

पूजा— बद राखे नरियर अउ फोर चढ़ावे बेल अर्थात् देवता के ऊपर नारियल चढ़ाने की मानता मानी पर चढ़ाया बेल का फल।

भूतों पर भी कहावतें कही गयी हैं। जैसे, भूत मार के डर से भागता है। भूत भाग्य के हल को भी चलाता है। बहेरा वृक्ष का भूत बहुत घुमक्कड़ होता है, आदि

अन्न रोटी, भूख प्यास पर भी कहावतें मिलती हैं, "चार कौंर भीतर तो देव अउ पीतर"। जब तक पेट नहीं भरा है तब तक देव और पितर की पूजा नहीं की जा सकती है। कहावतों में गरीबी भी चित्रित हुई है। घर में खाने के लिए पेज तो पूरा नहीं पड़ता है और मेहमान पानी निकाला हुआ चाँवल खाना चाहता है। गेहूँ की रोटी में इतना प्रभाव है कि इसको खाने वाले लोग अपने माता पिता तक को भूल जाते हैं। पेट को लोक कहावत में ऐसा बताया गया है जो नित्य प्रति भरे जाने के बाद भी हमेशा खाली ही मिलता है।

नीति और उपदेश पर भी कहावतें मिलती हैं। कृषि स्वास्थ्य और प्रकृति पर भी प्रचुर मात्राए में कहावतें हैं। कृषि पर कुछ कहावतें अवलोकनार्थ प्रस्तुत हैं :-

कृषि–खेती अपन सेती।

मघा– मघा के बरसे अउ माता के बरसे।

धान–बाल बियासी रोपा धान, लेके मूंसा पछीने आन।

लोक पहेलियां––

छत्तीसगढ़ की लोक पहेलियों के विषय अनेक हैं पर ये सभी विषय लोक जीवन और ग्रामीण वातावरण से संबद्ध हैं। पहेली में मानव के अंग प्रत्यंग एवं घरेलू उपयोग की वस्तुओं का विवेचन मिलता है। मानव के कृषि संबंधी हथियार भी पहेली में विषय बनकर आये हैं। मानव से बाहर पशु-पक्षी एवं सामग्री वर्ग भी लोक पहेलियों में उपस्थित हैं। विषय के अनुसार पहेलियों के निम्न प्रकार विभाग किये जा सकते हैं।

(१) स्वयं मानव के रूप में
(२) मानव शरीर पर आधारित
(३) खाद्य पदार्थ पर
(४) घरेलू वस्तु पर
(५) कृषि संबंधी
(६) जाति-व्यवसाय संबंधी
(७) गृह निर्माण संबंधी
(८) ग्रामीण वातावरण पर आधारित
(९) प्राकृतिक वस्तुओं पर
(१०) अति आधुनिक वस्तुओं पर

पहेलियों में छोटी वस्तुओं को बहुत बड़े रूप में देखने की कल्पना की गयी है। एक पहेली में रेमटZ को राजा के रूप में बताया गया है। उसे शंभु राजा कहा गया है। एक पहेली में जीभ मछली के रूप में बतायी गयी है। ऊपर और नीचे दांतों को पचरीH मान लिया गया है। हंसते समय दाँत दिखते हैं इसलिए उसके स्वरूप के आधार पर उसको खीरे का बीज

Z—नाक का बहने वाला मैल

H—तालाब की सीढ़ी

कुछ ऐसीं पहेलियाँ भी हैं जिन्हें सुनकर उस प्रतिपहेली पूछी जाती है और उसका समाधान पहेली में ही किया जाता है। एक समय ससुर ने अपनी बहू से जो पानी लेने तालाब को जा रही थी एक पहेली पूछी :

जेकर पीए महिंगल माते, अउ पेरावे घानी।
ए हाना ला जानिहा बहु, तम्भे जाहा पानी ।

इसे सुनकर बहू ने भी ससुर से पहेली पूछ दी—

बाप बेटा के एक्के नाव, नाती के नाव अउरे ।
ए हाना ला जाने के ससुर, तभे उठाहा कउरे ।

ससुर जी भोजन की थाली पर बैठे थे परंतु अब उनका भोजन करना रुक गया और बहू का पानी लाना रुक गया । दोनों एक दूसरे के द्वारा पूछी गयी पहेली का उत्तर नहीं दे पा रहे थे। तब उसी समय उसका लड़का आ गया और उसने दोनों की पहेली का उत्तर देते हुए कहा—

बाप के नाव से बेटा के नाव, अउ पेरावे घानी ।
तू तो ददा कउर उठावा, तू जाव बहुरिया पानी ।

दोनों के द्वारा कही गयी पहेली का उत्तर एक ही है और वह है 'महुवा'। अब उन्हें अपना अपना काम करना चाहिये ।

कुछ लोक पहेलियों में अनुप्रास की भी छटा पाई जाती है। ऐसी पहेलियाँ घटना मूलक पहेलियों के अंतर्गत आती हैं । एक समय एक तालाब में एक भैंसा बैठा रहता है । उसके ऊपर एक मेंडक आकर बैठ जाता है। इसी बीच में आकाश में उड़ता हुआ एक गिद्ध आता है और शीघ्रता से वह मेंडक को पकड़ कर उड़ जाता है। इस घटना पर जो पहेली कही गयी है, वह इस तरह से है—

चार गोड़ के चापक चिपो, तेमा बइठे निपो ।
आगे ठिपो लेगे निपो, बइठे चापक चिपो ।

इस पहेली में 'पो' की बहार है ।

इस तरह से छत्तीसगढ़ी लोक-पहेलियों में इस प्रदेश की मानव प्रवृत्तियां अपनी संपूर्ण स्थिति और वातावरण के साथ मुखरित हुआ है ।

प्रकीर्ण-लोकसाहित्य

छत्तीसगढ़ अंचल के बच्चों में अनेक लोक-खेल प्रचलित है, इन्हें खेलते समय परंपरागत तुकबन्दियों का प्रयोग किया जाता है। यह भी प्रकीर्ण लोक

साहित्य के अंतर्गत आता है। खेल के अतिरिक्त अन्य अवसरों पर भी इन और ऐसी ही तुकबन्दियों का प्रयोग किया जाता है। इनका विभाजन इस रूप में किया जा सकता है—

(१) शिशुओं को खेलाते समय के गीत
(२) खेलों के साथ गाये जाने वाले गीत
(३) किसी कार्य को करते समय अथवा कार्य कराने के गीत
(४) अन्य को चिढ़ाने के गीत
(५) अनुकरण के आधार पर रचित गीत—

बच्चों को खेलाते समय के गीत में चंदा मामा का गीत प्रसिद्ध है। इस गीत में चन्दा को भूमि पर उतार कर आने की बात कही जाती है और बच्चों के लिए खीर-सोंहारी लाने की बात कही जाती है। बालक चन्द्रमा को देखकर उसको अपना मामा समझ कर सचमुच प्रसन्न हो जाता है।

खेल के गीतों में अनेक गीत खेल के पहले गाये जाते हैं और अनेक खेल के बीच में। खेल के पहिले गाये जाने वाले गीतों में मुर्गा गीत प्रसिद्ध है। इसमें पूछा जाता है कि यह किसका मुर्गा है। यह संवाद काफी समय तक चलता है। अन्त में जिसका नाम निकलता है उसी को गोलाकार के बीच जाकर सब बच्चों को पकड़ने का काम करना पड़ता है। कबड्डी खेल में मध्य में गीत गाया जाता है जब दूसरे दल का लड़का पहिले दल में कबड्डी करने जाता है।

लड़कियों के फुगड़ी खेल में केवल प्रारंभ में गीत गाया जाता है। कसम उतारने के लिए भी बच्चे गीत का प्रयोग करते हैं—

नदिया के तीर तीर पान-सुपारी।
मोर किरिया भगवान उतारी।

और विश्वास करते हैं कि उन्होंने जो कसम खायी थी वह झूठी हो गयी है। बाल मनोविज्ञान के अध्ययन के लिए लोक साहित्य का यह अंग बड़ा उपादेय है। इसमें बच्चों के बाल सुलभ स्वभाव का परिचय मिलता है।

इस तरह छत्तीसगढ़ के लोक साहित्य में इस प्रदेश का जन जीवन अपनी समस्त विशेषताओं के साथ मुखरित हुआ है।*

---

*डा० चंद्रकुमार अग्रवाल के सौजन्य से

२६

छत्तीसगढ़ की सांगीतिक उपलब्धियां

छत्तीसगढ़ का अधिकांश क्षेत्र अरण्याच्छादित रहा है जहाँ आदिमजाति निवास करती आ रही है। अतएव सदैव से यह जन उक्ति अपरिवर्तित रूप से प्रचलित है कि छत्तीसगढ़ भारत का पिछड़ा हुआ क्षेत्र है। किंतु यदि हम छत्तीसगढ़ को आधुनिक भौतिक सभ्यता के तुलनात्मक माप से नाप कर उसकी निजी उपलब्धियों की गहनता, महानता और मौलिकता के आधार पर उसका मूल्यांकन करें, तो उपर्युक्त दृष्टिकोण अनुदार एवं अज्ञानतापूर्ण प्रतीत होगा।

सांगीतिक उपलब्धियों का उद्धरण प्रस्तुत करते समय हमें यह ध्यान में रखना चाहिये कि संगीत का अर्थ केवल गायन ही नहीं वरन् वादन एवं नृत्य भी है। अतएव सांगीतिक उपलब्धियों के विवेचन में इन तीनों का समावेश स्वभाविक ही होगा।

विकास की दृष्टि से संगीत के दो स्वरूप हैं—लोक संगीत और शास्त्रीय संगीत। लोक संगीत शास्त्रीय संगीत की जननी है। शास्त्रीय संगीत के वैज्ञानिक अध्ययन के आधार पर किया गया है परंतु लोक संगीत का सृजन निसर्ग की प्रेरणा से मानवीय भावों की अभिव्यक्ति के द्वारा हुई है। अतएव यदि हम यह कहें कि शास्त्रीय संगीत कृत्रिम अथवा कलाकृत है और लोक संगीत प्राकृतिक है, तो कोई अनुचित न होगा। इसलिये जिस शास्त्रीय गायन में प्राकृतिक लालित्य, सरलता एवं सरसता का अभाव और कृत्रिमता की प्रधानता जिस मात्रा में रहती है उसी मात्रा में शास्त्रीय गायन अरुचिकर और अनाकर्षक होता है।

मानवीय जीवन के विकास में भौगोलिक परिस्थिति एवं वातावरण का अमिट संबंध रहा है। मानव-संस्कृति एवं अन्य कलाओं की भांति लोक-संगीत वन उपवनों में फूलता फलता रहा है। वनवासियों के संगीत में नृत्य की प्रधानता रही है। उनके लोक नृत्य मानव जीवन के अविकसित काल की

वह अविछिन्न कला है जिसका निर्माण मानव ने अपने जीवन के विभिन्न स्तरों पर अपनी रुचि और स्वाभाविक विकास के साथ किया। देवेंद्र सत्यार्थी के शब्दों में "इन लोक नृत्यों के बोल स्वयं धरती के बोल बन जाते हैं, उनकी धुन वृक्षों और खेतों की धुन बन जाती है। लगता है जैसे सारी पृथ्वी स्वयं नाच रही है। इनके लोक नृत्यों को बारबार देखकर भी मन कभी तृप्त नहीं होता। वनवासियों के सारे नृत्य राग-रागनियों से संपन्न होते हैं। संगीत उनका प्राण है। उसके बिना नृत्यों का अस्तित्व ही मिट जाता है, इसलिये उनके सारे नृत्यों को नृत्यगीत ही कहना उपयुक्त होगा।"

नृत्य गीतों की परम्परा में बस्तर के वनवासियों का "करमा" विश्व के महान लोक नृत्यों में स्थान पाने की क्षमता रखता है। इस नृत्य में भाग लेने वाले स्त्री पुरुष तन मन की सुधि भूलकर अपनी आशा और उमंगों को ऐसे उड़ेल देते हैं कि दर्शकगण उनकी मादकता में चूर हो जाते हैं। ढोलिये इस अंदाज और ताल से ढोल बजाते हैं कि उसके स्वर में मनमुग्धकारी पुलक का सा जादू होता है। लोक गीतों का कवि वास्तव में कवि नहीं किंतु गायक होता है।

शैला और रीना छत्तीसगढ़ के वनवासियों के दूसरे प्रधान नृत्यगीत है। शैला पुरुषों का और रीना स्त्रियां का नृत्यगीत हैं। दशहरा नृत्य शैला नृत्य ही है। दीवाली में इन दोनों प्रकार के नृत्य होते हैं उनका 'परना' नृत्य पंजाब के भांगड़ा नृत्य से बहुत कुछ मिलता है।

वनवासी जन्म से ही बिना किसी विशेष शिक्षा के इन लोक नृत्यों में दक्ष पाये जाते हैं। ये लोक-नृत्यगीत हमारी पुरातन संस्कृति के जीते जागते प्रतीक हैं।

वनवासियों की उपरोक्त विशिष्ट सांगीतिक उपलब्धियों के अतिरिक्त छत्तीसगढ़ के ग्रामीण एवं शहराती क्षेत्रों की सम्मिलित विभिन्न लोक-संगीत भी अपना विशेष महत्व एवं आकर्षण रखता है।

देवार गीत : छत्तीसगढ़ के देवार जाति के लोग बहुजीवन व्यतीत करते हैं। इनके द्वारा रचे और गाये जाने वाले गीतों की मनोरंजक कौतुहलपूर्ण कहानियाँ जिनमें प्रेम और वीरों की अनोखी घटनाओं का वर्णन रहता है, साहित्य की मधुर एवं सजीव अभिव्यक्तियाँ हैं। ऐसे प्रेम और वीर गाथाओं को छोटी घुंघरूयुक्त एक चिकारी बजाकर विशिष्ट धुन में देवार लोग तन्मय होकर गाते हैं। यह छत्तीसगढ़ का पोवाड़ा (एक मराठी धुन) है।

ददरिया :—ददरिया ग्राम गीतों की रानी है। खेतों से कृषि कार्य करके लौटते समय ग्रामीण युवक-युवतियों की टोलियों के बीच जो एक दूसरे से दूर रहती हैं बहुत उच्च स्वर में ददरिया गीतों में प्रतिद्वंदात्मक उत्तर प्रत्युत्तर होते रहते हैं। ददरिया के पदों की तत्काल रचना अपढ़ ग्रामीणों की प्रतिभा सम्पन्न मस्तिष्क का प्रमाण है। उर्दू के शेरों की तरह ददरियों में श्रृंगार रस की रचनाएं की जाती हैं। इसमें तुकबंदी की विशेषता होती है।

सूवानृत्य :—यह केवल स्त्रियों का नृत्य है जो दीवाली के अवसर पर किया जाता है। एक टोकनी में शंकर-पार्वती के प्रतीक सुवा और जलता हुआ दीप रख कर ग्रामीण स्त्रियाँ सुवागीत गाते हुए हाथों से तालियाँ बजा कर, झुककर दायें बायें झूमती हुई उस टोकनी के चारों ओर वर्तुलाकार नाचती हैं। छत्तीसगढ़ के कंठ गीतों की परंपरा में सुवागीत का अपना विशिष्ट स्थान है। ये गीत विशेषतया करुण रस युक्त होते हैं।

डंडानृत्य :—यह नृत्य केवल पुरुष वर्ग ही करते हैं। नृत्यकार दोनों हाथों में एक दूसरे के डंडे पर तालयुक्त प्रहार करते हुए वे समूह में गोलाकार घूम-घूम कर कई आकृतियों में नाचते हैं। यह नृत्य दशहरा और होली के अवसर पर प्रातः किया जाता है।

अहीर नृत्य :—यह प्रायः गाय चराने वाले रावतों का नृत्य है। बाजे की धुन और ताल में टोलियाँ के द्वारा यह नृत्य मालिकों के आँगनों में किया जाता है। वे पैरों में एक विशेष ढंग के पैंजन, कमर में बड़े घुंघरू, कंधों या पगड़ी पर मोर पंख के गुच्छे या गेंदाफूल के हार, बदन पर कौड़ी जड़ित कवच, नवीन रंगीन चुस्त कच्छ और हाथों में डंडे ढाल आदि से सुसज्जित रहते हैं। नाच के बीच बीच में स्वरचित या प्रचलित सुंदर दोहों की हाँक लगाते हुए वे नृत्य करते हैं। इन नृत्यों की लय और नर्तकों की छबि निराली होती है।

नाच मंडली :—गांवों में कहीं कहीं पुरुषों द्वारा नाच-गान मंडली गठित की जाती है जिसमें एक किशोर श्रृंगार करके नर्तकी बनता है, एक दो विदूषक, तबला, चिकारा, हारमोनियम और मंजीरा वादक और अन्य सहायक पात्र रहते हैं। ये अपने नृत्यों के साथ प्रहसन युक्त सामाजिक एकाकी प्रस्तुत करते हैं, जिन्हें 'सवांग' कहते हैं। यह नृत्य गणेश, मंडई और अन्य मांगलिक अवसर पर कराया जाता है। यह मंडली सपूर्ण रात्रि भर लोगों का मनोरंजन करती है और प्रत्येक रात्रि के नाच के लिये तीन चार सौ रुपये लेती है। इसे छैला नृत्य या गम्मत भी कहते हैं।

बांस गीत: :—गांवों का यह भी एक लोक प्रिय गीत है। इसमें करीब तीन फुट लंबे बाँस की बाँसुरी के समान एक वाद्य होता है जिसमें से वादक दो तीन स्वर युक्त एक गंभीर धुन बजाता है और साथ में बीच-बीच में कुछ ग्रामीण लोक गीत गाये जाते हैं।

होली गीत :—वसंत ऋतु के आह्लाददायक और रंगीन वातावरण में होली त्योहार के अवसर पर लोग आत्मविभोर एवं उन्मत्त हो कर जिस भांति नृत्य और गान में तल्लीन हो जाते हैं, वह अकथनीय है। नगारों के ताल और मंजीरों के झंकार के साथ राधा कृष्ण की लीलाओं के वर्णनयुक्त भाव भंगियों से भरे होली की सामूहिक गीतों से शहरों और गाँवों का वातावरण गूंज उठता है। लोग रंग गुलाल से सराबोर भांग के मस्ती में झूमते रहते हैं।

माता सेवा गीत

इन गीतों में शीतला माता की स्तुति रहती है। वस्तुत: ये भजन हैं जो माता निकलने पर रुग्ण की सेवा और मनोरंजन के ख्याल से विशेष गठित मंडलियाँ द्वारा गाये जाते हैं। ये गीत कभी बिना किसी वाद्य के और कभी ढोलक, डफली, खंजरी, घुनघुने आदि वाद्यों के साथ गाये जाते हैं। ये गीत माता-देवालय या जिनके घरों में शीतला निकलती हैं मंडली के द्वारा गाये जाते हैं।

अब छत्तीसगढ़ के उच्च वर्गीय समाज में प्रचलित उन गीतों का उल्लेख किया जा रहा है जो ग्रामीण तथा बनवासी लोक गीतों और शास्त्रीय संगीत के बीच की कड़ी कहे जा सकते हैं।

नवरात गीत

आश्विन माह में नवरात्रि के अवसर पर कुवाँरी कन्यायें शंकर पार्वती की स्थापना करके सामूहिक आराधना के हेतु किसी एक स्थान पर मुहल्लेवार एकत्र होती हैं। वे अनेक प्रकार के फूल एक-एक बाँस की पर्रों में सजा कर दीवाल पर संध्या की मूर्ति खचित कर उसके अर्ध वर्तुलाकार बैठ जाती हैं और एक विशेष गीत के प्रत्येक आवर्तन पर एक-एक प्रकार के फूल सामूहिक रूप से चढ़ाती जाती हैं, उस गीत में प्राय: पार्वती की स्तुति रहती है।

गौरी और विवाह गीत

विवाह के विभिन्न रस्मों के अवसर पर स्त्रियाँ अलग-अलग प्रकार के मंगल गीत गाती हैं। इन्हें विवाह गीत कहते हैं। बरातियों के भोजन करते समय जो गीत गाये जाते हैं उन्हें गारी गीत कहते हैं। इन गीतों में समधी

तथा बरातियों पर फब्तियाँ कसी जाती हैं । ये गीत प्रायः व्यंगात्मक होते हैं। बिना किसी वाद्य के स्त्रियों द्वारा यह गायन होता है ।

सोहर गीत :—

बालकों के जन्म के शुभ अवसर पर शिशु और उसकी मां के स्वास्थ्य और दीर्घ आयुष्य की कामना करते हुए स्त्रियाँ जो गीत गाती हैं उसे सोहर गीत कहते हैं । ये सब गीत प्रायः दीपचंदी ताल और राग में गाये जाते हैं।

इन विशिष्ट गीतों के अतिरिक्त शहर की स्त्रियाँ नवरात्र, एकादशीव्रत, हरतालिका व्रत आदि मंगल अवसरों पर या जागरणों में सामूहिक गीत ढोलक बजाकर गाती हैं। ये गीत प्रायः गजल या दादरा की तर्जों पर गाये जाते हैं ।

इस प्रकार छत्तीसगढ़ में प्रत्येक शुभ अवसर तथा उत्सवों पर संगीत के द्वारा लोक जनजीवन सरस और मधुर बनाया जाता है । इसके माध्यम से लोग अपने उद्‌गारों और भावनाओं को प्रगट करते हैं । ये लोक संगीत जन जीवन के कष्टों और दुःखों का निवारण करते और सुख एवं आनंद का संवर्धन करते हैं ।

इन्हीं नैसर्गिक उपादानों के मंथन, चिंतन एवं मनन द्वारा संगीत शास्त्र एवं कला की उत्पत्ति हुई है । शास्त्रीय संगीत लोक संगीत का परिष्कृत तथा निखरा हुआ रूप है । ऐसे लोक संगीत का प्रचुर धनी छत्तीसगढ शास्त्रीय संगीत से कैसे वंचित रह सकता था ? परंतु इस विधा का प्रचार और प्रसार अपेक्षाकृत विलंब से हुआ । इस विलंब के अनेक कारण हैं । प्रारम्भ में शास्त्रीय संगीत के ज्ञाता, अन्य ललित कलाकारों की अपेक्षा अल्पसंख्या में थे । केवल राजे महाराजे अपने दरबार की शोभा बढ़ाने हेतु इन संगीतज्ञों को अपने आश्रय में रखते थे । प्रायः संगीतज्ञ एवं उनके इने गिने शागिर्द खजूर के पेड़ की नांई जनता को अपने रसीले फल और आश्रय से वंचित रखते रहे । परंतु अनंत काल से पाताल लोक में कैद लक्ष्मी के उद्धारक विष्णु भगवान की तरह श्रीविष्णु दिगम्बर पलुस्कर एवं श्री विष्णु नारायण भातखंडे तथा ओंकारनाथ ठाकुर जैसे मनीषियों ने माता सरस्वती रूपी संगीत को राज-दरबार की कैद से मुक्त कर जनता को सौप दिया ।१

---

१. युगधर्म विशेषांक सन् १९७१ से साभार, लेखक श्री विष्णु कृष्ण जोशी ।

परिशिष्ट १-२

१–उन स्थानों की सूची जहाँ शोध और उत्खनन की आवश्यकता है

२–संदर्भ-सूची

परिशिष्ट १

छत्तीसगढ़ के उन स्थानों की सूची जहां शोध और उत्खनन करने पर पुरातत्व की सामग्रियाँ प्राप्त होने की संभावना है । यह संकलन छ० ग० के विभिन्न जिलों तथा रियासतों के गजेटियर, भूगोल, इतिहास तथा विद्वान मित्रों से प्राप्त सूचनाओं के आधार पर किया गया है ।

जिला रायपुर :—आरंग, खलारी, चम्पारण्य, तुरतुरिया, देवभोग, देवकूट, धमतरी, नारायणपुर, राजिम, रायपुर, रुद्री, सिरपुर, सिहावा ।

जिला दुरुग तथा राजनांदगांव :—कवर्धा, खोलवा, गढ़बंजा, गड़ई, छपरी, जागेश्वर, डोंगरगढ़, देवकर, देवबालौद, दुरुग, धमतरी, धमदा, नवागढ़, पाटा, पाटन, बालौद, बोरिया, बोरतरा, बानवरद, भोरमदेव, भड़वामहल, रानीबछाली, सिगनगढ़, सोरढ़ ।

जिला बस्तर :—कांकेर क्षेत्र में—कांकेर, टंकापार, देवडोंगर, माजूमगढ़, मुड़पार । **बस्तर क्षेत्र में**—कुरुसपाल, कुंवाकाड़ा, किलोपाल, केशलूर, कोकथ्यान, गंगालर, चक्रकोट, चीतपुर, छींदगढ़, जगदलपुर, जतनपाल, तुमनार, दंतेवाड़ा, धनोरा, नलसनार, नारायणपाल, प्रतापगढ़, बारसुर, भैरमगढ़, राजनगर ।

जिला बिलासपुर :—अकलतरा, अड़मार, किरारी (खरसिया से २० मील दूर), कोटगढ़ (पास अकलतारा), कोसागंई (पास छुरी) खरौद, गुंजी ऋषभतीर्थ (सक्ती), जैतपुर (पास मल्लार) जांजगीर, तुम्माण खोल, धनपुर (पास पैंडरा) नौगई (पास बैमा), पाली, मल्लार, मदनपुर (चांपा), रतनपुर (रतनपुर के मुहल्ले अर्थात जूना शहर, किला, पुराने मंदिर के आसपास), लाफा (चित्तौड़गढ़), शिवरीनारायण, सीपत (श्रीपद), सीतामढ़ी (पास कोरबा) सेमरमल (मुंगेली तहसील)

जिला रायगढ़ :—आंडेकेरा, आंगना (धरम जयगढ़ के समीप गुफा और शिलालेख), कलमी (पास पुसौर), केसपाली, कर्मागढ़ (लेख, शिलाचित्र एवं गढ़े हुए पत्थर), कालीबा, गौतमा, चराईदार, जोकरी, टेम्पू-बड़ा, तमनार, नेतनागर (डीपापारा) नारायणपुर , जसपुर (डोमराजा के महल-मंदिर के

समीप), नन्हेरा (अशोक काल की गुफा, भग्न मंदिर) नवागढ़, पड़िगांव, पोरथ, पंचधार (सारंगढ़ तहसील) पुजेरीपाली, पीलूपारा, बुलगा, बरगढ़, बसनापार, बालपुर, बोतलवा, भट्टीकोला (जसपुर) मीनूपारा, मैनापारा (खरसिया से ४ मील), विश्वनाथ पाली (कबरा पहाड़ शिलाचित्र), सोड़ेकेला, सरई-पाली, सारिआ, सकरडीह, सारंगढ़, हथारा (जसपुर) हरीदीया।

जिला सरगुजा—रामगढ़, हरचौका ग्राम (भरतपुर तहसील) कोरिया पहाड़ी के भग्नावशेष, चांगभखार क्षेत्र में—घोघरा की गुफा, सीतामढ़ी, कंजिया, छवौंदा।

संदर्भ सूची

पुराण, संस्कृति-सभ्यता एवं साहित्य संबंधी ग्रंथ

१ वायु पुराण
२ महाभारत
३ जैमिनी पुराण
४ मनुस्मृति
५ भारतीय संस्कृति का विकास—मंगलदेव शास्त्री
६ वैदिक साहित्य और संस्कृति—बल्देव उपाध्याय
७ भारतीय संस्कृति—ईश्वरी प्रसाद
८ वैदिक सभ्यता—श्रीपाद सातवलेकर
९ संस्कृति के चार अध्याय—दिनकर
१० सत्यार्थ प्रकाश—दयानंद सरस्वती
११ क्रिसन रुक्मिणी री बेली (डिंगल भाषा में काव्य)
१२ कबीर और उनका पंथ—डा० केदारनाथ द्विवेदी
१३ कविता कौमुदी—रामनरेश त्रिपाठी

विज्ञान, पुरातत्व और इतिहास

१ काल विज्ञान—जगन्नाथ प्रसाद भानुकवि
२ शुक्ल अभिनंदन ग्रंथ
३ म० प्र० के पुरातत्व की रूप रेखा—मो० गं—दीक्षित
४ सतपुड़ा की सभ्यता—प्रयागदत्त शुक्ल
५ उत्कीर्ण लेख—बालचंद्र जैन
६ कलचुरि नरेश और उनका काल—वा० वि० मिराशी
७ कोसल-प्रशस्ति-रत्नमाला—लोचन प्रसाद पाण्डेय
८ विष्ण-यज्ञ-स्मारक ग्रंथ रतनपुर—प्यारेलाल गुप्त
९ छत्तीसगढ़ परिचय—बल्देव प्रसाद मिश्र
१० बिलासपुर वैभव—प्यारे लाल गुप्त
११ त्रिपुरी का इतिहास—राजेन्द्र सिंह
१२ म० प्र० का इतिहास—डा० हीरालाल
१३ भौगोलिक नामार्थ परिचय—पूर्वोक्त

१४ भाषा विज्ञान—डा० भोलानाथ तिवारी
१५ भारतीय भाषाओं का इतिहास पूर्वोक्त
१६ तामील-संस्कृत संबंध—डा० सुनीत कुमार चाटुर्ज्या
१७ वयं रक्षामः—चतुरसेन शास्त्री
१८ खूब तमाशा—गोपाल कवि
१९ विक्रम विलास—रेवाराम बाबू
२० छ० ग० के साहित्यकार—ब्रज भूषणसिंह आदर्श
२१ पं० लोचन प्रसाद पाण्डेय की जीवनी—प्यारे लाल गुप्त
२२ छत्तीसगढ़ी लोक साहित्य का अध्ययन
२३ छ० गढ़ी बोली का वैज्ञानिक अध्ययन—मालेराव तैलेग
२४ छ० गढ़ी बोली, व्याकरण और कोश—कांतिकुमार

१४ नागवंश का इतिहास—लाल प्रद्युम्न सिंह
१५ मध्यदेश—धीरेन्द्र वर्मा
१६ इतिहास प्रवेश—जयचन्द्र विद्यालंकार पूर्वोक्त
१७ भारतीय इतिहास की रूप रेखा—पूर्वोक्त
१८ जलज अभिनंदन ग्रंथ
१९ हुएनसांग की भारत यात्रा
२० मेगस्थनीज की भारत यात्रा
२१ रतनपुर-राज्य का इतिहास हस्त लिखित रेवाराम बाबू
२२ इतिहास समुच्चय शिवदत्त शास्त्री हस्त लिखित
२३ बस्तर-भूषण—केदारनाथ
२४ झारखंड झंकार—रघुवीर प्रसाद
२५ अष्टराज अंभोज—धानूलाल श्रीवास्तव
२६ वीर विनोद—शामल्दास
२७ पारिजात मंजरी की प्रस्तावना
२८ प्रबंध चिन्तामणि—मेरु तुंगाचार्य
२९ ताम्रपत्रों और शिलालेखों की प्रतिलिपियां

अंग्रेजी

१ छत्तीसगढ़ विभाग के जिलों तथा रियासतों के गजेटियर
२ अर्ली हिस्ट्री आफ् इंडिया—बिसेंट स्मिथ
३ हिस्ट्री आफ् मराठाज—ग्रांट डफ और सर देसाई
४ कार्पस इन्सक्रिप्शन्स इंडिकेरं
५ एपिग्राफिआ इंडिका
६ अर्ली योरोपियन ट्रेव्हलर्स
७ विल्स ब्रिटिश रिलेशन्स
८ लार्ड वेल्जली के पत्र
९ केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया
१० ए स्केच आफ् दी हिस्ट्री आफ इंडिया—डाउवेल
११ आर्कटिक होम आफ आर्यन्स रान्ड ओरायन—बाल गगाघर तिलक
१२ नेशनल आर्क
१३ नागपुर रेसीडेन्सी रेकार्ड
१४ ममोअर्स आफ् जहाँगीर—रोजर्स
१५ कलचुरीज आफ़ रतनपुर—सुधाकर पांडे
१६ महाकोसल हिस्टारिकल, पेपर्स लोचनप्रसाद पाण्डेय
१७ इंसक्रिप्शन्स आफ सी-पी एण्ड बरार
१८ कैलेंडर आफ परशियन करसपांडेंस
१९ इंडियन हिस्ट्री क्वाटरली
२० भोंसलाज आफ नागपुर—दी

पत्र-पत्रिकाएं

१ धर्मयुग—डा० हसमुख सांकलिया के लेख
२ हिन्दुस्तान स्टैंडर्ड—डा० फतेहसिंह और कृष्णराव के लेख
३ कल्यांण मासिक—आर्य सस्कृति पर लेख
४ महाकोशल के कुछ लेख
५ युगधर्म के कुछ लेख
६ नवभारत (रायपुर) सुरेन्द्र शर्मा के मराठा शासन पर लेख
७ पूर्णा—विदर्भ हिन्दी साहित्य सम्मेलन का प्रकाशन
८ विकास मासिक पत्र विलासपुर
९ उत्थान " " रायपुर

लास्ट फेज़—आर०एम० सिन्हा
२१ एडवंचर्स आफ अप्पा साहब
२२ कैटलाग आफ् क्वायन्स इन ब्रिटिश म्यूज़ियम
२३ सेटिलमेंट रिपोर्ट-चीज़म
२४ " " —हेविट
२५ कर्नल एग्न्यू की रिपोर्ट
२६ बेगलर की रिपोर्ट
२७ टेम्पल की रिपोर्ट
२८ जेन्किन्स की रिपोर्ट
२६ कनिघम की रिपोर्ट
३० इलियट की रिपोर्ट

प्यारेलाल गुप्त

जन्म---भाद्रपद सं० १९४८ विक्रम

दिनांक---१७ अगस्त १८९१ ई०

ग्रंथ और उसके लेखक का परिचय

मध्यप्रदेश के आग्नेय भाग में स्थित छत्तीसगढ़ पूर्वकाल में सभ्यता और संस्कृति का केन्द्रस्थल था। प्रागैतिहासिक काल से लेकर वर्तमान अणु युग तक उसकी प्रगति होती ही रही और उसकी गौरव-गरिमा बढ़ती ही जाती रही। मध्यकाल में वह जय-पराजय, उत्थान-पतन तथा हर्ष-विषाद का भागी भी बना पर उन सब को झेल कर उठ खड़ा हुआ और अपनी श्री वृद्धि के लिए संलग्न हो गया। इसके संबंध में किसी कवि ने कितना ठीक कहा है—

तुझमें कितना इतिहास भरा
कितना निर्माण-विनाश भरा
तुझ में पतझड़ तुझ में बसन्त
है कितना रोदन-हास भरा।

इसका लोक-साहित्य इतना धनीहै कि वह किसी भी राज्य के लोक-साहित्य से टक्कर ले सकता है।

इस ग्रंथ के प्रणेता श्री प्यारेलाल जी गुप्त इस अंचल के एक विशिष्ट साहित्यकार, पुरातत्वज्ञ और इतिहासज्ञ हैं। आपने पद्य भी लिखा और गद्य भी, किन्तु आपके व्यक्तित्व और कृतित्व की सम्यक अभिव्यक्ति गद्य साहित्य में हुई है। आपने अनेक लेख और कविताएँ लिखी हैं। आपके द्वारा प्रणीत कुछ पुस्तकों के नाम हैं—सुखी कुटुम्ब और लवंगलता (उपन्यास), पुष्पहार (गल्प संग्रह), फ्रांस की राज्य क्रांति और ग्रीस का इतिहास, बिलासपुर वैभव, रतनपुर के विष्णुयज्ञ का स्मारक ग्रंथ, एक दिन (प्रहसन) साहित्य वाचस्पति पं० लोचन प्रसाद जी पाण्डेय की प्रामाणिक जीवनी आदि आपकी साहित्यिक, समीक्षात्मक एवं शोधपरक कृतियाँ हैं। आपके कुल प्रकाशित ग्रंथों की संख्या लगभग एक दर्जन है। 'प्राचीन छत्तीसगढ़' के लिखने में आपने पहले सात वर्षों तक सामग्री जोड़ी, फिर तैयारी करके डेढ़ वर्ष की अवधि में लिख डाला। आपका विभिन्न साहित्यिक संस्थाओं से गहरा संबंध है। छ० ग० विभागीय हिन्दी साहित्य के भिलाई-अधिवेशन के अध्यक्ष-पद को भी आप गौरवान्वित कर चुके हैं। इस ८३ वर्ष की आयु में भी आपकी लेखनी मुखरित है।

दक्षिण-कोसल
(प्राकृतिक-रचना)
माप १ सें॰मी॰ = ३५ कि॰मी॰
नर्मदा नदी
त्रिपुरी
रत्नपुर
महानदी
सोनपुर
सम्बलपुर
इन्द्रावती नदी
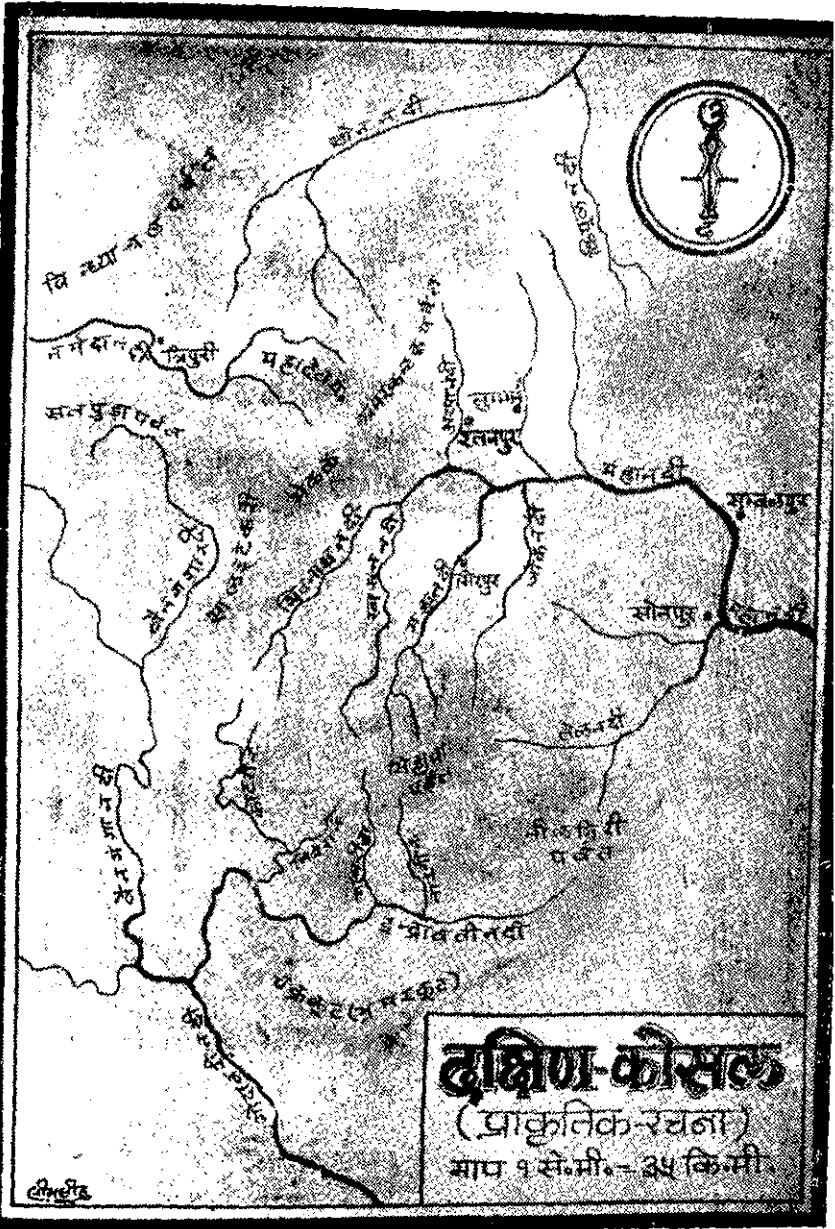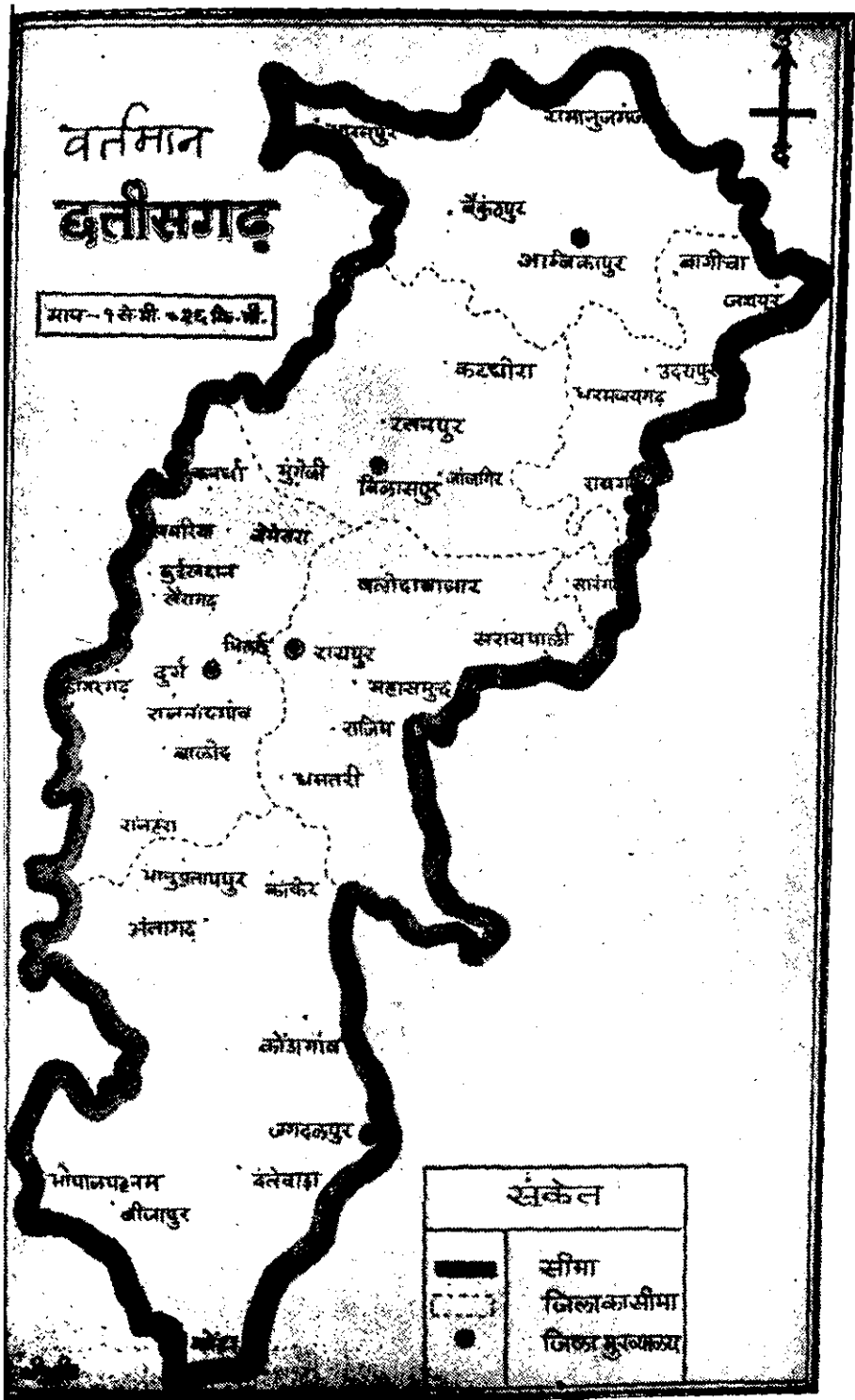
टीप–२६ जनवरी १९७३ को दुर्ग जिला के दो भाग कर दिये गये हैं और राजनांदगांव अलग जिला बना दिया गया है जो इसमें नहीं दिखाया जा सका।

शुद्धि-पत्र

टीप—इस शुद्धि-पत्र पर ध्यान रखते हुए यदि पुस्तक में मात्राओं के छूट आने या अन्य कारणों से अशुद्धियां रह गई हों तो पाठक उन्हें सुधार कर पढ़ने की कृपा करें।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५	पाद टीका की तीसरी पंक्ति	म० ग०	मो० गं०
९	१८	उनका और धारा के बीच में जोड़ो	ज्ञान
२३	१	ही	नहीं
२३	१३	समथन	समर्थन
२५	पाद टीका की तीसरी पंक्ति	वय:	वयं
४०	१३	१४९७	१४८७
४९	पादटीका	१६६	१६८
५०	९	लौह	शिला
६१	८	सिंहसनारूढ़	सिंहासनारूढ़
६१	९	वष	वर्ष
८३	१३	पंद्रह	पच्चीस
८६	३	लट	लूट
९०	१	हैहयवशी	हैहयवंशी
१०१	४	)	रत्नसेन के बाद लगाओ
१०४	६	तामाशा	तमाशा
१०४	११	छोटे	छोटा

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०४	२०	१७४०	१७४२
१०८	४	१७४१	१७४२
११७	१४	१७३०)	में)
११८	१०	राजकाल	राजकाज
१२१	पाद टीका पंक्ति २ जिसने शब्द काट दीजिए		
१२४	१२	होने	हो
१२५	१३	से	में
१३४	१२	ने	०
१३४	अंतिम पंक्ति	करने	कराने
१६१	१३	मग्रा	ग्राम
१६२	८	भ्रमरबद्र	भ्रमरभद्र
१७६	५	दूर तक के बाद जोड़ो—बहती हुई	
१७७	७	लाफी	लाफा
१७७	६	रत्ननपुर	रत्नपुर
२०८	१८	आठाबीता	आठाबीसा
२१६	अंतिम पंक्ति	से	में
२२६	१	मेदनपुर	मेदनीपुर
२२६	२	मंडली	मंडलों
२४०	अंतिम पंक्ति	खोजवा	खोलवा
२५५	१०	प्रकाण	प्रमाण
२५६	८	आम्रक्कूट	आम्रकूट
२६४	अंतिम पंक्ति	मर्तियाँ	मूर्तियाँ
२६८	१८	बेकुंटपुर	बैकुंठपुर
२७२	४	अश्पा	अरपा
२७५	११	।	जो
२८४	८	कोष्टक हटा दीजिए	
२६१	४	सिद्धस्त	सिद्धहस्त
२६६	७	बद्धिगंत	वृद्धिगंत
३३२	२७	मोर मेरे	मोर मेर
३३४	१४	है	हैं

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३१४	२५	क ब	क ह
३३५	१७	कह.	क ह
३३६	२	एकरस	अकरस
३३६	१३	मै	में
३३७	११	गम	गये
३३७	१८	प्रस्तुत है	प्रस्तुत हैं
३३८	२	गुरू	गुरु
३४१	२८	मैं कहिबै	में कहिबे
३४३	१३	मां	मं
३४३	३२	पोंछ पोछौमी	पोंछ-पोछौनी
३४५	२७	जिसका	जिनका
३४७	६	आदमी	अदमी
३४७	२६	तुंहरर	तुंहर
३४८	२	तौन मन ल ले	तौन मन ले
३४८	१३	हव पैसा	हर पैसा
३४८	२२	अनिश्च्यवाचक	अनिश्चयवाचक
३५२	२०	नहिं	नहि
३५३	४	लाथैं	लाथै
३५३	४	लंवाथैं	लवाथै
३५३	७	पटोथैं	पटोथैं
३५३	३०	गरु	गरू
३५६	९	औ	ओ
३५६	१२	औ	ओ
३५६	१४	औ	ओ
३५६	१५	औ	ओ
३५६	२४	प्रवत्ति	प्रवृत्ति
३५७	३	का	की
३५७	१२	का	०
३५८	२४	विशष्टि	विशिष्ट
३५९	१२	विशष्टि	विशिष्ठ

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३६०	१	करता है	है निकाल दें
३६१	५	शंवट	शेवट
३६३	५	पुदगल	पुद्‌गल
३६३	६	द्रवय	द्रव्य
३६३	११	सरगजा	सरगुजा
३६४	८	जाति	जाति,
३६५	३	पक्षी	पक्षी,
३६६	५	कृषि	कृषि,
३६७	१६	पशु	पशु,
३६६	३१	घर	गर
३७४	४	। ५	। १
३७५	६	का	०
३७५	२६	चोल्या	चोलिया
३७८	२०	सेर	नार
३७८	२६	गौंठिया	गौंटिया
३७६	२	गउंठिया	गौंटिया
३८०	८	घर सिहा	घर सिंह
३८०	११	अतिकतर	अधिकतर
३८०	१४	रहता है	रहते हैं
३८०	२४	गाड़ा	गांड़ा
३८३	११	गोवारण	गोचारण
३८४	२	को	
३८५	पाद टीका	१८३७	१६३७
३८७	७	लंटचोरी	लटछोरे
३८८	१५	भइया	मइया
३८८	१८	लड़कियां	लड़कियां और
३८६	१८	भाय	माय
३८६	२४	मघे	मधे
३६१	१०	रेवा-परवा	रेवा-परेवा
३६१	२२	हाथ	

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३६१	पाद टीका	देवरों	देवारों
३६८	४	कं	क
४०२	३१	वेल	बेल
४०३	४	घोवा	घोबा
४०६	८	के	से
४१२	८	मलार	मलार
४१२	१४	राड़ी	रांड़ी
४१३	२	गया	गय
४१४	५	मंजूर	मयूर
४१७	२६	काटा	कांटा
४१८	१	उस	उससे
४२०	१४	संगीत का	संगीत का निर्माण